श्री अरविंद-साहित्य
खण्ड 13

पुनर्जन्म और क्रमविकास

REBIRTH AND EVOLUTION

श्री अरविंद

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1972

अनुवादक:
श्यामसुन्दर झुनझुनवाला

प्रथम संस्करण, वर्ष 1972

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु० 18-25 Price Rs....18-25

© स्वत्वाधिकारी: श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-2; 1972

प्रकाशक: श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक: ऑल इन्डिया प्रेस,
श्री अरविंद आश्रम,
पांडिचेरी-2.

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'पुनर्जन्म और क्रमविकास' पुस्तक श्री अरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके मूल लेखक श्री अरविंद, अनुवादक श्यामसुन्दर झुनझुनवाला और पुनरीक्षक रवींद्र हैं। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
(केन्द्रीय हिंदी निदेशालय)

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

पुनर्जन्म और क्रमविकास

(1)
पुनर्जन्मकी समस्या
पृष्ठ 1

(2)
क्रमविकास
पृष्ठ 225

(3)
पृथ्वीपर अतिमानसिक आविर्भाव
पृष्ठ 291

(4)
हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली
पृष्ठ 368

पुनर्जन्मकी समस्या

प्रकाशकका वक्तव्य

यह पुस्तक तीन खण्डोंमें है। मूल लेख पहले 'आर्य' पत्रिकामें छपे थे। पहले ण्डके लेख 1915 में नवम्बर और दिसम्बरमें, फिर 1919 में मार्चसे दिसम्बरतकके ंकोंमें आये थे। स्वतंत्र लेख होनेपर भी इनका धाराक्रम स्पष्ट है।

दूसरे खण्डके लेख 1920 में अगस्तसे अक्तूबरतकमें प्रकाशित हुए थे और तीसरे ण्डके लेख 1920 के नवम्बर-दिसम्बरमें और 1921 के जनवरी महीनेमें। यह लेख-ला अधूरी रह गयी थी और बादमें इसको पूरा करनेका विचार भी हुआ था, किन्तु छ हल्के संशोधनोंके अलावा और कुछ नहीं हुआ। संशोधन इस पुस्तकमें ाविष्ट हैं।

अन्तमें परिशिष्टके रूपमें श्री अरविंदके पत्र दिये गये हैं। पत्रोंमें जीवकी युके बादकी यात्रापर भी प्रकाश मिलता है।

विषय सूची

पुनर्जन्मकी समस्या

पहला खण्ड

पुनर्जन्म और कर्म

1. पुनर्जन्म 1
2. पुनः शरीरधारी अन्तरात्मा 12
3. पुनर्जन्म, क्रमविकास, आनुवंशिकता 19
4. पुनर्जन्म और आन्तरिक विकासक्रम 27
5. पुनर्जन्मका महत्व 37
6. ऊर्ध्वारोही एकत्व 50
7. संवृति और क्रमविकास 60
8. कर्म 73
9. कर्म और स्वतंत्रता 81
10. कर्म, इच्छा और परिणाम 95
11. पुनर्जन्म और कर्म 102
12. कर्म और न्याय 111

दूसरा खण्ड

कर्म-रेखाएँ

1. आधार 123
2. पार्थिव नियम 130
3. मन:प्रकृति और कर्म-विधान 142

तीसरा खण्ड

कर्मकी उच्चतर रेखाएँ

1. कर्मकी उच्चतर रेखाएँ 159
2. सत्यकी उच्चतर रेखाएँ 166

परिशिष्ट

श्री अरविंदके पत्र 175

पहला खण्ड

पुनर्जन्म और कर्म

एक

पुनर्जन्म

पुनर्जन्मका मत लगभग उतना ही पुरातन है जितना कि स्वयं विचार-चिन्तन, और उसकी उत्पत्ति अज्ञात है। अपनी-अपनी पूर्वमान्यताओंके अनुसार हम उसे या तो प्राचीन मनोवैज्ञानिक अनुभवका फल मान सकते हैं जिसका सदैव पुनर्नवीकरण किया जा सकता और जिसकी सत्यताका परीक्षण किया जा सकता है और फलत: वह सत्य रहता है, या हम उसे दार्शनिक मतवाद और विचक्षण कल्पना कह कर विदा कर दे सकते हैं : परन्तु इन दोनों ही दशाओंमें यह सम्भावना रहती है कि जैसे यह सिद्धान्त, हम जहाँ तक देख सकते हैं, लगभग मानवीय विचार-चिन्तनके जितना पुरातन है, वैसे ही वह तब तक टिका भी रहे जब तक मानवप्राणियोंकी विचारक्रिया चलती रहेगी।

पूर्वकालमें यह सिद्धान्त यूरोपमें "ट्रांसमाइग्रेशन" (देहान्तरण) के अनोखे नामसे चलता था। इससे पाश्चात्य मनके सामने पाइथागोरसके अन्तरात्माका मनमानी यात्रा करनेवाले पक्षीकी तरह दिव्य मानवीय रूपमेंसे निकलकर गिनी-पिग या गदहेके शरीरमें चले जानेका विनोदमय चित्र उपस्थित होता था। इस सिद्धान्तका दार्शनिक आदर यूनानके प्रशंसनीय किन्तु फिर भी दु:साध्य शब्द "मेटमसाइकोसिस" में हुआ जिसका अर्थ उसी चैत्य व्यक्तिके द्वारा एक नये शरीरमें अन्तरात्माका अनुप्रवेशन होता है। यूनानी भाषा विचार और शब्दका सुखद गठबंधन करनेमें सदा भाग्यवती रही है और इससे अधिक अच्छा शब्द नहीं मिल सकता। परन्तु अंग्रेजीमें जबर्दस्ती घुसानेसे वह बस एक लम्बा और पंडिताऊ शब्द बनकर रह जाता है, उसके सूक्ष्म यूनानी भावकी कोई स्मृति नहीं रहती और उसे छोड़ देना पड़ता है। अब "रीइनकार्नेशन" (पुनर्देहधारण) का चलन है, परन्तु इस शब्दमें जो भाव है वह तथ्यके प्रति स्थूल या बाह्य दृष्टिकी ओर झुकता है और बहुत सारे प्रश्न खड़े कर देता है। मैं "रिबर्थ" शब्दको पसन्द करता हूं, क्योंकि वह संस्कृतके विस्तीर्ण, वर्णहीन, परन्तु पर्याप्त शब्द "पुनर्जन्म" के भावको व्यक्त करता है और जो मूलभूत भाव इस सिद्धान्तका सारतत्व और प्राण है उसके अलावा किसी चीजके साथ हमें नहीं बाँधता।

आधुनिक मनके लिये पुनर्जन्म एक कल्पना और मतसे अधिक कुछ नहीं है; वह कभी भी न तो आधुनिक विज्ञानकी पद्धतियोंसे प्रमाणित हुआ है, न वैज्ञानिक संस्कृति द्वारा गठित नये आलोचक मनको उसका संतोषजनक प्रमाण ही मिला है। किन्तु

वह निष्प्रमाणित भी नहीं हुआ है, कारण, आधुनिक विज्ञान न तो मानव-अन्तरात्माके पूर्वजीवनके बारेमें कुछ जानता है, न उत्तरजीवनके बारेमें, वस्तुतः वह तो अन्तरात्माके बारेमें कुछ भी नहीं जानता और न जान ही सकता है, उसका क्षेत्र मांस, मस्तिष्क और स्नायु भ्रूण और उसकी रचना तथा विकासतक ही सीमित है। फिर, आधुनिक आलोचकके पास कोई ऐसा साधन भी नहीं जिससे पुनर्जन्मकी सत्यता या असत्यता स्थापित की जा सके। वस्तुतः आधुनिक आलोचना, सूक्ष्म अनुसंधान और सावधानीभरी सुनिश्चितताका सारा आडम्बर करके भी, बहुत निपुण सत्यान्वेषी नहीं; सन्निकट भौत्तिक प्रदेशके बाहर वह असहाय सी रहती है। वह तथ्योंको खोज निकालनेमें तो कुशल है, परन्तु जहाँ वे तथ्य अपनेसे ही अपने निष्कर्षोंको हमारे सामने सतहपर लाकर रख देते हों उससे भिन्न स्थलोंमें उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह तथ्योंके आधारपर निकाले गये उन सर्वसामान्य निष्कर्षोंके बारेमें निश्चित हो सके जिन्हें वह एक पीढ़ीमें इतने विश्वासके साथ घोषित करती है और दूसरीमें बिल्कुल खंडित। उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं जिससे वह निश्चयके साथ किसी संदिग्ध ऐतिहासिक प्रतिपादनकी सत्यता या असत्यताका पता लगा सके; एक शताब्दीके विवादके बाद भी वह ईसा मसीहके अस्तित्वके बारेमें हाँ या ना नहीं कह सकी है। तो वह इस पुनर्जन्म-जैसे विषयपर कैसे विचार कर सकती है जो कि मनोविज्ञानकी वस्तु है और जिसका निर्णय भौतिककी अपेक्षा मनोवैज्ञानिक प्रमाणसे ही करना होगा ?

समर्थकों और विरोधियों द्वारा सामान्यतः जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे प्रायः काफी निरर्थक होती हैं। वे, अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें भी, जगत्की किसी भी चीजको प्रमाणित या निष्प्रमाणित करनेके लिये अपर्याप्त ही होती हैं। उदाहरणके लिये, पुनर्जन्मको अप्रमाणित करनेके लिये जिस तर्कको प्रायः जीतके भावसे सामने रखा जाता है वह यह है कि हमें अपने विगत जन्मोंकी याद नहीं है, अतः विगत जीवन थे ही नहीं। यह देखकर हँसी सी आती है कि ऐसे तर्कको वे लोग गंभीरतासे उपस्थित करते हैं जो यह कल्पना करते हैं कि वे बौद्धिक शिशुओंकी अपेक्षा अधिक कुछ हैं। यह तर्क मनोवैज्ञानिक आधारपर आगे बढ़ता है, फिर भी हमारी सामान्य या स्थूल स्मृतिकी प्रकृतिकी ही अवहेलना कर देता है जब कि यह स्मृति ही वह एकमात्र वस्तु है जिसका उपयोग प्राकृत मनुष्य कर सकता है। हमारे वर्तमान जीवनके बारे में कोई संदेह नहीं, किन्तु उसकी भी हमें कितनी बातें याद हैं ? जो समीप है उसके लिये हमारी स्मृति सामान्यतः अच्छी रहती है, पर ज्यों-ज्यों उसके विषय दूर हटते जाते हैं त्यों-त्यों वह अस्पष्ट या कम व्यापक होती जाती है, और भी दूर होनेपर वह केवल कुछ प्रमुख बिन्दुओंको ही पकड़ पाती है और अन्तमें, हमारे जीवनके आरम्भिक कालके विषयमें निरी

रिक्ततामें जा पड़ती है। क्या हमें मांकी छातीपर शिशु-रूपमें रहनेकी सरल अवस्थाकी, सरल वास्तविकताकी स्मृति है? और फिर भी वह शैशवावस्था, बौद्ध मतके अतिरिक्त अन्य सभी मतोंके अनुसार, इसी जीवनका अंग और इसी व्यक्तिकी अवस्था थी जिसे उसकी याद वैसे ही नहीं है जैसे उसे अपने विगत जीवनकी याद नहीं हो पाती। तो भी हम यह माँग करते हैं कि यह स्थूल स्मृति, मनुष्यके असंस्कृत मस्तिष्ककी यह स्मृति जिसे हमारे शैशवका स्मरण नहीं और जो हमारे शैशवके बादके वर्षोंकी इतनी सारी बातें खो चुकी है, फिर भी यह याद रखे कि शैशवावस्थासे पहले, जन्मसे पहले, स्वयं उसकी रचनासे पहले क्या था। और यदि वह यह याद नहीं रख सकती, तो हम घोषणा करेंगे, "निष्प्रमाणित हो गया तुम्हारा पुनर्देहधारणका सिद्धान्त।" हमारी सामान्य मानवीय युक्तिबुद्धिकी अकलमन्द बेअकली इस प्रकारकी तर्कणामें और आगे न जा सकी। स्पष्ट है कि हमें यदि अपने विगत जीवनोंको याद करना है, चाहे वास्तविकता और स्थितिके रूपमें, चाहे उनकी घटनाओं और प्रतिमाओंके रूपमें, तो यह केवल चैत्यिक स्मृतिके जगनेसे ही हो सकेगा जो स्थूलकी सीमाओंको लांघकर स्थूल सत्तापर स्थूल मस्तिष्क-व्यापारकी डाली हुई छापोंसे भिन्न छापोंको फिरसे जीवित करेगी।

यदि हमें विगत जीवनोंके बारेमें स्थूल स्मृति या ऐसी चैत्यिक जागृतिके प्रमाण मिल भी जायँ, तो भी इससे सन्देह है कि यह मत पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक प्रमाणित माना जायगा। आजकल हम ऐसे बहुतसे उदाहरणोंके बारेमें सुनते हैं जो बड़े विश्वासके साथ उपस्थित किये जाते हैं, परन्तु उनके साथ उन प्रमाणोंकी सामग्री नहीं होती जिनकी सत्यता जाँच ली गयी हो और जिनकी समीक्षा उत्तरदायित्वके भावसे की गयी हो, जब कि उस सामग्रीसे ही चैत्यिक गवेषणाके परिणामोंको गुरूत्व मिलता है। जबतक वे प्रमाण्यके दृढ़ आधारपर न खड़े हों, सन्देहवादी उन्हें मनगढ़न्त कल्पना कहकर सदा आपत्ति उठा सकता है। यदि इस तरह कही गयी बातोंके सत्यकी परीक्षा हो भी जाय, तो भी यह कहनेका अवकाश रहता है कि वे यथार्थतः स्मृतियाँ नहीं हैं, प्रत्युत कहनेवालेको सामान्य स्थूल साधनों द्वारा ज्ञात थीं या दूसरों द्वारा सुझायी गयी थीं और उसने उन्हें या तो चेतन प्रवंचना द्वारा या आत्म-प्रवंचना और आत्म-विभ्रमकी किसी प्रक्रिया द्वारा पिछले जन्मोंकी फिरसे साकार हो उठी निर्दोष स्मृतिमें परिवर्तित कर दिया है। और यदि यह भी मान लें कि प्रमाण इतने सबल और निर्दोष हैं कि इन परिचित उपायोंसे उनसे पीछा न छुड़ाया जा सके, तो भी यह सम्भव रहता है कि उन्हें पुनर्जन्मके प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय; एक ही तथ्य-समुदायके लिये मन सैकड़ों सैद्धान्तिक व्याख्याएँ खोज सकता है। आधुनिक दृष्टि और अनुसंधानने सभी चैत्यिक सिद्धान्तों और सामान्यीकरणोंपर इस सन्देहकी छाया डाल दी है।

उदाहरणके लिये हम जानते हैं कि स्वचालित लेखन या मृतकोंके सन्देशोंके व्यापारको लेकर यह विवाद उठता है कि वह व्यापार बाहरसे, विदेह मनोंसे आता है या कि अन्दरसे, अवगूढ़ चेतनासे; वह सन्देश-संचार शरीर-मुक्त व्यक्तित्वसे सचमुच और उसी समय आता है या कि वह विचारके पारेंद्रिय संक्रमणकी किसी ऐसी छापका सतहपर उठना है जो उस समय जीवित रहते मनुष्यके मनमेंसे आयी थी परन्तु हमारे अवगूढ़ मनके अन्दर डूबी पड़ी थी। पिछले जन्मोंकी साकार होनेवाली स्मृतिकी साखीके विरुद्ध भी इसी प्रकारके सन्देह किये जा सकते हैं। यह दावा किया जा सकता है कि इनसे हमारे अन्दर एक निश्चित रहस्यमयी क्षमता, एक ऐसी चेतना प्रमाणित होती है जिसे बीती घटनाओंआ कोई अव्याख्येय ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु ये घटनाएँ हमसे भिन्न अन्य व्यक्तित्वोंसे सम्बद्ध होती हैं और उनके बारेमें हमारी यह मान्यता कि वे विगत जीवनोंके हमारे ही व्यक्तित्वकी घटनाएँ हैं, एक कल्पना है, विभ्रम है, या फिर मानसिक भूल-भ्रान्तिके निःसन्दिग्ध व्यापारोंमेंसे उस दशाका उदाहरण है जिसमें हम अपनी देखी हुई उन वस्तुओं और अनुभूतियोंको जो हमारी अपनी नहीं होतीं अपनी ही मान लेते हैं। ऐसी साखियोंके संग्रहसे बहुत कुछ प्रमाणित होगा, किन्तु संशयात्माके लिए तो पुनर्जन्म तो प्रमाणित नहीं हो सकेगा। यदि ये साखियाँ पर्याप्त रूपमें प्रचुर, यथातथ्य, भरपूर और अन्तरंग हों तो ये एक ऐसा वातावरण अवश्य रच देंगी जिसके कारण अन्तमें मानवजाति इसे एक नैतिक निश्चितिके रूपमें सर्वसामान्य स्वीकृति दे देगी। परन्तु प्रमाण एक भिन्न वस्तु है।

आखिरकार, जिन चीजोंको हम सच्ची मानते हैं उनमेंसे अधिकांश यथार्थमें नैतिक निश्चितियोंसे अधिक कुछ नहीं होतीं। हमारा गहरेसे गहरा अडिग विश्वास है कि पृथ्वी अपनी ही धुरीपर घूमती है, परन्तु, जैसा कि एक बड़े फ्रेन्च गणितज्ञने बताया है, यह तथ्य प्रमाणित नहीं हुआ है; यह केवल एक सिद्धान्त है जो कुछ दृश्यमान् तथ्यों की अच्छी तरह व्याख्या करता है, इससे अधिक कुछ नहीं। कौन जानता है कि इसका स्थान इस या किसी अन्य शताब्दीमें इससे एक अधिक अच्छा या अधिक बुरा मत न ले लेगा? सारे दृश्य खगोलीय व्यापारोंकी व्याख्या गैलीलियोके आनेके पहले ग्रहोंके और न जाने किन-किन अन्य सिद्धान्तों द्वारा भली भाँति होती थी, फिर गैलीलियोका अपने "फिर भी यह गतिशील है" के सिद्धान्तको लेकर आना हुआ जिसने पोप और बाइबिलको, विद्वानोंके विज्ञान और तर्कको निर्भूल माननेकी भावनाको डिगा दिया। यह बात निश्चित-सी है कि यदि हमारी मनोबुद्धि न्यूटनके पूर्ववर्ती प्रदर्शनों द्वारा पूर्वग्रह और पक्षपात से इतनी प्रभावित न होती तो गुरुत्वाकर्षणकी वास्तविकताओंकी व्याख्याके लिये प्रशंसनीय सिद्धान्तोंका आविष्कार किया जा सकता था[1]। यह

---

[1] यह आइंस्टीनके सिद्धान्तोंके आनेसे पहले लिखा गया था।

हमारी बुद्धिका चिर-जटिल और अन्तर्निहित महारोग है; कारण, वह कुछ भी नहीं जाननेसे शुरू करती है और उसे व्यवहार करना होता है अनन्त सम्भावनाओंसे, और जबतक हम यह नहीं जान लेते कि तथ्योंके किसी समुदायके पीछे वस्तुतः क्या है तबतक उन तथ्योंकी सम्भाव्य व्याख्याओंका अन्त नहीं आता। अन्तमें हम वस्तुतः केवल उसे ही जानते हैं जिसे कि हम देखते हैं, लेकिन वहाँ भी कोई सन्देह भूतकी तरह पीछे पड़ा रहता है; उदाहरणके लिये, हरा हरा है और सफेद सफेद, किन्तु यह मालूम होता है कि रंग रंग नहीं, वरन् और कुछ है जिससे रंगकी प्रतीति होती है। दृश्य वास्तविकतासे परेके लिये हमें यथोचित तार्किक सन्तोष, प्रमुख सम्भावना और नैतिक निश्चितिसे तुष्ट रहना होगा,——कमसे कम तबतक जबतक कि हममें यह देखनेकी क्षमता न आ जाय कि हममें इन्द्रियाश्रित बुद्धिसे उच्चतर क्षमताएँ भी हैं जो विकसित होनेकी प्रतीक्षा कर रही हैं और जिनके द्वारा हम श्रेष्ठतर निश्चितियोंतक पहुँच सकते हैं।

संशयात्माके सामने हम पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी ओरसे कोई ऐसी प्रबल सम्भावना या कोई ऐसी निश्चितता प्रतिपादित नहीं कर सकते। अभी तक जो भी वाह्य साक्ष्य प्राप्त है वह बिलकुल ही प्रारम्भिक है। पाइथागोरस महानतम मुनियोंमेंसे थे, परन्तु उनका यह कथन कि वह ट्रवायमें लड़नेवाले एंटिनोरिड नामक व्यक्ति थे और एत्रियसके कनिष्ठ पुत्र द्वारा मारे गये थे दावा मात्र है, और उनका ट्रवायकी ढालको पहचानना किसी ऐसे व्यक्तिको विश्वास न दिला सकेगा जो पहलेसे ही विश्वास न करता हो। अभीतकके आधुनिक साक्ष्य पाइथागोरसके प्रमाणकी अपेक्षा अधिक विश्वासोत्पादक नहीं हैं। बाह्य प्रमाणकी अनुपस्थितिमें, जब कि बाह्य प्रमाण ही हमारी जड़-शासित संवेदनात्मक बुद्धिके लिये एकमात्र निर्णयात्मक प्रमाण है, हमें पुनर्जन्मवादियोंकी यह युक्ति मिलती है कि अबतक उपस्थित किये गये किसी भी मतकी अपेक्षा उनका मत सारे तथ्योंकी व्याख्या अधिक अच्छी तरह करता है। यह दावा ठीक है, परन्तु यह किसी भी प्रकारकी निश्चितता नहीं उत्पन्न करता। पुनर्जन्मका मत, कर्मके सिद्धान्तके साथ मिलकर, हमें चीजोंकी एक सरल सममित, सुन्दर व्याख्या देता है; परन्तु, इसी तरह, ग्रहोंके सिद्धान्तने भी हमें कभी व्योमकी गतिविधिकी एक सरल, सममित, सुन्दर व्याख्या दी थी। फिर भी हमें अभी एक बिलकुल ही अलग व्याख्या मिली है जो कहीं अधिक जटिल है, अपनी सममिततामें कहीं अधिक गोथिक शैलीवाली और डाँवाडोल है, अस्तव्यस्त अनन्तताओंमेंसे विकसित एक अव्याख्येय व्यवस्था है, और उसे हम इस विषयका सत्य मानते हैं। किन्तु फिर भी, यदि हम विचार मात्रं करें, तो शायद देखेंगे कि यह भी समूचा सत्य नहीं है; पर्देके पीछे इससे बहुत अधिक ऐसा कुछ है जिसे हम अभीतक नहीं खोज सके हैं। अतः पुनर्शरीरधारणके सिद्धान्तकी

सरलता, सममितता, सुन्दरता और सन्तोषकारिता उसकी निश्चितताका परवाना नहीं।

जब हम व्योरोंमें जाते हैं तो अनिश्चितता बढ़ जाती है। उदाहरणके लिये, पुनर्जन्मसे प्रतिभा, अन्तर्जात क्षमता और कितने ही अन्य मनोवैज्ञानिक रहस्योंके व्यापारोंकी व्याख्या होती है। परन्तु तब विज्ञान अपनी आनुवंशिकताकी सर्वपर्याप्त व्याख्या लेकर प्रवेश करता है,——किन्तु पुनर्जन्मकी भाँति, यह व्याख्या भी केवल उन्हींके लिये सर्वपर्याप्त होती है जिन्हें उसपर पहलेसे विश्वास हो। इसमें सन्देह नहीं कि आनुवंशिकताके दावोंको अनुचित रूपसे बहुत ही बढ़ा-चढ़ा दिया गया है। वह हमारी शारीरिक रचना, हमारी प्रकृति, हमारी प्रणिक विशेषताओंके सब कुछकी तो नहीं, बहुत कुछकी ही व्याख्या करनेमें सफल हुई है। उसका प्रतिभा, अन्तर्जात क्षमता और उच्च प्रकारके अन्य मनोवैज्ञनिक व्यापारोंकी व्याख्या करनेका प्रयत्न मिथ्याभिमानी वैफल्य है। परन्तु इसका कारण यह हो सकता है कि हमारे मन:स्वरूपमें जो कुछ मूलभूत है उसका विज्ञानको पता नहीं हो,——वैसे ही जैसे कि आदिकालीन खगोलवेत्ताओंको उन नक्षत्रोंकी रचना और विधानका ज्ञान नहींके बराबर था जिनकी गतिविधिका वे काफी ठीक-ठीक अवलोकन कर सके थे। ऐसा नहीं लगता कि विज्ञान जब अधिक और ज्यादा अच्छी तरह जान लेगा तब भी वह इन चीजोंकी व्याख्या आनुवंशिकतासे कर सकेगा; परन्तु वैज्ञानिक यह तर्क भली भाँति कर सकता है कि वह अभी तो अपने अनुसंधानोंके आरम्भमें ही है, उसके जिस सामान्य सिद्धान्तोंने इतनी चीजोंकी व्याख्या कर दी है वह सबकी व्याख्या भी भली भाँति कर सकेगा और, चाहे कुछ भी हो, प्रमाण्य तथ्योंके साधनकी दृष्टिसे उसकी प्राक्कल्पनाको पुनर्शरीरधारणके सिद्धान्तकी तुलनामें अधिक अच्छा आरम्भ मिला है।

तो भी, यहाँतक पुनर्शरीरधारणवादीका तर्क अच्छी और आदरणीय युक्ति है, भले ही निर्णयात्मक नहीं। परन्तु एक दूसरी युक्ति जो अधिक जोर-शोरसे उपस्थित की जाती है,—कमसे कम, जिस रूपमें वह सामान्यत: अपक्व मनको आकर्षित करनेके लिये उपस्थित की जाती है उसमें,——वह मुझे उस विरोधी युक्तिके बराबर लगती है जो स्मृतिके अभावके सहारे पेश की जाती है। यह वह नैतिक युक्ति है जिससे जगत्के प्रति ईश्वरके व्यवहार या जगत्के अपने-आपके प्रति व्यवहारका समर्थन करनेका प्रयत्न किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि जगत्के लिये अवश्य ही कोई नैतिक शासन होना चाहिए या, कमसे कम, विश्वमें पुण्यके बदले पुरस्कारका और पापके बदले दण्डका कोई विधान होना चाहिए। परन्तु हमारी संभ्रमित और अस्तव्यस्त पृथ्वीपर ऐसा कोई दण्ड या पुरस्कारका विधान नहीं दिखायी देता। हम देखते हैं कि

भला आदमी कष्टकी चक्कीमें पीसा जाता है और दुष्ट व्यक्ति जयपत्रके हरेभरे वृक्षकी तरह फलता फूलता है और जब उसका अन्त आता है तो उसे बुरी तरह काटकर फेंक नहीं दिया जाता। किन्तु यह तो असह्य है। यह क्रूर असंगति है, ईश्वरकी बुद्धिमत्ता और न्यायशीलतापर आक्षेप है, लगभग इस बातका प्रमाण है कि ईश्वर हैं नहीं; हमें इसका उपचार करना ही होगा। और यदि ईश्वर नहीं हैं तो हमारे लिये सदाचारका कोई और विधान होना ही चाहिये।

कितना सुखकर हो यदि हम भले आदमीकी पहचान और उसके भलेपनका माप भी इसके द्वारा कर सकें कि उसे अपने पेटमें डालनेके लिये कितना घी मिलता है और बैंकमें वह कितने खनखनाते रूपये जमा कर सकता है और उसे कौन-कौनसे विभिन्न सौभाग्य प्राप्त हैं,––कारण, क्या परमेश्वरको कड़ा और सम्माननीय लेखाकार नहीं होना चाहिए? हाँ, और यह भी कितना सुखकर होगा यदि हम दुष्टको सारे लुकाव-छिपावसे बाहर निकालकर उसपर अँगुली उठा सकें और चीख सकें, "रे दुष्ट व्यक्ति! तू यदि बुरा न होता तो ईश्वर द्वारा या, कमसे कम, शुभ द्वारा शासित जगत्में इस भाँति चिथड़ोंमें, भूखा, अभागा, शोकग्रस्त, मनुष्योंके बीच आदरसे वंचित क्यों रहता? हाँ, तेरी दुष्टता प्रमाणित हो गयी है, कारण, तू चिथड़ोंमें है। ईश्वरका न्याय स्थापित हो गया है।" सौभाग्यसे परम प्रज्ञा मनुष्यके बचकानेपनकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और श्रेष्ठतर है, अतः ऐसा होना असम्भव है। परन्तु हम एक बातसे सान्त्वना ले सकते है। ऐसा लगता है कि यदि भले आदमीको पर्याप्त सौभाग्य, घी और रूपये नहीं मिले हैं, तो इसका कारण यह है कि वह यथार्थमें बहुत दुष्ट व्यक्ति है जो अपने अपराधोंके बदले कष्ट पा रहा है,––परन्तु वह अपने गत जीवनमें ही दुष्ट था जो अपनी मांके पेटमें अकस्मात् परिवर्तित हो गया; और यदि वह सामने आता दुष्ट फल-फूल रहा है और जगत्को गौरवसे रौंद रहा है तो यह उसके भलेपनके कारण है, एक विगत जीवनके भलेपनके कारण, उस समयका वह सन्त बादमें बिलकुल बदलकर, ––क्या पुण्यकी कालिक निःसारताके कारण ही? ––पाप-सम्प्रदायमें आ गया है। तो अब सब कुछकी व्याख्या हो गयी, हर चीजका औचित्य प्रमाणित हो गया। हम अपने पापोंके लिये दूसरे शरीरमें कष्ट पाते हैं, हम अपने इस शरीरके पुण्योंके लिये अन्य शरीरमें पुरस्कृत होंगे; और इसी भाँति अनन्त काल चलता रहेगा। कोई आश्चर्य नहीं कि दार्शनिकोंको यह धन्धा जँचा नहीं और उन्होने पाप और पुण्य दोनोंसे छुटकारा पानेके लिये, यहाँ तक कि हमारे सर्वोच्च शुभके रूपमें, यह प्रस्ताव रखा कि इतने विस्मयकारी रूपसे शासित जगत्मेंसे किसी भाँति बाहर निकल भागा जाय।

यह स्पष्ट है कि यह व्यवस्था प्राचीन आध्यात्मिक-भौतिक रिश्वत और धमकीका,

भलोंके लिये दीर्घ सुखोंके स्वर्ग और दुष्टोंके लिये शाश्वत आग या पाशविक उत्पीड़नके नरकका ही एक भिन्न रूप है। जगत्के विधानके बारेमें यह भाव कि वह प्रमुखत: पुरस्कार और दण्डका निर्वाहक है, परम पुरुषके बारेके इस भावका सगोत्र है कि वह न्यायाधीश, पिता और विद्यालयके शिक्षककी तरह है जो अपने अच्छे बच्चोंको हमेशा मिठाईयाँ बाँटता और नटखट छोकरोंको बराबर सोंटी लगाता रहता है। यह उस बर्बर और अन्यायी प्रणालीका भी सगोत्र है जिसमें सामाजिक अपराधोंके लिये नृशंस और अपमानजनक दण्ड दिया जाता है और जिसपर मानव-समाज अभी भी आधारित है। अपने-आपको अधिकाधिक ईश्वरके प्रतिरूपमें घड़नेके स्थानपर मनुष्य निरन्तर ईश्वरको ही अपने प्रतिरूपमें घड़नेका आग्रह करता है, और ये सारे भाव हमारे अन्दर रहनेवाले बालक, बर्बर और पशुके प्रतिबिम्ब हैं जिन्हें रूपान्तरित करने या जिनसे आगे बढ़नेमें हम अभी तक विफल रहे हैं। यदि यह इतना अधिक स्पष्ट न होता कि मनुष्य अपने भूतकालके कूड़े-करकटको अपने ज्ञानियोंके गंभीरतर विचारोंके साथ टाँक देनेके विलाससे अपने-आपको वंचित नहीं रखना चाहता तो हमें यह आश्चर्य होता कि ये बालवत् कल्पनाएँ बौद्ध और हिन्दू धर्म जैसे गंभीर दार्शनिक धर्मोंमें कैसे प्रवेश कर गयीं।

चूँकि ये विचार इतने अधिक प्रमुख रहे थे अत: मानवजातिको प्रशिक्षित करनेमें उनकी उपयोगिता निस्सन्देह रही होगी। शायद यह भी सत्य है कि परमेश्वर शिशु-अन्तरात्माके साथ उसके बालकपनके अनुसार ही व्यवहार करता है और भौतिक शरीरकी मृत्युके बाद भी कुछ समयतक उसे अपनी स्वर्ग और नरक-सम्बन्धी संवेदनात्मक कल्पनाएँ जारी रखने देता है। शायद इस जीवनके बादके जीवन और पुनर्जन्मको दण्ड और पुरस्कारके क्षेत्रोंके रूपमें माननेकी आवश्यकता थी क्योंकि वे हमारी अर्ध-मनोभावापन्न पशुवृत्तिके लिए उपयुक्त थे। परन्तु एक विशेष स्थितिके बाद इस प्रणालीका कार्यकर प्रभाव जाता रहता है। मनुष्य स्वर्ग और नरकमें विश्वास करते हैं, परन्तु मजेसे पाप करते जाते हैं, अन्तमें पोपकी दया या पादरी द्वारा अन्तिम पापमोचन या मृत्यु-शय्याके पश्चात्ताप या गंगा-स्नान या वाराणसीकी पावन मृत्यु द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं,—हम अपने बचपनसे ऐसे बचकाने उपायों द्वारा छुटकारा पाते हैं! और अन्तमें मन वयस्क हो जाता है और शिशुकक्षकी सारी अनर्थक बातोंको तिरस्कारसे दूर हटा देता है। पुनर्जन्मका पुरस्कार और दण्डका सिद्धान्त यदि अपेक्षाकृत कुछ उन्नत है या, अन्ततः, कम अपरिष्कृत रूपसे सनसनी पैदा करता है, तो भी वह उतना ही प्रभावहीन निकलता है। और ऐसा होना अच्छा भी है। कारण, यह बात असह्य है कि दिव्य सामर्थ्यवाला मनुष्य पुरस्कारके लिये पुण्यात्मा बने और भयके कारण पापको छोड़े। स्वार्थी कायर या ईश्वरके साथ क्षुद्र मोलतोल करने

वालेकी अपेक्षा सबल पापी होना बेहतर है; उसमें अधिक दिव्यता होती है, ऊपर उठनेकी अधिक क्षमता होती है। गीताने सत्य ही कहा है, कृपणाः फलहेतवः। और यह अकल्पनीय है कि इस विशाल और तेजस्वी जगत्की योजना इन तुच्छ और निकृष्ट हेतुओंपर आधारित हो। इन मतोंमें विवेक है ? तो वह शिशुकक्षका विवेक है बचकाना है। सदाचार-नीति ? तो वह सदाचार-नीति कीचड़की है, पंकिल है।

पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी सच्ची भित्ति अन्तरात्माका क्रमविकास, या यूँ कहें, उसका जड़तत्त्वके पर्देमेंसे प्रस्फुटन और उसकी क्रमिक आत्म-प्राप्ति है। बौद्ध धर्मने इस सत्यको अपने कर्म और कर्म-निवृत्तिके सिद्धान्तमें प्रच्छन्न रूपसे तो समाविष्ट रखा था, परन्तु वह उसे प्रकाशमें लानेमें असफल रहा; हिन्दू धर्मने इसे पुरातन कालसे ही जाना था, परन्तु बादमें उसकी भावव्यंजनामें वह सही सन्तुलनको खो बैठा। अब हम फिरसे उसी प्राचीन सत्यको एक नयी भाषामें कहनेमें समर्थ हुए हैं और कुछ विचार-पंथ ऐसा कर भी रहे हैं, किन्तु पुरानी पपड़ियाँ अभी तक गंभीरतर बुद्धिमत्ताके साथ जुड़ी रहना चाहती हैं। और यदि यह क्रमिक प्रस्फुटन सच है तो पुनर्जन्मका सिद्धान्त एक बौद्धिक आवश्यकता है, तर्कणामें अनिवार्य उपपरिणाम है। परन्तु उस विकासक्रमका लक्ष्य क्या है ? रूढ़िगत या सकाम पुण्य नहीं, किसी संविभाजित भौतिक पुरस्कारकी आशामें अच्छाईकी छोटी-छोटी मुद्राओंकी ठीक-ठीक गिनती नहीं, वरन् दिव्य ज्ञान, बल, प्रेम और शुचिताकी निरन्तर वृद्धि। ये वस्तुएँ ही यथार्थ पुण्य हैं और यह पुण्य अपना पुरस्कार आप ही है। प्रेमके कार्योंका एकमात्र सच्चा पुरस्कार है आत्माके सर्वग्राही आलिंगन और विश्वानुरागके उल्लासके मिलनेतक प्रेमके आनन्द और सामर्थ्यमें सदा वर्द्धित होते जाना; सम्यक् ज्ञानके कर्मोंकाएकमात्र पुरस्कार है अनन्त ज्योतिकी ओर निरन्तर वर्द्धित होते जाना; सम्यक् शक्तिके कर्मोंका एकमात्र पुरस्कार है दिव्य शक्तिको अधिकाधिक धारण करना और शुचिताके कर्मोंका एकमात्र पुरस्कार है अहंसे अधिकाधिक मुक्त होकर उस निर्मल विशालतामें पहुँचना जहाँ सभी वस्तुएँ दिव्य समतामें रूपान्तरित और समन्वित हो जाती हैं। कोई और पुरस्कार खोजना मूर्खता और बालेय अज्ञानके साथ बँध जाना है; और इन चीजोंको भी पुरस्कारके रूपमें देखना अपक्वता और अपूर्णता है।

अब सुख और दुःख, समृद्धि और दुर्भाग्यकी बात ? ये अन्तरात्माके प्रशिक्षणमें उसके अनुभव हैं, उसके लिये सहायक, अवलम्ब, साधन, अनुशासन, कठोर परीक्षाएँ हैं,—और प्रायः समृद्धि दुःखकी अपेक्षा अधिक कठिन परीक्षा है। वस्तुतः, विपदा और कष्टको प्रायः पापके दण्डकी अपेक्षा पुण्यका पुरस्कार माना जा सकता है, क्योंकि अपने प्रस्फुटनके लिये संघर्ष करनेवाले अन्तरात्माका वह सबसे बड़ा सहायक और शोधक

सिद्ध होता है। उसे केवल न्यायाधीशका कठोर निर्णय, उत्तेजित शासकका क्रोध या बुराईके कारणपर बुराईके परिणामका यान्त्रिक प्रतिक्षेप मानना अन्तरात्माके प्रति ईश्वरके व्यवहारों और उसके विकासक्रमके नियमके बारेमें ऐसी दृष्टि है जिससे अधिक छिछली दृष्टि सम्भव नहीं। और, जागतिक वैभव धन और सन्तानकी, कला, सौन्दर्य तथा शक्तिके बाह्य भोगकी बात? यदि वे अन्तरात्माको हानि पहुँचाए बिना प्राप्त हो सकें और उनका भोग इस भाँति किया जा सके कि वे हमारे भौतिक जीवनपर दिव्य हर्ष तथा कृपाकी बाढ़ हैं तो अच्छा है। परन्तु पहले हमें उनकी खोज दूसरोंके लिये, बल्कि सबके लिये करनी चाहिये, और अपने लिये केवल वैशव अवस्थाके अँगके रूपमें या पूर्णताको समीपतर लानेके साधनके रूपमें।

अन्तरात्माको जैसे अपनी अमरताके प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही अपने पुनर्जन्मके प्रमाणकी भी नहीं। क्योंकि एक समय आता है जब वह चेतन रूपसे अमर और अपने शाश्वत तथा अक्षर सारतत्वके प्रति सबोध रहता है। एक बार यह उपलब्धि हो जाय तो अन्तरात्माकी अमरताके पक्ष और विपक्षमें होनेवाले सारे बौद्धिक प्रश्न स्वयंसिद्ध और नित्य विद्यमान सत्यके सामने अज्ञानके व्यर्थ कोलाहलकी तरह दूर हो जाते हैं; ततो न विचिकित्सते। अमरत्वमें सच्चा सक्रिय विश्वास तभी होता है जब वह हमारे लिये बौद्धिक सिद्धान्त नहीं, बल्कि श्वास लेनेकी भौतिक वास्तविकता जैसा स्पष्ट तथ्य बन जाता है और इसीकी तरह उसके लिये भी प्रमाण अथवा तर्ककी आवश्यकता नहीं रहती। इसी भाँति एक समय आता है जब अन्तरात्माको अपने शाश्वत तथा क्षर क्षणगत स्वरूपका बोध होता है; तब उसे पीछेके उन युगोंका बोध होता है जिनसे गतिधाराके वर्तमान संगठनका निर्माण हुआ, वह देखता है कि अविच्छिन्न अतीतमें उसकी तैयारी कैसे हुई थी, वह अतीतकी आन्तरात्मिक स्थितियों, परिवेशों, और क्रियाशीलताके उन विशेष रूपोंको स्मरण करता है जिन्होंने उसके वर्तमान उपादानोंको निर्मित किया है, और यह जानता है कि वह अविच्छिन्न भविष्यमें विकास द्वारा किसकी ओर बढ़ रहा है। यही पुनर्जन्ममें सच्चा सक्रिय विश्वास है, और यहाँ भी प्रश्नकारिणी बुद्धिकी क्रीड़ा बन्द हो जाती है; अन्तरात्माकी दृष्टि और अन्तरात्माकी स्मृति ही सब कुछ हैं। अवश्य ही, विकासके तंत्रका और पुनर्जन्मके नियमोंका प्रश्न रह जाता है जिसमें बुद्धिकी, उसकी पूछताछकी, उसकी सर्वसामान्यीकरण-वृत्तिकी कुछ क्रीड़ा फिर भी हो सकती है। और यहाँ, जितना अधिक विचार और अनुभव किया जाय, पुनर्शरीरधारणके साधारण, सरल और कटे-छँटे सिद्धांन्तकी प्रमाणिकता उतनी ही अधिक संदिग्ध लगने लगती है। यहाँ अवश्य ही एक अधिक बड़ी जटिलता है, 'अनन्त' की सम्भावनाओंमेंसे एक अधिक संश्लिष्ट सामंजस्य

और अधिक दुष्कर गतिका नियम विकसित हुआ है। परन्तु यह ऐसा प्रश्न है जिसके लिये लम्बे और प्रचुर विवेचनकी आवश्यकता है, क्योंकि इसका धर्म सूक्ष्म है; अणुर्ह्येष धर्मः।

दो

पुनःशरीरधारी अन्तरात्मा

जनसाधारणमें मानव-विचार अविवेचित विचारोंकी मोटी और स्थूल स्वीकृति ही होता है; वह उनींदे संतरीकी तरह होता है और हर अच्छी वेशभूषावाली या रमणीय रूपवाली या किसी परिचित संकेत-शब्दसे मिलते जुलते शब्द बुदबुदानेवाली चीजको फाटकके कन्दर आने देता है। ऐसा विशेष रूपसे सूक्ष्म बातोंमें, उन बातोंमें होता है जों हमारे भौतिक जीवन तथा परिवेशके ठोस तथ्योंसे दूर होती हैं। जो लोग साधारण बातोंमें सावधानी और चतुराईसे तर्क करते हैं और भूल-भ्रान्तिके विरुद्ध जागरूक रहनेको बौद्धिक या व्यवहारिक कर्त्तव्य समझते हैं वे भी जब उच्चतर और अधिक कठिन भूमिपर पहुँचते हैं तो अत्यधिक असावधानताकी ठोकर खानेसे तुष्ट हो जाते हैं। जहाँ यथार्थता और सूक्ष्म विचार सबसे जरूरी हैं, वहीं वे उसके प्रति सबसे अधिक अधीर रहते हैं और उनसे जिस श्रमकी माँग की जाती है उससे कतराते हैं। मनुष्य इन्द्रियगोचर चीजोंके बारेमें तो सूक्ष्म विचार कर सकता है, परन्तु सूक्ष्मके बारेमें सूक्ष्मतासे विचार करना हमारी बुद्धिकी स्थूलताके लिये अत्यधिक श्रमकारी होता है; अत: हम सत्यपर पुचारा मारकर वैसे ही तुष्ट हो जाते हैं जैसे एक चित्रकारने अभीष्ट फल प्राप्त न कर सकनेपर अपनी कूचीको चित्रपर दे मारा। हम परिणाममें उत्पन्न धब्बेको ही किसी सत्यका निर्दोष रूप माननेकी भूल करते हैं।

अत: यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मनुष्य पुनर्जन्म-जैसे विषयपर स्थूल रूपसे विचार करके सन्तुष्ट हो जाय। जो लोग उसे स्वीकार करते हैं, वे सामान्यत: उसे एक बनी-बनायी चीज की तरह , या तो कटे-छँटे मत या स्थूल सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं। उनके लिये यह अस्पष्ट और लगभग अर्थहीन मान्यता पर्याप्त होती है कि अन्तरात्मा नये शरीरमें पुनर्जन्म लेता है। परन्तु अन्तरात्मा क्या है और अन्तरात्माके पुनर्जन्मका अर्थ सम्भवत: क्या हो सकता है ? हाँ, इसका अर्थ होता है पुन: शरीरधारण; अन्तरात्मा, वह चाहे जो कुछ हो, मांसकी एक पेटीमेंसे निकल गया था और अब मांसकी एक दूसरी पेटीमें आ रहा है। बात सीधी सादी लगती है, ——कह सकते हैं कि यह अरबकी कहानियोंके 'जिन' की तरह है जो अपनी शीशीमेंसे निकलकर बाहर फैल जाता और फिर सिकुड़कर उसीमें वापस आ जाता है, या शायद तकियेकी तरह जिसे एक खोलसे निकालकर दूसरे खोलमें डाल दिया जाता है। या अन्तरात्मा अपनेसे ही मांके गर्भमें किसी शरीरको

घड़ता और फिर उसमें रहने लगता है, या यूँ कहें, मांसकी एक वेशभूषाको उतारकर देता और दूसरीको पहन लेता है। परन्तु जो इस भाँति एक शरीरको "छोड़ता" और दूसरेमें "प्रवेश" करता है, वह है क्या? क्या वह एक चैत्य शरीर और सूक्ष्म रूप जैसा अन्य कुछ है जो स्थूल शारीरिक रूपमें प्रवेश करता है?——वह शायद प्राचीन रूपकका पुरूष है जो मनुष्यके अंगूठेसे बड़ा नहीं, या क्या वह कोई निराकार और स्पर्शातीत वस्तु ही है जो हाड़-मांसकी इन्द्रियगोचर आकृति बन जानेके अर्थमें शरीर धारण करती है?

सामान्य या गँवारू धारणाके अनुसार अन्तरात्माके जन्मकी बात ही नहीं है, बल्कि जगत्में एक नये शरीरका जन्म होता है जिसमें एक पुराना व्यक्तित्व निवास करता है। वह व्यक्तित्व उससे भिन्न नहीं होता जिसने किसी दिन अभीके परित्यक्त शरीरके ढाँचेको छोड़ दिया था। सोहनलाल जिस मांस-पिण्डमें रहता था उसमेंसे बाहर निकलकर जानेवाला सोहनलाल ही है; यह सोहनलाल ही कल या कुछ शताब्दियों बाद मांसके दूसरे पिण्डमें पुनः शरीर धारण करेगा और अपने पार्थिव अनुभवोंकी धाराका किसी नये नामसे और भिन्न परिवेशमें आरम्भ करेगा। उदाहरणके लिये, एचिलिस मेसिडोनियावासी फिलिपके पुत्र सिकन्दरके रूपमें पुनर्जन्म लेता है, तब वह हेक्टरका नहीं, डेरिअसका विजेता होता है, उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है, और उसकी नियति अधिक विशाल; परन्तु तब भी वह एचिलिस ही है, वही व्यक्तित्व है जिसने पुनर्जन्म ले लिया है, केवल शारीरिक परिस्थितियाँ भिन्न हैं। पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें एक ही व्यक्तित्वका इस-प्रकार उत्तरजीवी होना ही आजके यूरोपीय मनको आकर्षित करता है; कारण, व्यक्तित्वका, इस मानसिक, स्नायविक और शारीरिक सम्मिश्रणका, जिसे हम अपना आपा कहते हैं, विलोपन या विघटन सहना ही जीवनसे अनुराग रखनेवालेके लिये कठिन होता है, और उसकी उत्तरजीविता तथा भौतिक पुनःप्राकटयका आश्वासन ही बड़ा आकर्षण है। उसे स्वीकार करनेमें जो एक आपत्ति वस्तुतः बाधा देती है वह है स्मृतिका स्पष्ट विनाश। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहता है कि स्मृति ही मनुष्य है, और हमारे व्यक्तित्वकी उत्तरजीविताका लाभ ही क्या यदि भूतकालकी स्मृति न बनी रहे, यह बोध न रहे कि हम अब भी और सदा ही वही व्यक्ति हैं? उसकी क्या उपादेयता रही? कहाँ मजा रहा?

प्राचीन भारतीय विचारकोंने,——यहाँ मैं लोक-प्रचलित विश्वासकी बात नहीं कर रहा जो काफी असंस्कृत था और जिसने इस विषयपर विचार ही नहीं किया,——प्राचीन बौद्ध तथा वेदान्ती चिन्तकोंने सारे क्षेत्रका पर्यवेक्षण एक बहुत भिन्न दृष्टिकोणसे किया था। वे व्यक्तित्वकी उत्तरजीविताके प्रति आसक्त नहीं थे, उन्होंने इस उत्तर-

जीविताको अमरताका ऊँचा नाम नहीं दिया था; उन्होंने देखा था कि व्यक्तित्व एक सतत परिवर्तित होता सम्मिश्रण है और इस दशामें एक ही व्यक्तित्वकी उत्तरजीविता एक अर्थहीन बात, एक शाब्दिक अन्तर्विरोध है। उन्होंने वस्तुतः यह अनुभव किया था कि एक सातत्य तो है और उन्होंने यह ढूँढ़ना भी चाहा कि उस सातत्यका निर्धारक क्या है और उसमें जो अभिन्न व्यक्तित्वका भाव प्रविष्ट होता है वह भ्रम है या किसी वास्तविकताका, किसी यथार्थ सत्यका प्रदर्शन, और यदि पिछली बात ठीक है, तो वह सत्य क्या हो सकता है। बौद्धोंने किसी भी यथार्थ व्यक्तित्वको नहीं माना। उन्होंने कहा कि न तो आत्मा है, न व्यक्ति ही, बस क्रियारत शक्तिका एक अविच्छिन्न स्रोत है, जैसे किसी नदीका अविच्छिन्न बहाव हो या अग्नि-शिखाका अविच्छिन्न जलना। यह अविच्छिन्नता ही मनमें अभिन्न व्यक्तित्वका मिथ्या भाव उत्पन्न करती है। मैं आजके दिन वही व्यक्ति नहीं हूँ जो एक वर्ष पहले था, वह व्यक्ति भी नहीं हूँ जो एक ही क्षण पहले था, बात वैसे ही है जैसे सामनेके घाटमें बहता हुआ पानी वही पानी नहीं है जो कुछ क्षण पहले उधरसे गुजरा था; एक ही धारामें निरन्तर प्रवाह ही अभिन्न व्यक्तित्वकी मिथ्या प्रतीतिको बनाये रखता है। अतः स्पष्ट है कि कोई अन्तरात्मा नहीं है जो पुनःशरीर धारण करता हो, प्रत्युत केवल कर्म है जो उसी अविरत दीखनेवाली धारामें अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होता रहता है। कर्म ही शरीर धारण करता है; कर्म ही सतत परिवर्तनशील मनोवृत्ति और भौतिक शरीरोंकी सृष्टि करता है जो, हम मान सकते हैं, विचारों और संवेदनोंके उस परिवर्तनशील सम्मिश्रणका परिणाम है जिसे हम हम कहते हैं। वह अभिन्न "हम" है नहीं, न वह कभी था, न कभी होगा। व्यवहारतया, जबतक व्यक्तित्वकी भूल बनी रहती है, तबतक उससे बहुत अन्तर नहीं पड़ता और हम अज्ञानकी भाषामें कह सकते हैं कि हम एक नये शरीरमें पुनर्जन्म लेते हैं; व्यवहारतया हमें उसी भूलके आधारपर आगे बढ़ना है। परन्तु एक यह महत्वपूर्ण बात मिल गयी है कि यह सब भूल है, और एक ऐसी भूल है जिसका अन्त हो सकता है; उस सम्मिश्रणको नयी रचना किये विना सदाके लिये खण्डित किया जा सकता है, अग्निशिखाको बुझाया जा सकता है, जिस धाराने अपने-आपको नदी कहा था उसका विनाश किया जा सकता है। और तब है अ-सत्ता, अवसान, भूल-भ्रान्तिका अपने-आपमेंसे छुटकारा।

वेदान्ती एक भिन्न निष्कर्षपर पहुँचता है; वह एक अभिन्नको, एक आत्माको, एक स्थायी अपरिवर्तनशील सद्वस्तुको स्वीकार करता है,——परन्तु वह हमारे व्यक्तित्वसे भिन्न है, जिस सम्मिश्रणको हम हम कहते हैं उससे भिन्न। कठोपनिषद्में यह प्रश्न एक बहुत ही शिक्षाप्रद रीतिसे उठाया गया है जो हमारे वर्तमान विषयके लिये बिलकुल

प्रासंगिक है। अपने पिता द्वारा मृत्युलोकमें भेजा गया नचिकेतस उस लोकके अधिपति यमसे यों प्रश्न करता है: जो मनुष्य आगे चला गया है, जो हमसे विदा लेकर चला गया है, उसके बारेमें कुछ लोग कहते हैं कि वह है और दूसरे कहते हैं कि "वह यह नहीं है"; तो उनमें कौन ठीक है? उस महा यात्राका सत्य क्या है? यही प्रश्नका रूप है और पहली नजरमें ऐसा लगता है कि यह अमरता शब्दके यूरोपीय अर्थमें उसकी समस्याको, अभिन्न व्यक्तित्वकी उत्तरजीविताकी समस्याको उठा रहा है। परन्तु नचिकेतस जो पूछ रहा है वह यह नहीं है। यमके तीन वरदानोंमेंसे दूसरेमें वह उस पवित्र अग्निका ज्ञान पा चुका है जिसके द्वारा मनुष्य भूख और प्यासको पार कर जाता, दुःख और भयको बहुत पीछे छोड़ जाता और निश्चित रूपसे आनन्द पाता हुआ स्वर्गमें निवास करता है। उस अर्थमें तो वह अमरताको स्वीकृत जैसा मान लेता है, जैसा कि उस दूरस्थ लोकमें स्थित होनेसे वह अवश्य करेगा। वह जिस ज्ञानकी माँग कर रहा है, उसमें वह गभीरतर, सूक्ष्मतर समस्या समाविष्ट है जिसके बारेमें यमका कथन है कि पुरातन कालमें देवोंने भी इस विषयपर विवाद किया था और इसे जानना आसान नहीं है, क्योंकि उसका धर्म सूक्ष्म है; कोई ऐसी वस्तु उत्तरजीविनी रहती है जो वही व्यक्ति प्रतीत होती है, जो नरकमें उतरती, स्वर्गमें चढ़ती और पृथ्वीपर एक नये शरीरके साथ वापस आती है, परन्तु क्या यथार्थतः वही व्यक्ति उत्तरजीवी होता है? उस मनुष्यके बारेमें क्या हम यथार्थतः कह सकते हैं "वह अभी तक है"? क्या इसकी जगह बल्कि हमें यह न कहना चहिये कि "वह अब यह और नहीं है"? यम भी अपने उत्तरमें मृत्युके बाद उत्तरजीविताकी बात बिलकुल नहीं कहते और वह केवल एक-दो श्लोकोंमें उस सतत पुनर्जन्मका वर्णन मात्र कर देते हैं जिसे सभी गम्भीर विचारकोंने सर्वमान्य सत्यके रूपमें स्वीकार किया था। वह जिसकी बात करते हैं वह 'आत्मा' है, यथार्थ 'मनुष्य' है, इन सारे बदलते हुए रूपोंका प्रभु है; उस 'आत्मा'के ज्ञानके बिना व्यक्तित्वकी उत्तरजीविता अमर जीवन नहीं, अपितु निरन्तर मृत्युसे मृत्युकी ओर यात्रा है; अमर केवल वही बनता है जो व्यक्तित्वसे परे सच्चे व्यक्तित्वको प्राप्त करता है। तबतक मनुष्य सचमुच अपने ज्ञान तथा कर्मोंकी शक्तिसे बार-बार जन्म लेता प्रतीत होता है, एक नामके बाद दूसरा नाम आता है, एक रूपके स्थानपर दूसरा रूप आता है, परन्तु अमरता नहीं आती।

तो यही वह यथार्थ प्रश्न है जिसे बौद्ध तथा वेदान्ती इतने भिन्न रूपसे रखते और उत्तर देते हैं। नये शरीरोंमें व्यक्तित्वकी सतत पुनर्रचना होती है, परन्तु यह व्यक्तित्व क्रियाशील शक्तिकी क्षर सृष्टि है जो कालमें आगे प्रवाहित होती जाती है और कभी भी, एक क्षणके लिये भी, वहीकी वही नहीं होती, और जो अहं-बोध हमें शरीरके जीवनसे

चिपकाए रखता और आसानीसे यह विश्वास दिलाता है कि वह वही भाव और रूप है, कि सोहनलाल ही पुनर्जन्ममें सिदि हुसेन हो गया है, वह मनकी रचना है। एचिलिसने सिकन्दर बनकर पुनर्जन्म नहीं लिया था, वरन् अपने कार्योंमें लगी जिस शक्ति-धाराने एचिलिसके क्षण-क्षण परिवर्तित होते मन और शरीरकी सृष्टि की थी वह आगे बहती गयी और उसने सिकन्दरके हर क्षण परिवर्तित होते मन और शरीरकी सृष्टि की। किन्तु प्राचीन वेदान्तने कहा कि फिर भी इस क्रियारत शक्तिसे परे कुछ और है जो उसका स्वामी है, वह है जो उससे अपने लिये नये नाम और रूप बनवाता है, और वही है आत्मा, पुरुष, मनुष्य और सच्चा व्यक्ति। अहं-बोध उसकी विकृत मूर्ति मात्र है जो शरीरधारी मनके बहते स्रोतमें प्रतिबिम्बित होती है।

तो क्या आत्मा ही शरीर लेता और बार-बार शरीर बदलता है? परन्तु आत्मा तो अविनाशी, अक्षर, अज, अमर है। आत्मा न तो शरीरमें जन्म लेता है, न उसमें रहता ही है; इसके विपरीत शरीर ही आत्मामें जन्म लेता और उसमें रहता है। कारण, आत्मा सर्वत्र एक है, —हम कहते हैं, सब शरीरोंमें एक ही है, परन्तु यथार्थमें, वह विभिन्न शरीरमें सीमित और बँटा हुआ नहीं है, सिवाय इसके कि वह सर्वोपादान आकाश जैसा है जो विभिन्न पदार्थ बन गया लगता है और एक अर्थमें उनके अन्दर है। बल्कि ये सारे शरीर आत्मामें हैं, परन्तु यह भी देश-धारणाकी कल्पना ही है, और ये शरीर उसके अपने प्रतीक तथा आकृतियाँ मात्र हैं जिनकी सृष्टि उसीने कपनी स्व-चेतनामें की है। जिसे हम वैयक्तिक अन्तरात्मा कहते हैं वह भी अपने शरीरसे बढ़कर है, कम नही, उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है और फलतः उसकी स्थूलतासे बँधा नहीं है। मृत्युके समय वह अपने रूपसे विदा नहीं लेता, वरन् उसे उतार फेंकता है, अतः महान् आत्मा प्रयाणके समय इस मृत्युके बारेमें सशक्त भाषामें कह सकता है, "मैंने शरीरको थूक दिया है।"

तो वह क्या है जिसे हम शारीरिक ढाँचेमें निवास करता अनुभव करते हैं? वह क्या है जिसे आत्मा इस आंशिक शारीरिक चोलेको उतारकर फेंकते समय शरीरसे खींच लेता है, जिसने स्वयं उसको नहीं, अपितु उसके अंगोंके एक भागको आच्छादित कर रखा था? वह क्या है जिसके बाहर निकलनेसे यह विछोह-पीड़ा होती है, वियोगका यह तेज संघर्ष और कष्ट होता है, उग्र सम्बन्ध-विच्छेदका यह भाव पैदा होता है? इसका उत्तर हमें बहुत सहायता नहीं देता। वह सूक्ष्म या चैत्य ढाँचा है जो हृत्तंत्रियों द्वारा, प्राण-शक्तिकी, स्नायविक ऊर्जाकी उन डोरियों द्वारा भौतिक शरीरके साथ बँधा होता है जो प्रत्येक भौतिक रेशेमें बुन दी गयी है। शरीरके प्रभु इसे ही खींच निकालते हैं और प्राण-डोरियोंका उग्र रूपसे तोड़ा जाना या तेजीसे या धीरे-धीरे ढीला

किया जाना, संयोजिका शक्तिका चला जाना ही, मृत्युकी वेदना और उसकी कठिनाईका कारण है।

तो हम प्रश्नका रूप बदल दें और यह पूछें कि जब आत्मा अक्षर है तो वह क्या है जो क्षर व्यक्तित्वको प्रतिविम्वित और स्वीकार करता है? वास्तवमें एक अक्षर आत्मा, एक सत्-व्यक्ति होता है जो इस सदा-परिवर्तनशील व्यक्तित्वका अधिपति है, और फिर यह व्यक्तित्व सदा-परिवर्तनशील शरीरोंको धारण करता है, परन्तु सदात्मा सदा ही अपने बारेमें यह जानता है कि वह क्षरसे ऊपर है, वह उसे देखता और उसका भोग करता है, परन्तु उसके अन्दर उलझता नहीं। वह क्या है जिसके द्वारा परिवर्तनोंका भोग करता और उन्हें अपना अनुभव करता है, जब कि वह यह भी जानता है कि वह स्वयं इन सबसे अप्रभावित है? मन और अहं-बोध केवल निम्न उपकरण हैं; उसका अपना कोई अधिक मूलभूत रूप अवश्य होगा जिसे 'यथार्थ मनुष्य' व्यक्त करता है, मानों अपने ही सामने और परिवर्तनोंके पीछे रखता है जिससे वह उन्हें आधार दे सके और प्रतिबिम्बित कर सके, साथ ही उनके द्वारा वस्तुतः परिवर्तित भी न हो। यह अधिक मूलभूत रूप मनोमय पुरुष या मनोमय व्यक्ति है जिसे उपनिषदोंने प्राण तथा शरीरका नेता कहा है, मनोमयः प्राण-शरीर-नेता। वही अहं-बोधको मनमें एक क्रिया-व्यापारके रूपमें बनाए रखता है और हमें आत्माकी कालरहित अभिन्नताके प्रतिपक्षमें कालके अन्दर अविच्छिन्न व्यक्तित्वकी दृढ़ धारणाको रखनेमें समर्थ करता है।

परिवर्तनशील व्यक्तित्व यह मनोमय पुरुष नहीं है; वह प्रकृतिके विविध उपादानोंका सम्मिश्रण है, प्रकृतिकी रचना है, पुरुष बिलकुल नहीं। और वह एक बहुत जटिल सम्मिश्रण होता है जिसमें बहुतहसी परतें होती हैं; एक परत अन्नमय व्यक्तित्वकी, एक परत स्नायवीयकी, एक परत मनोमयकी, एक अन्तिम स्तर अतिमानसिक व्यक्तित्वका भी। और फिर इन परतोंके अन्दर भी प्रत्येक स्तरके अन्दर कई स्तर होते हैं। हमसे व्यक्तित्वका नाम पानेवाली इस आश्चर्यजनक सृष्टिके विश्लेषणकी तुलनामें पृथ्वीकी एकके बाद एक करके आनेवाली परतोंका विश्लेषण एक सरल चीज है। बार-बार शारीरिक जीवन धारण करनेवाला मनोमय पुरुष अपने नये पार्थिव अस्तित्वके लिये नया व्यक्तित्व घड़ता है; वह भौतिक जगत्की सर्वसामान्य जड़-सामग्री, प्राण-सामग्री, मानस-सामग्रीमेंसे सामग्री लेता है और पर्थिव जीवनमें निरन्तर नयी सामग्रीको आत्मसात् करता जाता है, और जो खर्च हो चुका है उसे बाहर फेंकता जाता है, अपने शारीरिक, स्नायविक और मानसिक तन्तुओंको बदलता रहता है। परन्तु यह सारा सतही कार्य होता है; पीछे भूतकालके अनुभवकी नींव रहती है जिसे स्थूल स्मृतिमें आनेसे रोक रखा जाता है ताकि उपरितलीय चेतना अतीतके

चिपकाए रखता और आसानीसे यह विश्वास दिलाता है कि वह वही भाव और रूप है, कि सोहनलाल ही पुनर्जन्ममें सिदि हुसेन हो गया है, वह मनकी रचना है। एचिलिसने सिकन्दर बनकर पुनर्जन्म नहीं लिया था, वरन् अपने कार्योंमें लगी जिस शक्ति-धाराने एचिलिसके क्षण-क्षण परिवर्तित होते मन और शरीरकी सृष्टि की थी वह आगे बहती गयी और उसने सिकन्दरके हर क्षण परिवर्तित होते मन और शरीरकी सृष्टि की। किन्तु प्राचीन वेदान्तने कहा कि फिर भी इस क्रियारत शक्तिसे परे कुछ और है जो उसका स्वामी है, वह है जो उससे अपने लिये नये नाम और रूप बनवाता है, और वही है आत्मा, पुरुष, मनुष्य और सच्चा व्यक्ति। अहं-बोध उसकी विकृत मूर्ति मात्र है जो शरीरधारी मनके बहते स्रोतमें प्रतिबिम्बित होती है।

तो क्या आत्मा ही शरीर लेता और बार-बार शरीर बदलता है? परन्तु आत्मा तो अविनाशी, अक्षर, अज, अमर है। आत्मा न तो शरीरमें जन्म लेता है, न उसमें रहता ही है; इसके विपरीत शरीर ही आत्मामें जन्म लेता और उसमें रहता है। कारण, आत्मा सर्वत्र एक है, —हम कहते हैं, सब शरीरोंमें एक ही है, परन्तु यथार्थमें, वह विभिन्न शरीरमें सीमित और बँटा हुआ नहीं है, सिवाय इसके कि वह सर्वोपादान आकाश जैसा है जो विभिन्न पदार्थ बन गया लगता है और एक अर्थमें उनके अन्दर है। बल्कि ये सारे शरीर आत्मामें हैं, परन्तु यह भी देश-धारणाकी कल्पना ही है, और ये शरीर उसके अपने प्रतीक तथा आकृतियाँ मात्र हैं जिनकी सृष्टि उसीने कपनी स्व-चेतनामें की है। जिसे हम वैयक्तिक अन्तरात्मा कहते हैं वह भी अपने शरीरसे बढ़कर है, कम नही, उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है और फलतः उसकी स्थूलतासे बँधा नहीं है। मृत्युके समय वह अपने रूपसे विदा नहीं लेता, वरन् उसे उतार फेंकता है, अतः महान् आत्मा प्रयाणके समय इस मृत्युके बारेमें सशक्त भाषामें कह सकता है, "मैंने शरीरको थूक दिया है।"

तो वह क्या है जिसे हम शारीरिक ढाँचेमें निवास करता अनुभव करते हैं? वह क्या है जिसे आत्मा इस आंशिक शारीरिक चोलेको उतारकर फेंकते समय शरीरसे खींच लेता है, जिसने स्वयं उसको नहीं, अपितु उसके अंगोंके एक भागको आच्छादित कर रखा था? वह क्या है जिसके बाहर निकलनेसे यह विछोह-पीड़ा होती है, वियोगका यह तेज संघर्ष और कष्ट होता है, उग्र सम्बन्ध-विच्छेदका यह भाव पैदा होता है? इसका उत्तर हमें बहुत सहायता नहीं देता वह सूक्ष्म या चैत्य ढाँचा है जो हृत्तंत्रियों द्वारा, प्राण-शक्तिकी, स्नायविक ऊर्जाकी उन डोरियों द्वारा भौतिक शरीरके साथ बँधा होता है जो प्रत्येक भौतिक रेशेमें बुन दी गयी है। शरीरके प्रभु इसे ही खींच निकालते हैं और प्राण-डोरियोंका उग्र रूपसे तोड़ा जाना या तेजीसे या धीरे-धीरे ढीला

किया जाना, संयोजिका शक्तिका चला जाना ही, मृत्युकी वेदना और उसकी कठिनाईका कारण है।

तो हम प्रश्नका रूप बदल दें और यह पूछें कि जब आत्मा अक्षर है तो वह क्या है जो क्षर व्यक्तित्वको प्रतिबिम्बित और स्वीकार करता है? वास्तवमें एक अक्षर आत्मा, एक सत्-व्यक्ति होता है जो इस सदा-परिवर्तनशील व्यक्तित्वका अधिपति है, और फिर यह व्यक्तित्व सदा-परिवर्तनशील शरीरोंको धारण करता है, परन्तु सदात्मा सदा ही अपने बारेमें यह जानता है कि वह क्षरसे ऊपर है, वह उसे देखता और उसका भोग करता है, परन्तु उसके अन्दर उलझता नहीं। वह क्या है जिसके द्वारा परिवर्तनोंका भोग करता और उन्हें अपना अनुभव करता है, जब कि वह यह भी जानता है कि वह स्वयं इन सबसे अप्रभावित है? मन और अहं-बोध केवल निम्न उपकरण हैं; उसका अपना कोई अधिक मूलभूत रूप अवश्य होगा जिसे 'यथार्थ मनुष्य' व्यक्त करता है, मानों अपने ही सामने और परिवर्तनोंके पीछे रखता है जिससे वह उन्हें आधार दे सके और प्रतिबिम्बित कर सके, साथ ही उनके द्वारा वस्तुतः परिवर्तित भी न हो। यह अधिक मूलभूत रूप मनोमय पुरुष या मनोमय व्यक्ति है जिसे उपनिषदोंने प्राण तथा शरीरका नेता कहा है, मनोमयः प्राण-शरीर-नेता। वही 'अहं-बोधको मनमें एक क्रिया-व्यापारके रूपमें बनाए रखता है और हमें आत्माकी कालरहित अभिन्नताके प्रतिपक्षमें कालके अन्दर अविच्छिन्न व्यक्तित्वकी दृढ़ धारणाको रखनेमें समर्थ करता है।

परिवर्तनशील व्यक्तित्व यह मनोमय पुरुष नहीं है; वह प्रकृतिके विविध उपादानोंका सम्मिश्रण है, प्रकृतिकी रचना है, पुरुष बिलकुल नहीं। और वह एक बहुत जटिल सम्मिश्रण होता है जिसमें बहुतसी परतें होती हैं; एक परत अन्नमय व्यक्तित्वकी, एक परत स्नायवीयकी, एक परत मनोमयकी, एक अन्तिम स्तर अतिमानसिक व्यक्तित्वका भी। और फिर इन परतोंके अन्दर भी प्रत्येक स्तरके अन्दर कई स्तर होते हैं। हमसे व्यक्तित्वका नाम पानेवाली इस आश्चर्यजनक सृष्टिके विश्लेषणकी तुलनामें पृथ्वीकी एकके बाद एक करके आनेवाली परतोंका विश्लेषण एक सरल चीज है। बार-बार शारीरिक जीवन धारण करनेवाला मनोमय पुरुष अपने नये पार्थिव अस्तित्वके लिये नया व्यक्तित्व घड़ता है; वह भौतिक जगत्की सर्वसामान्य जड़-सामग्री, प्राण-सामग्री, मानस-सामग्रीमेंसे सामग्री लेता है और पर्थिव जीवनमें निरन्तर नयी सामग्रीको आत्मसात् करता जाता है, और जो खर्च हो चुका है उसे बाहर फेंकता जाता है, अपने शारीरिक, स्नायविक और मानसिक तन्तुओंको बदलता रहता है। परन्तु यह सारा सतही कार्य होता है; पीछे भूतकालके अनुभवकी नींव रहती है जिसे स्थूल स्मृतिमें आनेसे रोक रखा जाता है ताकि उपरितलीय चेतना अतीतके

चेतन भारसे कष्ट या बाधा न पाय, वरन् जो तात्कालिक कार्य हाथमें लिया हुआ है उसपर केन्द्रित रहे। तथापि, भूतकालके अनुभवकी वह नींव व्यक्तित्वकी दृढ़ आधार-शिला है, उससे भी अधिक है। वह हमारा वास्तविक कोष है; अपने परिवेशके साथ होनेवाले अपने वर्तमान ऊपरी वाणिज्य अतिरिक्त भी हम उस कोषका सदा सहारा ले सकते हैं। वह वाणिज्य हमारे लाभोंमें वृद्धि करता है, परवर्ती जीवनके लिये नींवमें परिवर्तन करता है।

इसके अतिरिक्त, फिर, यह सब भी सतहपर ही है। हमारे 'स्व' का एक छोटासा भाग ही हमारे पार्थिव जीवनकी ऊर्जाओंमें रहता और कार्य करता है। जैसे भौतिक विश्वके पीछे अन्य लोक हैं, हमारा जगत् जिनका अंतिम परिणाम ही है, वैसे ही हमारी आत्म-सत्ताके लोक हैं जो हमारी सत्ताके इस वाह्य रूपको बाहर प्रकट करते हैं। अवचेतन और अतिचेतन वे समुद्र हैं जिनमेंसे और जिनकी ओर यह नदी बहती है। अतः हमारा अपने बारेमें यह कहना कि हम बार-बार शरीर धारण करनेवाला अन्तरात्मा हैं, हमारे अस्तित्वके चमत्कारको एक अति-सरल रूप दे देना है; यह कथन उस परम ऐन्द्रजालिकके इन्द्रजालको एक अति सुविधाजनक और अति स्थूल सूत्रमें प्रस्तुत करता है। ऐसी कोई निश्चित चैत्य सत्ता नहीं है जो मांसके एक नये खोलमें प्रवेश कर रही हो; एक पुनर्अन्तरात्मानुप्रवेश, एक नये चैत्य व्यक्तित्वका पुनर्जन्म और साथ ही एक नये शरीरका जन्म होता है। और इसके पीछे रहता है पुरुष, अपरिवर्तनशील सत्ता, इस संश्लिष्ट सामग्रीका व्यवहार करनेवाला स्वामी, इस आश्चर्यजनक कौशलका शिल्पी।

यही वह आरम्भ-विन्दु है जहाँसे हमें पुनर्जन्मकी समस्यापर विचार करनेके लिये अग्रसर होना होगा। अपने-आपको इस भाँति देखना कि अमुक-अमुक व्यक्ति मांसके एक नये खोलमें प्रवेश कर रहा है अज्ञानमें ठोकरें खाते फिरना है, जड़मय मन और इन्द्रियोंकी भूलको पक्का करना है। शरीर एक सुविधा है, व्यक्तित्व एक सतत रचना है जिसके विकासके लिये कर्म तथा अनुभव उपकरण है; परन्तु वह आत्मा जिसकी इच्छासे और जिसके आनन्दके लिये यह सब है, इस शरीरसे भिन्न है, कर्म और अनुभवसे भिन्न है, और वे जिस व्यक्तित्वको विकसित करते हैं उससे भी भिन्न है। इसकी अवज्ञा करना अपनी सत्ताके सम्पूर्ण रहस्यकी अवज्ञा करना है।

तीन

पुनर्जन्म, क्रमविकास, आनुवंशिकता

क्रमविकास और आनुवंशिकता, ये दो सत्य, प्रकाशमय परिणामकी विशाल परिधि और बड़ी तात्त्विक महत्तावाले ये दो आविष्कार, आजकी विचारधाराके अग्रभागमें आते हैं। मैं समझता हूँ कि हमें इनको अपनी सत्तापर एक सुस्थापित और कभी न बुझनेवाले आलोकको तरह, एक सतत प्रकाशके दीपोंकी तरह मानना होगा, जिन्हें अभीतक पूरा सँवारा नहीं गया है, फिर भी जो उस हदतक सुनिश्चित हैं जिस हदतक मनुष्यके लिये बौद्धिक ज्ञानके विकासकी चलचित्रकी तरह निरन्तर बदलती प्रक्रियामें कोई चीज सम्भव हो सकती है। इनके बारेमें कहा जाता है कि जो मन हमारे आधुनिक विज्ञानके ठीक-ठीक, जिज्ञासु और बहुविधतः खोजी, किन्तु अन्तमें फिर भी आश्चर्यकारी रूपसे सीमित रहते अवलोकन और आश्चर्यकारी रूपसे सीमित रहती युक्तिबुद्धि द्वारा शासित, घड़ा गया और अपने दृढ़ साँचोंमें ढाला गया है, उस मनकी विशेषता रहनेवाली दृष्टिरीतिके लिये ये ही जीवनका लगभग सारा मूलभूत भाव हैं। विज्ञान अपने ढंगसे महान् द्रष्टा और जादूगर है; उसमें दोनों ही प्रकारकी, स्थूल और सूक्ष्म, ध्यानसे देखनेवाली और दूरदर्शिनी दृष्टिशक्तियाँ हैं, छानबीन और विश्लेषणके संकल्पको विघटन करनेवाली शक्ति और उद्भासक तथा समन्वयात्मक क्रियान्वयनकी सर्जनशक्ति है। विज्ञानने महान् स्रष्ट्रीकी मध्यवर्तिनी गुप्त प्रक्रियाओं-मेंसे अनेकोंका उनकी माँदतक पीछा किया है, और हमें जो आविष्कार-क्षमता मिली है उसके द्वारा एक पग आगे भी बढ़ सका है और बेहतर भी कर सका है। मनुष्य अनन्तताके बीच वामन ही है, जंगम होते हुए भी गुरुत्वाकर्षण के बलके कारण मिट्टीकी एक तुच्छ परतके सामीप्यके साथ जड़ा हुआ है, किन्तु उसने विज्ञानके द्वारा, सचमुचमें, विश्व-जननीके प्रतिपक्षमें अच्छी संख्यामें अंक प्राप्त कर लिये हैं। परन्तु यह सब पूर्णताके किसी अंशमें केवल सबसे निचले बाधक भौतिक क्षेत्रकी सीमाओंमें ही किया गया है।

चैत्यिक तथा आध्यात्मिक रहस्योंका सामना करनेके लिये, जैसा कि मनके खुले आरम्भिक जगत्के सम्बन्धमें भी होता है, विज्ञानको अभी तक बालककी ज्ञानहीन दृष्टि और उसके टटोलते हुए हाथ ही प्राप्त हैं। भौतिक क्षेत्रमें इतने सुनिश्चित, प्रकाशकारी और अप्रतिरोध्य रहनेवाले विज्ञानको इन क्षेत्रोंमें केवल एक बड़ी चमकती

भिनभिनाती अस्तव्यस्तता ही दीखती है जिसके बारेमें जेम्सने सानुप्रयास कथनकी शायद अपरिशुद्ध स्पष्टताके साथ कहा है कि वह इंद्रियानुभवगम्य जगत्के प्रति ऐसे नवजात शिशुकी दृष्टि है जो जगत्में जन्मकी रहस्यमयी सीढ़ियोंसे लुढ़कता आ गया है। विज्ञानके सामने जब चेतनाके वे व्यापार आते हैं जो उसके लिये अभी तक उसकी आश्चर्यजनक बेतरतीव संगतियाँ और चेतनाके अव्याख्यात चमत्कार हैं, तब वह सतर्क संशयात्मकताकी अपारदर्शी ढालके पीछे रहकर कल्पनाकी भूलोंसे तो अपनी रक्षा कर लेता है,——परन्तु प्रसंगवश उसी कारणसे एक अपर्याप्त अधिष्ठापनकी बहुल भूलोंमें जा गिरता है। विज्ञान डूबते हुए आदमीकी पकड़की दृढ़तासे – मानसिक क्रिया और संकेतात्मक या उपकरणात्मक शारीरिक क्रियाओंके बीच कुछ सुपरीक्षित सादृश्योंके साथ – यद्यपि इस तरहसे व्यवहृत इस शब्दका कोई अर्थ नहीं निकलता, सुरक्षाके तख्तोंसे चिपका रहता है जिनके बारेमें वह समझता है कि वे उसे उन सादृश्योंमें प्राप्त हैं। वह कृत-संकल्प है कि यदि हो सके तो प्रत्येक अतिभौतिक व्यापारकी व्याख्या किसी भौतिक वास्तविकताके द्वारा करे; उसके लिये मनकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाका अस्तित्व तभी हो सकता है जब कि वह शरीरकी किसी कार्यकी प्रक्रियाका ही परिणाम या प्रतिदान हो, अन्यथा नहीं। यह दृढ़ संकल्प प्रतीयमानतः युक्तिसंगत है और निश्चेय तथा दृढ़ रूपसे ठोस सत्यके लिये सतर्क है, परन्तु अपने विरोधाभासी दुःसाहसमें यथार्थतः आत्यंतिक है और विज्ञानके लिये,कमसे कम वर्तमानमें, द्रुत आविष्कारकी सम्भावनाको एक काफी संकड़े वृत्तके अन्दर बन्द करता है। जब वह भौतिक सत्यको मनोवैज्ञानिक क्षेत्रतक विस्तृत करता है, तो वहाँ भी अपर्याप्तताकी भावना पीछा करती आती है और उसे दूषित कर देती है। और, विस्तृत उपयोगमें यह अपयीप्तता उसके आनुवंशिकता तथा क्रमविकासके सिद्धान्तोंमें तब बहुत ही स्पष्ट दिखायी देती है जब वह उन्हे उनके भौतिकं सत्यकी निरापद भूमिसे आगे बढ़नेके लिये बाध्य करता है और उन्हींके द्वारा हमारी चैत्यिक सत्ताके सूक्ष्म, जटिल, दुर्गाह्य व्यापारपर प्रकाश डालनेके लिये उद्यम करता है।

मेरा अनुमान है कि अभी भी यत्रतत्र ऐसे लोग हैं जिन्हें भौतिक क्रमविकासके सिद्धान्तके प्रति गुप्त या प्रकट अविश्वास है और जो यह मानते हैं कि यह सिद्धान्त एक दिन खगोल शास्त्रके प्टोलमाइक मत[1] या चिकित्सा शास्त्रके यूनानी दोष-सिद्धांतकी तरह मृत सामान्य सिद्धान्तोंके कूड़ाखानेमें चला जायगा; परन्तु यह विरल और

---

[1] दूसरी शताब्दिके यूनानी खगोलवेत्ता प्टोल्मीका सिद्धान्त था कि स्वर्गीय ग्रह पृथ्वीके चारों ओर एक विशेष रीतिसे घूमते हैं। (अनु.)

अतिशय संशयात्मकता है। फिर भी यह देखना हमारे प्रयोजनके लिये अनुपयोगी या अनुपयुक्त न होगा कि वर्तमान प्रचलित विचारोंके विपरीत, इस सामान्यीकृत विचारका वैज्ञानिक विवरण अन्य सामान्यीकृत विचारोंकी एक अच्छी संख्याकी तरह, अभीतक निश्चयात्मक रूपसे प्रमाणित नहीं हुआ है, भलेही अभी उसे प्रमाणित मान लिया जाता है। परन्तु, तो भी, कुल मिलाकर देखें तो उसके पक्षमें तथ्यों और संकेतोंका समूह इतना बड़ा है कि वह दुर्दम्य लगता है, और हम इस निष्पत्तिका विरोध नहीं कर सकते कि सारी चीज इसी तरीकेसे या किसी ऐसे ही तरीकेसे हुई होगी और जातियों तथा वर्गोंका जो असंदिग्ध, ऊपर उठता और फैलती शाखाओंवाला क्रम सजीव अस्तित्वके प्रति हमारी असावधान दृष्टिके सामने भी आ जाता है, उसकी किसी अधिक विश्वासनीय व्याख्याकी कल्पना करना कठिन है। कमसे कम एक चीज तो अब बौद्धिक रूपसे निश्चित लगती है; हम अब यह विश्वास नहीं कर सकते कि इन सूर्यो और मंडलोंको असीम देशमें पूरी तरह गढ़े-गढ़ाये रूपमें फेंक दिया गया था और चिरकालके लिये व्यवस्थित कर दिया गया और इन सारी असंख्य जातियोंके भूतोंको बने-बनाये और भलीभाँति कटे-सिले रूपमें सात दिनोंमें या चाहे और कितने ही दिनोंमें किसी सनकके आकस्मिक प्रस्फोट या सुरा-देवकी उत्तेजनामें या यांत्रिक कल्पनाकी संकुल क्रियाशीलतामें किसी कालातीत स्रष्टाके आदेशसे पृथ्वीपर रोप दिया गया था। प्राचीन हिन्दू चिन्तकोंने आनुक्रमिक विकासका जो संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया था जिसके अनुसार पहले निम्नतर रूपोंके प्राणी आये और बादमें मनुष्य आया जो कि पृथ्वीपर अध्यात्मतत्वके जीवन-विकासका सिरमौर है, इसकी परिपुष्टि भौतिक विज्ञानकी धीर और ब्यौरेवार संवीक्षाने की है,——यह एक युग-युगीन विकास रहा है, किन्तु इससे आगे इसी सिद्धान्तकी कालचक्रमें सतत आवृत्तिके बारेमें जो हिन्दू कल्पना है उसका भौतिक प्रमाण अवश्य ही नहीं मिल सकता।

अब एक और यह बात समान रूपसे निश्चित लगती है कि केवल समस्त जीवनका बीज ही एक नहीं था,——यहाँ भी उपनिषद्की महान् संबोधि भौतिक अन्वेषणके निष्कर्षोंकी पूर्वगामिनी रही है, एकं बीजं बहुधा शक्ति-योगात्, एक ही बीजको वैश्व आत्म-सत्ताने शक्तिकी प्रक्रियासे बहुतेरे रूपोंसे विन्यस्त किया है,——अपितु सर्जिका 'शक्ति' अथवा सर्जक 'भाव' की क्रियाधारामें इधर उधर चाहे जितने विचलन हों विकासका तत्त्व एक ही है और पग-पगपर विकासका नींव-विन्यास भी एक ही रहता है। ऐसा लगता है कि प्रकृति मौलिक, विस्तृत और परिवर्तनशील धारणाओंकी असाधारण दरिद्रतासे आरम्भ करती और अपनी सूक्ष्मतर परिणामी विभिन्नताओंकी असाधारण समृद्धिकी ओर बढ़ती है जिसका अर्थ होता है जातियोंके सतत सूक्ष्म

विभेदनोंकी गढ़ाई और व्यक्तिमें अद्वितीयताके परिणामकी प्राप्तिके लिये आश्चर्यजनक आग्रह। लगभग ऐसा दीखता है मानों प्रकृतिके भौतिक सामंजस्योंकी प्रक्रियामें इस सत्यका कोई रूपात्मक प्रभाव या प्रतीकात्मक प्रतिरूप उत्पन्न करना अभिप्रेत था कि सारी वस्तुएँ मूलत: एक ही सत्,पर वह सत् हैं जो अपनी अनन्त विभिन्नताओंका आग्रह रखता है, और यह संकेत भी है कि इस शाश्वत एकतामें शाश्वत अनेकता है, अनन्त सत् सत्ताओंकी अनन्त विविधतामें स्वयं पुनरावृत्त होता है, प्रत्येक सत्ता अद्वितीय होती है और फिर भी वही एकमेव होती है। सत्ताके प्रत्यक्ष तथ्योंसे ही प्राप्त हो सकनेवाले तत्त्वमीमांसीय संकेतोंकी खोज करनेवाले मनको भी शायद यह बात सर्वथा काल्पनिक न लगे।

जो कुछ भी हो, सजीव वस्तुओंके प्राकृतिक सामंजस्यकी प्रचुर जटिलताओंमें यह स्पष्ट व्यवस्था मिल गयी है,--जीव द्रव्यका एक ही बीज, विकसित होता एक ही नींव-विन्यास, समृद्ध संख्यामें विविधताएँ जिनकी युक्तिसंगत प्रक्रिया आरोहणकारी क्रम होगी और वह क्रम सूक्ष्म, परन्तु फिर भी बहुत ही स्पष्ट श्रेणियोंमेंसे होता हुआ, अमार्जितसे जटिल, कम संगठितसे अधिक संगठित, निम्नतरसे श्रेष्ठतर प्ररूपकी ओर जा रहा होगा। इस जीवन-वृक्षको देखनेपर मनमें सबसे पहले यह प्रश्न तुरन्त उठना चाहिये कि क्या सचमुच यह युक्तिसंगत प्रक्रिया ही विश्व-इतिहासका वास्तविक क्रम थी, और तब, एक दूसरा प्रश्न जो इस समस्यासे स्वभावत: उठता है वह यह है कि यदि ऐसा है तो प्रत्येक अभिनव रूप क्या अपने प्रकृतिक पूर्वगामीमेंसे कुछ परिवर्तित होकर विकसित हुआ, या किसी अज्ञात प्रक्रियासे, एक नयी, स्वतंत्र और एक प्रकारसे आकस्मिक सृष्टि बनकर आया। पहली दशामें हमें भौतिक विकासक्रमकी वैज्ञानिक व्यवस्था मिलती है,--दूसरीमें ठीक मालूम नहीं, शायद कोई अदृश्य विश्व स्रष्टा था जिसने पृथ्वीके आरम्भिक विकास-कालमें सब कुछ प्रस्फुटित किया और अब उस धन्धेको पूरा ही या लगभग पूरा बन्द कर दिया है, और इसके फलस्वरूप हमें अब उस प्रकारका कोई नया भौतिक विकास नहीं मिलता, परन्तु, हो सकता है कि जो प्ररूप बन चुके हैं उन्हींमें क्षमताका विकास होता हो। विज्ञान एक सर्वथा प्राकृतिक, यांत्रिक और पूर्णतया अविच्छिन्न भौतिक विकासक्रमकी प्रतिष्ठा करता है, उस विकासक्रमके बढ़ते परिवर्तनकी धाराएँ तो बहुतसी और भिन्न भिन्न होती हैं, परन्तु उनमें कोई व्यवधान या अन्तराल नहीं रहता। यह सच है कि ऐसी एक ही नहीं, बहुतेरी कड़ियाँ लुप्त हैं जिनकी पूर्ति भूतकालके समृद्धतम अवशेष भी नहीं कर सकते, और हम ऐसी स्थितिमें नहीं हैं कि किसी नितान्त मताग्रहितासे इस सम्भावनाको अस्वीकार कर दें कि छलाँग लगाते हुए, तेजीसे लाँघते हुए भी प्रगति हो सकती है, वह प्रगति शायद एक संकुल चैत्यिक

अथवा जैव-चैत्यिक तैयारीसे भी हो सकती है जिसके परिणाममें एक नया प्ररूप प्रकट हुआ और उस नये प्ररूप तथा उसके पूर्वगामी जीवन-रूपोंके बीच कोई खाई रह गयी। विशेषत: मनुष्यके बारेमें अभी तक अत्यधिक अनिश्चितता है कि वह, जो कि प्रकृतिके अन्य पुत्रोंसे इतना मिलता है और फिर भी इतना भिन्न है, किस तरह अस्तित्वमें आया। तो भी, रिक्त स्थलोंकी व्याख्या कर दी जा सकती है, भौतिक कोणसे कम अराजक दृष्टिके समर्थनमें सार्थक तथ्योंका वहुत वड़ा समूह है, और ऐसे भौतिक विश्वमें जिसमें आगे बढ़नेके लिये भौतिक सिद्धान्त ही ठीक आधारभूत नियम प्रतीत होता है, यह दृष्टिकोण ही अधिकतम सम्भाव्य मालूम होता है।

परन्तु यदि हम अनुक्रमिक निर्धारणकी अधिकसे अधिक सावधान और कठोर अविच्छिन्नताको मान लें तो भी यह प्रश्न उठता है कि विकासक्रमकी प्रक्रिया क्या सचमुच इतने ऐकान्तिक रूपसे भौतिक और जैविक रही है जैसा कि वह प्रथम दृष्टिमें दीखती है। यदि ऐसा है तो हमें केवल वर्गानुवंशिकताके किसी कठोर सिद्धान्तको ही नहीं, वरन् आनुवंशिक प्रगतिशील परिवर्तनके नियमको और समस्त मानसिक तथा आध्यात्मिक व्यापारके शुद्ध भौतिक कारणको भी स्वीकार करना होगा। अपने-आपमें आनुवंशिकताका अर्थ है शारीरिक आकार और जैव विशिष्टताओंका पहलेके जीवनसे उसके बाद आनेवाले जीवनमें सतत संचरण। यह तो वहुत स्पष्ट है कि आनुवंशिक संचरणकी ऐसी सर्वसामान्य शक्ति जाति या वर्गके अन्दर ही रहती है, जैसा वृक्ष होता है वैसा ही वीज होता है और जैसा बीज होता है वैसा ही वृक्ष भी, इसी तरह शेर शेरको जन्म देता है, विल्ली या गेंडेको नहीं, मनुष्य मानव-प्राणीको जन्म देता है, किसी ओरांगओटांग[1]को नहीं; ––फिर, आजकल एक अनोखी और आश्चर्य-कारिणी कल्पना पढ़नेमें आती है जो प्राचीन मतको उलट-पुलट देती है, वह यह है कि शायद कुछ वानरजातियाँ मनुष्यके पूर्वज न होकर उसके अपविकसित वंशज हों! किन्तु और आगे, यदि भौतिक विकासक्रम ही समूचा तथ्य है तो जिन परिवर्तनोंसे नये वर्गोंकी सृष्टि की जाती या की गयी है उन परिवर्तनोंके आनुवंशिक संचरणकी भी समर्थता रहना चाहिये,––केवल सम्मिश्रण या संकरणकी प्रक्रियामें ही नहीं, प्रत्युत एक आन्तरिक विकासके द्वारा जो बीजके अन्दर संचित और प्रदत्त है। इसे भी बहुत भली भाँति मान लिया जा सकता है, क्योंकि पारिवारिक तथा वैयक्तिकवैशिष्ट्योंका संचरण सुविदित व्यापार है, भले ही उसकी वास्तविक प्रक्रिया और युक्तियुक्त आधारको अभी तक नहीं समझा गया है। परन्तु तब संचरित वस्तुएँ केवल शारीरिक और जैविक

---

[1] सुमात्रा और वोर्निओके वनोंमें पाया जानेवाला मानवाकार वानर। (अनु0)

ही नहीं, प्रत्युत मनोगत या, कमसे कम, जैव-चैत्यिक गुण और सामर्थ्य होती हैं; रूढ़िगत स्नायवीय अनुभव तथा मानसिक प्रवृत्तिकी पुनरावृत्तियाँ होती हैं। इसके अनुसार हमें यह मानना होता है कि शारीरिक बीज ही इन सारी चीजोंको संचरित करता है। हमें यह स्वीकार करनेको कहा जाता है कि यदि मानव-बीजका उदाहरण लें तो यद्यपि उसमें विकसित मानव-चेतना नहीं समायी रहती, फिर भी वह ऐसी चेतनाके सामर्थ्योंको अपने साथ लिये रहता है जिससे वे सन्ततिकी विचारशील और संगठित मनोवृत्तिमें अपनेसे दुबारा उत्पन्न होते हैं। यदि हमें इस बातको स्वीकार करना भी पड़े तो भी उसमें एक अव्याख्येय विरोधाभास तबतक रहता है जब तक हम या तो यह न मान लें कि इसके पीछे कुछ और हैं, जड़ प्रक्रियाके आवरणके पीछे एक चैत्यिक शक्ति है या, फिर, मन प्राणकी प्रक्रिया मात्र है और प्राण जड़की प्रक्रिया मात्र। अत: अन्तमें हमें यह मानना होगा कि भौतिक सिद्धान्त जड़के अन्दर प्राणके उद्‌भवके रहस्यकी और इसी तरह प्राणके अन्दर मनके उद्‌भवके रहस्यकी व्याख्या विशुद्ध जड़ कारणों और जड़ संघटनके द्वारा करनेमें समर्थ है। यहीं उन कठिनाइयोंकी भीड़ लगने लगती है जो इस सिद्धान्तको, कमसे कम अभी तक, निराशाजनक अपर्याप्तताका दोषी ठहराती हैं, और उस अपर्याप्तताका स्वरूप, उसका मर्म, उसकी सबसे बड़ी बाधा, पीछेकी ठीक उसी वस्तुके लिये, किसी चैत्यिक तत्वके लिये, एक प्रच्छन्न आन्तरात्मिक प्रक्रियाके लिये और विकासक्रमके सत्यके एक अधिक जटिल और कम जड़वादी विवरणके लिये अवकाश छोड़ते हैं।

जड़वादी मान्यता यह है — और यह आनुमानिक मान्यतासे बढ़कर नहीं है क्योंकि यह कभी प्रमाणित नहीं हुई — कि निर्जीव जड़का विकास किन्हीं अज्ञात अवस्थाओंमें अचेतन प्राणके व्यापारमें परिणत होता है जो अपने यथार्थ स्वरूपमें जड़ ऊर्जाकी क्रिया और प्रतिक्रिया मात्र हैं, और फिर किन्हीं अज्ञात अवस्थाओंमें उसीका विकास सचेतन मनके व्यापारका परिणाम होता है जो अपने यथार्थ स्वरूपमें जड़ ऊर्जाकी ही क्रिया और प्रतिक्रिया है। यह चीज प्रमाणित नहीं हुई है, परन्तु दावा यह किया जाता है कि इससे अन्तर नहीं पड़ता; इसका अर्थ केवल यही है कि हमें अभी तक पर्याप्त ज्ञान नहीं है। परन्तु एक दिन हम जानेंगे,—अनुमान कर सकते हैं कि जब किसी उपयुक्त रूपसे संगठित स्नायविक शरीरमें और जीव-विज्ञानके किसी गैलीलिओमे अधिक समृद्ध रूपसे मस्तिष्कमें वह आवश्यक दैहिक प्रतिक्रिया घटित हो चुकी होगी जिसे हम या तो संबोधि या युक्ति-बुद्धिकी वह धारा कहते हैं जिसके अन्तमें आविष्कार प्राप्त होता है, तब हम जानेंगे,—और तब यह महान् और सरल सत्य वैसे ही प्रमाणित होगा जैसे कि इतनी सारी अन्य चीजें प्रमाणित हुई हैं जिनका मानवजातिकी छिछली सामान्य

बुद्धिने कभी उपहास किया था। परन्तु कठिनाई यह है कि उसका प्रमाणित होना सम्भव नहीं लगता। प्राण अपेक्षाकृत बहुत कम कठिनाई खड़ी करता है, किन्तु उसके प्रसंगमें भी ऐसी रसायनिक अथवा अन्य स्थूल और यांत्रिक अवस्थाओंका आविष्कार जिनमें प्राणको प्रकट होनेके लिये उद्दीप्त किया जा सकता है, इतना ही प्रमाणित करेगा कि वे शरीरमें प्राणकी अभिव्यक्तिको लिये अनुकूल या आवश्यक अवस्थाएँ हैं,—वस्तुओंकी प्रकृतिको देखते हुए ऐसी अवस्थाएँ होनी ही चाहिये,—परन्तु यह नहीं कि प्राण विश्वव्यापी सत्ताकी शक्तिका कोई अन्य, नया और उच्चतर बल नहीं है। स्थूल अवस्थाओं और उद्दीपनके साथ प्राणके प्रत्युत्तरोंका सम्बन्ध बहुत स्पष्टतासे प्रमाणित करता है कि प्राण और जड़ सम्बद्ध हैं और ये दो प्रकारकी ऊर्जाएँ एक दूसरीपर क्रिया करती हैं, जैसा करना कि सह-अस्तित्व रखनेके लिये उनके लिये वस्तुत: आवश्यक भी है,—यह एक बहुत प्राचीन ज्ञान है; किन्तु इससे इस तथ्यसे छुटकारा नहीं मिलता कि शारीरिक प्रत्युत्तरके साथ साथ एक ऐसा तत्व रहता है जो स्नायवीय उत्तेजनाकी प्रकृतिवाला और एक आरम्भिक या दमित चेतना लगता है और वही चीज नहीं होता जो कि उसकी संगिनी शारीरिक प्रतिक्रिया होती है।

हम जब मनकी बातपर आते हैं, तो देखते हैं,—और शरीरी मनमें अन्यथा हो भी कैसे सकता था?—कि एक प्रत्युत्तर है, पारस्परिक क्रिया है, सम्बन्ध है, चाहे तो कहें कि एक सादृश्य है; परन्तु सादृश्यका कोई भी परिमाण यह नहीं दिखला सकता कि कोई भी शारीरिक उत्तर किस तरह एक चेतन क्रिया, बोध, भावावेग या विचार-प्रत्ययमें परिवर्तित किया जा सकता या वैसा हो जा सकता या अपने-आप ही वैसा परिणाम संघटित कर सकता है, न ही वह यह प्रमाणित कर सकता है कि प्रेम रसायनिक उत्पत्ति है या कि प्लाटोका भाव-सिद्धान्त या होमरका इलियड या योगीका विश्वचैतन्य दैहिक प्रतिक्रियाओंका साम्मिलन या धूसर मस्तिष्क-द्रव्यके परिवर्तनोंका संश्लेष या वैद्युत स्फुलिंगोंका ज्वलंत चमत्कार मात्र है। केवल यही नहीं है कि सामान्य बुद्धि और कल्पना इन सिद्धान्तोंसे चौंकती है,—इस आपत्तिकी तो अवहेलना की जा सकती है, केवल यही नहीं है कि बोध, युक्ति-बुद्धि और संबोधिको एक बलात्कृत और अति विस्तारित अनुमितिके निमित्त अलग हटा देना होता है, अपितु यह भी है कि जिस वस्तुकी व्याख्या करनी है और जिस वस्तुसे उसकी व्याख्या करनी चाही जाती है इन दोनोंके बीच अन्तरकी एक खाई है जो पाटी नहीं जा सकती, भले ही हम स्नायवीय सम्बन्धों और मनो-दैहिक सेतुओंको कितना ही क्यों न स्वीकार कर लें। और यदि भौतिक वैज्ञानिक अनेक संकेतकारी तथ्योंकी बात कहता है और एक दिन इन दुर्दम कठिनाइयोंपर विजय पानेकी आशा करता है, तो दूसरी ओर ऐसे चैत्य व्यापारोंका आरम्भिक समूह भी है जो सम्भवतया

वैज्ञानिकके सिद्धान्तको अगाध जलराशिमें डुबो दें। इन सदा स्पष्ट रहनेवाली आपत्तियोंकी अलंघ्यता अधिक व्यापक क्षेत्रमें मानी जाने लगी है, किन्तु चूँकि भूतकालका अधिकार अभी भी बहुत टिका हुआ है, अतः उनपर आग्रह करना आवश्यक है जिससे कि हमें ऐसे अधिक उदार अम्युपगमोंकी ओर बढ़नेका स्पष्ट अधिकार हो जो हमारी सत्ताकी समस्याको किसी यांत्रिक सरलतामें घटा डालनेका असामयिक प्रयत्न नहीं करते।

इनमेंसे एक यह प्राचीन दृष्टि है कि केवल मन और अन्तरात्मापर शरीर और प्राणके प्रभावको ही नहीं, अपितु शरीर तथा प्राणपर अन्तरात्माके प्रभावको भी विचारमें लेना होगा। क्रमविकासका भाव इसमें भी है, परन्तु शरीर और प्राणके क्रमविकासको, यहाँ तक कि मनके वर्द्धनको भी, एक ऐसे आन्तरात्मिक क्रमविकासकी आनुषंगिक वस्तुएँ माना जाता है काल जिसका गतिपथ है और अनेक अन्य लोकोंके बीच पृथ्वी जिसका रंगमंच। इस सिद्धान्तके प्राचीन भारतीय विवरणमें क्रमविकास, आनुवंशिकता और पुनर्जन्म विश्वव्यापी प्रस्फुटनकी तीन सहचारी प्रक्रियाएँ हैं, क्रमविकास इनके जुलूसका लक्ष्य है, पुनर्जन्म प्रधान पद्धति, आनुवंशिकता स्थूल अवस्थाओंमेंसे एक है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो समस्याके सारे संश्लिष्ट तत्वोंकी सामंजस्यपूर्ण व्याख्याके लिये, कमसे कम, एक ढाँचा प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक विचार दैहिक सत्तासे आरम्भ करता और चैत्यिकको शरीरका परिणाम और परिस्थिति बना देता है, क्रमविकासका यह दूसरा विचार अन्तरात्मासे आरम्भ करता और शारीरिक सत्तामें एक ऐसे उपकरणको देखता है जिससे जड़के विश्वमें लीन अध्यात्म-सत्ता अपने प्रति जाग्रत् होगी।

चार

पुनर्जन्म और आन्तरात्मिक विकासक्रम

जीवन और वस्तुओंके बारेमें मनुष्य आजकल जो विचार बनाते हैं, वे अधिकतम अंशमें व्यावहारिक निर्माण होते हैं। वे उस बुद्धिके ही रूप होते हैं जो अपने लिये अपने परिपार्श्वका केवल एक कामचलाऊ विवरण पानेसे सरोकार रखती है जिससे हमारे व्यक्तित्वकी वृद्धि, क्रिया और तुष्टिके तात्कालिक व्यवसायके लिये पर्याप्त संकेत-सूत्र मिले, जो ऐसी वस्तु हो जो हमारी कालगत यात्राके लिये व्यवहार्य, जीवनयोग्य, प्रभावशाली हो। यदि वस्तुओंकी किसी यथार्थ सत्यतासे उसका सादृश्य या सीधा सम्पर्क है तो यह बहुत कुछ संयोगकी बात है। यदि हम अपनी सहज और आसानीसे माननेवाली बुद्धिको उसकी सत्यताका विश्वास दिला सकें और विचार, कर्म तथा जीवनानुभवके लिये उसके परिणामोंको उपयोगी और फलप्रद पातें हों तो इतना भर पर्याप्त लगता है। यह सच है कि हमारे अन्दर एक अन्य, अव्यावहारिक बुद्धि है जो वौद्धिक और प्राणिक व्यक्तित्वकी इस माँगसे छुटकारा पानेका उद्योग करती है; वह वस्तुओंके सत्यको निरावृत रूपमें और निष्काम भावसे देखना चाहती है, रागहीन, स्वच्छ और विशुद्ध मनकी स्थिर जलराशिमें सत्यकी सच्ची मूर्तिको प्रतिबिम्बित करना चाहती है। परन्तु इस अधिक स्थिर और श्रेष्ठतर बुद्धिकी क्रियाएँ दो अति बड़ी कठिनाइयोंसे बाधा पाती हैं। प्रथमतः, यह करीब करीब असम्भव लगता है कि उसे हमारे बाकी भागसे, सामान्य बौद्धिकतासे, विश्वास करनेकी इच्छासे, बुद्धिकी उस सहज प्रवृत्तिसे पूरा छुड़ा दिया जाय जो पसन्द और निर्वाचनके एक प्रकारके सूक्ष्म तत्व द्वारा उस विचार-रीतिको बने रहनेमें सहायता देती है जो हमारे व्यक्तिगत झुकाव या हमारी प्रकृतिके सम्पादित ढाँचेके उपयुक्त होती है। और फिर, हमारी बुद्धि जिस सत्यको प्रतिविम्बित करती है, वह सत्य क्या है? आखिरकार यह परम सत्यका कोई परोक्ष प्रतिरूप है, न कि उसका साक्षात्-दृष्ट आत्मा और शरीर; वह एक ऐसा प्रतिरूप है जो, यदि कोई 'सद्वस्तु' सत्यतः है भी तो——उस 'सद्वस्तु' के ऐसे तथ्य, प्रतीक, प्रक्रियासे घड़ा गया है जिसका अनुमान हम आत्मा और विद्यमान वस्तुओंके विषयमें मानव-मनके लिये प्राप्य रहनेवाले बहुत ही सीमित अनुभवसे कर सकते हैं। अतएव जबतक कोई ऐसा साधन नहीं हो जिसके द्वारा ज्ञान सारे आवरणोंको विदीर्ण करके स्वयं 'सद्वस्तु' के अनुभवतक पहुँच सके, या जब तक कोई विश्वव्यापी 'शब्द',

दिव्य मानस या अतिमानस न हो जो अपने-आपको और सब वस्तुओंको जानता हो और हमारी चेतना उसे प्रतिबिम्बित कर सके या उसके स्पर्शमें आ सके, तबतक एक अपर्याप्तता और अनिश्चिति पीछा करती हुई सदा ही हमारी बुद्धिकी उच्चतम शक्ति और विस्तृततम पहुँचमें भी अपनी बाधिका पकड़ बनायी रखेगी और मानव-ज्ञानका सारा श्रम उससे आक्रान्त रहेगा।

ये अक्षमताएँ जगत्के अस्तित्व और हमारे अपने अस्तित्वके स्वरूपके मूलभूत प्रश्नोंके लिये जितनी उलझनवाली होती हैं उससे अधिक और कहीं नहीं; किन्तु इन्हीं प्रश्नोंके लिये विचारशील मानवजातिको सबसे अधिक अनुरागपूर्ण रुचि होती है, क्योंकि हमारे लिये अन्तमें यही चीज अत्यन्त महत्वकी होती है, कारण, प्रत्येक अन्य वस्तु, किसी क्षण विशेषकी स्थूल तात्कालिक व्यावहारिकताको छोड़कर, इसी बातके समाधानपर निर्भर करती है। और तात्कालिक व्यावहारिकताका प्रश्न भी, जब तक यह महान् प्रश्न निर्णीत नहीं हो जाता, एक ऐसी यात्रामें ठोकर खाते आगे बढ़ते जाना मात्र होता है जिसका गन्तव्य या लक्ष्य, अर्थ या आवश्यकता, हमें मालूम नहीं। धर्म यह दावा करते हैं कि उन्होंने इन महती समस्याओंका समाधान प्रेरित अथवा अपौरुषेय निश्चितिके साथ कर दिया है, परन्तु उनकी विभिन्नताओंकी विपुलता यह दिखलाती है कि उनमें भी विचारोंका, परम सत्यके पृथक पहलुओंका चुनाव किया गया है,—संशयात्मा कहेगा कि वे कल्पना और मिथ्यात्वके दिखावे हैं,—और सीमित आध्यात्मिक अनुभवसे बना निर्माण है। उनमें भी निर्वाचित और संकल्पित विश्वासका, किसी उच्च व्यावहारिक लक्ष्य तथा उपयोगिताका तत्त्व है, वह चाहे जीवके जीवनके दुःख या अवास्तवतामेंसे परित्राणके लिये हो, चाहे स्वर्गिक आनन्द या धार्मिक-नैतिक विधान और पथ-प्रदर्शनके लिये। यह बहुत ही स्पष्ट है कि दार्शनिक पद्धतियाँ महान् चिन्तनशील विचारोंके केवल साध्य और निर्वाचित निर्माण हैं। अधिक प्रायः वे सुनिश्चित निश्चितियाँ होनेकी अपेक्षा बल्कि युक्तिबुद्धिकी सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं, या यदि वे आध्यात्मिक अनुभवपर आधारित हैं तो भी वे निर्वाचनात्मक निर्माण ही हैं, अज्ञेय भगवान् या अनिर्वचनीय अनन्तमें खुलनेवाले द्वारकी ओर ले जानेवाला एक प्रकारका कोई महान् वास्तुशिल्पीय मार्ग हैं। आधुनिक वैज्ञानिक मनने हमें सारे निरे बौद्धिक निर्माणोंसे छुटकारा देने और सत्य और केवल निश्चित सत्यके आमने-सामने खड़ा करनेकी घोषणा की; उसने मनुष्यको धर्मके विलक्षण भार और दर्शनशास्त्रकी धुँधली व्यर्थताओंसे छुटकारा दिलानेके अधिकारका दावा किया। परन्तु अब धर्म और दर्शन विज्ञानपर टूट पड़े हैं और उन्होंने विज्ञानको समान रूपसे, उसके अपने ही तथ्य-कथनके आधारपर, मानवीय युक्तिबुद्धिकी दोनों

सर्वव्यापी कठिनाइयोंके अधीन होनेका अपराधी ठहराया है। स्वयं विज्ञानकी पद्धति युक्तिबुद्धिका केवल एक अन्य व्यवहार्य और फलदायक निर्माण लगती है जब कि वह बुद्धि भौतिक जगत्‌का और उसके साथके हमारे सम्बन्धोंका एक कार्योपयोगी विवरण अपने-आपको दे रही होती है; वह इससे अधिक और कुछ नहीं लगती। और, उसका ज्ञान अपने तथ्यों और अपने दृष्टिकोणके परिसीमनसे घातक रूपमें बद्ध रहता है। विज्ञान भी सत्यकी केवल एक आंशिक मूर्ति ही रचता है, उस मूर्तिपर बहुत ही अनिश्चितिके लक्षणकी छाप रहती है और अपर्याप्तताकी दुष्ट छाप तो और भी अधिक स्पष्टतासे लगी होती है।

हमें मानना होगा कि चूँकि मानवीय युक्तिबुद्धि अज्ञानके आरम्भ-विन्दुसे चलती और अज्ञानके एक विशाल पर्यावारिक वृत्तमें विचरण करती है, अतः वह अवश्य ही प्राक्कल्पना, पूर्वानुमान और मत द्वारा अग्रसर होगी जिनकी सत्यताका परीक्षण हमारी बुद्धि और अनुभवको विश्वास करानेवाली किसी रीतिसे करना होगा। परन्तु भेद यह होता है कि धार्मिक मन किसी मत या पूर्वानुमानको श्रद्धासे, एक विश्वासेच्छा, एक भावुक निश्चितिसे स्वीकार करता है,—वस्तुतः वह इन्हें मत या पूर्वानुमानके नाम ही नहीं देता, क्योंकि उसके लिये ये अनुभूत वस्तुएँ हैं,—और उनकी सत्यताका प्रमाण उसे वर्द्धित होती आध्यात्मिक संबोधि और अनुभूतिमें मिलता है। सत्ताकी वास्तविकताओं और आवश्यकताओंके साथ उनका संगत मेल रहनेके नाते दार्शनिक मन उन्हें स्थिरता और विवेकसे स्वीकार करता है; उनकी सत्यताका परीक्षण वह युक्तिबुद्धि और बौद्धिकभावापन्न संबोधिकी सारी माँगोंके प्रति एक व्यापक और अटूट सामंजस्य द्वारा करता है। परन्तु संशयधर्मी मन,—निरा सन्देह करनेवाला या हठधर्मी अस्वीकृति करनेवाला मन नहीं, जो सामान्यतः संशयधर्मी मनका नाम अपने लिये हड़प लेता है, प्रत्युत सावधान, निष्पक्ष और संयत जाँच-पड़ताल करनेवाला, खुला और सन्तुलित मन,—अपनी प्राक्कल्पनाओंको एक अस्थायी रूपसे मानता है और उनकी सत्यताका परीक्षण वह निर्देश्य तथ्योंकी उस किसी भी श्रेणी या कोटिके समर्थन द्वारा करता है जिसे वह प्रमाणके लिये अपना मानदण्ड मानता है और निर्णायक अधिकार या सत्यताका रूप देता है। इन तीनों पद्धतियोंके लिये काफी स्थान रहता है, और इसका कोई कारण नहीं कि हमारा आधुनिक संश्लिष्ट मन इन सबोंको एक साथ लेकर ही क्यों न आगे बढ़े। कारण, यदि संशयात्मिका मनोवृत्ति या अस्थायी रूपमें स्वीकार करनेवाली मनोवृत्ति हमें अपनी सत्यकी मूर्तिको विचार और ज्ञानकी नयी सामग्रीके प्रकाशमें परिवर्तित करनेके लिये अधिक तैयार करती है तो धार्मिक मन भी, बशर्ते कि वह नवीन आध्यात्मिक अनुभवकी ओर दृढ़ता और गंभीरतासे

खुला हो, अधिकाधिक विशालतर आलोककी ओर अधिक तेजीसे बढ़ सकता है, और इस बीच हम उसके सहारे निश्चित डग भरते हुए चल सकते हैं और अपनी सत्ताके विकास तथा पूर्णताके प्रधान कार्यमें निरापदतासे चल सकते हैं। दार्शनिक मनका यह उपयोग है कि यदि वह दार्शनिक सिद्धान्तके किसी बन्द वृत्त द्वारा संकुचित न हो जाय तो वह हमारी मनोवृत्तिको आवश्यक विशालता और खुलापन देता है और इसके अतिरिक्त, हमारी अन्य क्रियाके सामंजस्यको उच्चतर बुद्धिकी व्यवस्थित स्वीकृति द्वारा समर्थन देता है।

अन्तरात्मा तथा पुनर्जन्मके इस विषयकी आरम्भिक प्राक्कल्पना अब हमारे सामने बिलकुल खुल गयी है; व्यवधान गिर पड़ा है। कारण, अब यदि कोई बात निश्चित है तो वह यह है कि भौतिक विज्ञान प्रक्रियाओंके संकेत-सूत्र तो दे सकता है, किन्तु वस्तुओंके सत्यको हस्तगत नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह होता है कि जगत् तथा अस्तित्वका समूचा रहस्य भौतिक नहीं है और हममें भी हमारा शरीर हमारी समूची सत्ता नहीं। अतः प्रकृतिमें, और हममें भी, कोई अतिभौतिक तत्त्व है जिसे हम अन्तरात्मा कह सकते हैं,——अन्तरात्माका ठीक-ठीक सार-द्रव्य चाहे जो कुछ भी हो,——और उस अतिभौतिक तत्त्व द्वारा ही हमारे उन महत्तर सत्यों तथा सूक्ष्मतर अनुभवोंको पानेकी सम्भावना है जो भौतिक विज्ञान द्वारा खींचे गये संकीर्ण और कठोर वृत्तको बड़ा करेंगे और हमें सद्वस्तुके समीपतर लायँगे। आध्यात्मिक अनुभवकी जो कोई भी निश्चितियाँ हमारे आन्तरिक विकासके लिये हमारी भूमि या हमारे आत्मज्ञानके मार्ग-स्तम्भ हो गयी हैं उनपर दृढ़तासे बढ़नेसे हमें रोकनेवाला अब कुछ भी नहीं है, अधिकतम युक्तिधर्मी मनको भी रोकनेवाला अब कुछ नहीं है,——क्योंकि सच्चे युक्तिबुद्धिवादके लिये, सच्ची स्वतन्त्र विचारणाके लिये अब यह आवश्यक नहीं रह गया है कि, जैसा कुछ समय तक अति जल्दबाजी और असहिष्णुतासे पहले किया जाता था, उन्हें अन्तरात्माको नहीं मानना और आध्यात्मिक दर्शन तथा धर्मके सत्योंका तिरस्कार करना ही मान लिया जाय। वस्तुतः आध्यात्मिक अनुभवकी निश्चितियाँ अन्तरात्माकी वास्तविकताएँ हैं। किन्तु उस ज्ञानका ठीक-ठीक ढाँचा और उसका सबसे अच्छा निर्माण हम तबकर सकेंगे जब कि नये अभिवर्द्धित संबोधि-स्फुरणोंकी सहायतासे आगेका आध्यात्मिक अनुभव हो, वह अनुभव विस्तीर्ण दार्शनिक युक्तिबुद्धिके सुझावों द्वारा प्रमाणित हो और भौतिक तथा अभौतिक विज्ञानोंसे हमें जो कोई भी सहायक तथ्य मिल सकते हों उनका फलदायक रूपमें उपयोग किया जा रहा हो। ये अन्तरात्माकी प्रक्रियाके सत्य हैं; इनके पूरे प्रकाशको हमारे बाहरके और हमारे अन्तरके जगत्के प्रेक्षण और परीक्षणात्मक ज्ञान द्वारा आना होगा।

अन्तरात्माका अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाय तो अकेली यह बात अपनी किसी आवश्यकताके वलपर और किसी अनिवार्य अगले डग द्वारा पुनर्जन्मको माननेकी ओर नहीं ले जाती। यह अनिवार्य परिणाम केवल तभी आयगा यदि आन्तरात्मिक क्रमविकास जैसी कोई चीज हो, वह क्रमविकास सदा अपने-आपको चरितार्थ करता हो और अस्तित्व-व्यवस्था तथा काल-प्रक्रियाके नियमका अटल अंग हो। इसके अतिरिक्त, वैयक्तिक अन्तरात्मा है, ऐसी कोई मान्यता पुनर्जन्मके सत्यकी पहली शर्त है। कारण, अस्तित्वके विषयमें एक सत्याभासी मत है जो एक सर्वात्माको, एक विश्वव्यापी सत्ता तथा संभूतिको मानता है जिसका कोई संवेद्य परिणाम भौतिक जगत् है, परन्तु वह यह नहीं मानता कि हमारी आध्यात्मिक वैयक्तिकताका कोई स्थायी सत्य भी है। वह सर्वात्मा निरन्तर विकसित हो सकता है, अपनी संभूतिका क्रमविकास धीमे-धीमे किन्तु आग्रहसे कर सकता है, परन्तु प्रत्येक मानव-व्यक्ति या प्रतीयमान वैयक्तिक प्राणी इस विचारधाराके अनुसार सर्वात्मा और उसके क्रमविकासका एक क्षण मात्र है, उस सर्वात्मामेंसे उस रचनाके द्वारा उद्भूत होता है जिसे हम जन्म कहते हैं और उसीमें उस विघटन द्वारा वापस जा पड़ता है जिसे हम मृत्यु कहते हैं। परन्तु यह सीमाकारी विचार केवल तभी ठहर सकता है जब कि हम यह मानते हों कि एक सर्जनात्मक जैव क्रमविकास और उसका भौतिक आनुवंशिकताका उपकरण ही हमारी सारी मनोमयी और आध्यात्मिक सत्ताका सारा कारण है, परन्तु ऐसा हो तो हमारा कोई यथार्थ अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ता नहीं है, हमारा आन्तरात्मिक व्यक्तित्व या हमारी आध्यात्मिक संभूति हमारे प्राण तथा शरीरका फल ही है। अब पुनर्जन्मका प्रश्न वैयक्तिक प्राणीके भूत और भविष्यके एक ही मूलभूत प्रश्नपर लगभग पूरा निर्भर करता है। यदि सारी प्रकृतिकी सृष्टिको शारीरिक जन्मपर आश्रित माना जाय तो व्यक्तिके शरीर, प्राण और अन्तरात्मा उसके पूर्ववंशके शरीर, प्राण और अन्तरात्माका जारी रहना मात्र हैं, और आन्तरात्मिक पुनर्जन्मके लिए कोई स्थान नहीं। मानव-व्यक्तिकी भूतकालमें उनसे स्वतंत्र सत्ता नहीं होती, न उसका कोई स्वतंत्र भविष्य हो सकता है; वह अपनी सन्ततिमें अपनी दीर्घतर स्थायिता पा सकता है,——जैसा कि उपनिषद्ने कहा है सन्तान उसका द्वितीय या धारावाहिक आत्मा हो सकता है,——परन्तु उसके लिये कोई अन्य पुनर्जन्म नहीं है। किसी मनोमय अथवा अध्यात्ममय पुरुषकी अध्यक्षतामें वैयक्तिकताका कोई अविच्छिन्न धाराप्रवाह नहीं है जो शरीरके विघटनके बाद विजयी रूपसे टिका रहता हो। दूसरी ओर, यदि हममें कोई ऐसा तत्त्व हो, यही नहीं, वह यदि सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व भी हो जिसकी व्याख्या इस तरह नहीं की जा सकती, किन्तु जो जातिमानस और शारीरिक पूर्वज-

परम्परासे भिन्न अतीतको मानकर चलता हो या भावी विकासक्रमको स्वीकार करता हो, तो किसी प्रकारका आन्तरात्मिक पुनर्जन्म तर्कसंगत आवश्यकता हो जाता है।

अब, ठीक यही वह स्थल है जहाँ शारीरिक तथा प्रणिक क्रमविकास और आनुवंशिकताके ये दावे गिरते लगते हैं कि वे ही हमारी समूची मनोमयी और अध्यात्ममयी सत्ताके कारण हैं। अवश्य ही यह दिखाया जा चुका है कि हमारा शरीर और हमारी प्राणक्रियाका सबसे अधिक स्थूल अंग बहुत प्रधानतः आनुवंशिकताके ही परिणाम हैं, परन्तु इस तरह नहीं कि पूर्वजोकी देनसे भिन्न किसी सहायक और शायद वस्तुतः प्रधान चैत्यिक कारणका बहिष्कार किया जाय। कह सकते हैं कि यह भी दिखाया गया है कि हमारी चेतन प्राणिकता और मनके वे अंग जो उसपर निर्भर करते हैं, स्वभावका कुछ अंश, चरित्रका कुछ अंश, कुछ अन्तर्वेग और प्रवणताएँ, ये चीजें बहुत दूरीतक क्रमवैकासिक आनुवंशिकता द्वारा घड़ी – या केवल प्रभावित ही ?——होती हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि वे सम्पूर्णतया इसी शक्तिके कारण होती हों, ऐसा नहीं है कि अन्तरात्मा नहीं है, ऐसी आध्यात्मिक सत्ता नहीं है जो इस उपकरण-समूहको स्वीकार तो करती हो, उसका उपयोग भी करती हो, किन्तु उसका सृष्ट परिणाम नहीं हो या अपनी संभूतिमें असहाय रूपसे उसके अधीन नहीं हो। हमारे मनके उच्चतर अंगोंपर आध्यात्मिक स्वतन्त्रताकी एक निश्चित छाप और भी अधिक लगी होती है। वे क्रमवैकासिक आनुवंशिकताकी सर्वथा असहाय रचनाएँ नहीं हैं परन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि ये सारी चीजें परिवेश और उसके दवावों और अवसरोंके प्रभावमें बहुत अधिक रहती हैं। और हम चाहें तो इससे एक सीमाकारी निष्कर्ष निकाल सकते हैं; हम कह सकते हैं कि ये विश्वव्यापी अन्तरात्माका एक पर्व हैं, उसकी उस क्रमविकास-प्रक्रियाका अंग हैं जो निर्वाचनके सहारे होती है, जाति, न कि व्यक्ति, अविच्छिन्न तत्त्व है और हमारा सारा वैयक्तिक प्रयत्न और अर्जन जो कि सत्यतः नहीं, प्रतीयमान रूपसे ही स्वतन्त्र है, मृत्युके साथ समाप्त हो जाता है और हमारे प्राप्त लाभका केवल उतना ही अंश रह जाता है जिसे जातिमें चालू रखनेका चुनाव विश्वव्यापिनी सत्ता या स्थायी संभूतिमें रहनेवाली किसी गुप्त इच्छा या चेतन आवश्यकताने किया हो।

परन्तु जब हम अपने उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्वोंपर आते हैं तो देखते हैं कि वहाँ हमें एक बहुत ही स्पष्ट और परम स्वतन्त्रता मिलती है। हम अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिकी शासिका शक्तिसे अपने आन्तरात्मिक क्रमविकासको परिवेश द्वारा या जाति-अन्तरात्माके चाप द्वारा हो सकनेवाले किसी भी निर्धारणसे बहुत आगे ले जा सकते हैं। अन्य लोकोंमें बादके जीवनके प्रमाण या अतीतके जन्मोंकी किसी स्मृतिसे सर्वथा अलग रहकर यह बात ही उस सिद्धान्तको पर्याप्त माननेसे इन्कार करनेके लिये

पर्याप्त आधार होती है जिसके अनुसार व्यक्तिकी सत्ता क्षणिक है और क्रमवैकासिक विश्वसत्ता ही एकमात्र सत्य। अवश्य ही, इससे यह नही दर्शित होता कि वैयक्तिक सत्ता सर्वात्मासे स्वतन्त्र है; हो सकता है कि वह कालमें उसका एक रूप होनेके अतिरिक्त और कुछ न हो। परन्तु हमारे प्रसंगके लिये यह काफी है कि वह एक स्थायी आन्तरात्मिक रूप है जो शरीरके जीवन द्वारा निर्धारित नहीं होता, उसके विघटनसे समाप्त भी नहीं होता, वरन् उसके बाद भी स्वतन्त्र रूपसे बना रहता है। कारण, यदि वह इस तरह भविष्यमें शारीरिक जाति-सातत्यसे स्वतन्त्र है, यदि वह इस तरह कालमें अपने भावी आन्तरात्मिक क्रमविकासका निर्धारण करनेमें अपनी समर्थता प्रदर्शित करता है, तो उसका कोई ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व गुप्त रूपमें सदा ही रहा होगा और उसने अपने अतीतके कालगत आन्तरात्मिक क्रमविकासको यथार्थमें, यद्यपि निस्सन्देह किसी अन्य और परीक्ष आग्रहसे ही, अवश्य निर्धारित किया होगा। सम्भवतया वैश्व अविच्छिन्नताकी अवधिमें वह केवल सर्वात्माके अन्दर ही अस्तित्वमें रहा हो, उसीमेंसे उद्गत होकर उसमें गया हो, और अन्तमें उसीके अन्दर चला जाय। या इसके विपरीत, हो सकता है कि उसके अन्दर उसका अस्तित्व वैश्व अविच्छिन्नतासे पहले या, यह कहना अधिक अच्छा होगा, उससे स्वतन्त्र रूपमें रहा हो, और किसी प्रकारका शाश्वत व्यक्ति हो। परन्तु पुनर्जन्मके मतके लिए यह काफी होता है कि वस्तुत: व्यक्तिकी एक गुप्त आन्तरात्मिक अविच्छिन्नता है, न कि शरीरोंका भौतिक तांता ही जिसे सर्वात्मा मानसिक या आध्यात्मिक वैयक्तिकताके बिलकुल अल्पकालिक भ्रमसे अनुर्गभित करता हो।

अस्तित्वके विषयमें ऐसे मत हैं जो वैयक्तिक अन्तरात्माको तो स्वीकार करते हैं, किन्तु आन्तरात्मिक क्रमविकासको नहीं। उदाहरणके लिए एक यह अनोखा सिद्धान्त है कि अन्तरात्माका कोई अतीत तो नहीं, परन्तु भविष्य होता है, वह शरीरके जन्म द्वारा सृष्ट है, परन्तु शरीरकी मृत्युसे उसका नाश नहीं होता। किन्तु यह मान्यता उग्र और अयौक्तिक है; यह एक ऐसी कल्पना है जिसकी सत्यताका परीक्षण नहीं हुआ है, जिसमें सत्याभास भी नहीं। इसमें यह कठिनाई निहित है कि इसके अनुसार प्राणीका आरम्भ तो कालमें हुआ परन्तु वह शाश्वत होकर टिका रहता है; इसके अनुसार एक अमर सत्ता है जो अपने अस्तित्वके लिए शारीरिक जननकी क्रियापर निर्भर है, फिर भी स्वयं सदैव और सम्पूर्णतया अभौतिक है और उस जननके परिणामगत शरीरसे स्वतन्त्र है। ये युक्तिबुद्धिके लिए अलंघ्य आपत्तियाँ हैं। परन्तु यह कठिनाई भी रहती है कि इस जीवको विरासतमें एक ऐसा अतीत मिलता है जिसके लिए वह किसी भी भाँति उत्तरदायी नहीं, या वह ऐसी आधिपत्यकारिणी प्रवणताओंके भारके नीचे रहता

है जो उसपर उसके अपने कर्म द्वारा आरोपित नहीं हैं, और फिर भी वह अपने भविष्यके लिए उत्तरदायी है जिसके बारेमें ऐसा माना जाता है कि वह किसी भी तरह उस बहुधा शोचनीय रहनेवाली विरासत या उस अन्याय्य सृष्टि द्वारा निर्धारित नहीं है और सम्पूर्णतया जीवकी अपनी ही करनी है। हम जैसे हैं वैसे बनाये जानेमें हमारा कोई वश नहीं और फिर भी हम जैसे हैं उसके लिए हम उत्तरदायी हैं या, कमसे कम, हम बादमें कैसे होंगे, उसके लिये उत्तरदायी हैं, और हम मूलावस्थामें क्या हैं, बड़ी दूरीतक अनिवार्यतया उसीसे यह निर्धारित होता है कि हम बादमें क्या होंगे। और, हमारे लिये सुयोग भी केवल यही है। प्लेटो और बर्बरको, भाग्यवान् ऋषि-पुत्र या मुनि-पुत्र और आरम्भसे अन्ततक किसी बड़े आधुनिक नगरकी नीचेसे नीचेकी दुर्गन्धभरी भ्रष्टतामें डूबे हुए जन्मजात तथा प्रशिक्षित अपराधीको अपने समूचे शाश्वत भविष्यका निर्माण समान रूपसे इस एक ही असम जीवनके कर्म या विश्वासों द्वारा करना है। यह ऐसा विरोधाभास है जो अन्तरात्मा और युक्तिबुद्धि, नैतिक बोध और आध्यात्मिक संबोधि, दोनोंको ठेस पहुँचाता है।

फिर यह सजातीय विचार भी है,—और इसके पीछे एक सत्य अस्पष्टतासे झिलमिला रहा है,—कि मनुष्यका अन्तरात्मा एक उच्च, शुद्ध और महान् वस्तु है, वह अन्तरात्मा भौतिक जीवनमें आ गिरा है और उसे शरीरमें अपनी प्रकृतिके व्यवहार और अपने कर्मों द्वारा अपना उद्धार करना ही होगा, अपनी स्वर्गिक स्व-प्रकृतिमें वापस जाना ही होगा। परन्तु यह स्पष्ट है कि उस कठिन वापसी यात्राको पूरा करनेके लिये एक ही पार्थिव जीवन सबके लिए पर्याप्त नहीं होता, बल्कि अधिकतम लोगोंसे यह यात्रा पूरी ही छूटी रह जा सकती और रह जाती है। और तब हमें या तो यह कल्पना करनी होगी कि अमर अन्तरात्माका विनाश हो सकता है या वह शाश्वत नर्कके लिए अभिशप्त हो सकता है, या नहीं तो उसे जो यह दीन अन्याधीन जीवन प्रतीयमान रूपसे दिया गया है इसके अलावा उसके अन्य अस्तित्व भी हैं, जीवके ऐसे जीवन या स्थितियाँ हैं जो उसके पतन और निश्चित उद्धारके अन्तिम कार्यान्वयनके बीच आती हैं। परन्तु इनमेंसे पहली कल्पनामें उस अन्य विरोधाभासकी सारी कठिनाइयाँ रहती हैं। अन्तरात्माके नीचे आनेके कारणकी समस्याके अलावा यह देख सकना भी कठिन है कि ये विभिन्न अन्तरात्मा सीधे स्वर्गिक सत्तासे पतित होकर तत्काल ही इतने विपुल अन्तरवाली श्रेणियोंमें कैसे आ गये और वह भी इस तरह कि प्रत्येक अन्तरात्मा उन अन्यथा क्रूर और असम अवस्थाओंके लिए उत्तरदायी हो गया जिनमें रहकर उसे अपना शाश्वत भविष्य इतने संक्षेपमें निर्धारित करना होता है। यदि वर्तमान अवस्थाओंके सारे परिणामोंके लिये और वह बहुधा अपने अति अल्प, अनिच्छुक और कभी-कभी

सर्वथा आशाहीन अवसरका जो व्यवहार करता है उसका हिसाब इस भाँति कड़ाईसे देनेके लिये उसे बाध्य ठहराया जाय तो अवश्य ही प्रत्येकका कोई अतीत रहा होगा जिसने उसे उसकी वर्तमान अवस्थाओंके लिये उत्तरदायी बनाया। हमारी मानवताका स्वरूप ही ऐसा है कि अन्तरात्माका एक भिन्न-भिन्न निर्माता अतीत होगा और एक परिणामगत भविष्य भी।

अतः हालका वह मत अधिक युक्तिसंगत है जो यह कहना चाहता है कि जब भौतिक तत्त्व और पशुका क्रमविकास इतना काफी दूर बढ़ गया कि पृथ्वीपर मानव-शरीरको धारण करना सम्भव हो सके, तब आत्मा या मनोमय पुरुष एक अन्य और महत्तर लोकसे उतर आया और उसने भौतिक जीवनको अंगीकार किया। वह उस बिन्दुसे आरम्भ करते मानव-जीवनोंकी उस लम्बी धाराकी ओर वापस देखता है जो हममेंसे प्रत्येकको अपनी-अपनी वर्तमान अवस्थामें ले आयी है, और आगे एक अब भी अविच्छिन्न चलती धाराकी ओर देखता है जो सबको उनकी अपनी-अपनी कोटियों द्वारा और उनके अपने-अपने समयमें उस जिस किसी भी सम्पूर्ण रूपान्तर, पुनर्गमनकी ओर ले जायगी जो आत्म-शरीरधारी मानव-अन्तरात्माकी प्रतीक्षा कर रहा है और उसके लम्बे प्रयासका सिरमौर है। परन्तु, यहाँ भी फिर, वह क्या है जो आध्यात्मिक पुरुष तथा उच्चतर मनःप्रकृति और भौतिक पुरुष तथा निम्नतर पशुप्रकृतिके इस सम्बन्धको उत्पन्न करता है? वह क्या है जो यह आवश्यक करता है कि यहाँ मनुष्य बन जानेवाला आत्मा निम्नतर जीवनको इस प्रकार ऊपर उठा ले? ऐसा निश्चय ही प्रतीत होगा कि कोई पूर्व सम्बन्ध रहा है, अधिकारकारी मनोमय या आध्यात्मिक पुरुष सब समय इस निम्नतर जीवनको, जिसमें वह इस तरह रह रहा है, मानवीय अभिव्यक्तिके लिये अवश्य तैयार कर रहा होगा। तब सारा क्रमविकास आरम्भसे ही एक व्यस्थित अविच्छिन्नता होगा और मन तथा अध्यात्म-तत्त्वका हस्तक्षेप कोई आकस्मिक अव्याख्येय चमत्कार नहीं, अपितु जो सदैव पीछे विद्यमान था, उसीका आगे आना होगा, अभिव्यक्त जीवनका एक ऐसी शक्ति द्वारा खुले रूपमें ऊपर उठाया जाना होगा जो जीवनके विकासक्रमपर गुप्त रूपसे सदैव अध्यक्षता कर रही थी।

पुनर्जन्मके इस सिद्धान्तकी यह मान्यता रहती है कि भौतिक जगत्‌में सत्ताका एक क्रमविकास है जो जड़तत्त्वसे शरीरधारी मनकी ओर होता है और एक विश्वव्यापी आत्मा है जो इस क्रमविकासका अन्तरात्मा है; साथ ही हमारे वैयक्तिक आत्माओंका विश्वात्मामें अस्तित्व रहता है और वे अपने ऊर्ध्वमुखी मार्गका अनुसरण करते हैं, फिर चाहे वह मार्ग अपने अन्तमें हमें इंगित करनेवाली जिस किसी भी अभिप्रेत परिणति या मुक्ति या दोनोंकी ओर ले जाय। इसका अर्थ इससे भी बहुत अधिक हो सकता है,

परन्तु इतना तो है ही कि आन्तरात्मिक क्रमविकास यथार्थ तथ्य है और अधिकाधिक उच्चतर रूपोंका धारण प्रथम प्राकट्य। निस्सन्देह ऐसा हो सकता है कि हम मानव-अन्तरात्माके लिये एक भूत तथा भविष्य तो मानें किन्तु उन्हें इस पार्थिव लोकसे नीचे और ऊपर रखें और पृथ्वीपर केवल एक ही सांयोगिक या सोद्देश्य जीवनको मानें। परन्तु इसका अर्थ होगा प्रगतिशील अस्तित्वकी दो श्रेणियोंका होना, जो परस्पर असम्बद्ध होंगी और फिर भी एक अल्प क्षणके लिये मिलती होंगी। पर्यटक मानव-अन्तरात्मा व्यवस्थित पार्थिव विकासक्रममें प्रवेश कर रहा होगा; और लगभग तत्काल ही उससे बाहर निकल जा रहा होगा; इसमें न तो कोई संयोजक कारण होगा, न कोई आवश्यकता ही होगी। परन्तु खास करके यह बात आध्यात्मिक तथा अति-पार्थिव सत्ता रहनेवाले अन्तरात्माकी पार्थिवता-प्रधान पशु-सत्ता और प्रकृतिके व्यापारकी, मुक्तिके लिए उसके संघर्षकी, और निम्नतर प्रकृतिको अधिगत करनेमें विभिन्न शरीरोंमें उसे जो सफलता मिली है उसकी अन्तहीन भिन्नताओंकी श्रेणियोंकी पर्याप्त व्याख्या नहीं करती। एक भूतकालका पार्थिव आन्तरात्मिक क्रमविकास जो हमारी मिश्रित सत्ताकी इन विभिन्नताओं और श्रेणियोंकी पर्याप्त व्याख्या करता हो, और एक भावी आन्तरात्मिक क्रमविकास जो हमें आत्माके देवत्वको मुक्त करनेके लिए प्रगतिशील रूपसे सहायता देता हो,——ये ही जड़-तत्त्वकी बेड़ियोंमें पड़े उस अन्तरात्माके श्रमकी एकमात्र न्याय्य और यथोचित व्याख्या प्रतीत होते हैं जो भौतिक विश्वमें प्राण, मन तथा आत्माके सर्वसामान्य प्रगतिशील प्राकट्यके बीच मानवताकी परिवर्तनशील श्रेणीको पा चुका है। ऐसे आन्तरात्मिक क्रमविकासके लिए पुनर्जन्म एकमात्र सम्भव साधन-तन्त्र है।

पाँच

पुनर्जन्मका महत्व

जो एक प्रश्न अपनी सारी जटिलताओंके कारण दर्शनशास्त्रका कुलयोग है और जिसपर मनुष्यकी सारी गवेषणा अन्तमें पहुँचती ही है, वह है हमारी अपनी समस्या,——हम यहाँ क्यों हैं और हम क्या हैं, हमारे पीछे, आगे और चारों ओर क्या है, हमें अपने साथ, अपनी आन्तरिक अवस्थाओं और अपने बाह्य पर्यावरणके साथ क्या करना है। क्रमवैकासिक पुनर्जन्मको यदि हम एक बार सत्य मान सकें और उसके पूर्वपदों और परिणामोंको पहचान सकें तो हमें इस विचारमें उस चिर-प्रश्नके इन सारे सम्वन्धित पहलुओंके उत्तरके लिए एक बहुत पर्याप्त सूत्र मिल जाता है। एक आध्यात्मिक क्रमविकास है, विश्व जिसका दृश्य है और पृथ्वी जिसकी भूमि और रंगमंच, किन्तु उसकी योजना हमारे अभी भी सीमित रहते ज्ञानसे ऊपर अगम्य रखी जाती है,——जीवनको इस रूपमें देखना एक प्रकाशमयी कुँजी है जो अन्धकारके बहुतसे द्वारोंमें लग सकती है। परन्तु हमें उसे सही फोकसमें देखना है, उसके सही अनुपातोंको खोजना है और, विशेषतया, उसे उसकी यान्त्रिक प्रक्रियाकी अपेक्षा उसकी आध्यात्मिक अर्थवत्तामें अधिक देखना है। वैसा ठीक-ठीक कर सकनेमें विफल होनेसे हम बहुत दार्शनिक चातुरीमें उलझ जायँगे, या इस ओर या उस ओर अतिरंजित नकारोंकी ओर जले जायँगे और उसके विषयमें हमारी जो उक्ति होगी उसकी तर्कवत्ता चाहे कितनी ही पूर्ण क्यों न हो, मनुष्यकी समग्र बुद्धि और संश्लिष्ट अन्तरात्माको तो फिर भी उससे सन्तोष और विश्वास नहीं होगा।

बारबार होते जन्म हमारे आन्तरात्मिक अस्तित्वकी प्रक्रिया हैं, यह निरा विचार हमें इस एक ही शरीरगत जीवनकी सरल भौतिक सत्यतासे बहुत आगे नहीं ले जाता जो कि हमारे चेतन संवेदन तथा स्मृतिका पहला तथ्य और हमारे सारे चिन्तनोंका अवसर है। पुनर्जन्म वस्तुत: हमें हमारे वर्तमान आरम्भबिन्दुके पीछे और सत्ताके क्षेत्रोंमें हमारी दौड़के इस चरणसे पहले आए हुए अतीतका, पहलेकी फलप्रसू यात्राओंका और पहलेके बहुत सारे शरीरोंमें होनेवाले आन्तरात्मिक अस्तित्वकी याद दिलाता है जिन्होंने ही हमारे वर्तमान रूपकी रचना की है। परन्तु इसका उपयोग या लाभ ही क्या यदि हमारे पूर्व-अस्तित्व और हमारी दृढ़ अविच्छिन्नतामें कोई प्रगतिशील अर्थवत्ता न हो? हमारे सामने मृत्युकी सन्निकट कोरी दीवारका जो अवरोध आता है

उसे पुनर्जन्म हमारी दृष्टिसे दूर पीछे ढुलका देता है; हमारी पार्थिव यात्रा एक ऐसी लम्बी या छोटी सड़ककी तरह कम हो जाती है जो अचानक किसी बन्द गलीमें ले जाकर उलझा देती हो और जिसपर वापस भी नहीं लौटा जा सके; हमारे शारीरिक विघटनके डंकका क्रूरतम विष हर लिया जाता है। कारण, मनुष्य के लिये, जो कि विचारशील, संकल्पशील, अनुभवशील प्राणी है, मृत्युका भार शरीरकी इस हीन पेटीं या रथका खो जाना नहीं है, बल्कि मृत्यु जिस अन्धी चैत्यिक अन्तावस्थाके आनेका संकेत देती है, मृत्युका जो रूप हमारे संकल्प, विचार, अभीप्सा और प्रयासके निर्बुद्धि भौतिक अन्तका है, हृदयके दयालु और मधुर सम्बन्धों और स्नेहोंको निष्ठुरतासे तोड़ देनेका है, हमें अस्तित्वकी महिमा और आनन्दकी कान्तिमयी झाँकियाँ देनेवाले उस अद्‌भुत और सर्वाधार आन्तरात्मिक बोधकी व्यर्थकारिणी शस्तिदायिनी विच्छिन्नशीलताका है,——वही वह विस्वरता और कठोर परिणामहीनता है जिसे अविश्वसनीय और अस्वीकार्य मानकर विचारशील जीवित प्राणी उसके विरुद्ध विद्रोह करता है। एक ओर हमारे प्राण, मन और चैत्य तत्त्वका अमरत्वके लिए उत्तप्त और कठोर प्रयास जो अवसानको केवल तब स्वीकार कर सकते हैं जब कि वे अपने ही स्वभावकी ज्वालाकी ओर शत्रु-भावसे मुड़ जायँ, और दूसरी ओर इस अमरत्व-प्रयासका वह खंडन जिसे जीवन और मृत्यु दोनोंको ही निश्चेष्ट भावसे सहमति देनेवाला शरीर अपनी निष्प्रभ स्वीकृति द्वारा हमपर लादता है,——यही हमारी द्विविध प्रकृतिका समूचा कष्टदायी अन्तर्विरोध है जिसमें मेल नहीं बैठाया जा सकता। पुनर्जन्म इस कठिनाईको लेता और इसका समाधान इस भावसे करता है कि एक आन्तरात्मिक अविच्छिन्नता है जिसमें शारीरिक पुनरावृत्तिकी गश्त रहती है। अन्य अभौतिक समाधानोंकी तरह यह समाधान भी शरीरके संकेतोंके विरोधमें अन्तरात्माके संकेतोंको अधिकार देता है और उत्तरजीवनकी माँगका समर्थन करता है, परन्तु कुछ अन्य समाधानोंसे भिन्न रूपमें वह शारीरिक जीवनको यह कह कर उचित ठहराता है कि वह अन्तरात्माके अविच्छिन्न स्वानुभवके लिए उपयोगी है; शरीरमें हमारा अति क्षिप्र कार्य कोई एकाकी संयोग-घटना या कोई आकस्मिक अन्तराल नहीं रह जाता, उसके जो कार्य और सम्बन्ध अन्यथा संयोग-जनित रह जाते उनके लिये उसे एक परिपूर्तिकारी भविष्य और एक सर्जक अतीत दोनोंसे औचित्य-समर्थन प्राप्त होता है। परन्तु केवल टिके रहना ही, यान्त्रिक सातत्य ही पर्याप्त नहीं, हमारी अभौतिक सत्ताका सारा अर्थ नहीं, उत्तरजीवन और सातत्यका समूचा प्रकाशमय अर्थ नहीं; यदि आरोहण न हो, विस्तरण न हो, अपने आत्माके बलसे ज्योतिकी ओर सीधा वर्द्धन न हो, तो हमारे उच्चतर अंग यहाँ अधूरे रह कर परिश्रम कर रहे हैं, जड़ भूमिमें हमारे जन्मको किसी पर्याप्त सार्थकताका औचित्य

नहीं प्राप्त होता। तब हम उस अवस्थासे शायद ही अधिक अच्छे होते जिसमें मृत्यु हमारा अन्त होती, क्योंकि तब अन्तमें हमारा जीवन परिणामविहीन, अकस्मात् समाप्त कर दी गयी और शीघ्र-अभिशस्त व्यर्थताके स्थानपर अनिश्चित कालके लिये चालू रखी गयी और पुनर्नवीकृत और कुछ कालके लिए परिणाम देनेवाली व्यर्थता ही हो जाता है।

पुनर्जन्मके कारण यह भी है कि हमारे चारों ओरका जगत्, हमारा परिवेश, उसके सुझाव, उसके अवसर क्षणभंगुर भौतिक प्रस्फुटनके क्षेत्रकी तरह या ऐसे 'जीवन' की तरह नहीं रह जाते जो व्यक्तिकी बहुत थोड़ी परवाह करता हो और जिसका व्यक्तिके लिये बहुत थोड़ा अर्थ हो, भले ही वह जातिको अपने अनिश्चित दीर्घतर कालके दौरान शायद बहुत कुछ दे सकता हो। जगत् हमारे लिए आन्तरात्मिक अनुभवका एक क्षेत्र, आन्तरात्मिक पुनरावर्तनोंकी एक प्रणाली, आत्म-कार्यान्वयनका एक साधन, शायद चेतन पुरुषके प्रभावी आत्म- प्रतिबिम्बोंका आकारग्रहण हो जाता है। परन्तु यदि हमारा पुनरावर्तन उपलब्धिके एक बहुत सीमित, सदैव अधूरे रहते वृत्तके अन्दर केवल थोड़ेसे निर्धारित प्ररूपोंमें पुनरावृत्ति अथवा हिचकिचाता उतार-चढ़ाव हो तो उसका क्या लक्ष्य होगा? कारण, यदि कोई ऊर्ध्वमुखी निर्गम न हो, अन्तरात्माकी अनन्तताओंमें जानेके लिये कोई अन्तहीन प्रगति या परित्राण-मार्ग या अभिवर्द्धन न हो तो इसका यही परिणाम निकलता है। हम क्या हैं इसके बारेमें पुनर्जन्म हमें कहता है कि हम वह अन्तरात्मा हैं जो आत्म-शरीरधारणका चमत्कार निरन्तर सम्पन्न करता है; परन्तु वह क्यों शरीर धारण करता है, इस अन्तरात्माको यहाँ अपने साथ क्या करना है और उसे इस जगत्का क्या उपयोग करना है जो उसे उसके भव्य रंगमंचके रूपमें, उसकी कठिन और नमनीय सामग्रीके रूपमें और बहुविध उत्तेजना तथा सुझावोंके घेरा डालनेवाले तोपखानेके रूपमें दिया गया है, ये बातें पहलेकी अपेक्षा शायद ही अधिक स्पष्ट होती हैं। परन्तु पुनर्जन्मको इस रूपमें देखनेसे कि वह आध्यात्मिक विकासक्रमके लिए अवसर और साधन है प्रत्येक अपूरित स्थल भर जाता है। यह दृष्टि जीवनको यान्त्रिक पुनरावर्तनके स्थानपर अर्थपूर्ण आरोहण बना देती है; यह हमारे सामने विकसित होते अन्तरात्माके दिव्य प्रदेशोंका उन्मेष करती है; यह लोक-लोकोंको आध्यात्मिक आत्म-विस्तरणकी लड़ी बना देती है; यह हमें अपने अध्यात्म-तत्त्वके आत्म-ज्ञानकी खोजमें, अपने जीवनमें एक बुद्धियुक्त और दिव्य अभिप्रायकी आत्म-परिपूर्तिकी खोजमें लगा देती और सभीको अभी या बादमें एक महान् प्राप्तिका निश्चित वचन देती है।

यान्त्रिक पुनरावर्तनके वृत्तकी उत्पीड़क भावना और पूर्ण निष्क्रमणकी राहकी अनुरागपूर्ण खोज पुनर्जन्मके सत्यके प्राचीन कथनोंका पीछा करती रहीं और इससे उनके गहरे जाकर थाह लेनेके बावजूद भी असन्तोषप्रद अपर्याप्तताकी निश्चित छाप उनपर पड़ी रह गयी,——वे कथन तर्क-असंगत नहीं हैं, क्योंकियदि एकबार उनके आधार-वाक्योंको मान लिया जाय तो वे यथेष्ट तर्कसंगत हैं परन्तु उनसे सन्तोष नहीं मिलता, क्योंकि वे हमें हमारी सत्ताका औचित्य नहीं दिखाते। कारण, विश्व-क्रियाकलापकी दिव्य उपादेयता उनसे छूटी रहनेके कारण वे ईश्वरकी, स्वयं हमारी और जीवनकी व्याख्या पर्याप्त रूपमें विशाल, धीर और स्थिर सम्पूर्णतासे करनेमें विफल होते हैं, उनकी नकारवृत्ति अत्यधिक होती है, हमारी रागका भावात्मक अर्थ उन्हें नहीं मिलता और वे आध्यात्मिक व्यर्थता तथा वैश्व् विसंगतिका एक विपुल सुर बजता छोड़ देते हैं। हमारी सत्ता या हमारी अ-सत्ताके अर्थके विषयमें किसी भी कथनने पुनर्जन्मपर बौद्ध मतसे अधिक आग्रहपूर्ण बल नहीं दिया है; परन्तु जब वह सबल प्रस्थापना करता है तो अधिक सबल नकारके लिए ही। वह जन्मके पुनरावर्तनको एक विस्तीर्ण यान्त्रिक शृंखलाके रूपमें देखता है; वह कष्ट और विरुचिके भावसे ऊर्जाके एक अति विशाल विश्वचक्रको देखता है जिसके चक्राकार घूमते रहनेमें कोई दिव्य अर्थ नहीं है, जिसका आरम्भ अज्ञानमयी कामनाका प्रतिष्ठापन है और अन्त है इसमेंसे बाहर निकल जानेका इसे विफल करनेवाला आनन्द। यह चक्र अ-सत्ताकी शान्तिमें खलल डालता हुआ और ऐसे जीवोंकी सृष्टि करता हुआ जिनका एकमात्र कठिन सुयोग और सारा आदर्श व्यवसाय अपना अवसान करना है निरर्थक घूमता रहता है। सत्ताके विषयमें यह धारणा विश्वके सम्बन्धमें, उसमें हमारी सृष्टि और हमारे निर्णयात्मक अवसानके सम्बन्धमें, हमारे प्रथम जड़-शासित बोधका ही विस्तरण होती है। वह प्रत्येक बिन्दुपर शारीरिक जीवन-सम्बन्धी हमारे प्रथम प्रत्यक्ष अवलोकनको लेती है और उसकी सारी परिस्थितियोंका पुनर्कथन हमारे अस्तित्वके विषयमें एक अधिक अभौतिक तथा आध्यात्मिक भावकी भाषामें करती है।

जड़ विश्वमें हमें यान्त्रिक पुनरावर्तनोंका एक अति विशाल तन्त्र ही दिखायी देता है। जो दीर्घायु और बृहत् है उसका शासन एक विशाल यान्त्रिक पुनरावर्तन करता है; जो क्षणिक और लघु है उस सबपर एक वैसे ही किन्तु अधिक दुर्बल यान्त्रिक पुनरावर्तनका आधिपत्य रहता है। अनेकों सूर्य अस्तित्वमें छलाँग लगाते आते हैं, उनकी ज्वाला देश-विस्तारमें चक्कर लगाती है, वे अपनी शक्ति गतिधारामें खर्च कर देते, निष्प्रभ पड़ जाते और अवसान प्राप्त करते हैं, वे शायद फिरसे अस्तित्वमें ज्वलित हो उठते हैं और अपनी यात्राको दुहराते हैं, या नहीं तो अन्य सूर्य उनका स्थान ले लेते

और उनका चक्कर पूरा करते हैं। कालकी ऋतुएँ अपने अन्तहीन और अपरिवर्तनशील चक्रकी पुनरावृत्ति करती रहती हैं। जीवनका वृक्ष सदा अपने विविध पुष्पोंको प्रस्फुटित करता, उन्हें झाड़ गिराता और उनकी पुनरावृत्त होती ऋतुमें फिरसे उन्हीं फूलोंमें खिल उठता है। मनुष्यका शरीर जन्म लेता, वर्द्धित होता, ह्रसित होता और विनष्ट हो जाता है परन्तु वह अन्य शरीरोंको जन्म देता है जो वही एक ही व्यर्थका चक्र बनाए रखते हैं। इस सारी कृतसंकल्प और स्थायी प्रक्रियामें बुद्धिको चकरानेवाली बात यह है कि उसके अन्दर इस सरल तथ्यके अतिरिक्त कोई अर्थपूर्ण अन्तर्मर्म, कोई सार्थक्य नहीं दिखायी देता कि जीवन निष्कारण और निरुद्देश्य है और वैयक्तिक अवसानकी रद्दकारिणी या क्षतिपूरिका वास्तविकता उसपर हावी रहती या उसे भार-मुक्त करती है। और ऐसा इसलिए है कि हम यन्त्र-प्रक्रियाको तो देखते हैं परन्तु उसका व्यवहार करनेवाली शक्तिको नहीं, न ही उस आशयको जो उसके व्यवहारमें रहता है। परन्तु जिस क्षण हम जान लेते हैं कि एक आत्म-प्रज्ञ और अनन्त 'अध्यात्म-पुरुष' है जो विश्वपर तपोलीन है और वस्तुओंमें एक प्रच्छन्न, धीमे-धीमे आत्म-प्राप्ति करनेवाला अन्तरात्मा है, तो हम यह माननेकी आवश्यकतापर पहुँच जाते हैं कि उसकी चेतनाके भीतर एक भाव है, एक ऐसी वस्तु है जिसकी धारणा की गयी है, जिसका संकल्प किया गया है, जिसे गतिशील किया गया है और सुनिश्चित रूपसे करना है, इन वड़े आयोजित क्रियाकलापों द्वारा प्रगतिशील रूपसे पूरा करना है।

परन्तु जीवनकी अनम्य यान्त्रिक व्यवस्थाका प्रतिपादन करनेवाला बौद्ध सिद्धान्त पुरुष, आत्मा या शाश्वत सत्‌को नहीं मानता। वह केवल सतत संभूतिके व्यापारको लेता और उसे भौतिक स्तरसे अभौतिकमें उठा ले जाता है; जैसे हमारे स्थूल मनके लिये ऊर्जा, क्रिया, गति स्पष्ट रहती है जो भौतिक विश्वमें रूपों और शक्तियोंको अपनी जड़ शक्तियों द्वारा रचनेमें समर्थ है, वैसे ही विश्वके सम्बन्धमें जो बौद्ध मतकी दृष्टि है उसके लिये एक ऊर्जा है, एक कर्म है जो अपनी भाव और साहचर्यकी चैत्यिक क्षमताओं द्वारा इस शरीरी अन्तरात्माके जीवनकी रचना करता है जिसमें पुनरावर्तनोंकी अविच्छिन्न धारा चलती है। जैसे शरीर एक विलयशील निर्माण, एक सम्मिश्रण तथा सम्मिलन है, वैसे ही अन्तरात्मा भी एक विलयशील निर्माण और सम्मिलन है; स्थूल जीवनकी तरह आन्तरात्मिक जीवन भी अपना निर्वाह उन्हीं क्रियाओं तथा गतियोंके अविच्छिन्न प्रवाह और पुनरावृत्ति द्वारा करता है। जैसे जीवनोंकी यह सतत आनुवंशिक क्रममाला जीवनके उस एक ही विश्वव्यापी तत्त्वकी दीर्घतर स्थायिता होती है और यह दीर्घतर स्थायिता वैसे ही शरीरोंके अनवरत सृजन द्वारा, यान्त्रिक पुनरावर्तन द्वारा होती है, वैसे ही अन्तरात्माके पुनर्जन्मकी प्रणाली भी आन्तरात्मिक

जीवनके तत्त्वकी अनवरत दीर्घतर स्थायिता होती है जो वैसे ही शरीरी साहचर्यों तथा अनुभवोंकी अविच्छिन्न सृष्टि ,द्वारा, यान्त्रिक पुनरावर्तन द्वारा होती है। जैसे इन सारे शारीरिक जन्मों और लम्बी आनुवंशिक धाराके चलते रहनेका कारण जड़के अन्दर जीवनके लिए एक अस्पष्ट संकल्प है, वैसे ही अनवरत अन्तरात्मा-जन्मका कारण कर्मकी विश्वव्यापिनी ऊर्जाके अन्दर 'होने' की अज्ञानमय कामना या संकल्प है। जैसे विश्वके सतत चक्रावर्तन और उसकी शक्तियोंकी गतिविधि वैयक्तिक अस्तित्वोंको उत्पन्न करती हैं जो वैयक्तिक विघटन द्वारा सत्तामें से बच निकलते हैं या सत्तामें समाप्त होते हैं, वैसे ही संभूति और कर्म-गतिका यह सतत चक्र है जो व्यष्टिरूपित आन्तरात्मिक जीवनोंका आकार लेता है और उन जीवनोंको विलयकारी अवसान द्वारा अपने सातत्यसे छुटकारा पाना होगा। शरीरी चेतनाका निर्वापण हमारा प्रतीयमान भौतिक अन्त है; अन्तरात्माके लिये भी निर्वापण ही, शून्यत्वकी कोरी तुष्टि या किसी अतिचेतन 'अ-सत्ता' का कोई अनिर्वचनीय आनन्द ही अन्त है। जन्म यान्त्रिक घटना या पुनरावर्तन है, यह मान्यता इस दृष्टिका सार है; परन्तु जब कि शारीरिक जीवन बलारोपित अन्त तथा विघटनके अधीन है, आन्तरात्मिक जीवन संकल्पित आत्म-निर्वापण द्वारा अवसान प्राप्त करता है।

बौद्ध सिद्धान्त जीवनके प्रथम प्रत्यक्ष सार्थक्यमें पुनर्जन्म द्वारा केवल दो बातें जोड़ता है, पहली है अनिश्चित दीर्घतर स्थायिता जो कि भार है, लाभ नहीं, और दूसरी है आत्म-निर्वापणकी साधनाकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता जो कि अवश्य ही बहुमूल्यशाली है। जगत्को भ्रम कहनेवाला समाधान भी कुछ जोड़ता है, किन्तु वह अपने प्रेरक हेतुमें बौद्ध सिद्धान्तसे बहुत अधिक भिन्न नहीं होता। निरर्थक वैश्व पुनरावृत्तिके सामने वह हमारी अपनी निरपेक्ष सत्ताकी एक नित्यता खड़ी करता है; पुनर्जन्मके पुनरावर्त्तनकी भ्रमात्मिका यन्त्र-क्रियाका सर्जन करनेवाले अज्ञानमेंसे निकलकर वह हमारे अनिर्वचनीय अस्तित्वके आत्म-ज्ञानमें निस्तार पाता है। यह बात एक भावात्मक सुरको ले आती और हमारी सत्ताको एक आरम्भिक, एक अवलम्बदायिनी और एक अन्त्य सत्यता प्रदान करती लगती है। परन्तु यहाँ जो रिक्तता है वह है हमारी इस यथार्थ सत्ता और हमारे सारे जन्मों तथा संभूतिके बीच किसी भी सच्चे और मान्य सम्बन्धका न होना। हमारे जन्मोंकी अन्तिम घटना और समाप्तिको हम जो कुछ हैं उसकी किसी पूर्ण परिपूर्तिके रूपमें नहीं दिखाया जाता,——उसे इस रूपमें रखनेवाला दर्शन महान्, फलप्रद, और भव्य रूपसे भावात्मंक दर्शन होगा। न ही उसे प्रगतिशील आत्म-प्राप्तिके निर्णायक प्रस्थापनके रूपमें दिखाया जाता है – ऐसा करनेसे भी हमारे अस्तित्वको एक उच्च अर्थ मिल जायगा। वस्तुतः यह तो विश्वव्यापी आत्माकी

माँगसे विमुख होना है, इन सारे वैश्व भावों, कल्पनाओं, अभीप्साओं, क्रियाकलापों और निष्पादनको अस्वीकार करना है। हमें अपनी सत्ताकी प्राप्तिके लिए जो मार्ग दिया जाता है वह है अपनी सारी संभूतिका निरवशेष वर्जन। हम अपने-आपके एक मुक्तिदायी निषेध द्वारा ही आत्माकी ओर उठते हैं, और परिणाम यह होता है कि विश्वगत 'भाव' अपने विकट और लक्ष्यहीन मार्गपर चलता रहता है, परन्तु व्यक्तिका अवसान होता है और वह अवसान-प्राप्तिमें धन्य होता है। इस विचारधारामें बौद्ध मतकी तरह प्रेरक हेतु अज्ञानमय और यान्त्रिक वैश्व पुनरावर्त्तनकी वही उत्पीड़क भावना है और बच निकलनेके लिए वही उच्च और अधीर अनुराग। इसमें यह मान्यता तो है कि जीवनका मूल दिव्य है, परन्तु जीवनमें कोई दिव्य अर्थ है यह अमान्य रहता है। और जहाँ तक पुनर्जन्मकी बात है उसके महत्वको घटाकर उसे आत्म-प्रवंचनाकी सतत यन्त्रविधि कह दिया जाता है, और नहीं जीनेके संकल्पको जीवनके अन्तिम अर्जन, उच्चतम शुभ और एकमात्र वांछनीय परिणामके रूपमें दिखाया जाता है। संसारको भ्रम माननेवाला सिद्धान्त हमें जो तुष्टि देता है,——क्योंकि मानसिक बुद्धिको और आध्यात्मिक प्रवृत्तिके एक मोड़को उससे एक विशेष और उच्च तापसी प्रकारकी तुष्टि मिलती ही है,——वह एक ओर तो यह महा भारभूत और अत्याचारी यंत्र-विन्यास, यह विश्व, और दूसरी ओर, आत्मा, जो अपने-आपको एक अन्य और दिव्यतर स्वरूप-वाला अनुभव करता है, इनके बीचके प्रत्यक्ष विरोधको अन्तिम बिन्दुतक खींचता है, स्वतन्त्रताके अनुरागसे भरे परन्तु निष्प्रभ यन्त्रके किसी स्प्रिंगकी तरह श्रम करते रहनेको विवश जीवको विश्व-भार उतार फेंकनेकी समर्थता द्वारा मिलनेवाली भारमुक्ति है, और अन्तमें, इस आध्यात्मिक उपसंहारकी निर्बन्ध और शुद्ध परमता है। परन्तु इससे ईश्वर, मनुष्य और जीवन-सार्थक्यकी समस्याको कोई फलप्रद उत्तर नहीं मिलता, अतएव यथार्थ उत्तर भी नहीं मिलता; वह केवल एक कौशलपूर्ण बचाव करता हुआ उनसे बच निकलता और उन्हें सारे सार्थक्यसे विहीन कर देता है, तब इस प्रश्नका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता कि इस सारे विपुल परिश्रम, स्पन्दन और खोजमें अर्थ और संकल्प क्या है। परन्तु मानव-आत्माके ज्ञान तथा बलको ईश्वरके विश्वकी जो चुनौती है, अन्तमें मनुष्य उसका सामना उसे अस्वीकार करके नहीं कर सकता, न ही उसका समाधान उससे बच निकलते हुए पा सकता है, भले ही जैसे कोई मनुष्य अचेतनावस्थामें कार्य और वेदनाके भारसे शरण पाता है, वैसे ही कोई वैयक्तिक अन्तरात्मा आध्यात्मिक समाधि यां निद्रामें यां उसके कोरे द्वारोंसे निर्विशेषके अन्दर पलायन करके उस माँगसे शरण पा सकता है। परन्तु हमारे जीवन-श्रममें विश्वात्माका कुछ अर्थ तो है, इन भव्य छन्दोंमें उसका कुछ अर्थ तो है, और इन सबको उसने किसी चिरस्थायी भूलकी तरह

हाथमें नहीं लिया है, न ही उन्हें मजाकमें बनाया है[1] उसे जानना और अधिकृत करना विश्वव्यापी पुरुषकी प्रच्छन्न सार्थकताओंको पाना और चेतन रूपसे परिपूरित करना, यही मानव-आत्माको सौंपा गया कार्य-भार है।

पुनर्जन्मके विषयमें ऐसे कथन या विचार भी है जो जीवनके अधिक भावात्मक अर्थको स्थान देते और उसके गुप्त स्रोतके रूपमें सत्ताके बल और आनन्दमें अधिक तगड़ा विश्वास रखते हैं; परन्तु अन्तमें वे सबके सब मनुष्यकी सीमाओं और उसकी इस असमर्थतापर ठोकर खाते हैं कि उसे विश्व-व्यवस्थामें इनके बन्धनमेंसे बाहर निकलनेका मार्ग नहीं दिखायी देता, क्योंकि वेइसे सनातन कालसे निर्धारित वस्तु मानते हैं, शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, चिरकाल विकसनशील और सर्जनशील चक्र नहीं, अपरिवर्तनशील चक्र। वैश्णवोंका यह विचार कि यह ईश्वरकी लीला है वस्तुओंके मर्ममें रहनेवाले प्रच्छन्न आनन्दपर जा पहुँचता है और इस प्रकार रहस्यके अन्तस्तलमें भेदन करनेवाली एक ज्योतिर्मयी किरण है; परन्तु वह अकेला ही उसकी सारी गुत्थीको नहीं सुलझा सकता। यहाँ जगत्में प्रच्छन्न आनन्दकी लीलाके अतिरिक्त अधिक कुछ है; ज्ञान है, बल है, एक इच्छा और एक परिश्रम है। इस प्रकार देखनेसे पुनर्जन्म भगवान्की एक मौजका रूप अत्यधिक ले लेता है जिसका लक्ष्य उसकी क्रीड़ाको छोड़ और कुछ न हो, परन्तु हमारा जगत् इतना अधिक बड़ा और श्रमपूर्ण है कि उसकी व्याख्या इस तरह नहीं की जा सकती। हमारी संभूतिको जो उतार-चढ़ाववाला आनन्द दिया जाता है, वह लुकाछिपी और खोजका खेल है, यहाँ उसकी किसी दिव्य संपूर्तिकी आशा नहीं है; उसके वृत्त अन्तमें यात्राके योग्य नहीं लगते और जीव इस खेलकी असन्तोषप्रद भूलभूलैयोंमेंसे मुक्ति पानेकी ओर ही प्रसन्नतासे मुड़ता है। तान्त्रिक समाधान हमें एक परमा अतिचेतन ऊर्जाकी बात कहता है जो यहाँ बहुसख्यक जगतों और कोटिसंख्यक भूतोंमें अपने-आपको डालती है और उसकी व्यवस्थामें जीव जन्म-जन्मांतरमें उठता जाता है और उसके लाखों रूपोंका तब तक अनुसरण करता है, जब तक कि अन्तमें वह मानवीय धाराक्रममें अपने स्वीय दिव्यत्वकी चेतना तथा शक्तियोंकी ओर खुल न जाय और उनके द्वारा द्रुत आलोकीकरणसे शाश्वत अतिचेतनाकी ओर वापस न चला जाय। अन्तमें हमें एक सन्तोषप्रद समन्वयका आरम्भ, अस्तित्वका कुछ औचित्य, पुनर्जन्ममें एक अर्थपूर्ण परिणाम, विश्वकी महान् गतिधाराके लिए एक उपयोग और एक अस्थायी ही सही, परन्तु पर्याप्त सार्थक्य मिलता है। आधुनिक

---

[1] कुरानका भव्य और सारगर्भित कथन, "क्या तू यह सोचता है कि बहिश्त और धरती और उनके बीच जो कुछ है वह सब मैंने मजाकमें बनाया है?"(अनु.)

मन जब पुनर्जन्मको स्वीकार करनेकी ओर झुकता है तो वह पुनर्जन्मको बहुत कुछ इन जैसी ही रेखाओंपर देखना चाहता है। परन्तु यहाँ जीवकी दिव्य सम्भावनाओंपर बहुत ही हल्का जोर दिया गया है, यहाँसे बच निकलकर अतिचेतनामें पहुँचनेके आग्रहमें उतावली बरती गयी है; इतने संक्षिप्त और इतने अपर्याप्त प्रस्फुटनके लिए परमा ऊर्जा अति लम्बी और दीर्घकाय तैयारीकी रचना करती है। यहाँ कोई रिक्त स्थल है, कोई रहस्य अभी भी अज्ञात है।

हमारे अपने विचारकी कुछ सीमाएँ हैं जिनपर ये सारे समाधान ठोकर खाते हैं, और इन बाधाओंमें प्रमुख हैं हमारी विश्वके यान्त्रिक स्वरूपकी भावना और अपने वर्तमान मानवीय प्ररूपसे श्रेष्ठतर प्ररूपकी ओर आगे देख पानेमें हमारी अक्षमता। हम अतिचेतन आत्माको उसकी दीप्ति और स्वतन्त्रतामें देखते हैं और विश्वको उसके यान्त्रिक पुनरावर्तनोंके चक्रके निश्चेतन बन्धनमें, या हम अस्तित्वको अमूर्त सत्ता और प्रकृतिको यान्त्रिक शक्तिकी तरह देखते हैं; चेतन अन्तरात्मा इन दोनों विपरीतोंके बीच कड़ीकी तरह होता है, परन्तु स्वयं वह इतना असम्पूर्ण है कि हमें इस कड़ीमें वह रहस्य नहीं मिल सकता, न ही हम उसे समन्वयनके सबल स्वामीके रूपमें अपना सकते हैं। तब हम जन्मको अन्तरात्माकी भूल घोषित करते हैं और अपनी मुक्तिका एकमात्र सुयोग इन जन्मजात बन्धनोंको उतार फेंकने और विश्वातीत चेतनाकी ओर या अमूर्त सत्ताकी स्वतन्त्रताकी ओर उग्र उत्क्रमणमें देखते हैं। परन्तु यदि पुनर्जन्म सचमुच कोई लम्बी घसीटती जँजीर न रहकर बल्कि आरम्भमें अन्तरात्माके आरोहणका सोपान हो और अन्तमें महान् आध्यात्मिक अवसरोंका अनुक्रम, तो क्या होगा? और, पुनर्जन्मका तथ्य ऐसा ही होगा यदि अनन्त सत्ता वैसी न हो जैसी वह तार्किक बुद्धिको लगती है, यदि वह अमूर्त सत्ता न हो प्रत्युत वैसी हो जैसी वह संबोधिको और गभीरतर आध्यात्मिक अनुभवमें दीखती है, यदि वह आध्यात्मिक चिन्मयी सद्वस्तु हो और वह सद्वस्तु यहाँ भी उतनी ही वास्तव हो जितनी किसी भी सुदूर अतिचेतनामें। कारण, तब विश्वप्रकृति कोई ऐसा यन्त्र-विन्यास नहीं रह जायगी जिसका अपनी निश्चेतन यन्त्र-विधिको छोड़कर कोई और रहस्य न हो और जिसमें अपनी पुनरावर्तिका क्रियावत्ताको छोड़कर कोई और अभिप्राय न हो; वह तब अपनी प्रक्रियाओंकी महिमामें—महिमानम् अस्य — छिपे विश्वात्माकी चेतन ऊर्जा होगी। और, जड़तत्त्वकी निद्रामेंसे, वनस्पति और पशु-जीवनमेंसे होकर जीवन-शक्तिकी मानवीय कोटिमें ऊपर उठता हुआ और वहाँ अपने शाही और अनन्त राज्यपर अधिकार करनेके लिए अज्ञान और सीमासे लोहा लेता हुआ अन्तरात्मा वह मध्यस्थ होगा जो प्रकृतिकी सूक्ष्मताओं और बृहत्ताओंमें छिपे अध्यात्म-तत्त्वको प्रकृतिमें प्रस्फुटित करनेके लिए नियुक्त हुआ है।

यही जीवन तथा जगत्का सार्थक्य है जिसे क्रमवैकासिक पुनर्जन्मका विचार हमारे सामने खोलता है; जीवन तब तत्काल ही 'अध्यात्म-तत्त्व' के प्रस्फुटनके लिए प्रगतिशील ऊर्ध्वमुख धाराक्रम हो जाता है। वह परम सार्थक्यसे युक्त हो जाता है; उसके शक्ति-रूपमें अध्यात्म-तत्त्वकी रीतिका औचित्य प्रमाणित होता है, वह तब कोई बुद्धिहीन और खोखला स्वप्न, कोई शाश्वत उन्माद, महत् यान्त्रिक श्रम या अन्तहीन व्यर्थता नहीं रह जाता, वरन् एक विशाल आध्यात्मिक इच्छा एवं प्रज्ञाके कार्योंके जोड़ हो जाता है: मानव-अन्तरात्मा और विश्वात्मा एक उदात्त और दिव्य अर्थसे एक दूसरेकी आँखोंमें देखते हैं।

हमारे अस्तित्वको घेरनेवाले प्रश्नोंकी व्याख्या अब तुरन्त ही एक निश्चित सन्तोषप्रद परिपूर्णतासे हो जाती है। हम तो विश्वातीत आत्मा तथा पुरुषका वह अन्तरात्मा ही हैं जो अपने-आपको विश्वमें सतत क्रमवैकासिक शरीरधारणमें प्रस्फुटित कर रहा है जिसका शारीरिक रूप आकारका एक पादपीठ मात्र है जो अपने विकास क्रममें अध्यात्मकी ऊपर उठती कोटियोंके समकक्ष होता है, परन्तु यथार्थ भाव और प्रेरक हेतु आध्यात्मिक वर्द्धन ही होता है। हमारे पीछे हैं आध्यात्मिक विकासक्रमके अतीतके सत्र, अध्यात्मतत्त्वकी ऊपर उठती श्रेणियाँ जिनका आरोहण किया जा चुका है, जिनसे हम निरन्तर पुनर्जन्म द्वारा विकसित होते हुए वह हो गए हैं जो हम हैं, और अभी भी आरोहणके इस वर्तमान और बीचके मानवीय सत्रका विकास कर रहे हैं। उस प्रस्फुटनके वैश्व रूपकी सतत प्रक्रिया ही हमारे चारों ओर है: भूतकालके सत्र· उसमें समाए हुए हैं, परिपूरित हुए हैं, हमारे द्वारा उनका अतिक्रमण हुआ है, परन्तु सर्वसामान्य और विविध प्ररूपमें वे तब भी आधार तथा पृष्ठभूमिकी तरह पुनरावृत्त होते हैं; वर्तमान सत्र वहाँ अलाभदायी पुनरावर्तनकी तरह नहीं, वरन् जो कुछ भी अतीतके तत्त्व द्वारा प्रस्फुटित किया जाना है उसकी सक्रिय गर्भावस्थाकी तरह हैं, सर्वदा अंकोंको असहाय रूपसे पुनरावृत्त करते अयौक्तिक दशामालविक पुनरावर्त्तनकी तरह नहीं, वरन् 'अनन्त' की शक्तियोंके विस्तृत होते धाराक्रमकी तरह। हमारे सामने हैं महत्तर शक्यताएँ, वे सोपान जिनपर हम अभी तक चढ़े नहीं हैं, वे सशक्ततर अभिव्यक्तियाँ जो अभिप्रेत हैं। अध्यात्म-तत्त्वके ऊर्ध्वमुख आत्म-प्रस्फुटनका यह साधन होना ही हमारे यहाँ होनेका कारण है। अपने प्रति और अपने सार्थक्योंके प्रति हमारा कर्त्तव्य है विकसित होना और उन्हें दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द तथा बहुगुणित एकत्वके महत्तर साथक्योंकी ओर उन्मीलित करना, और अपने परिवेशके प्रति हमारा कर्तव्य है उसे आध्यात्मिक हेतुओंके लिए चेतन

रूपसे प्रयुक्त करना और विश्वमें भगवान्‌के पूर्ण स्वरूप और आत्म-कल्पनाके आदर्श प्रस्फुटनके लिये उसे अधिकाधिक एक साँचा बनाना। अवश्य ही यही वस्तुओंके अन्दर रहनेवाली वह इच्छा है जो अपनी ही सान्त आकृतियोंको अपनी ही अनन्त 'सद्वस्तु' से अधिकाधिक अनुगर्भित करनेकी ओर महान् और सज्ञान, धीर और अविश्राम-शील रहती हुई, किन्हीं भी चक्रोंसे होकर बढ़ती है।

यह सब वर्तमानकी आकृतियोंमें रहनेवाले मनके लिए, जैसा कि प्रत्यक्षवादी अनुसंधानमें संलग्न सतर्क संशयात्मक मनके लिये होना ही चाहिए, अभ्युपगमसे अधिक कुछ नहीं, क्योंकि क्रमविकास यदि स्वीकृत विचार है तो भी पुनर्जन्म तो अनुमान मात्र है। ऐसा मानने पर भी यह उन सरल और बालोचित धार्मिक समाधानोंसे बेहतर अभ्युपगम है जो जगत्‌को एक सर्वशक्तिमान् मानवीय मनोधर्मी स्रष्टाकी मनमौज और मनुष्यको उसकी श्वास लेती मिट्टीकी कठपुतली बना देते हैं और, कमसे कम, उस विचारके जितना अच्छा अभ्युपगम है जिसके अनुसार एक जड़ और निश्चेतन शक्ति चेतनाके अनिश्चित और क्षणभंगुर, फिर भी अविच्छिन्न व्यापारमें किसी भाँति संयोगसे पहुँच गयी है, या जैसा कि बर्गसनका सिद्धान्त है, एक सृजनशील प्राण विश्व-व्यापिनी मृत्युके बीच उत्पीड़ित होकर परिश्रम कर रहा है, परन्तु सतत विद्यमान है, या उस विचारके जितना अच्छा है जिसके अनुसार प्रकृति, माया या शक्तिकी यान्त्रिक क्रिया हो रही है और वास्तविक या अवास्तविक व्यक्ति उसमें या उसके भीतर संयोगसे पहुँच जाता या अन्धेके द्वारा ले जाये जाते अन्धेकी तरह तब तक भटकता रहता है, दन्द्रम्यमाणः ... अन्धेनैव नीयमानो यथान्धः, जब तक कि वह आध्यात्मिक मुक्ति द्वारा उसमेंसे बाहर न निकल सके। असंकीर्ण दार्शनिक जिज्ञासाको यह बात अस्तित्वकी ज्ञात रेखाओंसे बेमेल नहीं लगेगी, सत्ताके तथ्यों तथा आवश्यकताओं या युक्तिबुद्धि और संबोधिकी माँगोंसे विस्वर नहीं लगेगी, भले ही वह एक ऐसे तत्त्वको मानना है जो अब तक अनुपलब्ध है, ऐसी वस्तुओंको मानना है जिन्हें अभी भी होना बाकी है, क्योंकि यह बात विकासक्रमके तो विचारमें ही अन्तर्निहित रहती है। यह बात धार्मिक अनुभव या अभीप्सामें कुछ परिवर्तन ला सकती है, किन्तु उनमें किसीका भी आमूल प्रत्याख्यान नहीं करती,——क्योंकि वह न तो स्वर्गलोकमें अतिचेतना अथवा आनन्दके साथ ऐक्य होनेसे, न भगवान्‌के साथ किसी व्यक्तिक अथवा निर्व्यक्तिक सम्बन्ध होनेसे असंगत है, क्योंकि ये चीजें आध्यात्मिक प्रस्फुटनकी चोटियाँ भली भाँति हो सकती हैं। इसका सत्य निर्भर करेगा आध्यात्मिक अनुभव तथा कार्यान्वयनपर, किन्तु मुख्यतः इस महत्वपूर्ण प्रश्नपर, "क्या मनुष्यकी आन्तरात्मिक क्षमताओंमें कोई ऐसी वस्तु है जो उसकी सत्ताके लिये वर्तमान मनःशक्तिसे महत्तर किसी अन्य

तत्त्वकी आशा देती है और क्या उस महत्तर तत्त्वको उसके शरीरी जीवनके लिये प्रभावी बनाया जा सकता है ?" यही वह प्रश्न है जिसे मनोवैज्ञानिक समीक्षासे जाँचना बाकी रह गया है, यही वह समस्या है जिसे मनुष्यके आध्यात्मिक क्रमविकासके दौरान सुलझाना है ।

इस प्रकारकी क्रमवैकासिकी अभिव्यक्तिकी दार्शनिक आवश्यकता, सम्भावना और सुनिश्चित वास्तवताके अति-तात्त्विक प्रश्न भी हैं, किन्तु उन्हें यहाँ और अभी लानेकी आवश्यकता नहीं है; इस समय पुनर्जन्मसे हमारा सम्बन्ध केवल अनुभवके संदर्भमें उसकी वास्तविकता और उसके धारावाहिक सार्थक्यसे, इस स्पष्ट वास्तविकतासे है कि हम किसी प्रकारकी अभिव्यक्तिके अंग हैं और किसी प्रकारके क्रमविकासके चापके नीचे आगे बढ़ रहे हैं । हमें एक शक्ति क्रियारत दीखती है और हम यह जानना चाहते हैं कि उस शक्तिमें कोई सचेतन इच्छा, कोई व्यवस्थित विकास है या नहीं, और हमें पहले यह खोजना होता है कि वह किसी संगठित यदृच्छा या निश्चेतन स्व-बाधित अन्धे विधानका परिणाम है या कि विश्वव्यापी बुद्धि या प्रज्ञाकी योजना । एक बार जब हम यह देख लेते हैं कि एक चिदात्मा है और यह गतिधारा उसकी एक अभिव्यंजना है, या यदि हम इसे अपने कार्यकारी अनुमानके रूपमें भी स्वीकार कर लेते हैं, तो हम आगे बढ़ने और यह पूछनेको बाध्य होते हैं कि क्या यह विकसित होता क्रम मनुष्यकी वर्तमान अवस्थापर समाप्त हो जाता है, या कि उसके गर्भमें और कुछ भी है जिसकी ओर इस क्रम और मनुष्यको बढ़ना है, जो एक असमाप्त प्राकटच है, एक महत्तर अप्राप्त पर्व है, और ऐसा हो तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य उसी महत्तर वस्तुकी ओर ही बढ़ रहा होगा; उसकी तैयारी और उसकी उपलब्धि ही उसकी नियतिमें आगे आनेवाला चरण होगी। क्रमविकासके उस नये डगकी ओर ही उसका जातीय इतिहास अवचेतन रूपसे प्रवृत्त हो रहा होगा और श्रेष्ठतम व्यक्तियोंकी क्षमताएँ इस महत्तर जन्मको सम्पन्न करनेके लिये ही अर्ध-चेतन रूपसे उद्योग कर रही होंगी; और चूँकि पुनर्जन्मका ऊर्ध्वमुख क्रम सदा ही क्रमविकासकी श्रेणियोंका अनुसरण करता है, उसके लिये भी यह अभिप्रेत नहीं हो सकता कि वह अभीष्ट डगकी ओर कोई ध्यान न देकर रुक जाय या अकस्मात् मुड़कर अतिचेतनमें चला जाय । चेतनाके अन्य स्तरोंपर जो जीवन है उसके साथ और जो कोई भी विश्वातीत अतिचेतना हो उसके साथ हमारे जन्मके सम्बन्धके विषयकी समस्याएँ महत्वपूर्ण हैं, परन्तु उनका समाधान अवश्य ही ऐसा कुछ होना चाहिये जिसका विश्वगत 'अध्यात्म-पुरुष' के अभिप्रायसे सामंजस्य हो; सब कुछको एक एकत्वका अंग होना चाहिये, न कि आध्यात्मिक असम्बद्धताओं और असंगतियोंकी उलझन। इस विचारधारामें ज्ञातसे अज्ञातकी ओर हमारा पहला सेतु यही आविष्कार होगा

कि क्रमविकासका अभी तक असमाप्त रहनेवाला सोपान पार्थिव धाराक्रममें कितनी दूर तक ऊपर जा सकता है। इस आविष्कारका अभी तक प्रयत्न नहीं किया गया है, किन्तु हो सकता है कि पुनर्जन्मका सारा धारावाहिक सार्थक्य इसी एक बातमें लिपटा पड़ा हो।

छः

ऊर्ध्वारोही एकत्व

मनुष्यका मन दृष्टिकी स्पष्ट सरलताको चाहता है; कोई उक्ति जितनी तीक्ष्ण होती है, उतनी ही अधिक उग्रतासे वह मनको पकड़ती और उसके स्वीकृत किये जानेकी सम्भावना होती है। यह केवल हमारी विचारक्रियाकी प्रथम अपरिष्कृत अवस्थाके लिये ही स्वभाविक नहीं है, और इसलिये ही अधिक आकर्षक नहीं है कि इससे वस्तुओंसे व्यवहार करना हर्षप्रद रूपसे सरल हो जाता है और जाँच-पड़तालकी चिन्ता और चिन्तनके श्रमके अति विशाल परिमाणसे रक्षा हो जाती है, वरन् यह चीज परिवर्तित होकर एक अधिक सावधान मनोवृत्तिके उच्चतर स्तरोंतक हमारे साथ रहती है। भाग्य-निर्णायिका ग्रन्थिके साथ अपनाया गया सिकन्दरी तरीका वस्तुओंके उलझे जालसे व्यवहार करनेका हमारा स्वभाविक और प्रिय तरीका है,—आसान कटाई, शाही तरीका, यह और यह नहीं, वह और वह नहींका आसान दर्शनशास्त्र, सबल हाँ और ना,सरल विभाजन, सशक्त विरोधियोंका जोड़ा, श्रेणियोंकी साफ काट। हमारी बुद्धि विभाजनों द्वारा कार्य करती है, हमारी सामान्य अतार्किक विचारक्रिया भी हमारे सामने इतनी अन्तहीन जटिलताके साथ आनेवाले अनुभवका लटपटाता और घपला करता संक्षिप्त विश्लेषण तथा आयोजन है। परन्तु स्वच्छतम और स्पष्टतम विभाजन ही हमें सबसे अधिक आराम देता है, क्योंकि वह हमारी अभी भी बाल-बुद्धि ही रहनेवाली बुद्धिपर निर्णायिका और प्रकाशमयी सरलताका भाव अंकित करता है।

परन्तु सीधी और सरल विचारणासे रीझा रहनेवाला औसत मन ही सरल समाधानोंकी ओरके इस झुकावसे प्रभावित होनेवालोंमें अकेला नहीं होता। इसके लिए वह प्रसिद्ध उदाहरण लें जिसमें सभी सबल मनुष्योंको प्रिय रहनेवाली शाही ताकतसे विचार करते हुए महान् डाक्टर जाँनसनने बर्कलेके सारे दर्शनशास्त्रको केवल एक पत्थरपर लात लगाकर यह कहते हुए नष्ट कर दिया, "यह रहा मेरा जड़तत्त्वकी सत्यताका प्रमाण"। दार्शनिक भी यद्यपि प्रसंगवश जटिल तर्कणाकी ओर प्रवण रहता है, तथापि सबसे अधिक हर्षित वह तब होता है जब वह उसके द्वारा किसी भव्य रूपसे निर्णायक उपसंहारपर, ब्रह्म और अब्रह्मके बीच, सद्वस्तु और अवास्तवताके बीच या इतने सारे मतवादोंके आधार होनेवाले मानसिक विरोधोंकी जमातमेंसे किन्हींके भी बीच किसी साफ कटाई करनेवाले विभेदपर पहुँचता है। दर्शनशास्त्रके इन शाही रास्तोंमें

यह सुविधा रहती है कि ये तत्त्वमीमांसीय बुद्धिके डगोंके लिये खूब विशद रूपमें कटे होते हैं और साथ ही सामान्य मनको अपने अन्तमें आनेवाले शिखरकी भव्य उच्चतासे, प्रभुताशाली सिद्धान्त-सूत्रके गगनभेदी मैटरहोर्न[1] शिखरसे आकर्षित और अभिभूत करते हैं। उदाहरणके लिये हम उस प्राचीन प्रसिद्ध वाक्य "ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या" को लें, इसमें कितने भव्य उच्छेदकारी प्रवाहकी ध्वनि है, और ये चार विजयी शब्द ईश्वर, मनुष्य, जगत् और जीवनके सारे व्यापारको अस्ति और नास्तिके अपने असुलहकारी विरोधमें तुरन्त ही और सदाके लिये निपटा देते लगते हैं। लेकिन आखिरकार जब हम शायद इस विषयके बारेमें अधिक विस्तृत रूपसे विचार करने लगते हैं तो देख सकते हैं कि इस दिशामें प्रकृति तथा अस्तित्वका आशय वह नहीं है जो मनुष्यका है, कि यहाँ एक बड़ी जटिलता है जिसका हमें धैर्यसे पीछा करना होगा और कि फलदायक सत्य देनेके लिये सबसेअधिक सम्भावना उन चिन्तन-विधियोंकी होगी जो उपनिषदोंके प्रेरणाजात चिन्तनकी तरह अनेक पहलुओंको एक ही साथ लेती हैं और अनेकों विरोधी उपसंहारोंमें मेल बैठाती हैं। उपनिषदोंमेंसे सहस्रों दर्शनशास्त्रोंके लिये सामग्री काट निकाली जा सकती है, मानों वे एक अलौकिक और अगाध खदान हों और जैसे हमारी वसुंधरा माताके वैभवपूर्ण वक्षस्थलको या व्योम पिताकी सम्पदाओंको रिक्त नहीं किया जा सकता वैसे ही इस खदानको भी रिक्त नहीं किया जा सकता।

इन सरल काटछाँटोंकी परिचित प्रक्रियाका काम मनुष्यने अपने मानवीय रूपके बोधसे शुरू किया; उसने इस जगत्में अपने-आपको एक पृथक्, अद्वितीय और अलग सत्ता बना लिया और यह मान लिया कि उसीके लिये या उसे ही केन्द्र बनाकर प्रत्येक अन्य वस्तुकी रचना की गई है, और बाकी सब कुछ,—अवमानवीय अस्तित्व, पशु, वनस्पति, निष्प्राण पदार्थ, प्रत्येक वस्तु, परमाणु भी,—उसे अपने-आपसे एक भिन्न सृष्टि, पृथक्, अन्य प्रकृतिधारी लगने लगा; उसने सबको अन्तरात्माविहीन कह कर तिरस्कृत किया, उसने अपने-आपको ही एकमात्र अन्तरात्माधारी सत्ता माना। उसने प्राणकी ओर देखा, अपने मनको खींचनेवाले कुछ लक्षणोंसे उसकी परिभाषा बनायी और बाकी सारे अस्तित्वको निर्जीव, निष्प्राण कह कर अलग कर दिया। उसने अपनी पृथ्वीकी ओर देखा और चूँकि वह शरीरधारी अन्तरात्माओं या सजीव प्राणियोंकी एकमात्र स्थली है अतः उसे विश्वका केन्द्र बना डाला; परन्तु अन्य असंख्य स्वर्गिक पिण्डोंको पृथ्वीके दिवसको आलोक देने या उसकी रात्रिको भारमुक्त करनेवाले

---

[1] यूरोपमें एक 14000 फीट ऊँचा पर्वत। (अनु.)

प्रकाशके रूपमें माना गया। उसने यदि इस एकमात्र पार्थिव जीवनकी अपर्याप्तता देखी तो पूर्ण स्वर्गिक अस्तित्वकी एक अन्य विपरीत परिभाषाकी रचनाके लिये, और उसका स्थान उसने अपनेसे ऊपर दीखते आकाशोंमें निर्धारित किया। उसने अपने "मैं" या "स्व" की ओर देखा और उसकी धारणा एक पृथक् शरीरधारी अहंके रूपमें, अपने सारे पार्थिव तथा स्वर्गिक अर्थोंके केन्द्रके रूपमें बनायी और सारी अन्य सत्ताको अपनेसे भिन्न मानकर, एक ऐसी वस्तु मानकर अलग कर दिया जिसका अस्तित्व उसके लिये ही था और जिसका वह इस छोटी सी निमग्नकारिणी हस्तीके लिये अच्छासे अच्छा उपयोग कर सके। उसने जब इन प्राकृतिक इन्द्रियशासित विभाजनोंसे आगे देखा तब भी उसने इसी तर्कसंगत नीतिका अनुसरण किया। अध्यात्म-तत्त्वकीधारणामें उसने उसे तीक्ष्णतासे एक ऐसी वस्तुकी तरह काटकर अलग कर दिया जो अपने-आपमें अलग है और जो कुछ अध्यात्म-तत्त्वनहीं है उस सबके विपरीत है; अध्यात्म-तत्व और जड़के बीच, या अधिक विस्तीर्ण रूपमें, एक ओर अध्यात्म-तत्त्व और दूसरी ओर मन, प्राण तथा शरीर, इनके बीच एक विरोध उसके आत्म-प्रत्ययका आधार बन गया। तब आत्माकी धारणा इस रूपमें करते हुए कि वह एक विशुद्ध सत्ता है, अन्य सब कुछको अनात्मा, सर्वथा भिन्न प्रकृतिवाला कहकर उससे पृथक् कर दिया गया। प्रसंगवश, उसे उसने अपने हठीले विभाजक मनकी आँखसे अपने पृथक आत्माकी तरह देखा और, जैसे उसने अहंकी तुष्टिको पृथ्वीपर अपना सारा व्यवसाय बना डाला था, वैसे ही उसने अन्तरात्माके वैयक्तिक उद्धारको उसका एकमात्र सर्वमहत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तथा स्वर्गिक कार्य बना डाला। या उसने विश्वसत्ताको देखा और व्यक्तिकी वास्तविकताको अस्वीकार किया, उसकी किसी भी जीवन्त एकता या सह-अस्तित्वशाली वास्तविकताको माननेसे इन्कार किया, या उसने विश्वातीत निर्विशेषको देखा जो व्यक्ति और विश्वसे पृथक् है और इस कारण व्यक्ति और विश्व असत्की चीज बन गये। उसके साफ काटछाँट करनेवाले और विश्वस्त भावसे पैनी धार चलानेवाले मनके लिये सत्ता और संभूति दो विपरीत श्रेणियाँ हैं जिनमेंसे किसी एकको अस्वीकार करना ही होगा या अस्थायी निर्माण या समष्टिकी तरह मानना होगा या भ्रमके फीके वर्णसे विवर्ण कर देता होगा, संभूति सत्ताके शाश्वत प्रदर्शनके रूपमें स्वीकृत नहीं होगी। इन्द्रिय-निर्देशित या मानवीय बुद्धिकी ये धारणाएँ अभी भी हमारा पीछा कर रही हैं, परन्तु विचारशील बुद्धिवृत्तिको यह अधिकाधिक प्रकट होता है कि ये धारणाएँ चाहे निर्णायिका और सन्तोषदायिनी क्यों न लगें और प्राणक्रिया, मनोक्रिया, आत्मिक क्रियाके लिये सहायिका क्यों न हों, ये अभी भी, जैसा कि हम अब इनके बारेमें कहते हैं, बनायी हुई चीजें हैं। इनके पीछे एक सत्य है, परन्तु ऐसा सत्य जो इन पार्थक्योंके लिये वस्तुतः अनुमति नहीं

देता। हमारे श्रेणी-निर्धारण अति दृढ़ दीवारें खड़ी कर देते हैं, जब कि सारे सीमातट केवल तट होते हैं, न कि पार नही की जा सकनेवाली खाड़ियाँ। वस्तुओंके अन्दर जो अनन्त रूपसे परिवर्तनशील अध्यात्म-पुरुष है वह अपने-आपको अपनी सर्वत्र-विद्यमानताके प्रत्येक रूपके अन्दर समूचा ले जाता है; आत्मा, सत्-पुरुष, एक साथ ही प्रत्येकके अन्दर अद्वय है, हमारे समुदायोंमें सर्वसामान्य है और सारी सत्ताओंमें एक है। ईश्वर अपनी अविभाज्य एकतामें एक साथ ही बहुत सारी विधियोंसे गतिशील होता है।

मनुष्य विश्वमें एक पृथक् और सर्वथा विलक्षण प्राणी है, इस धारणाको प्रक्रांति-प्रक्रियाके धैर्यपूर्ण और तटस्थ अवलोकनने बुरी तरह झकझोर डाला है। मनुष्य पृथ्वीपर अपनी सानी नहीं रखता, उसका कोई समकक्ष नहीं, और उसे विशेष सुविधा भी प्राप्त है, किन्तु उसकी सत्ता एकाकी नहीं होती; उसके पीछे सारा विकासक्रम है जो दुर्बल शरीर, संकीर्ण प्राण और सीमित मनमें शरीर धारण करनेवाले आध्यात्मिक महानताके इस जिज्ञासुकी व्याख्या करता है और यह जिज्ञासु अपनी बारीमें अपनी सत्ता और खोजके द्वारा विकासक्रमकी व्याख्या देता है। पशु मनुष्यको तैयार करता और उसकी अपूर्ण पूर्वाकृति होता है, स्वयं पशुकी तैयारी वनस्पतिमें की जाती है, क्योंकि पार्थिव विस्तरणमें जो कुछ पहले आया है पशु भी उसके द्वारा अस्पष्ट रूपसे पहले देखा गया था। स्वयं मनुष्य विद्युदणु और परमाणुकी चमत्कारपूर्ण क्रीड़ाको हाथमें लेता है, जीवद्रव्यके जटिल विकासके बीचसे अवप्राणिक वस्तुओंके रसायनिक जीवनको ऊपर खींचता है, वनस्पतिकी आदि स्नायवीय प्रणालीको सम्पूर्णीकृत पशु-प्राणीकी दैहिक रचनामें पूर्ण बनाता है, अपने भ्रूणीय विकासमें पशु-रूपके अतीत क्रमविकासकी निष्पत्ति और द्रुत पुनरावृत्ति मानव-पूर्णताके अन्दर करता है और, एक बार जब मनुष्य जन्म ले लेता है तो पृथ्वीमुखी और अधोमुखी पशु-प्रवणताकी भूमिसे वह अध्यात्म-पुरुषके सीधे खड़े आकारकी ओर उठता है जो अपने आगेके स्वर्गमुखी विकासक्रमकी ओर ऊपर देखना आरम्भ कर चुका होता है। जगत्का सारा पार्थिव अतीत मनुष्यमें संक्षिप्त रूपमें होता है, और केवल ऐसा ही नहीं है कि प्रकृतिने मानों यह स्थूल चिह्न दिया है कि उसने मनुष्यमें अपनी विश्वव्यापिनी शक्तियोंका एक सार-संग्रह रच रखा है, वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी वह अपनी अवचेतन सत्तामें प्रक्रांतिके अधिक अँधियाले और पशुसे नीचेके प्राणके साथ एक रहता है, अपने मन तथा प्रकृतिमें पशुको समाये रखता है और इन सारे अधःस्तरोंसे उठकर अपने सचेतन मानवत्वमें आता है।

मनुष्यमें अन्तरात्मा जो कुछ भी हो वह कोई पृथक् आध्यात्मिक सत्ता नहीं जिसका शेष पार्थिव परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं हो, वरन् ऐसा लगता है कि वह उस

सारेको हाथमें लेता हुआ और अध्यात्म-तत्त्वकी एक नयी शक्ति और अर्थ द्वारा उसके सार्थक्यका अतिक्रमण करता हुआ उसीमेंसे उपजा है। पृथ्वीपर मानव-प्ररूपकी सार्वभौमिक प्रकृति यही है, और यह अनुमान करना न्याय है कि व्यष्टि-अन्तरात्माका विगत इतिहास जो कुछ भी रहा हो, उसने सार्वभौमिक प्रकृति और विकासक्रमकी धाराका अनुसरण किया होगा। जो पृथक्कारी अभिमान यह चाहता है कि हम अपने-आपको एक अन्य तथा महत्तर सृष्टि मानें और जो इसके लिये प्रकृतिके एकत्वको खंडित करना चाहता है, उसका कोई भौतिक समर्थन नहीं है; यही नहीं, इसके विपरीत यह पाया गया है कि सारे प्रमाण उसका खंडन करते हैं। फिर, इसका कोई आध्यात्मिक समर्थन माननेका भी कोई कारण नहीं। मानवजातिका भौतिक इतिहास अवप्राणिक जीवन और पशुजीवनमेंसे मानवत्वकी महत्तर क्षमतामें विकसित होना रहा है; हमारा वर्तमान स्वभाव जो कि पशुस्वभाव है और उसके अतिरिक्त ऐसा कुछ भी है जो उसका अतिक्रमण करता है, जिस आन्तरिक इतिहासका निर्देशन करता है, वह इतिहास अवश्य ही उसी मोड़के सहारे मानवताके अन्तरात्मामें पहुँचनेवाला समसामयिक और संगी विकास रहा होगा। जिस प्राचीन भारतीय विचारने मनुष्यकी वैयक्तिक प्रकृतिको सार्वभौमिक प्रकृतिसे या मनुष्यके आत्माको अद्वय सर्वसामान्य आत्मासे पृथक् करनेसे अस्वीकार किया, उसने अपनी दृष्टिके इस परिणामको स्वीकार किया। इस प्रकार तंत्रने मानव-जन्मके लिये तैयारीके रूपमें वनस्पति तथा पशुयोनिमें आठ करोड़ जीवनों-की कुल राशि बनायी है, और हम इस संख्यासे बँधे बिना इस विचारकी ताकतको समझ सकते हैं कि जिस आन्तरात्मिक विकासक्रम द्वारा मानव-जाति अस्तित्वमें आयी है या शायद निरन्तर आती है, वह कितना कठिन है। एक पशु-अतीत इस प्रकार रहा ही होगा, इस मान्यतासे हम केवल तभी निस्तार पा सकते हैं यदि हम यह कहें कि सारी अवमानवीय प्रकृति अन्तरात्माहीन है।

परन्तु ऐसा कहना उस मानवीय मनके अन्धे, उतावले और धृष्ट विच्छेदोंमेंसे ही है जो पृथक् आत्म-बोधके अपने ही बन्दीगृहमें बन्द रहकर शेष प्राकृतिक सत्ताके साथकी अपनी सजातीयताको देखनेसे इनकार करता है। यदि अन्तरात्मा या अध्यात्म-तत्त्व पशुमें निम्नतर स्तरपर कार्य कर रहा है तो इस कारण हमारा उसको अन्तरात्माहीन मान लेना वैसे ही उचित नहीं होगा जैसे यह उचित नहीं होगा कि कोई अतिमानवीय या दिव्य प्राणी हममें हमारी आधी पशु-प्रकृतिकी रेंगती, नीचेकी ओर खिंचती निकृष्टताके कारण हमें अन्तरात्माहीन मन माने। हम जब किसी भी मानव-प्राणीके बारेमें यह रूपक देते हैं कि उसमें अन्तरात्मा नहीं है तो यह रूपक ही होता है; इसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमें पशु-प्ररूपका अन्तरात्मा उस अधिक विकसित अन्तरात्मा-

प्ररूपकी अपेक्षा अत्यधिक प्रधान हो गया है जिसे हम मानवजातिके सुष्ठुरतर आध्यात्मिक रूपके अन्दर पानेकी आशा करते हैं। किन्तु यह पशु-तत्त्व हममेंसे प्रत्येक मातृपुत्रमें है; यह हमारी विरासत है, हम सभीको अपनी पृथ्वी-मातासे उत्तराधिकारमें मिली वस्तु है: और यदि हमारी सत्ताका यह तत्त्व, इस उत्तराधिकारका भार हमारे अपने अतीतकी कमाई न हो, किसी विगत रचनात्मक अनुभवसे बचा रखी गयी शक्ति न हो, तो भला हम उसे आध्यात्मिकतया पा ही कैसे सकते हैं? कर्मका आध्यात्मिक नियम यह है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रकृति उसकी भूतकालकी ऊर्जाओंका परिणाम ही हो सकता है; यह मानना कि अन्तरात्मा ऐसे अतीतके कर्मको जारी रखता है जो उसका अपना नहीं था, इस नियमपर अलग रेखा खींच देना और एक अज्ञात तथा अपरिक्षित तत्त्वकोअन्दर ले आना है। परन्तु यदि हम इसे मानते हैं तो हमें उस तत्त्वका लेखाजोखा भी करना होगा, हमें यह व्याख्या करनी होगी या यह खोजना होगा कि सारी पशु-प्रकृतिसे अछूती रहनेवाली अध्यात्म-सत्ता किस विधान, किस सम्बन्ध, किस आवश्यकता, किस विलक्षण वरण-प्रेरणासे पशुताकी ऐसी देह और प्रकृतिको धारण करती है जिसे उसने सत्ताकी निम्नतर श्रेणीके लिये प्रस्तुत किया था। यदि अतीतके व्यक्तित्व या सम्बन्धकी कोई बन्धुता और परिणाम नहीं है तो यह मान्यता अस्वाभाविक और असम्भव हो जाती है। अतः यह निष्कर्ष सबसे अधिक न्याय्य और संगत होता है कि मनुष्यमें जो पशु-प्रकृति है,——और वस्तुतः हम यदि उसके मनका ठीकसे अध्ययन करें तो पाते हैं कि वह बहुत प्रकारोंके पशु-अन्तरात्माओंको या बल्कि पशु-प्रकृतियोंके सम्मिश्रणको अपने अन्दर बसाए रखता है,——इसका कारण यह है कि विकसित शरीरकी तरह उसमें विकसित होते आत्माका अतीतका अवमानवीय विकासक्रम रहा है। यह निष्कर्ष विश्वप्रकृतिके एकत्व और विकसित होते क्रमको संरक्षित रखता है; और इसका उस पारस्परिक क्रिया और सादृश्यके सतत प्रमाणसे भी मेल खाता है जिसे हम आन्तरिक और बाह्य, स्थूल और मनोमय व्यापारके बीच देखते हैं,——यह ऐसी समरूपता और सहचारिता है जिसकी व्याख्या कुछ लोग मनको स्नायु और शरीरके कार्यका परिणाम और अंकन कह कर करनाचाहेंगे, परन्तु जिसकी अधिक अच्छी व्याख्या हम तब कर सकते हैं जब कि हम प्राणिक तथा शारीरिक व्यापारमें आन्तरात्मिक क्रियाका परिणाम और गौण अंकन देखें जिसका वह संकेत करता है और जिसे वह साथ ही साथ हमारी इन्द्रियबद्ध मनोवृत्तिसे छिपाता भी है। अन्तमें तब वह अन्तरात्मा या अध्यात्म-तत्त्वको जड़ विश्वमें होनेवाली चमत्कारिक संयोग-घटना या हस्तक्षेप नहीं बताता, वरन् उसे उस विश्वमें सदा ही विद्यमान और उसकी व्याख्या तथा उसके अस्तित्वका रहस्य बताता है।

अन्तरात्माका पशुजीवन रहा है और अतीतमें उसके अवमानवीय जन्म रह हैं जो धीमे-धीमे और सतर्कतासे मनुष्य-योनिके जन्मकी तैयारी करते रहे हैं, इसकी मान्यता प्राकृतिक श्रेणी-व्यवस्थाकी इस आकस्मिक रेखापर नहीं रुक जा सकती। कारण, मनुष्य अपनी सत्तामें केवल अपनेसे नीचेके पशु-अस्तित्वका ही नहीं, अपितु पशुसे नीचेके अधिक अस्पष्ट अस्तित्वका भी सारांश समाये रखता है। किन्तु यदि तिरस्कृत पशु-रूप और पशु-मनमें अन्तरात्माकी विद्यमानताको मानना भी हमारे लिये कठिन है तो पशुसे नीचेकी प्रकृतिकी जड़ अवचेतनामें उसकी विद्यमानताको मानना तो और भी कठिन है। प्राचीन विश्वासधारामें यह मान्यता सुखदतम भावसे रहती थी, उसे सजीव और निर्जीव दोनोंमें सर्वत्र अन्तरात्माका, जीवन्त देवत्वका दर्शन हुआ था, और उसकी दृष्टिमें कोई भी वस्तु आध्यात्मिक अस्तित्वसे रहित नहीं थी। बीचमें, स्पष्ट खण्डोंके लिये अनुराग रखनेवाली तार्किक और अमूर्त्तकारिणी मानसिक बुद्धिने इन सारे विशाल विश्वासोंको काल्पनिक अन्धविश्वास या आदिम सर्वात्मवाद अथवा जीववाद कह कर बुहार निकाला और, अपनी सीमाकारिणी तथा विभाजित परिभाषाओंसे अधिकृत होकर, उसने मनुष्य और पशु, पशु और वनस्पति, सजीव और निर्जीव सत्ताके बीच तीक्ष्ण विभागीय विभेद कर डाला। परन्तु अब, असहनशील विभाजनोंकी यह प्रणाली हमारी अभिवर्द्धनशील युक्तिबुद्धिकी आँखोंके सामने तेजीसे लुप्त हो रही है। पशु-मनोवृत्तिमें जिसकी शुरुआत भर हुई है, मानव-मन उसीमेंसे एक विकास है; उस अवर प्ररूपमें भी एक प्रकारकी दमित युक्तिबुद्धि है, क्योंकि यह नाम अनुभव, साहचर्य, स्मृति और स्नायवीय प्रत्युत्तरसे मिलनेवाले सहज वृत्तिगत और अभ्यासगत निष्कर्षको भी भली भाँति दिया जा सकता है, और स्वयं मनुष्य इन वस्तुओंसे आरम्भ करता है लेकिन वह इस पशु-विरासतमेंसे विवेकशील इच्छा और बुद्धिकी स्वतन्त्र मानवीय आत्म-वियुक्तिकारी क्षमताका विकास करता है। औरअब यह स्पष्ट है कि स्नायवीय प्राण जो कि मनुष्य और पशुमें उस स्थूल मनका आधार है, वनस्पतिमें भी एक मूलभूत एकसमानतामें रहता है; केवल यही नहीं, वरन् वह एक प्रकारकी स्नायवीय मनोगठन द्वारा हमसे सजातीय रहता है और इसका अर्थ यह होता है कि वहाँ एक दमित मन रह रहा है। यह संकेत करना अब अन्याय नहीं होगा कि वनस्पतिमें अवचेतन रहनेवाला मन,—परन्तु वनस्पति-अनुभवकी चोटियोंपर क्या वह केवल अर्ध-अवचेतन नहीं है?—पशुदेहमें सचेतन हो जाता है। जब हम और नीचे जाते हैं तो इस बातके संकेत पाते हैं कि प्राणसे नीचे, जड़से जड़ भौतिक रूपोंमें भी, ठीक उसी प्राण-ऊर्जा और उसके प्रत्युत्तरोंके आरम्भिक तत्त्व संवृत हैं।

और तब यह प्रश्न उठता है, कहीं ऐसा तो नहींहै कि प्रकृतिमें कोई अभंग सातत्य

है, कोई विखंडन और विभाग नहीं हैं, पाटी नहीं जा सकनेवाली खाड़ियाँ और पार नहीं किये जा सकनेवाले तट नहीं है, वरन् एक सम्पूर्ण एकत्व है, जड़ दमित प्राणसे अनुगर्भित है, मन दिव्यतर बुद्धिकी दमित ऊर्जासे अनुगर्भित है, प्रत्येक नया रूप या जन्म-प्ररूप दमित शक्तियोंके अनुक्रममें एक - एक पर्वका उन्मेष करता है, परन्तु इस स्थलपर भी विकासक्रमका अन्त नहीं होता, प्रत्युत यह विशाल और भरी हुयी बुद्धि 'अध्यात्म-पुरुष' की महत्तर और अभी दमित रहती आत्म-शक्तिको मुक्त करनेका एक साधन है। इस प्रकार हमारी आँखोंके सामने जगत्में एक आध्यात्मिक विकासक्रम आता है जिसे एक आन्तरिक शक्ति अपनी ही प्रच्छन्न शक्तियोंको अपनी सम्पूर्ण और उच्चतम सत्यताकी ओर प्रस्फुटित करती हुई अपने रूपगत जन्मोंकी श्रेणियोंके सोपान-पर ऊपर उठाती है। पुरातन वेदका शब्द सामने आता है,—अप्रकेतम् सलिलम् सर्वम् इदम्, निश्चेतनाके सारे समुद्रमेंसे, तपसस्तन्महिना अजायत एकम्, वह एकमेव आध्यात्मिक सत् ही अपनी ही ऊर्जाकी महिमा द्वारा जन्म लेता है। जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं उसका प्रथम प्राकट्य इस विकासक्रममें कहाँपर होता है? तब हम यह पूछने-को बाध्य होते हैं, क्या वह वहाँ विद्यमान नहीं रहा होगा, वहाँ प्रथम आरम्भसे ही नहीं रहा होगा, भले ही जड़में निद्रित, या कह सकते हैं निद्राचारी रहा हो? मनुष्य यदि केवल अधिक प्रसारवाले स्थूल मनसे युक्त श्रेष्ठतर पशु ही होता तो हमारा यह कहना धारणागम्य हो सकता था कि कोई अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ता नहीं है, अपितु जड़के रूपोंके धाराक्रममें बस 'ऊर्जा' की तीन क्रमागत शक्तियाँ ही हैं। परन्तु इस मानवीय बुद्धिमें इसके शिखरपर अध्यात्मतत्त्वकी एक महत्तर शक्ति प्रकट होती ही है; हम एक ऐसी चेतनातक ऊपर उठते हैं जो अपने स्थूल साधनों और सूत्रोंसे सीमित नहीं। यद्यपि प्रथम दृष्टिमें ऐसा लग सकता है, तथापि वह उच्चतम वस्तु मनका अभौतिक उन्नयन नहीं है, मन भी सजीव जड़तत्त्वका सूक्ष्म उन्नयन नहीं। यह महिमामयी वस्तु हमारी सत्ताका तो स्वयम्भू उपादान और बल ही प्रमाणित होती है; अन्य सारी वस्तुएँ तुलनामें उसके अपने न्यूनतर रूप ही लगती हैं जिन्हें वह प्रगतिशील प्राकट्यके लिये काममें लेती है; अन्तमें अध्यात्म-तत्त्व केवल अन्तिम ही नहीं, वरन् प्रथम भी, आदि और अन्त, और अस्तित्वके आरम्भसे उसका समूचा रहस्य प्रमाणित होता है। हम इस सबकी एक अगाध धारणापर आते हैं, सर्वम् इदम्, जिसमें हम देखते हैं कि जड़के अन्दर एक अस्पष्ट सर्वत्रविद्यमान प्राण है, एक प्रच्छन्न प्रसुप्त मन उस प्राणसे सक्रिय होता है, मनकी उस निद्रामें एक सर्वज्ञाता और सर्वप्रवर्तक 'अध्यात्म-पुरुष' आश्रय ग्रहण किये हुए संवृत है। किन्तु तब अन्तरात्माकी कल्पना किसी ऐसे विकास या जन्मके रूपमें नहीं करनी होगी जिसके आगमनकी तिथि निश्चित की जा सकती हो,

न विकासक्रमकी किसी ऐसी भूमिकाके रूपमें ही जो उसे रूपायणका प्रथम सामर्थ्य ला देती हो, बल्कि यहाँ सब कुछ एक ऐसे प्रच्छन्न अन्तरात्माके द्वारा रूपधारण है जो प्राणकी आत्म-खोजमें वर्द्धमान आत्म-विवेकके सामने अधिकाधिक अभिव्यक्त होता है। समस्त रूपधारण अन्तरात्माका एक सतत और फिर भी प्रगतिशील जन्म, संभव या संभूति है, केवल सूक्ष्मतः, मनतः चेतन मानव या पशु-अस्तित्व ही नहीं, अपितु जो मूक, अन्धा और बुद्धिहीन है वह भी वही है, यह सारी अनन्त संभूति 'अध्यात्म-सत्ता' का का रूपके अन्दर जन्म है। यही वह सत्य है, बुद्धिके लिये प्रथमतः धूमिल या अस्पष्ट किन्तु आन्तरिक अनुभवके लिये बहुत दीप्तिमान, जिसपर प्राचीन भारतका पुनर्जन्म-विषयक विचार अधिष्ठित था।

परन्तु उसी व्यक्तिका बारबार जन्म होना प्रथम दृष्टिमें इस अभिभूतकारी विश्वव्यापी एकत्वमें अपरिहार्य नहीं जान पड़ता। तार्किक बुद्धिको यह बात एक प्रतिकूलोक्ति लग सकती है क्योंकि यहाँ सब कुछ एक ही पुरुष, आत्मा, अस्तित्व है जो प्रकृतिके अन्दर जन्म लेता, वहुसंख्यक रूपोंको धारण करता, अपने आत्म-प्राकट्यकी भूमिकाओंकी बहुत सारी श्रेणियोंपर चढ़ता जाता है। अस्तित्वको आत्मा और अनात्मा (जो "मैं" है और जो "मैं" नहीं है) में संक्षिप्त रूपसे काट देना जो कि वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारे अहमात्मक विचारके लिए सुविधाजनक था, कर्मकी ओर मनका इतना सबल मोड़ था, उसके जन्मके पृथक्कारी व्यापार और सम्मिलित अग्रसरणके चेतन परिवर्तनको अवलम्ब देनेके लिए उस अद्वय 'अध्यात्म-सत्ता' का एक व्यावहारिक या यान्त्रिक साधन ही प्रतीत होगा, विश्वव्यापिनी बुद्धिकी ऐंद्रजालिक चतुराई ही लगेगा; यह सत्ताका केवल प्रतीयमान तथ्य है, उसका सत्य नही,—वस्तुतः कोई पार्थक्य नहीं है, केवल एक विश्वव्यापी एकत्व है, अद्वय आत्मा है। किन्तु क्या यह फिर एक विपरीत चरमताकी ओर झूल जाना नहीं होगा? जैसे अहं सत्ताके एकत्वमें अत्यधिक विखंडन था, वैसे ही यह एकत्व-सागरका भाव जिसमें हमारा जीवन चंचल और क्षणिक तरंग मात्र होता है, किसी ऐसी वस्तुको हिंस्र रूपसे काट निकालना हो जा सकता है जो विश्व-व्यवस्थाके लिये अपरिहार्य हो। जीवनगत 'अध्यात्म-सत्ता' की विधाओंमें वैयक्तिकता उतनी ही महत्वपूर्ण वस्तु है जितनी कि विश्वात्मकता। व्यक्ति उसकी सत्ताका वह सशक्त रहस्य है जिसपर विश्वसत्ता बल देती, सहारा लेती और अपनी सारी क्रियाओंकी शक्ति-ग्रन्थि बनाती है: जैसे-जैसे व्यक्तिमें चेतना, दृष्टि, ज्ञान और किन्हीं भी दिव्य सामर्थ्यों तथा गुणोंकी वृद्धि होती है, वैसे-वैसे वह बढ़ते परिमाणमें अपने अन्दर वैश्वके प्रति चेतन होता है, साथ ही विश्वसत्तामें अपने प्रति भी, अपने एक ऐसे अतीतके प्रति भी चेतन होता है जिसका एक ही अचिर देहमें न तो

आरम्भ हुआ है, न अन्त, प्रत्युत जो भावी परिपूर्तियोंकी ओर उन्मीलित हो रहा है। हमारे जन्ममें विश्वपुरुषका उद्देश्य यदि आत्म-चेतन होना और अपनी सत्ताको अधिकृत और उसका भोग करना है, तो भी यह व्यक्तिके प्रस्फुटन और पूर्णता द्वारा ही किया जाता है; यदि अपनी ही क्रियाओंसे बच निकलना अन्तिम लक्ष्य हो, तो भी बच निकलनेवाला व्यक्ति ही होता है जब कि विश्वपुरुष अपने बहुसंख्यक जन्मोंको कभी भी अन्त न होनेवाले रूपसे अनवरत चलाये रखनेमें तुष्ट लगता है। अतः व्यक्ति 'अध्यात्म-सत्ता' की यथार्थ शक्ति प्रतीत होगा, न कि निरा भ्रम या साधन; बात वहाँ तक भिन्न होगी जहाँ तक कि, जैसा कुछ लोग कहते हैं, विश्वसत्ता भी अति विशाल भ्रम या भव्य आरोपित साधन हो। इस विचारधाराके अनुसार हम इस विचारपर पहुँचते हैं कि एक महान् आध्यात्मिक अस्तित्व है, विश्व और व्यक्ति उसकी दो सहचरी शक्तियाँ हैं, उसकी अभिव्यक्तिके सिरे हैं, उसकी सत्ताकी सक्रिय की गयी वास्तविकताओंकी अनिश्चित परिधि और बहुविध केन्द्र हैं।

एक ऊर्ध्वमुखी एकत्व, भौतिक अस्तित्वमें संवृत एक अध्यात्म-सत्ता जो बहुत सारी श्रेणियोंपर अद्भुत रूपसे चढ़ती हुई प्राणसे होकर संगठित मनकी ओर और मनसे आगे अपने संपूर्ण आत्म-विवेकके उन्मेषकी ओर जाती है, व्यक्तिके द्वारा अपने आत्मोत्कर्षके लिये उस श्रेणीक्रम और शक्तिका अनुसरण,——वस्तुओंको देखनेका यह तरीका अपनी जटिलताके बीच सामंजस्यपूर्ण तो अवश्य है और एक विशेष सर्वालिंगनकारी दायरेके लिये नमनीय और समर्थ भी; इसे हम अपने पुनर्जन्म-विषयक विचारोंके आधारकी तरह ले सकते हैं। यदि मानवीय मन पृथ्वीपर उसकी सम्भावनाका अन्तिम शब्द है तो पुनर्जन्मका मनुष्यमें अवश्य अन्त हो जाना चाहिये और किसी आकस्मिक समाप्ति द्वारा उसे या तो अन्य लोकोंके किसी जीवनकी ओर या अपने आध्यात्मिक वृत्तको रद्द करनेकी ओर अग्रसर हो जाना होगा। परन्तु यदि अध्यात्म-तत्त्वकी उच्चतर शक्तियाँ हैं जो कि जन्म द्वारा प्राप्य हैं, तो आरोहण समाप्त नहीं हुआ है, मानवताके ऊँचे सोपानतक पहुँचे हुए और उसकी पूर्णताके लिए ऊपर उठाये जानेवाले जीवके सामने महत्तर क्षितिज हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि यह ऊर्ध्वारोही पुनर्जन्म किसी चेतन सत्ताका जड़मेंसे लम्बे ऊपर उठते राँकेटकी तरह छूट निकलना नहीं हो, न वह मनमें उसकी कोई चक्कर काटती गतिधारा ही हो जिसकी नियति प्रशान्त शून्य या किसी नीरव और कालातीत आनन्त्यके किसी उच्च वायुमें खंडित और विघटित हो जानेकी हो, प्रत्युत वह परम देवके किसी महत् कार्य और उच्च आविर्भावकी ओर प्रगति हो जिससे शाश्वत सृष्टिमें उस देवके अटल प्रयोजनको ज्ञानमय और महिमावान् सार्थक्य मिलेगा। या, कमसे कम, वह शाश्वतकी अनन्त शक्यताकी एक शक्ति तो हो ही सकता है।

सात

संवृति और क्रमविकास

क्रमविकासके बारेमें जो पाश्चात्य विचार है वह रूपायणकी प्रक्रियाका कथन है, हमारी सत्ताकी व्याख्या नहीं। प्रकृतिके भौतिक तथा जीव-विषयक तथ्योंतक सीमित रहनेवाला यह विचार क्रमविकासके अर्थको खोजनेका प्रयत्न नहीं करता, यदि करता भी है तो संक्षिप्त या छिछले तरीकेसे और अपने बारेमें यह घोषणा करके तुष्ट रहता है कि वह एक सर्वथा रहस्यपूर्ण और अव्याख्येय ऊर्जाका सामान्य नियम है। क्रमविकास एक गतिक समस्या हो जाता है जो अपनी पहेलीको एक स्वतःचालित नियमिततासे क्रियान्वित करनेमें संतुष्ट है, किन्तु उसका हल निकालनेके लिये नहीं, क्योंकि, चूँकि उसे अपने बारेमें कोई समझ नहीं है, और चूँकि वह यान्त्रिक ऊर्जाकी अन्धी चिरकालीन स्वचलता है, अतः उसका न मूल है, न अन्त। उसका शायद आरम्भ हुआ था या सदा ही आरम्भ हो रहा है; वह शायद कालमें रुक जायगा या कहीं पर सदा ही रुक जा रहा है और अपने आरम्भोंकी ओर वापस जा रहा है, किन्तु उसका कोई "क्यों" नहीं है, उसके आरम्भ और अवसानके लिये केवल एक "कैसे" की बड़ी खलबली और बतंगड़ है, क्योंकि उसके कार्योंमें आध्यात्मिक अभिप्रायका स्रोत नहीं, प्रत्युत केवल एक अविश्रामशील भौतिक अनिवार्यताकी शक्ति है। क्रमविकासके बारेका प्राचीन विचार दार्शनिक संबोधिका फल था, आधुनिक विचार वैज्ञानिक प्रेक्षणका प्रयत्न है। ये दोनों जिस प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं, प्रत्येकमें कुछ छूटा रह जाता है, किन्तु प्राचीन विचार इस गतिधाराके अन्तर्मर्मतक पहुँचा था जब कि आधुनिक विचार रूप और बाह्यतम यन्त्रविधिको पाकर तुष्ट है। सांख्य चिन्तकोंने हमारे सामने समूची क्रमवैकासिकी प्रक्रियाके मनोमय तत्त्वोंको रखा, मन और इन्द्रियका और जड़के सूक्ष्म आधारका विश्लेषण किया और कार्यकारिणी ऊर्जाके कुछ रहस्योंका सन्धान प्राप्त किया, परन्तु प्रकृतिके भौतिक श्रमके ब्यौरेकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी। उन्होंने इसमें भी केवल छायी हुई सक्रिय और प्रकट शक्तिको ही नहीं, अपितु प्रच्छन्न आधारदात्री और आध्यात्मिक सत्ताको भी देखा, किन्तु उनकी इस दृष्टिमें विश्लेषणकारिणी बुद्धिकी अतिशयता थी, वह तीक्ष्ण विखंडनों और सममित विरोधोंके प्रेमसे ग्रस्त थी। उसने पुरुष तथा शक्तिके बीच पार्थक्यकी मूल और शाश्वत खाई या रेखा खींच दी। आधुनिक वैज्ञानिकने भौतिक पद्धतिको उसकी सूक्ष्म क्रियाओं तकमें देखा है और वह

इस पद्धतिकी एक पूरी योजना और सिद्धान्त-प्रथा बनानेका प्रयत्न करता है, किन्तु प्रत्येक डगमें समाये हुए चमत्कारकी ओर अन्धा रहता या विशाल व्यवस्थित व्यापारके तुष्ट प्रेक्षणमें उसका अर्थ खो देनेमें सुखी रहता है। परन्तु इसका विस्मय बना रहता है, यह सकल अस्तित्वका अव्याख्येय आश्चर्य है,—जैसा कि प्राचीन शास्त्रोंमें भी कहा गया है:—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्य:।
आश्चर्यवच्चैनम् अन्य: शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

"कोई इसे देखता आश्चर्यवत् है, कोई इसकी चर्चा आश्चर्यवत् करता है, कोई इसे आश्चर्यवत् सुनता है, परन्तु यह क्या है इसे, सब कुछ सुननेपर भी, कोई नहीं जानता।" हम यह तो जानते हैं कि क्रमविकास है, परन्तु यंह नहीं कि वह क्या है; वह अभीतक प्रकृतिके आरम्भिक रहस्योंके बीच रहस्य बना हुआ है।

कारण, वस्तुओंमें स्थित अध्यात्म-तत्त्वकी गहरी और अगाध विधिके विषयमें मनुष्यकी युक्तिबुद्धिके विवरणों और समाधानोंकी जो रीति है, उसके फलस्वरूप क्रमविकास जितने प्रश्नोंको सुलझाता है उनसे अधिकको खड़ा करता है; वह अपने ठोस व्यवस्थित तथ्यके सारे रूपके बावजूद भी सृष्टिकी समस्याका अन्त नहीं करता है, जैसे ऐसा न तो बाह्य सर्वशक्तिमान् स्रष्टाको माननेवाली धार्मिक प्रस्थापना कर सकी, न भ्रमवादीकी अघटन-घटन-पटीयसी रहस्यवादी माया ही कर सकी जो असम्भवको घटित करनेमें बहुत निपुण है और जिसके अनुसार उस भावातीत और भावहीन 'तत्' में कोई भावयुक्त और विलक्षण सत् असत् शक्ति है जो सत् असत् जगत्की सृष्टि करनेमें स्वत: समर्थ है, सत् इस कारण कि उसका होना बहुत ही स्पष्ट है, असत् इस कारण कि वह स्वप्नमयी अवास्तविक क्षणभंगुरताओंकी जोड़तोड़ कर बनायी गयी सघनता है। इससे समस्या लम्बी ही हो जाती है, और भी पीछे हटा दी जाती है, उसका रूप सूक्ष्म और व्यवस्थित, किन्तु और भी अधिक कठिन और जटिल हो जाता है। परन्तु जब हमारी जिज्ञासा केवल क्रमविकासके ही प्रश्नतक सीमित रहती है तब भी जो स्पष्ट बाह्य वास्तविकताएँ देखनेमें आयी हैं उनके सारभूत सार्थक्यकी कठिनाई उठती ही हैं; प्रश्न होते हैं, क्रमविकासका क्या अर्थ है, क्रमविकास किसका होता है, वह किससे और किस आवश्यकताकी शक्तिसे होता है? वैज्ञानिक यह प्रतिपादित करके तुष्ट होता है कि एक आद्य जड़ तत्त्व या वस्तु है,—वह चाहे परमाणवीय हो, चाहे विद्युतीय, चाहे आकाशीय या अन्तमें जो कुछ भी वह प्रमाणित हो—और वह वस्तु अपनी ही

अन्तर्निहित ऊर्जाकी प्रकृतिके कारण या अपने अन्दर और ऊपर कार्य करती ऊर्जाकी ही प्रकृतिके कारण,——ये दोनों चीजें एक नहीं हैं, और यद्यपि इनका विभेद प्रक्रियाके आरम्भमें अमहत्त्वपूर्ण लग सकता है, तथापि अन्तमें महत्त्वपूर्ण परिणामशाली रहता है,——किसी अव्याख्यात नियमके कारण, परिणामोंकी किसी नियत व्यवस्था या अन्य अपरिवर्तनीय तत्त्वके कारण, जड़के अनेक विभिन्न आधारभूत रूपों और शक्तियोंको या ऊर्जाकी अनेक विभिन्न संवेद्य और प्रभाविणी गतियोंको उत्पन्न करता है: ऐसा लगता है कि ये अस्तित्वमें तब आते हैं जब जड़के सूक्ष्म आद्य कण विभिन्न रूपसे विन्यस्त परिमाणों, मात्राओं और सम्मिलनोंमें साथ मिलते हैं और बाक़ी सब कुछ संगठित ऊर्जाकी बदलती, विकसित होती, चढ़ती गतिधारा और उसका क्रमवैकासिक परिणाम है जो इस स्थूल उपादानके आधारपर निर्भर करता है। यह सब दृश्य वास्तविकताका सही कथन है या हो सकता है,——किन्तु हमें यह नहीं भूलना है कि हालका समय विज्ञानके मूलभूत सिद्धान्तमें उलटपुलट और द्रुत पुनरायोजनकी बड़ी हलचलका समय रहा है,——परन्तु यह बात हमें उस प्रधान, सर्व-महत्त्वपूर्ण वस्तुकी ओर नहीं ले जाती जिसे हम जानना चाहते हैं। विश्वको मनुष्य जिस प्रकार देखता और अनुभव करता है, उससे उसकी युक्तिबुद्धिके लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कोई आद्य तथा शाश्वत उपादान है सारी वस्तुएँ जिसके रूप हैं, और एक शाश्वत आद्या ऊर्जा है समस्त कर्म-गति और परिणाम जिसके नाना परिणाम हैं। परन्तु सारा प्रश्न यह है, इस उपादानकी सत्यता क्या है और इस ऊर्जाका तत्त्वभूत स्वरूप क्या है ?

अब, यदि हम जड़ तत्त्वमेंसे अ-जड़के क्रमवैकासिक प्रस्फुटनको इस क्रियाका सबसे कम व्याख्येय भाग मानें तो भी क्या वह विकास कोई सृजन है या विमोचन, किसी ऐसी वस्तुका जन्म है जिसका अस्तित्व पहले कभी नहीं था या किसी ऐसी वस्तुका धीमे-धीमे बाहर लाया जाना जो दमित तथ्य या शाश्वत शक्यताके रूपमें पहलेसे अस्तित्वमें थी ही ? और जब हम प्राण और मनके अभी तक अव्याख्यात रहनेवाले व्यापार आते हैं तो इस प्रश्नका सार्थक्य अधिक तीक्ष्ण हो जाता है और महत्व अपरिमेय। क्या प्राण निष्प्राण वस्तुमेंसे कोई सर्जन है या कि एक नयी शक्ति, जड़ और भौतिक ऊर्जामेंसे आकस्मिक या मन्थर परिणामकी तरह आनेवाली शक्ति ? और सचेतन मन, क्या वह निश्चेतन या अवचेतन प्राणमेंसे कोई सर्जन है, या क्या ये शक्तियाँ और देवत्व इस कारण प्रकट होते हैं कि ये विद्यमान सदा ही थे, भले ही अपने छिपे या दमित भाव और क्रियाशीलतामें नामन और सद्वस्तुकी ऐसी आवृत अवस्थामें जो हमारी पहचानमें न आ सके ? और अन्तरात्मा तथा मनुष्यकी क्या बात है ? क्या अन्तरात्मा हमारे मनोवासित प्राणका नया परिणाम या सर्जन है ?——जैसा कि बहुतेरे लोग मानते

हैं, क्योंकि वह आत्म-चेतन, उज्जवल और पहचानमें आनेवाली शक्तिके रूपमें केवल तब स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है जब कि विचारधर्मी प्राण अपनी तीव्रताकी किसी ऊँची मात्रापर पहुँचता है। या क्या वह चिरस्थायी सत्ता नहीं, वह आद्य रहस्य नहीं जो अपने छिपे रूपको अभी प्रकट कर रहा है और जिस ऊर्जाको हम प्रकृति कहते हैं उसका चिर-साथी है, उसका गुप्त अधिवासी या उसका आत्मा और सत्यता ही है? और मनुष्य, क्या वह किसी जड़ ऊर्जाकी जैव सृष्टि है जो किसी तरह अप्रत्याशित और सर्वथा अव्याख्येय रूपसे अनुभव और विचार करना आरम्भ कर सकी? या कि मनुष्य अपने यथार्थ आत्म-रूपमें वह आन्तरिक सत्-पुरुष और बल है जो क्रमविकासका सारा आशय और प्रकृतिका स्वामी है? और प्रकृति, क्या वह प्रच्छन्न अध्यात्म-पुरुषकी स्वाभिव्यक्ति, स्व-रूपायण, स्व-सृजनकी शक्ति ही है? और मनुष्य, वह अपनी वर्तमान समर्थताके बाड़ेमें चाहे कितना भी घिरा पड़ा हो, क्या वह प्रकृतिमें पहला प्राणी है जिसमें वह बल क्रियाके अग्रभागमें, भौतिक सत्ताके इस बाह्यकक्षमें चेतन रूपसे आत्म-सृजनशील होना शुरु करता है, उसके सारे मानवीय सार्थक्य या उसकी दिव्य सम्भावनाको जितना भी कार्यान्वित और प्रकट कर सके, अधिकाधिक आत्म-चेतन विकासक्रम द्वारा करनेमें वहाँ जुट जाता है? यही वह स्पष्ट निष्कर्ष है जिसपर हम अन्तमें तब पहुँचते ही हैं यदि हम एक बार आध्यात्मिक विकासक्रमको सारी विश्व-क्रियाकी कुंजी, इस सारी उठती सृष्टिकी यथार्थता मान लें।

क्रमविकास शब्दके अन्तर्विष्ट अर्थमें, उसके मूलस्थ भावमें यह बात रहती है कि पहले कोई संवृति अवश्य ही हुई है। यदि प्रकृतिके सारे कर्मका रहस्य प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्ता है तो हमें उस भावके अन्दरके मूलके समूचे बलको जानना होगा। तब हम यह माननेको बाध्य हो जाते हैं कि जो कुछ विकसित हो रहा है वह पहलेसे ही संवृत होकर विद्यमान था; वह चाहे निष्क्रिय रूपमें रहा हो या सक्रिय रूपमें, वह हर दशामें भौतिक प्रकृतिके कोषमें हमसे छिपा हुआ था। जो अध्यात्म-पुरुष अपने-आपको यहाँ देहमें अभिव्यक्त करता है वह आरम्भसे अवश्य ही सारे जड़-तत्त्वमें और जड़-तत्त्वकी प्रत्येक ग्रन्थि, गठन और कणमें संवृत रहा होगा; प्राण, मन और जो कुछ भी मनसे ऊपर है, वे भौतिक ऊर्जाके सारे क्रियाकलापमें सुप्त, निष्क्रिय या प्रच्छन्न शक्तियाँ रहे होंगे। नहीं तो एकमात्र विकल्प यह रह जाता है कि हम सांख्य चिन्तकोंकी भाँति अपनी सत्ताके दोनों पार्श्वोंके बीच तीक्ष्ण विखंडन कर डालें; परन्तु इससे अध्यात्म-सत्ता तथा प्रकृतिके बीच अत्यधिक विभाजन हो जाता है। प्रकृति निश्चेष्ट और यान्त्रिक वस्तु होगी, किन्तु वह अपने-आपपर अध्यात्म-सत्ताके किसी चापके पड़नेसे अधिक सक्रिय होकर अपने कार्यमें जुटेगी। अध्यात्म-सत्ताका अर्थ वह पुरुष होगा

जो चेतन होगा और अपने सार-रूपमें प्राकृतिक क्रियाकलापसे स्वतन्त्र होगा, परन्तु प्रकृतिकी किसी प्रतिक्रियाके प्रत्युत्तरमें अपनी चेतनाको परिवर्त्तित करेगा या परिवर्त्तित करता प्रतीत होगा। प्रकृति सक्रिय शक्तिकी गतियोंको प्रतिबिम्बित करेगी, पुरुष उसके क्रियाकलापोंको आत्म-चेतन अमर सत्ताकी चेतनासे आलोकित करेगा। ऐसा हो तो प्रकृतिके बारेमें विज्ञानकी क्रमविकासपर आधारित यह दृष्टि उचित ठहरेगी कि प्रकृति एक विराट् यान्त्रिक ऊर्जा है, प्राण, मन और प्रकृतिगत आन्तरात्मिक क्रिया उसके विकसित होते क्रियाकलापोंका क्रम। हमारी चेतना स्वयं-प्रचालित और विश्रामहीन यान्त्रिक क्रियाशीलताका अनुमन्ता आध्यात्मिक साक्षीके अनुभवके प्रत्युत्तरशील सुरोंमें दीप्तिमान् अनुवाद ही होगी। परन्तु इस विचारमें बाधक कठिनाई हमारी अपनी उच्चतम दृष्टिका सर्वथा विपरीत स्वभाव है; कारण, अन्तमें और ज्यों-ज्यों विश्वव्यापिनी शक्तिकी ऊर्जा अपनी स्व-सम्भावनाओंकी ढलानपर चढ़ती जाती है, त्यों-त्यों प्रकृति अधिक स्पष्ट रूपसे अध्यात्म-शक्ति बनती जाती है और उसका सारा यन्त्र-विन्यास उसके उपायकुशल स्वामित्वकी आकृतियाँ मात्र रह जाता है। अग्निशिखाके बलको अग्निशिखासे विभक्त नहीं किया जा सकता; जहाँ अग्निशिखा है वहीं वह बल है, और जहाँ वह बल है वहीं वह आग्नेय तत्त्व है। हमें वापस इस विचारपर पहुँचना होगा कि विश्वमें एक अध्यात्म-सत्ता विद्यमान है और, यदि उसके बलके कार्योंकी प्रक्रिया और उसका प्राकटच क्रमविकासके डगोंमें है, तो यह बाध्य होकर मानना होता है कि पहले एक संवृति हुई ही है।

वस्तुओंमें स्थित यह अध्यात्म-सत्ता आरम्भसे प्रत्यक्ष नहीं, अपितु अभिव्यक्तिके बढ़ते प्रकाशमें स्वयं-प्रकटित है। हम देखते हैं कि प्रकृतिकी दबाकर रखी गई शक्तियां अपनी मूल संवृतिमेंसे विमुक्त होने लगती हैं, अपनी अनन्त समर्थताके रहस्योंको कर्मावेगमें प्रकट करती हैं, अपने आपपर और आधारदायी निम्नतर तत्त्वपर चाप डालती हैं कि वे उसकी जिस निम्नतर गतिपर निर्भर करनेको बाध्य रहती हैं वह उनके अपने प्ररूपके उपयुक्त एक उच्चतर क्रियाके अधीन हो जाय और वह तत्त्व उनके आत्मप्रकटनकारी कार्यान्वनोंमें उनकी अपनी महिमाको अनुभव करे। प्राण जड़को पकड़में लेता और उसमें अपनी प्रचुर सर्जनात्मिका शक्तिकी असंख्य आकृतियाँ भरता है उसमें वह भरता है अपने सूक्ष्म और परिवर्तनशील प्रतिमानोंको, जन्म और मृत्यु विकास, कर्म और प्रत्युत्तरके लिए अपने उत्साहको, अनुभवके अधिकाधिक संश्लिष्ट संगठनके लिये अपने संकल्पको, अपने सुख, दुःख और कर्मके सबोध झकोरेकी आत्म-चेतनाके लिये अपनी कम्पित खोज और टोहको। मन प्राणको पकड़में लेता है उ संकल्प तथा बुद्धिके आश्चर्योंके हेतु उपकरण बनानेके लिए। अन्तरात्मा मनको

अधिकृत करता है और उसे सौन्दर्य, शुभ, प्रज्ञा और महानताके आकर्षणसे किसी अर्ध-दृष्ट आदर्श और उच्चतम जीवनकी ओर ऊपर उठाता है। और इस सारी चमत्कारिक गतिधारा और महानताओंके ऊर्ध्वक्रममें प्रत्येक डग अधिक ऊँची सीढ़ीपर पैर रखता है और वस्तुओंमें जो सदा-गुप्त और सदा-स्वाभिव्यक्तिशील अध्यात्म-सत्ता है उसकी एक स्पष्टतर, विशालतर और परिपूर्णतर व्याप्ति तथा दृष्टिकी ओर उन्मीलित होता है। भौतिक विकासक्रमपर गड़ी आँखोंको सृष्टिकी यान्त्रिक महिमा और सूक्ष्मता ही देखनेमें आती है; परन्तु मनकी ओर उन्मीलित होते प्राणका विकासक्रम, अपने स्व-प्रकाश और कर्मके अन्तरात्माकी ओर उन्मीलित होते मनका विकासक्रम, मनकी सीमित शक्तियोंमेंसे आध्यात्मिक सत्ताके आनन्त्योंकी देदीप्यमान प्रदीप्तिकी ओर अन्तरात्माका विकासक्रम, ये अधिक सार्थक वस्तुएँ हैं और हमें अपने-आपको व्यक्त करती गुह्यताके महत्तर और सूक्ष्मतर प्रदेशोंमें ले जाते हैं। भौतिक विकासक्रम केवल बाह्य चिह्न है, अवलम्बदायी ढाँचेकी अधिकाधिक संश्लिष्ट और सूक्ष्म अभिवृद्धि है, रूपकी विकसित होती बाह्य छन्द-गठन है जो आध्यात्मिक सामंजस्यके उठते सुरोंको जड़-तत्त्वमें बनाये रखनेके लिये रचित है। ये सुर ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं, आध्यात्मिक सार्थक्यका हमसे मिलना होता है; परन्तु जबतक हम सरगमके शिखरपर नहीं पहुँच जाते तबतक हमारे अधिकारमें उसका पूर्ण अर्थ नही आ सकता जिसके लिये ये सारे प्रथम रूपाचारी साधन बाह्य रेखाओं, रूप-रेखा या स्थूल अंकनकी तरह बनाये गये थे। स्वयं प्राण केवल रंगा हुआ वाहन है, शारीरिक जन्म 'अध्यात्म-सत्ता' के अधिकाधिक श्रेष्ठतर जन्मोंके लिये एक सुविधा ही।

अतः क्रमविकासकी आध्यात्मिक प्रक्रिया एक अर्थमें सृष्टि है, परन्तु वह आत्म-सृष्टि है, ऐसे कुछका बनाया जाना नहीं है जो कभी नहीं था, बल्कि जो 'सत्ता' में निहित था उसका व्यक्त किया जाना है। संस्कृतमें "सृष्टि" शब्दका अर्थ है प्रकृतिकी क्रियाओं-में सृजन, एक छूट निकलना। एक व्यंजक रूपकमें उपनिषद्ने मकड़ेकी उपमा प्रयुक्त की है जो कि अपने जालको अपने-आपमेंसे निकालता और उस इमारतकी सृष्टि करता है जिसमें वह अपना स्थान लेता है। इस पुरातन शास्त्रमें इस उपमाका प्रयोग जड़-तत्त्वमेंसे वस्तुओंके विकासक्रमके लिये नहीं, वरन् शाश्वत आनन्त्यमेंसे कालिक संभूतिके मूल प्राकट्यके लिये किया गया है; स्वयं जड़-तत्त्व और यह भौतिक विश्व अनन्तकी आध्यात्मिक सत्तामेंसे बाहर लाया गया ऐसा जाल ही या वस्तुतः उसका एक अंश है, अधिक कुछ नहीं। परन्तु जब हम जड़-ऊर्जामें अन्तर्लीन रहनेकी अवस्थामेंसे वस्तुओंके उन्मज्जनको देखते हैं तो उसके लिये भी उसी सत्य, उसी नियमको सार्थक पाते हैं। यहाँ हम लगभग एक दोहरे विकासक्रमकी बात कह सकते हैं। 'अनन्त' में अन्तर्निहित

शक्ति उसमेंसे अपनी क्रियाकी निर्मितिको चिरकाल एक ऐसे विश्वमें बाहर लाती है जिसके अन्तिम उतरते सोपानका आधार होती है अध्यात्म-तत्त्वकी सारी शक्तियोंकी संवृति,—यह संवृति रूप और संरचनात्मिका क्रियाके लिये शक्तिके आत्म-विस्मृत अनुरागमें एक निश्चेतन निमग्नतामें होती है। तब एक आरोहण होता है और एक-एक करके शक्तियोंकी प्रगतिशील उन्मुक्ति होती है, ऐसा तब तक होता जाता है जब तक कि ज्ञान ,द्वारा और अपने कर्मपर प्रभुत्व द्वारा आत्म-व्यक्त और उन्मुक्त अध्यात्म-पुरुष अपनी सत्ताकी शाश्वत परिपूर्णताको पुनः अधिकृत नहीं कर ले जो तब अपनी प्रकृतिके बहुविध और एकीबद्ध वैभवोंको आच्छादित करती और उन्हें अपनी पकड़में लिये चलती है। जो कुछ भी हो, जिस आध्यात्मिक प्रक्रियाका एक डग हमारा मानव-जन्म है और एक अंश हमारा जीवन, वह एक ऐसी महिमाका (अस्य महिमानम्) व्यक्त किया जाना प्रतीत होती है जो गुप्त, अन्तर्निष्ठ और स्वतः निबद्ध है, वस्तुओंके रूप और क्रियाओंमें निमग्न है। हमारे जगत्का क्रियाकलाप एक क्रमविकासको, जड़की स्थूल जटिलतामें एकत्र और कुंडलित एक बहुविध शक्तिके बहिर्प्रवाहको चित्रित करता है। वस्तुओंके क्रमागत जन्मोंकी ऊर्ध्वमुखी प्रगति शाश्वत ऊर्जाकी निद्राके प्रथम अवात कोषमें बन्द चेतनाके जागरण और अधिकाधिक विशाल प्रकाशमें उठना है।

इसका एक प्रतिरूप कुंडलिनीके यौगिक अनुभवमें मिलता है। मूलाधारमें, शारीरिक स्नायवीय तंत्रके पृथ्वी-केन्द्रमें शाश्वत शक्ति कुंडलित है। वहाँ वह नागकी तरह कुंडलित होकर सोयी रहती और उस सबसे भरी होती है जिसे वह अपनी सत्तामें एकत्र रखती है, परन्तु जब वह अबाध प्रवाहित होते श्वाससे, उस शक्तिकी खोजमें लग जानेवाली प्राण-धारासे आघात पाती है तब वह जग जाती और ज्वलन्त होकर मेरुरज्जुकी सीढ़ीपर चढ़ती हुई उठती और चेतनाके संवृत तथा सक्रिय रहस्योंके चक्रोंको एक-एक करके बलात् खोलती जाती है और अन्तमें शिखरपर वह अध्यात्म-तत्त्वको प्राप्त करती, उससे जुड़ती और एक हो जाती है। इस तरह वह निश्चेतनागत संवृतिमेंसे अपनी शक्तियोंकी खुलती महिमाओंके धारा-क्रममेंसे होकर अध्यात्म-तत्त्वकी श्रेष्ठतम शाश्वत अतिचेतनामें चली जाती है। हमारे चारों ओरके जगत्में भी यह रहस्यमयी विकसनशीला प्रकृति ऐसे मार्गका अनुसरण करती है। निश्चेतन सत्ता उत्पत्ति-स्थानकी अपेक्षा जड़ीभूत ऊर्जाका वैसा कक्ष अधिक है जिसमें अध्यात्म-तत्त्वकी सारी शक्तियाँ एकत्र रहती हैं, वे वहाँ विद्यमान रहती हैं; परन्तु जड़ ऊर्जाकी अवस्थाओंमें रहकर कार्य करती हैं, जैसा कि हम कहते हैं, संवृत रहकर और फलतः अपने स्वरूपमें प्रत्यक्ष होकर नहीं, क्योंकि वे ऐसे क्रिया-रूपमें चली गयी है जो उनकी अपनी सच्ची श्रेणीसे नीचे है और जिसमें वे लक्षण जिनके द्वारा हम उन्हें पहचानते हैं और

सोचते हैं कि हम उन्हें जानते हैं, दमित किये जाकर क्रियाकी एक गौण और अलक्षित शक्तिमें रहते हैं। प्रकृति जैसे-जैसे सोपानपर चढ़ती है, वह उनको उनकी ऊर्जाके पहचानमें आनेवाले क्रमोंमें उन्मुक्त करती है, उन क्रियाओंको व्यक्त करती है जिनसे वे अपना और अपनी श्रेष्ठताका अनुभव कर सकती हैं। उच्चतम शिखरपर वह उस अध्यात्म-तत्त्वके आत्मज्ञानमें ऊपर उठती है जिससे उसका कर्म अनुर्गभित था, परन्तु जो अपनी क्रियाओंके रूपोंमें संवृत या प्रच्छन्न था और इस कारण जिसे उसकी सत्यताकी महत्तामें जाना नहीं जा सका था। पुरुष और प्रकृति,——अपनी ऊर्जाओंके रहस्यका सन्धान पाती प्रकृति – प्रकृतिमें स्थित जीवके आध्यात्मिक विकासक्रमकी चोटीपर एक हो जाते हैं। वहाँ वह जीव उच्चतम सत्यकी मुक्तिमें अपनी स्व-सत्ताके सार्थक्यके प्रति जाग्रत् होता है। तब वह यह जानने लगता है कि उसके जन्म एक शाश्वत पुरुषके जन्म, उसीके रूप-धारण थे; वह यह जानने लगता है कि स्वयं वह वही पुरुष है, न कि प्रकृतिका प्राणी, और वह अपनी सच्ची और आध्यात्मिक प्रकृतिकी प्रकटित, परिपूर्ण तथा उच्चतम शक्तिपर अधिकार पानेकी ओर ऊपर उठता है। और, चूँकि मुक्ति आत्माधिकार होती है, अतः वह मुक्ति हमारे लिये आध्यात्मिक विकासक्रमके किरीटके रूपमें आती है।

हमें इस संवृतिके सारे सार-भरे सार्थक्यपर विचार करना होगा। जड़-ऊर्जामें संवृत अध्यात्म-सत्ता वहाँ अपनी सारी शक्तियोंके साथ विद्यमान है; प्राण, मन तथा महत्तर अतिमानसिक शक्ति जड़में संवृत हैं। परन्तु जब हम कहते हैं कि वे संवृत हैं तो इसका क्या अर्थ होता है? क्या हमारा यह अभिप्राय होता है कि ये सारी चीजें सर्वथा भिन्न-भिन्न ऊर्जाएँ हैं जो तत्त्वभूत पृथक्ताके कारण एक दूसरीसे अलग कटी हुई हैं, किन्तु पारस्परिक क्रियामें साथ-साथ लपेटी हुई हैं? या कि हमारा अभिप्राय यह है कि एक ही सत्-पुरुष है जिसकी एकमेव ऊर्जा है जिसमें बलके प्रकाशकी भिन्न-भिन्न छायाएँ हैं जो प्रकृतिके वर्णक्रममें सभेद हो उठती हैं? जब हम कहते हैं कि प्राण जड़में या जड़शक्तिमें ही संवृत है, क्योंकि आखिरकार जड़ उसी शक्तिकी एक अपने-आपसे काती गयी विविध रचना ही लगती है, तो क्या हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि यह सारी विश्वव्यापिनी क्रिया, हमें जो निश्चेतन और निष्प्राण क्रिया लगती है वह भी, रूपायणमें व्यस्त अध्यात्म-सत्ताकी प्राण-शक्ति ही है और हम उसे इस कारण नहीं पहचानते कि वह वहाँ ऐसे निम्नतर क्रममें विद्यमान है जिसमें वे लक्षण जिनसे हम प्राणको पहचानते हैं, स्पष्ट नहीं होते या जड़ आवरणकी निष्प्रभतामें केवल थोड़े ही विकसित हुए हैं? तब जड़ ऊर्जा होगी जड़के घनत्वके अन्दर भरा हुआ प्राण जो उसके अन्दर अपनी तीव्रतर और पहचानमें आनेवाले शक्तिकी टोहमें होगा जिसे

वह जड़की प्रच्छन्नतामें अपने अन्दर पाता और क्रियामें विमुक्त करता है। स्वयं प्राण एक गुप्त मनकी, उस मनकी ऊर्जा होगा जो अपने ही रूपोंके अन्दर बन्दी हो गया है और अपनी चेतनाकी तीव्रतर और पहचानमें आनेवाली शक्तिके लिये प्राणकी स्नायवीय चाहोंमें स्पन्दित हो रहा है और उस शक्तिको वह प्राणिक और भौतिक दमनके अन्तर्गत ढूँढ़ लेता और संवेदनशीलतामें विमुक्त करता है। निस्सन्देह, व्यवहारतः, ये शक्तियाँ एक-दूसरीपर भिन्न ऊर्जाओंकी तरह क्रिया करती हैं, किन्तु तत्त्वतः वे एक ही ऊर्जा होंगी और उनकी पारस्परिक क्रिया उस अध्यात्म-तत्त्वका बल होगी जो अपनी उच्चतर शक्तियोंसे अपनी निम्नतर शक्तियोंपर क्रिया कर रहा होगा, पहले उनपर निर्भर कर रहा होगा, किन्तु फिर भी अपने आरोहण-क्रममें उनसे ऊपर चले जाने और उनपर प्रभुता पानेकी ओर मुड़ रहा होगा। हो सकता है कि मन भी बहुत श्रेष्ठतर तथा अतिमानसिक चेतनासे निःसृत एक निम्नतर क्रम और रूपायण ही हो, और श्रेष्ठतर ज्योति तथा इच्छासे युक्त वह चेतना भी आध्यात्मिक सत्ताकी एक विशिष्ट स्रष्ट्री शक्ति, वह शक्ति हो जो सकल वस्तुओंमें, मन, प्राण और जड़में, वनस्पति, धातु और परमाणुमें गुप्त रहती हुई, विश्वके भाव और सामंजस्यको अपनी अनिवार्य क्रिया द्वारा निरन्तर आश्वस्त करती हो। और फिर अध्यात्म-तत्त्व क्या है? वह अनन्त सत्ता, शाश्वत, अमर पुरुष, साथ ही——और जड़वादीके यान्त्रिक अद्वैतवाद और विश्वके आध्यात्मिक मनके बीच यही अन्तर है,——सर्वदा एक चिन्मय आत्म-संविद् पुरुष ही तो है जो यहाँ एक ऐसे जगत्में प्रकट हो रहा है जो हमारी धारणाओंके अनुसार सान्त है किन्तु फिर भी जिसकी प्रत्येक गति अनन्तकी साक्षिणी है? और यह जगत् इसी लिये है कि अध्यात्म-सत्ताको अपने अनन्त अस्तित्वका आनन्द है और अपने अनन्त आत्म-परिवर्तनका आनन्द भी, जन्म इसलिये है कि चेतना मात्रके साथ उसकी अपनी सत्ताकी शक्ति रहती है और सत्ताकी शक्ति आत्म-स्रष्ट्री होती है और उसे अपनी आत्म-सृष्टिका हर्ष होगा ही। कारण, सृष्टिका अर्थ स्वाभिव्यक्तिके अलावा और कुछ नहीं, और अन्तरात्माका शरीरमें जन्म उसकी अपनी स्वाभिव्यक्तिकी एक रीतिके अलावा और कुछ नहीं। अतः यहाँकी सारी वस्तुएँ अध्यात्म-तत्त्वकी अभिव्यक्ति-रूप, ऊर्जा, क्रिया हैं; जड़-तत्त्व भी अध्यात्म-तत्त्वका रूप ही है, प्राण अध्यात्म-तत्त्वकी सत्ताकी शक्ति ही है, मन अध्यात्म-तत्त्वकी चेतनाकी क्रिया ही। सारी प्रकृति ईश्वरका एक प्रदर्शन, एक क्रीड़ा है, उस अद्वय आध्यात्मिक सत्-पुरुषकी शक्ति, क्रिया और आत्म-सृष्टि है। अध्यात्म-पुरुषके सामने प्रकृति एक साथ ही उसकी शक्तियोंका वीर्य, उपकरण, माध्यम, अवरोध और परिणाम उपस्थित करती है, और ये सबके सब, उपकरण भी और अवरोध भी, क्रमिक और विकासमान् सृष्टिके लिये आवश्यक

तत्त्व हैं।

परन्तु यदि अध्यात्म-पुरुषने अपनी शाश्वत महत्ताको जड़ विश्वके अन्दर संवृत कर दिया है और वहाँ वह अपनी शक्तियोंको एक गुप्त आत्म-ज्ञानसे विकसित कर रहा है, उन्हें सत्ताके जड़ रूपकी स्वारोपित कठिनाइयोंके बीच एक भव्य अनुक्रममें व्यक्त कर रहा है, उन्हें प्रकृतिकी प्रथम आवरिका और निमग्न निश्चेतनामेंसे वियुक्त कर रहा है, तो यह मानने या देखनेमें कठिनाई नहीं होती कि मानवतामें रूपायित यह अन्तरात्मा उस परम सत्ताकी ही एक सत्ता है और वह भी, जन्मोंके धाराक्रममें वर्द्धित होती स्वाभिव्यक्ति द्वारा जड़गत संवृतिमेंसे वाहर निकल आया है और इनमें प्रत्येक श्रेणी आरोहणका एक नया कूट है जो अध्यात्म-सत्ताकी उच्चतर शक्तियोंकी ओर खुलता है और वह अभी भी ऊपर उठ रहा है और अपने जन्मकी वर्तमान दीवारोंसे सदाके लिये सीमित नहीं रहेगा, अपितु यदि हम चाहें तो वह एक दिव्य मानवतामें जन्म ले सकता है। हमारी मानवता सान्त और अनन्तका सचेतन सन्धि-स्थल है और इस भौतिक जन्ममें भी उसी अनन्तकी ओर अधिकाधिक वढ़ना हमारा सौभाग्य है। यह अनन्त, यह अध्यात्म-पुरुष जो कि हमारे अन्दर बसता है, किन्तु मन या शरीरमें आवद्ध या वन्द नहीं है, हमारा अपना आत्मा है और अपने आत्माका पता पाना और वही हो जाना, जैसा कि प्राचीन मुनिगण जानते थे, सदा ही हमारे मानव-प्रयासका लक्ष्य रहा है, क्योंकि यह प्रकृतिकी सारी अपरिमित क्रियाका लक्ष्य है। परन्तु प्रकृति आत्म-प्राप्तिकी श्रेणियों द्वारा ही अपनी आध्यात्मिक वास्तवताकी ओर अभिवर्द्धित होती है। स्वयं मनुष्य द्विविध रूपसे संवृत प्राणी है; मनमें और मनके नीचे उसका अधिकांश भाग अवगूढ़ चेतनामें या अवचेतनामें संवृत है और मनसे ऊपर उसका अधिकांश भाग आध्यात्मिक अतिचेतनामें संवृत है। जब वह अतिचेतनामें चेतन हो जाता है तब उसकी सत्ताकी ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ ज्ञानालोकसे प्रकाशित हो उठती हैं, वह आलोक युक्तिबुद्धिके टिमटिमाते दीपसे भिन्न होता है जो अपना प्रकाश कुछ कोनोंमें ही डाल सकता है; तव क्षेत्राधिपति अपनी सत्ताके इस सारे विस्मयपूर्ण क्षेत्रको वैसे ही आलोकित कर देता है जैसे सूर्य अपनी ही महिमाओंमेंसे सृष्ट समूची विश्व-व्यवस्थाको आलोकित कर देता है। केवल तभी वह अपने मन, प्राण और शरीरकी सत्यताको भी जान सकता है। मन महत्तर चेतनामें परिवर्तित होगा, उसका प्राण परम देवकी साक्षात् शक्ति और क्रिया होगा, उसका शरीर भी श्वास लेती मिट्टीका यह स्थूल दीपक न रहकर आध्यात्मिक सत्ताकी ही प्रतिमूर्ति और देह होगा। पर्वतके शिखरपर वह रूपान्तर, दिव्य जन्म, वह वस्तु है जिसकी ओर ये सारे जन्म श्रमपूर्ण डगोंकी धारा हैं। जड़के अन्दर अध्यात्म-तत्त्वकी संवृति आरम्भ है, परन्तु दिव्य

जन्मका आध्यात्मिक अंगीकार क्रमविकासकी परिपूर्ति है।

जीवनको देखनेकी पूर्व और पश्चिमकी दो विधियाँ हैं, दोनों एक ही सत्यताके आमने-सामनेके पक्ष हैं। व्यावहारिक सत्य, जिसपर जीवन-वीर्यसे प्रेम रखनेवाले, प्रकृतिमें ईश्वरके सारे नृत्यसे प्रेम रखनेवाले आधुनिक यूरोपकी प्राणिक विचारधारा इतना प्रबल और एकान्तिक बल देती है, और शाश्वत अक्षर सत्य, जिसकी ओर स्थिरता और स्थितिका प्रेमी भारतीय मानस एकान्तिक प्राप्तिके लिये वैसे ही अनुरागके साथ मुड़ना चाहता है, इनके बीच कोई ऐसा विच्छेद और कलह नहीं है जिसकी घोषणा वर्तमानमें पक्षावलम्बी मन द्वारा, पृथक्कारिणी युक्तिबुद्धि द्वारा की जाती है। 'अध्यात्म-सत्ता' ही अद्वय, शाश्वत एवं अक्षर सत्य है, और 'अध्यात्म-सत्ता' के विना स्वयं-स्रष्टा विश्वके व्यावहारिक सत्यका न तो कोई मूल्य होगा, न कोई भित्ति होगी; उसकी कोई सार्थकता नहीं होगी, वह आन्तरिक निर्देशनसे रिक्त होगा, अपने अन्तमें खो गया होगा, एक ऐसी आतिशबाजीका प्रदर्शन होगा जो गिर पड़ने और आकाशमें नष्ट हो जानेके लिये ही शून्यमें ऊपर छूट उठती हो। परन्तु व्यावहारिक सत्य न तो असत्का स्वप्न है, न भ्रम ही, न सृजनशीला कल्पनाके किसी निरर्थक उन्मादमें लम्बी विच्युति ही; नहीं तो इसका अर्थ होगा शाश्वत 'अध्यात्म-पुरुष' को एक शराबी या स्वप्नदर्शी बना देना, उसे अपनी ही अतिकाय भ्रान्तियोंका मूर्ख वना देना। विश्वजीवनके सत्य दो प्रकारके हैं,——अध्यात्म-तत्त्वके सत्य जो कि शाश्वत और अक्षर हैं, और ये ही वे महान् वस्तुएँ हैं जो अपने-आपको संभूतिमें बाहर डाल देती हैं और वहाँ अपनी क्षमताओं और अर्थवत्ताओंको निरन्तर चरितार्थ करती हैं, और उनके साथ चेतनाकी क्रीड़ा, विसंगतियाँ, संगीत-वैविध्य, सम्भावनाओंके सुर, प्रगतिशील अंकन, प्रत्यावर्तन, विकृतियाँ, सामंजस्यकी महत्तर आकृतिमें ऊपर उठते संपरिवर्तन; और अध्यात्म-पुरुषने इन सबसे अपना विश्व बनाया है और सदा बनाता है। परन्तु उसके अन्दर वह अपने-आपको ही बनाता है; वह स्वयं ही स्रष्टा है और सृष्टिकी ऊर्जा भी, क्रियाका कारण और पद्धति और परिणाम भी, यान्त्रिक और यन्त्र भी, संगीत और संगीतज्ञ भी, कवि और काव्य भी, अतिमानस, मन, प्राण और जड़ भी, पुरुष भी और प्रकृति भी

हमारी समस्याके समाधानोंमें एक मूलगत भूल हमारे पीछे लगी रहती है हम एक परस्पर-विरोधके प्राकटचसे चकरा जाते हैं, हम पुरुषको प्रकृतिके विरुद्ध अध्यात्म-सत्ताको उसकी सृष्टिशीला ऊर्जाके विरुद्ध खड़ा करते हैं। परन्तु पुरुष औ प्रकृति दो शाश्वत प्रेमी हैं जो अपने सनातन एकत्वको अधिकृत किये रहते हैं और अप सतत भिन्नत्वका उपभोग करते हैं; वे एकत्वमें अपने भिन्नत्वकी बहुविध क्रीड़ा अनुरागसे भरपूर रहते हैं और भिन्नत्वके डग-डगमें एकत्वकी गुप्त भावना या प्रक

चेतनासे भरपूर। प्रकृति पुरुषको अपने अन्दर ले लेती है जिससे सृष्टिके अनुरागमें तल्लीन प्रकृतिके साथ एक हुआ पुरुष समाधिमें सो जाता है और तब प्रकृति भी अपनी सृष्टिशीला ऊर्जाके आवर्त्तमें सोयी हुई लगती है; और यही जड़-तत्त्वके अन्दर संवृति है। ऊर्ध्वमें, ऐसा हो सकता है, पुरुष प्रकृतिको अपने अन्दर ले लेता हो जिससे आत्माधिकारमें तल्लीन पुरुषके साथ एक हुई प्रकृति समाधिमें सो जाती है और पुरुष भी अपनी ही स्वतः निबद्ध अचल सत्ताकी गहराईमें सोया हुआ लगता है। परन्तु तब भी इस सारे छन्द और तालके अन्दर, ऊपर, नीचे और चारों ओर अध्यात्म-पुरुषकी शाश्वतता होती है, उस पुरुषने ही अपने-आपको इस भाँति जीव तथा प्रकृतिमें चित्रित किया है और वह इस संवृति तथा क्रमविकास द्वारा अपने अन्दर जो कुछ सृष्ट करता है उस सबका भोग पूर्ण बोधके साथ करता है। जीव अपने-आपको प्रकृतिमें तब परिपूरित करता है जब वह उसके अन्दर उस शाश्वतताकी चेतना, हर्ष एवं बलको अधिकृत करता और प्रकृतिगत संभूतिको आध्यात्मिक सत्ताकी परिपूर्णतासे रूपान्तरित करता है। वह सतत आत्म-सृष्टि जिसे हम जन्म कहते हैं वहाँ उन सबका पूर्ण उन्मेष पाती है जिन्हें उसने अपनी प्रकृतिके अन्दर धृत रखा था और अपने अधिकतम सार्थक्यको भी प्रकट करती है। सम्पूर्ण जीव अपने समूचे आत्मा और समूची प्रकृतिको अधिकृत रखता है।

अतएव यह सारा क्रमविकास भौतिक प्रकृतिगत आत्माका अपनी आध्यात्मिक सत्तापर चेतन अधिकारकी ओर बढ़ना है। वह आरम्भ करता है रूपसे,—प्रतीयमानतः शक्तिके एक रूपसे—जिसमें एक अध्यात्म-पुरुष बसता और प्रच्छन्न रहता है; उसका अन्त एक ऐसे अध्यात्म-पुरुषमें होता है जो अपनी शक्तिका चेतन निर्देशन करता और प्रकृतिमें अपनी सत्ताके निर्बाध हर्षके लिये अपने रूपोंकी रचना करता या उन्हें धारण करता है। क्रमविकासके आरम्भमें वह प्रकृति है जो अपने आत्म और अध्यात्म-पुरुषको अपने अन्दर संवृत और दमित रखती है, तब अस्तित्वका स्वामी पुरुष बन्दी होकर प्रकृतिकी जन्म तथा कर्म-विधाओंके अधीन हो जाता है,—फिर भी ये विधाएँ उस पुरुषकी ही होती हैं और वह पुरुष ही प्रकृतिकी सत्ताका निर्धारक और उसकी क्रियाओंका धर्म होता है; फिर, क्रमविकासके चरमोत्कर्षमें पुरुष प्रकृतिको धृत रखता है, तब प्रकृति उसमें चेतन रहती है, पुरुषकी सम्पूर्णता द्वारा सम्पूर्ण होती है, उसकी मुक्ति द्वारा मुक्त और उसकी पूर्णतामें पूर्ण होती है। हमारे सारे जन्म इसी आत्मा तथा पुरुषके जन्म हैं, वही प्रकृतिमें जीव या अन्तरात्मा बन जाता या उसे प्रकट करता है। हमारे अस्तित्वका लक्ष्य है 'होना'—कोई अन्य उद्देश्य या लक्ष्य नहीं, क्योंकि 'होने' की चेतना और आनन्द समूचा आरम्भ, मध्य और अन्त है, कारण वही वह है

जिसका न आदि है, न अन्त। परन्तु विकासक्रमके डगोंमें इसका अर्थ होता है तब तक अधिकाधिक वर्द्धित होते जाना जब तक कि हम अपनी आत्म-परिपूर्णताको न पा लें; जन्ममात्र प्रगतिशील आत्म-प्राप्ति है, आत्मोपलब्धिका साधन है। आध्यात्मिक जीवनके अनन्त आलोक, सामर्थ्य और आनन्दकी ओर ज्ञानमें, बलमें, आनन्द, प्रेम और ऐक्यमें वर्द्धित होना, अपने-आपको तब तक विश्वभावमय करते जाना जब तक कि हम सकल सत्ताके साथ एक न हो जायँ, और हमारे वर्तमान सीमित आत्माका तब तक सतत अतिक्रमण करते जाना जब तक कि वह परिपूर्णतः उस विश्वातीतत्वकी ओर उन्मीलित न हो जाय जिसमें विश्वसत्ताका निवास है, और उसीपर अपनी सारी संभूतिको अधिष्ठित करना, यही उस तत्त्वका सम्पूर्ण विकास है जो अभी प्रकृतिमें अँधेरेमें लिपटा पड़ा है या अर्ध-विकसित अवस्थामें कार्य कर रहा है।

आठ

कर्म

कर्मके सिद्धान्तमें हमें एक अकाट्य सत्य मिलता है,—सदैव उसके उस रूपमें नहीं जो उसे पुराकालमें मिला था, वरन् उसके मर्मगत भावमें,—जो तुरन्त ही मनको आकर्षित करता और बुद्धिकी सहमति प्राप्त करता है। और वह अधिक कठोर युक्ति-बुद्धि भी, जो कि पहली दृष्टिकी धारणाओंमें विश्वास नहीं करती और सत्याभासी समाधानोंकी आलोचिका रहती है, कड़ीसे कड़ी संवीक्षाके बाद भी यह नहीं पाती कि अधिक सतही बुद्धिने, जो कि हमारी मन:शक्तिके मार्गोंकी द्वारपालिका है, इस विषयमें धोखा खाकर किसी तड़क-भड़क वाले अतिथिको, किसी मिथ्या दावेदारको हमारे ज्ञान-भवनमें प्रवेश दे दिया हो। कर्मके भावको एक साथ ही दार्शनिक तथा व्यावहारिक सत्यके ठोसत्वका अवलम्ब मिलता है, उन गहरीसे गहरी सार्वभौमिक अखंडनीय सत्यताओंकी आधारशिला मिलती है जिनसे अगाधकी थाह खोजते मानव-मनकी सदा ही भेंट होगी; हमारे साथ जगत्का व्यवहार सचमुचमें इसी भाँति होता है, यहाँ एक ऐसा नियम है जो अपने-आपको इसी भाँति अनुभूत कराता है और जिससे हमारा सारा अहमात्मक अज्ञान, हठ और हिंस्रत्व जा टकराता है, जैसा कि यूनानी कविने मनुष्यकी दर्पमयी धृष्ठता और समृद्धिशाली अभिमानके बारेमें कहा था, जियस[1]के सिंहासनकी नींवसे, थेमिस[2]के संगमरमर-चरणोंसे, अनन्केके[3] वज्रकठोर वक्षसे जा टकराता है। कर्मके आत्म-पर्याप्त और निष्पक्ष नियममें इसके रहस्य-रूपमें एक शाश्वत तत्त्व है, न्यायी तथा सत्यनिष्ठ देवोंकी अपरिवर्तनशील क्रियाका आधार है, देवानां ध्रुवा व्रतानि।

कर्मके इस सत्यको पूर्वीय जगत्में किसी-न-किसी रूपमें सदा माना जाता रहा है, किन्तु उसका स्पष्टतम और परिपूर्णतम सार्वभौमिक प्रतिपादन करने और उसे अधिकतम आग्रहपूर्ण महत्त्व देनेका श्रेय बौद्ध मतावलम्बियोंको ही मिलेगा। पश्चिममें भी यह विचार सदा बारबार आता रहा है, किन्तु उसकी बाह्य और खण्ड झाँकियाँ

[1] देवराज (अनु०)

[2] विधान एवं न्यायकी देवी (अनु०)

[3] विधि, अनिवार्यता, अवश्यम्भाविताकी देवी (अनु०)

ही मिली हैं, वह अनुभवके एक व्यावहारिक सत्यकी मान्यताकी तरह और अधिकतर एक व्यवस्थित नैतिक विधान या भवितव्यताकी तरह ही रहा है जिसे मनुष्यकी स्वेच्छा और बलके विरोधमें खड़ा किया गया: परन्तु यह विचार किसी भी विधानके राज्यको न माननेवाले अन्य विचारों द्वारा, किसी श्रेष्ठतर स्वेच्छाचारिता या किसी दिव्य ईर्षाको माननेवाले अस्पष्ट विचारों द्वारा, जैसी कि यूनानियोंकी धारणा थी – एक अन्धी भावी या अबोधगम्य नियति या अवश्यम्भाविताको माननेवाले विचारों द्वारा, और बादमें इन विचारों द्वारा आच्छादित हो गया कि एक मनमानी करनेवाला विधाता है जो फिर भी निस्सन्देह सर्वबुद्धिमान् है और जिसकी विधाएँ रहस्यमयी हैं। और इस सबका अर्थ यह था कि एक शक्तिकी क्रियाकी कोई खण्डित आधी झाँकी तो मिली थी, किन्तु उसकी क्रियाका विधान और उसकी प्रकृति दृष्टिसे ओझल रह गये। ऐसा होना सचमुचमें अनिवार्य-जैसा भी था, क्योंकि जीवनानुरागमें निमग्न पाश्चात्य मानव-चक्षुने विश्वकी क्रियाओंको मनुष्यके एक ही मन और जीवनके प्रकाशमें पढ़नेकी चेष्टा की; किन्तु वे क्रियाएँ अति बृहत्, पुरातन, कालमें अभगं रूपसे अविच्छिन्न और देशमें सर्वव्यापी हैं,——एकमात्र भौतिक आनंत्यमें ही नही, वरन् अन्तरात्माके आनंत्यके शाश्वत काल तथा शाश्वत देशमें भी,——फलत: ,उन्हें ऐसी खण्डित झलकके द्वारा नहीं पढ़ा जा सकता। आधुनिक मनको जबसे पूर्वीय जगत्के कर्म-विधानके विचार और नामका परिचय कराया गया, उसका एक पहलू बढ़ती मान्यता पा रहा है, शायद इस कारण कि उस मनको हालमें विज्ञानके महान् आविष्कारों और सर्वसामान्यीकृत सिद्धान्तोंने विश्वजीवनके विषयमें अधिक परिपूर्ण दृष्टिके लिये और विश्व-नियमके विषयमें एक अधिक व्यवस्थित और तेजस्वी विचार अपनानेके लिए तैयार कर दिया था। अत:, यद्यपि अन्तमें हम यह पाते हों कि कर्मके समूचे सार्थक्यको पकड़नेके लिये हमें सत्ताके दूसरे सिरेसे, उसके भौतिक आधारकी अपेक्षा उसके आध्यात्मिक शिखरसे अवलोकन करना होगा, तथापि यह उतना ही अच्छा हो सकता है कि हम कर्मके इस प्रश्नको लेकर भौतिक आधारसे आरम्भ करें और उसके सार्थक्यकी सीमाएँ भी निर्धारित करें।

मूलभूततया, कर्मका अर्थ यह है कि सकल अस्तित्व एक विश्वऊर्जाकी क्रिया है, एक प्रक्रिया, एक कर्म और उस कर्म द्वारा वस्तुओंका निर्माण है,——जो निर्मित है उसे तोड़ा भी जाता है, किन्तु आगेके निर्माणकी ओर एक डगके रूपमें,——सब कुछ एक अविच्छिन्न श्रृंखला है जिसमें प्रत्येक कड़ी भूतकालकी असंख्य कड़ियोंकी अनन्तताके साथ अभंग रूपसे बँधी है, और सब कुछ दृढ़-निर्धारित सम्बन्धों द्वारा, कारण और परिणामके दृढ़-निर्धारित आयोजन द्वारा शासित होता है, वर्तमान कर्म वैसे ही भूत-

कालके कर्मका परिणाम होता है जैसे भावी कर्म वर्तमान कर्मका परिणाम होगा, सारे कारण ऊर्जाकी क्रिया हैं और सारे परिणाम भी ऊर्जाकी क्रिया। भौतिक अर्थवत्ता यह है कि हमारा सारा जीवन उस ऊर्जाका बाहर व्यक्त किया जाना है जो हमारे अन्दर है और जिससे हम बने हैं, और कारण-रूपमें व्यवहृत की जाने वाली ऊर्जाकी प्रकृतिके अनुरूप ही उस ऊर्जाकी प्रकृति होगी जो परिणाम-रूपमें वापस आती है, और यही सार्वभौमिक नियम है, जगत्में कोई भी वस्तु, हमारे जगत्की और हमारे जगत्में होनेके नाते, इस नियमके शासक प्रभावसे नहीं बच सकती। यही कर्मके सिद्धान्तका दार्शनिक सत्य है, और यही वह दृष्टि-विधि है जिसका विकास भौतिक विज्ञानने किया है। परन्तु उसकी दृष्टि अपने सत्यकी पूरी विशालताकी ओर बढ़नेमें दो दृढ़ भूलोंकी बाधा पाती रही है; एक तो अतिभौतिक वस्तुओंकी व्याख्या भौतिक सूत्रके द्वारा करनेका कठोर विरोधाभासी प्रयत्न,——यह प्रयत्न निस्सन्देह मानवीय युक्तिबुद्धिके एक परीक्षण-के रूपमें अनिवार्य और उपयोगी था और उस परीक्षणको अवसर देना ही था, परन्तु उसकी विफलता पूर्वनियत थी,——और फिर दूसरी अन्धकारकारिणी भूल हुई विश्व-नियमके सार्वभौमिक राज्यके पीछे और उसके कारण तथा कर्त्ताके रूपमें 'संयोग' के विश्वव्यापी राज्यके सर्वथा विपरीत विचारको खड़ा करनेकी। इस भाँति इस पुरानी धारणाका राज्य लम्बा हो गया कि एक अबोधगम्य परम स्वेच्छाचारिता है,—— अबोधगम्य वह स्वभावतया ही होगी क्योंकि वह निर्बोध शक्तिकी क्रिया है,——और इस धारणाने विश्वके निश्चित नियमों और श्रृंखलाबद्ध क्रमोंकी वैज्ञानिक दृष्टिके बगलमें स्थान प्राप्त कर लिया।

'सत्ता' निस्सन्देह एक है, और हो सकता है कि 'विधान' भी एक ही हो; परन्तु आरम्भसे ही किसी एक प्ररूपके व्यापारपर इस पूर्वनिर्धारित संकल्पसे कटिबद्ध हो जाना कि अन्य सारे व्यापारोंका निगमन उसीमेंसे किया जाय, फिर उनके अभिप्राय और प्रकृतिमें चाहे कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, खतरनाक होता है। ऐसा करके अवश्य ही हम सत्यको अपने पूर्वग्रहके साँचेमें विरूपित कर डालेंगें। कमसे कम बीचमें तो हमें बल्कि वेदके इस प्राचीन सामंजस्यपूर्ण सत्यको मानना होगा कि विश्वसत्ताके और फलतः हमारी सत्ताके भी विभिन्न लोक हैं और उनमें प्रत्येकमें उन्हीं शक्तियों, ऊर्जाओं या विधानोंको एक भिन्न प्रकारसे कार्य करना चाहिए और उनके प्रभाव-सम्पादनके अर्थ और प्रकाशको भिन्न होना चाहिए,——और वेद भी इस राहसे वेदान्तमें 'सत्ता'की एकताकी धारणा पर पहुँचा है। अतः पहले हम यह देखते हैं कि कर्म यदि सत्ताका एक या एकमात्र सार्वभौमिक सत्य हो तो वह जैसे भौतिक जगत्के साथके हमारे बाह्य सम्बन्धोंमें सत्य है, वैसे ही उसे हमारे कर्मके अन्तर्जात मनोमय और नैतिक लोकोंमें

भी सत्य होना ही चाहिए। हम जिस मानसिक ऊर्जाको व्यक्त करते हैं उसीसे मानसिक प्रभावका निर्धारण होता है, --परन्तु वह भूत वर्तमान और भावी पारिपार्श्विक परिस्थितिके सारे आघातके अधीन है, क्योंकि इस जगत्में हम एकांकी शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि हमारी ऊर्जा विश्व-ऊर्जाका एक गौण राग और धागा है। उसी भाँति, नैतिक परिणामकी प्रकृति और प्रभावका निर्धारण हमारे कर्मकी नैतिक ऊर्जा करती है, परन्तु वह भी भूत, वर्तमान और भावी पारिपार्श्विक परिस्थितिके उसी प्रभावके अधीन है, किन्तु कठोर नैतिकतावादी इस तत्त्वकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देता। भौतिक ऊर्जाके उत्पादनके बारेमें भी यह बात सत्य है, इसके लिये न तो कुछ कहनेकी आवश्यकता है, न प्रमाणकी। हमें उस अद्वय विश्वशक्तिके इन विभिन्न प्ररूपों और विविध प्रकारसे रूपायित गतिविधियोंको जानना होगा, और शुरूसे यह कहनेसे नहीं चलेगा कि हमारी आन्तरिक सत्ताका माप और गुण मानसिक और नैतिक ऊर्जाओंमें अनूदित भौतिक ऊर्जाके उत्पादनका कोई परिणाम है,--उदाहरणके लिये, यह कहना कि हमारा कोई भला या बुरा आचरण करना या भले या बुरे संवेगों और हेतुओंकी बात मानना हमारे यकृतपर निर्भर करता है या हमारे जन्मके शारीरिक कीटाणुमें समाया हुआ है या हमारे रसायनिक तत्त्वोंका प्रभाव है या मूलतया और अन्ततया हमारे मस्तिष्क तथा स्नायवीय तन्त्रके उपादान-विद्युंदणोंके विन्यास द्वारा निर्धारित होता है। हमारी मानसिक और नैतिक सत्ता शारीरिक सत्तापर उसकी अवलम्बदायिका भौतिक ऊर्जाके लिए जो कोई भी हुण्डियाँ काटे और इन ऋणोंको लेनेके कारण वह जिस भाँति भी प्रभावित हो, फिर भी यह बहुत स्पष्ट है कि वह उन्हें अन्य और विशालतर उद्देश्योंके लिये काममें लेती है, उसकी एक अतिभौतिक पद्धति होती है, वह बहुत महत्तर हेतुओं और अभिप्रायोंका विकास करती है। नैतिक ऊर्जा अपने-आपमें एक अलग शक्ति है, उसका अपना कार्य-स्तर है, वह हमें अपनी प्राणिक तथा शारीरिक प्रकृतिको पददलित करनेकी ओर भी प्रचालित करती है – और यह उसकी विशिष्टता है। हो सकता है कि आधारमें या चोटीपर वे एक ही विश्वशक्तिके रूप हों, परन्तु व्यवहारतः वे भिन्न-भिन्न ऊर्जाएँ हैं और उनसे इस भाँति ही बर्त्ताव करना पड़ता है – जब तक कि हम यह न जान लें कि वह विश्वशक्ति अपनी उच्चतम और विशुद्धतम गठन और आरम्भिक शक्तिमें क्या हो सकती है और वह खोज हमें हमारी प्रकृतिकी जटिलताओंके बीच कोई एकत्वं-सम्पादिका दिशा दे सकती है या नहीं।

संयोगको, जो कि एक अनन्त सम्भावनाकी अस्पष्ट छाया है, हमें अपने अनुभवोंके शब्दकोषसे निष्काषित कर देना होगा, क्योंकि संयोगका हम कुछ भी नहीं कर सकते, कारण वह कुछ भी नहीं है। संयोगका अस्तित्व ही नहीं है; वह केवल एक ऐसा शब्द

है जिसके द्वारा हम अपने अज्ञानको ढँकते और माफ करते हैं। विज्ञान उसे भौतिक नियमकी वास्तविक प्रक्रियासे वहिष्कृत रखता है; वहाँ प्रत्येक वस्तु निर्धारित कारण और सम्बन्ध द्वारा नियत होती है। परन्तु जब वह यह पूछता है कि ये सम्बन्ध ही क्यों हैं, दूसरे क्यों नहीं, अमुक विशेष कारण अमुक विशेष प्रभावसे क्यों सम्बद्ध है, तो वह देखता है कि इस विषयमें वह कुछ भी नहीं जानता; चरितार्थ हो चुकी प्रत्येक सम्भावना यह दिखलाती है कि अन्य अनेक सम्भावनाएँ रही होंगी जो चरितार्थ नहीं हुई हैं परन्तु यह कल्पनीय है कि वे चरितार्थ हो सकती थीं, और तब यह कहना सुविधाजनक हो जाता है कि संयोग या अधिकसे अधिक एक प्रधान सम्भाव्यता सारी वास्तविक घटनाओं-को, क्रमविकासके संयोगको, एक ऐसी टटोलती निश्चेतन ऊर्जाकी लड़खड़ाती गतिधारा-को निर्धारित करती है जो किसी तरह कोई कामचलाऊ राह खोज लेती है और उस प्रक्रियाकी पुनरावृत्तिमें जम जाती है। यदि निश्चेतना बुद्धिके कार्य कर सकती है, तो यह भी असम्भव नहीं हो सकता कि अराजक संयोग विधानयुक्त विश्वकी सृष्टि करे। परन्तु यह विश्वकी क्रियाओंमें हमारे अपने अज्ञानको देखना ही होता है,—वैसे ही जैसे कि विज्ञानसे पहलेके मनुष्यको भौतिक नियमकी क्रियाओंमें देवताओंकी सनक दीखती थी, फिर चाहे क्रीड़ाकारी संयोगके लिये कोई और नाम क्यों न दिया गया हो, वह चाहे अदिव्य हो या दिव्य महिमाओंसे विभूषित, उसे चाहे मनुष्यकी प्रार्थना और उत्कोचके प्रति नरम और नमनीय रहनेवाला माना जाता हो, चाहे स्फिंक्सकी[1] अपरिवर्तनीय पाषाणकृतिमें उपस्थित किया जाता हो,—परन्तु ये सब वस्तुतः उसके अपने ही अज्ञानके नाम हैं।

और विशेषतः जब हम अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्ताकी सबल आवश्यकताओंकी बातपर आते हैं, तब संयोग या सम्भाव्यताका कोई भी सिद्धान्त नहीं चलता। भौतिक आधारपर खड़ा होनेवाला विज्ञान इस विषयमें इसके सिवाय कोई सहायता नहीं देता कि वह कुछ दूरी तक हमारी नैतिक सत्तापर हमारी दैहिक सत्ताके प्रभाव या हमारी दैहिक सत्तापर हमारे नैतिक कर्मके प्रभाव दर्शाता है: उपयुक्त प्रकाश या उपयोगी कार्यकी अन्य किसी भी बातमें विज्ञान लड़खड़ा जाता और अपने निर्ज्ञानकी दलदलमें इधर-उधर छपछपाता है। वह भूकम्प और ग्रहणकी व्याख्या और भविष्यवाणी कर सकता है, परन्तु हमारी नैतिक तथा भौतिक संभूतिकी नहीं; जब इस संभूतिके दृश्य व्यापार घटित हो जाते हैं केवल तभी उनकी व्याख्या करनेका प्रयत्न

---

[1] यूनानी पुराणकी नरसिंही दानवी जो पहेलीका उत्तर न दे सकनेवाले यात्रियोंको मार डालती थी। लांक्षणिक अर्थमें दानव या रहस्यमय व्यक्ति। (अनु०)

वह कर सकता है, और यह प्रयत्न वह रोग-विज्ञान, अस्वस्थ आनुवंशिकता, सुजनन विज्ञान आदिके सहारे, इधर उधर टोह लगाता हुआ, उनके बड़े बड़े शब्दों और भयावने और आश्चर्यजनक नियमको थोपते हुए करता है, किन्तु ये प्रयत्न सबसे नीचेकी मानसिक-शारीरिक सत्ताके घसीटे किनारोंको ही छूते हैं। किन्तु अन्य कहींकी भी अपेक्षा हमें इसी विषयमें निर्देशनकी आवश्यकता अधिक होती है और एक विधानको, एक निर्देशिका व्यवस्थाकी ऊँची रेखाको जाननेकी आवश्यकता होती है। हमारे लिये अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्ताके विधानको जानना वाष्प और विद्युतकी विधाओंको सीखनेकी अपेक्षा प्रथमतया और अन्ततया अधिक आवश्यक है, क्योंकि हम अपने आन्तरिक मनुष्यत्वमें इन बाह्य सुविधाओंके बिना तो बढ़-सकते हैं परन्तु नैतिक तथा आध्यात्मिक धर्मकी धारणाके बिना नहीं। हमसे कर्मकी माँग की जाती है और अपने कर्मके लिये हमें एक नियमकी आवश्यकता रहती है: हमें अन्तरमें वैसा बन जानेकी प्रेरणा मिलती है जैसे हम अभी हैं नहीं, हम यह जानना चाहेंगे कि हमारी संभूतिका मार्ग और धर्म क्या है, उसकी केन्द्रीय शक्ति या बहुल और परस्परविरोधिनी शक्तियाँ क्या हैं और उसकी चोटी, सम्भव व्याप्ति और पूर्णता क्या हैं। अवश्य ही, मनुष्यके लिये यही बात विद्युदणोंके नियम या सर्वशक्तिमान् भौतिक यन्त्र और अधिक शक्तिमान् विस्फोटकोंकी सम्भावनाओंकी अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा प्रश्न है।

बौद्ध सिद्धान्तमें कर्मका जो मानसिक और नैतिक विधान निरूपित है वह इस कठिन स्थलपर हमें एक सूत्र देता और एक द्वार खोलता है। जैसे विज्ञान हमारे मनमें यह विचार भर देता है कि भौतिक तथा बाह्य जगत्में और प्रकृतिके साथ हमारे व्यवहारोंमें एक 'नियम' का सार्वभौमिक शासन है, किन्तु वह इसके पीछे एक बड़ा प्रश्न उत्तर दिये बिना छोड़ देता है, एक अज्ञेयवादको, किसी अन्य अगृहीत 'अनन्त'की रिक्तताको उपस्थित करता है,––जिसपर यहाँ संयोगकी धारणाकी आड़ डाली जाती है,–– वैसे ही बौद्ध सिद्धान्त भी हमारी मानसिक और नैतिक सत्ताके प्रदेशोंको एक मानसिक तथा नैतिक 'नियम' के शासनकी सदृश भावनासे भर देता है : परन्तु वह भी उस नियमके पीछे एक बड़ा प्रश्न उत्तर दिये बिना छोड़ देता है, एक अज्ञेयवादको, एक अगृहीत 'अनन्त' की रिक्तताको उपस्थित करता है। परन्तु यहाँ इसपर आड़ डालनेवाल शब्द अधिक भव्य रूपसे अमूर्त है; यह निर्वाणका रहस्य है। दोनों ही दशाओंमें अधिक आग्रही और अस्तिवाची प्रकारका मन अनन्तको निश्चेतनाके रूपमें चित्रित करता है,––परन्तु एकमें वह भौतिक है, दूसरीमें आध्यात्मिक असीम शून्य,––किन्तु अधिक सतर्क या नमनीय चिन्तक उसे केवल अज्ञेय कहता है। भेद यह है कि विज्ञानका अज्ञात यान्त्रिक वस्तु है जिसमें हम शारीरिक विघटन या लयके द्वारा यन्त्रवत् वापस जाते हैं

परन्तु बौद्धोंका अज्ञात एक 'चिरस्थायी' है जो नियमसे परे है और जिसमें हम आत्म-दमन, आत्म-त्याग और, अन्तिम छोरपर, आत्म-निर्वापणके प्रयास द्वारा, सम्बन्धोंमें नियमको बना रखनेवाले 'भाव' के मानसिक विलयन द्वारा और विश्वक्रियाके अनुक्रमोंका स्रोत बना सकनेवाली संसार-कामनाके नैतिक विलयन द्वारा, आध्यात्मिकतः वापस जाते हैं। यह एक विरल और कृच्छसाध्य तत्त्वमीमांसा है, परन्तु इसकी निरूत्साहकारिणी भव्यताको स्वीकृति देनेके लिये हम किसी भी तरह बाध्य नहीं, क्योंकि यह न तो स्वयं-सिद्ध है, न अनिवार्य ही। यह बात किसी भी तरह इतनी निश्चित नहीं कि हम जो है उसका उच्च आध्यात्मिक बहिष्करण ही पूर्णताकी ओर हमारी एकमात्र सम्भव राह है; हम जो हैं उसकी उच्च आध्यात्मिक अभिपुष्टि और परमता भी व्यवहार्य मार्ग और द्वार हो सकती है। निर्वाणका यह भव्य हिमशैलवत् या आनन्दमय शून्य भाव, इतना प्रबल बहिष्करण होनेके कारण, मानव-आत्माको अन्ततया सन्तुष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि वह आत्मा अपने किसी उच्चतम अस्तिवाची रूप और अभिपुष्टिकी ओर सदा ही खिचता रहता है और बहिष्करणका उपयोग वह केवल प्रासंगिक रूपमें करता है ताकि जो उसकी आत्म-प्राप्तिके मार्गमें बाधा बनकर आता है उससे वह छुटकारा पा सके। सजीव प्राणी इसके लिये प्रयत्न करके, अपनी ओर और अस्तित्वकी ओर दुःखमय या महान् रूपसे अभिमुख हो करके, चिरस्थायी 'नहीं' के प्रति आत्म-समर्पण कर दे सकता है, परन्तु चिरस्थायी 'हाँ' ही उसका सहजात आकर्षण है : हमारी आध्यात्मिक दिशा, अन्तरात्माको खींचनेवाला चुम्बकत्व, शाश्वत सत्ताकी ओर है, शाश्वत अ-सत्ताकी ओर नहीं।

तथापि, कर्मके सिद्धान्तमें कुछ सारभूत और आवश्यक सूत्र विद्यमान हैं। पहले तो यह आश्वासन, यह दृढ़ भूमि है जिसके आधारपर हम निरापद रूपसे चल सकते हैं, कि भौतिक विश्वकी तरह मानसिक और नैतिक जगत्में भी संयोग या निरी सम्भाव्यताकी कोई अराजकता या दैवकृत शासन मात्र नहीं है, अपितु एक व्यवस्थित ऊर्जा कार्यरत है जो नियम और निर्धारित सम्बन्ध और अटल अनुक्रम द्वारा और निर्देश्य कारण तथा प्रभावकारिताकी कड़ियों द्वारा अपनी इच्छाको सुनिश्चित करती है। एक सर्वव्यापी मानसिक नियम और एक सर्वव्यापी नैतिक नियम है, इसके बारेमें निश्चित हो जाना एक महान् लाभ, एक अवलम्बदायिनी भित्ति है। भौतिक जगत्की तरह मानसिक जगत् और नैतिक जगत्में भी हम उपयुक्त भूमिमें जो बोएँगे, उसकी फसल हमें अवश्य ही मिलेगी, यह दिव्य शासनका, सन्तुलनका, विश्वव्यवस्थाका आश्वासन है; फलतः जीवन नियमकी सुदृढ़ भूमिपर अधिष्ठित ही नहीं होता, अराजकताको हटाकर एक महत्तर स्वतन्त्रताका द्वार भी खुल जाता है। किन्तु यह सम्भावना है कि यदि यह

ऊर्जा ही सब कुछ है तो हो सकता है कि हम एक अनुल्लंघ्य शक्तिकी सृष्टि मात्र हों और हमारे सारे कर्म और संभूतियाँ ऐसी निर्धारित श्रृंखला हों जिस पर हमें कोई यथार्थ नियन्त्रण नहीं मिल सकता, न अधिकारका कोई सुयोग ही। इस दृष्टिके अनुसार सबका समाधान कर्मके पूर्व-निर्धारणमें होगा, और इसका परिणाम हमारी बुद्धिको तो सन्तुष्ट कर सकता है किन्तु हमारे आत्माकी महत्ताके लिये वह अनर्थकारी होगा। तब हमें कर्मका दास और कठपुतली रहना चाहिये, और हम स्वराट् और जीवन-सम्राट् होनेका स्वप्न कभी नहीं देख सकते। परन्तु यहाँ कर्म-सिद्धान्तका दूसरा डग आता है, वह यह है कि 'भाव' ही सारे सम्बन्धोंकी सृष्टि करता है। सब कुछ 'भाव' का ही प्राकट्य और विस्तरण है, सर्वाणि विज्ञान-विजृम्भितानि। तब, हम जो हैं उसके रूपको हम संकल्प द्वारा, अपने अन्दरके 'भाव'की ऊर्जा द्वारा, विकसित कर सकते हैं और हमारे वर्तमान साँचे और सन्तुलनमें जो व्यक्त है उसकी अपेक्षा महत्तर भावका सामंजस्य प्राप्त कर सकते हैं। हम एक अधिक उदात्त विस्तरणकी अभीप्सा कर सकते हैं। फिर भी, यदि 'भाव' अपने-आपमें एक वस्तु है, उसकी अपनी स्वतःस्फूर्त शक्तिके अतिरिक्त उसका कोई आधार नहीं, उसका कोई जन्मदाता नहीं, कोई ज्ञाता नहीं, कोई पुरुष और प्रभु नहीं, तो हो सकता है कि हम विश्वव्यापी 'भाव' का एक रूप मात्र हों, और हमारा अपना, हमारे अन्तरात्माका स्वतन्त्र अस्तित्व या जन्म न हो। परन्तु यह तीसरा डग भी है कि हम विश्वव्यापिनी ऊर्जाकी राहोंमें विकसनशील और स्थायी अन्तरात्मा हैं और हमारी सारी सृष्टिका बीज हमारे अन्दर ही है। जैसा हम हो गये हैं वैसा हमने अपने-आपको अन्तरात्माके भूतकालके भाव और कर्मसे, उसके आन्तरिक तथा बाह्य कर्मसे बनाया है; जैसा होनेका हम संकल्प करते हैं, वैसा हम अपने-आपको वर्तमान तथा भावी भाव एवं कर्मसे बना सकते हैं। और अन्तमें, यह अन्तिम तथा परम मुक्तिदायी डग आता है कि भाव और उसके कर्म, दोनोंका मूल मुक्त आत्मामें हो सकता है और हम अनुभव तथा आत्म-प्राप्ति द्वारा अपने 'स्व' तक पहुँचकर अपनी अवस्थाको कर्मके सारे बन्धनमेंसे उठाकर आध्यात्मिक स्वतन्त्रतामें ले जा सकते हैं। कर्मके समूचे सिद्धान्तके ये चार स्तम्भ हैं। ये प्रकृतिके साथ पुरुषके व्यवहारके चा सत्य भी हैं।

नौ

कर्म और स्वतन्त्रता

जिस विश्वमें हम रहते हैं वह हमारे मनके सामने विरोधियों तथा विपरीतोंके जालकी तरह उपस्थित होता है, प्रत्याख्यानोंकी तो बात ही छोड़ दें; और फिर भी यह प्रश्न खड़ा होता है कि सम्पूर्ण विरोधी या यथार्थ प्रत्याख्यान जैसी कोई वस्तु विश्वमें है भी क्या। अच्छाई और बुराई ऐसी विरोधिनी शक्तियाँ प्रतीत होती हैं जिनकी कल्पना की जा सकती हो, और अपने नैतिक मनकी प्रकृतिके कारण हममें जगत्को, कमसे कम उसके नैतिक पहलूमें, इस रूपमें देखनेकी प्रवृत्ति रहती है मानों वह देव और असुर, ईश्वर और शैतान, अहुरमज्द[1] और एंग्रिया मैन्यु[2] जैसे सनातन विरोधियोंके बीच एक संघर्ष, एक रस्साकशी है। हम सदा यह आशा करते हैं कि किसी दिन,——और वैसे दिनकी कल्पना अभी भी शायद ही की जा सकती है,——उनमेंसे एकका विनाश होगा, दूसरेकी विजय होगी और विजयीको शाश्वतताकी निश्चिति प्राप्त होगी; परन्तु वस्तुतः वे परस्पर इतने गुँथे हुए हैं कि कुछ लोग यह मानते हैं कि प्रकाश और छायाकी तरह वे यहाँ नित्य साथ-साथ हैं, और यदि उनके पारस्परिक गुन्थनकी ग्रन्थिकी वेदनासे, उनके कटु और सतत आलिंगन तथा संघर्षसे कोई छुटकारा है भी तो इस कर्म-जगत्से परे और कहीं, किसी विश्रामपूर्ण और निःशब्द शाश्वतत्वमें है। बुराईमेंसे अच्छाई निकलती है और अच्छाई भी प्रायः बुराई हो जाती लगती है; इन मल्लरत योद्धाओंके शरीर इतने भ्रमकारी रूपमें साथ घुट जाते हैं कि उनकी पहचान करनेमें ज्ञानियोंका मन भी भ्रम और चक्करमें पड़ जाता है। और कभी-कभी ऐसा लगेगा कि मानों इस विभेदका अस्तित्व मनुष्यके अलावा और मनुष्यको प्रेरणा देनेवाले आत्माओंके अलावा अन्य किसीके लिये शायद ही रहा है; उसका अस्तित्व मनुष्यके लिये शायद तब आया है जब उसने बागमें द्वैत ज्ञानके उस वृक्षका फल खा लिया। हम देखते हैं कि यह विभेद जड़तत्त्वको ज्ञात नहीं और मनुष्यसे नीचेका जीवन यदि नैतिक भेदोंसे परेशान होता भी है तो थोड़ा-सा ही। और यह भी कहा जाता है कि मानवीय सत्ताकी दूसरी तरफ और उसके संघर्षोंसे परे उच्च तथा विश्वव्यापी आत्माकी प्रशान्ति है;

---

[1] फारसके धर्मका शुभात्मा। (अनु०)

[2] जेंद–अयस्ताका आसुरी आत्मा। (अनु०)

वहाँ अन्तरात्मा पापको पार कर जाता है, और पुण्यको भी; वहाँ उसे न तो दुःख है, न पश्चात्ताप, और न यह प्रश्न ही उठता है, "मैने वह शुभ कार्य क्यों नहीं किया और मैं यह क्यों कर बैठा जो कि अशुभ है ?"[3] कारण यह है कि उसके अन्दर सकल वस्तुएँ अनिन्द्य हैं और उसके लिये सकल वस्तुएँ विशुद्ध हैं।

परन्तु अन्तमें विरोधियोंके अवास्तव होनेका एक और भी अधिक मूलगत उदाहरण है। हम देखते हैं कि मुनिगण भी ज्ञान और अज्ञान,—विद्या और अविद्या, चित्ति और अचित्ति,—के बीच विरोध खड़ा करते हैं जिसपर अच्छे और बुरेका यह प्रश्न बहुत अन्तरंगतासे निर्भर करता लगता है। बुराई प्रकृतिगत जीवकी अज्ञानमयी प्रेरणाके पीछे दौड़ती चलती है, वह जीवकी इच्छाकी अज्ञानमयी विकृति ही है, और अच्छाईकी आंशिकता भी समान रूपसे अज्ञानका अभिशाप है। परन्तु जब हम ध्यानसे इन दोनों वस्तुओंके सारतत्त्वके अन्दर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि एक ओर तो अज्ञान संवृत अथवा आंशिक ज्ञानके अलावा और कुछ नहीं है, वह निश्चेतन क्रियामें लिपटा हुआ ज्ञान या वह ज्ञान है जो मनके स्पर्शकोंसे अपने-आपको खोज रहा है, और फिर दूसरी ओर यह प्रकट होता है कि ज्ञान भी अपने उत्तम रूपमें एक आंशिक जानना है और सदा ऐसा कुछ परे रह जाता है जिसके प्रति वह अज्ञ रहता है, उसका उच्चतम और विशालतम वैभव भी आनन्त्यके नीलकृष्ण प्रकाशके पुंजपटपर सौं प्रभावका एक स्वर्णिम प्रादुर्भाव है जिसके द्वारा हम उससे परे 'अनिर्वचनीयम्' की ओर देखते हैं।

हमारा मन सदा विरोधोंके सहारे विचार करनेको बाध्य होता है; इसकी व्यावहारिक वैधतासे हम नहीं बच सकते, परन्तु यह विधि फिर भी सदा किसी-न-किसी रूपमें सन्दिग्ध लगती है। हमें यह बोध होता है कि कर्मका एक नियम है, ऊर्जाके कार्यों सतत और अपरिहार्य अनुक्रम हैं, उसके परिणामों तथा प्रतिक्रियाओंका एक दृढ़ स्रो है, कारण और कार्यके सम्बन्धकी एक श्रृंखला है, हमारे पीछे भूतकालके अकारणों विशाल पुंज है जिसमेंसे सारे भावी परिणामोंको अवश्यमेव खुलते आना चाहिये, औ हम इसीके द्वारा विश्वकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करते हैं; परन्तु तब तत्काल ह उसके विरोधी भाव स्वतन्त्रताकी कड़ी समस्या उठ खड़ी होती है। मनुष्यमें कहाँ आती है स्वतन्त्रताकी यह भावना, स्वतन्त्रताकी यह दिव्य या अमानुषी प्यास ज शायद उसके अन्दरकी किसी उस वस्तुसे उत्पन्न हुई है जिसके कारण वह, उसका मन प्राण और शरीर चाहे कितने ही ससीम क्यों न हों, आनंत्यकी प्रकृतिमें भाग लेता है

---

[3] तैत्तिरीय उपनिषद्

कारण, जब हम चारों ओरके जगत् पर, उसके वर्तमान रूपपर दृष्टि डालते हैं, तो प्रत्येक वस्तु अवश्यम्भाविताके कारण होती और एक भारी निरोध तथा बाध्यताके नीचे चलती लगती है। यह रूप है शक्ति और जड़के अविचारशील जगत्का जिसमें हमारा निवास है; और स्वयं हममें भी, विचारधर्मी मानवमें, किसी प्रकारके वर्तमान निरोध और बाध्यकारिणी पूर्व-आवश्यकतासे स्वतन्त्र रहनेवाला अंश कितना अल्प है ! हम जैसे हैं और जो करते हैं उसका बड़ा भाग हमारे परिवेश द्वारा निर्धारित होता है, हमारी शिक्षा और पालन-पोषण द्वारा घड़ा जाता है,——हम जीवन द्वारा और दूसरोंके हाथों द्वारा बनाये गये हैं, हम बहुत सारे कुम्हारोंके लिये मिट्टीका काम देते हैं: और जहाँ तक बाकी भागकी बात है, जो कुछ सबसे अधिक हमारा स्व है वह भी, क्या हमारी वैयक्तिक, जातीय और मानवीय आनुवंशिकता द्वारा, या अन्ततया विश्व-प्रकृति द्वारा निर्धारित नहीं हुआ है जिसने कि मानवजातिको और प्रत्येक मनुष्यको अपनी अन्धी या सचेतन उपयोगिताके लिये उसके वर्तमान रूपमें घड़ डाला है ?

परन्तु हम हठ करते और कहते हैं कि हममें एक इच्छा है जिसे एक स्वतन्त्रताका बोध रहता है, वह स्वतन्त्रता चाहे कितनी ही भाराक्रान्त क्यों न हो, और वह इच्छा परिवेश, पालन-पोषण, आनुवंशिक गठन और हमारी अपरिवर्तनीय दिखायी देनेवाली सामान्य प्रकृतिको भी अपने स्वोद्देश्यके निमित्त घड़ सकती और अपने प्रयत्नसे परिवर्तित कर सकती है। किन्तु यह इच्छा और इसका प्रयास, क्या यह भी प्रकृतिका, सक्रिय विश्व-ऊर्जाका, एक उपकरण, एक यान्त्रिक इंजिन ही नहीं है ? और क्या इसकी स्वतन्त्रता हमारे मनका ही स्वेच्छाचारी भ्रम नहीं है जो वर्तमानके प्रत्येक क्षणमें रहता और अज्ञानके कारण, मानसिक विविक्ति द्वारा, वर्तमानको उसके निर्धारक अतीतसे अलग करता है, जिसके फलस्वरूप ऐसा लगता है कि हम प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षणमें स्वतन्त्र और शुद्ध चुनाव कर रहें हैं, जब कि हमारा चुनाव सदा ही अपने पूर्वरूपायणसे और उस सारे अन्धकारमग्न अतीतसे शासित होता है जो हमारे सामने नहीं होता ? यह मान लेने पर भी कि प्रकृति हमारी इच्छाके माध्यमसे कार्य करती और सृष्टि तथा परिवर्तन कर सकती है, अर्थात् प्रकृतिने अपनी क्रियाओंके लिये जो सामग्री प्रस्तुत कर रखी है उसमेंसे एक नया रूपायण उत्पन्न कर सकती है, क्या यह चीज भूतकालके प्रेरण और उसमेंसे एक अविच्छिन्न ऊर्जा द्वारा नहीं की जाती ? कर्मका प्रथम भाव यही है। अवश्य ही, हमारी वर्तमान इच्छा, क्रिया और रूपायणके एकमात्र तत्त्वके रूपमें तो किसी भी तरह नहीं, परन्तु उनके किसी एक तत्त्वके रूपमें मान्य होगी ही, किन्तु इस दृष्टिके अनुसार यह कोई स्वतन्त्र चिरनूतन इच्छा नहीं होती, बल्कि प्रथम तो वह सारे भूतकालीन स्वभावकी सन्तान और जन्म होती है, हमारा क्रियाकलाप,

हमारा वर्तमान कर्म, उस स्वभावकी शक्तिके एक घड़े जा चुके आकारका परिणाम होता है। और दूसरे, हमारी इच्छा एक ऐसा उपकरण होती है जिसे सदा ही कोई ऐसी वस्तु घड़ती और उपयोगमें लाती है जो हमसे महत्तर है। यदि कोई अन्तरात्मा या आत्मा हो जो प्रकृतिकी सृष्टि नहीं, अपितु उसका स्वामी हो, विश्व-ऊर्जाके स्रोतकी रचना नहीं, अपितु स्वयं ही अपने स्वकर्मका रचयिता और स्रष्टा हो, केवल तभी हमारा वास्तविक स्वतन्त्रताका दावा या, कमसे कम, यथार्थ स्वतन्त्रताके लिये हमारी अभीप्सा सार्थक होती है। यहीं पर इस बादविवादका मर्म है, इस पेचीदे प्रश्नकी उलझन और उसमेंसे निकलनेकी राह है।

किन्तु अब आलोचनात्मक, नकारात्मक और विश्लेषणात्मक चिन्तक, प्राचीन शून्यतावादी बौद्ध या आधुनिक जड़वादी प्रवेश करता है और हमारे पार्थिव या किसी भी सम्भव स्वर्गिक जीवनमें वास्तविक स्वतन्त्रताके होनेके आधारको हटा देता है। बौद्धोंने स्वतन्त्र एवं अनन्त आत्माके अस्तित्वको नहीं माना; उनके विचारानुसार वह अहंके भावका उन्नयन मात्र है, अध्यारोप है, या शाश्वत असत्पर हमारे व्यक्तित्वके मिथ्यात्व द्वारा फेंकी गयी भीमकाय अभिवर्द्धित छाया ही है। परन्तु जहाँ तक अन्तरात्माकी बात है, कोई अन्तरात्मा नहीं, अपितु रूपों, भावों और संवेदनोंका एक स्रोत मात्र है, और जैसे रथकी भावना पटरों, डंडों, पहियों और धुरियोंके सम्मिलनके लिये एक नाम मात्र है, वैसे ही वैयक्तिक अन्तरात्मा अथवा अहंकी भावना भी इन चीजोंके सम्मिलन या सातत्यके लिये एक नाम मात्र है। और, विश्व भी ऐसे सम्मिलनके अतिरिक्त और कुछ नहीं, कर्मके अनुक्रमों द्वारा, ऊर्जाकी क्रिया द्वारा अविच्छिन्न रूपसे संहत, रचित और संरक्षित रहनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस यान्त्रिक जीवनमें कर्मके बन्धनसे स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, कोई स्वाधीनता सम्भव नहीं हो सकती; परन्तु फिर भी मुक्ति सम्भव है, क्योंकि जो सम्मिलन द्वारा और अपने सम्मिलनोंके बन्धन द्वारा अस्तित्वमें बना रहता है उसे विलयन द्वारा अपने-आपमेंसे मुक्त किया जा सकता है। कर्मको गतिशील रखनेवाली चालिका शक्ति है कामना और उसके कार्योंके प्रति आसक्ति, और अचिरताकी निश्चिति और कामनाके अवसानसे कालानुक्रमोंमें भावकी अविच्छिन्नताका अन्त किया जा सकता है।

परन्तु यदि इस अन्तको मुक्तिका नाम दिया जा सकता हो तो भी यह स्वतन्त्रताकी स्थिति तो नहीं है; क्योंकि वह स्थिति केवल एक अस्तिपर, एक चिरत्वपर आश्रित हो सकती है, न कि सभी अस्तियोंके बहिष्कार और समापनपर, और यह भी कल्पनीय है कि इसके लिये ऐसा कोई या ऐसा कुछ आवश्यक है जो स्वतन्त्र हो। यहाँ यह कहा जा सकता है कि स्वयं बुद्धने निर्वाणकी धारणा स्वतन्त्रताके निरपेक्ष आनन्दकी स्थितिके

रूपमें, किसी अग्राह्य, 'निर्विशेष' के अन्दर कर्मिक जीवनके अभावके रूपमें की थी,——हाँ, उस 'निर्विशेष' का वर्णन या परिभाषा किसी इति या नेति द्वारा करनेसे वह दृढ़तासे अस्वीकार करते रहे, और वस्तुतः किसी एकान्तिक अस्ति द्वारा या अस्तिवाचक भावोंके व्यापकतम संकलन द्वारा या किसी नास्ति द्वारा अथवा नास्तिवाचक भावोंके पूरे संकलन द्वारा की गयी परिभाषा, परिभाषाका प्रवेश मात्र होने और फलतः परिसीमन होनेके कारण, उस 'निर्विशेष' के लिये अनुपयुक्त लगेगी। जगन्मिथ्यावादकी माया एक अधिक रहस्यमयी वस्तु है, बुद्धिके लिये अधिक अस्पष्ट है; परन्तु कमसे कम यहाँ हमें एक 'आत्मा', एक भावात्मक 'अनन्त' मिलता है जो फलतः शाश्वत स्वतन्त्रताके लिये समर्थ है, किन्तु केवल नैष्कर्म्यमें ही, कर्मका अन्त करके ही। कारण, व्यष्टिरूपी आत्मा, कर्मकी क्रियामें रहनेवाला अन्तरात्मा, सदा ही अज्ञानसे आबद्ध रहता है, और केवल वैयक्तिकता तथा विश्वभ्रमका परित्याग करके ही हम 'निर्विशेष'की स्वतन्त्रतातक वापस जा सकते हैं। इन दोनों सिद्धान्तोंमें हम यह देखते हैं कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और वैश्व बाध्यताको समान रूपसे स्वीकार तो किया जाता है, परन्तु एक पूरे ही पृथक्कीकरणमें और एक दूसरीके अपने-अपने क्षेत्रसे बहिष्करणमें,——चरम विरोधियों और विपरीतोंकी तरह ही। जन्मके जगत्में अज्ञान या कर्मकी पूर्ण बाध्यता है; जगत् तथा कर्मके प्रत्याहारमें आत्माकी पूर्ण स्वतन्त्रता है।

परन्तु ये पैने सिद्धान्त तार्किक बुद्धिके लिये चाहे कितने ही सन्तोषप्रद क्यों न हों, वे समन्वयात्मिका बुद्धिके लिये संदिग्ध होते हैं; और जो कुछ भी हो, जैसे हम यह देखते हैं कि ज्ञान और अज्ञान अपने सारमें पूर्णतया विपरीत नहीं, अपितु अज्ञान और निश्चेतना भी गुप्त ज्ञानका आवरण हैं, वैसे ही यह तो सम्भव हो ही सकता है कि स्वतन्त्रता और कर्मकी बाध्यता ऐसे विरोधी नहीं जिनके बीच सेतु न बनाया जा सके, बल्कि कर्मके पीछे और अन्दर भी अन्तर्निवासी आत्माकी गुप्त स्वतन्त्रता सब समय रहती हो। बौद्ध मत और जगन्मिथ्यावाद भी बाह्य अथवा आन्तरिक पूर्वनिर्धारणकी नहीं, अपितु केवल स्वारोपित बन्धनकी ही बात कहते हैं। और बहुत दृढतासे वे मनुष्यसे यह माँग करते हैं किं वह सही और गलत राहके बीच, अचिर-जीवनकी इच्छा और चिर-निर्वाणकी इच्छाके बीच, विश्व-जीवनकी इच्छा और आध्यात्मिक सत्ताकी इच्छाके बीच चुनाव करे। फिर, इस चुनावकी माँग वे निर्विशेषसे या विश्वपुरुष या विश्वशक्तिमान्से नहीं करते, उसे तो सचमुचमें उनके दावेकी कुछ भी परवाह नहीं होती और वह बहुत ही शान्ति और निरापदतासे अपना सबल तथा शाश्वत कार्य करता चलता है,——प्रत्युत वे इसकी माँग करते हैं व्यक्तिसे, मनके विरोधोंसे भ्रमित मानवके अन्तरात्मासे। अतः ऐसा लगता है कि हमारी वैयक्तिक सत्तामें ऐसा कुछ

है जिसे इच्छाकी कोई यथार्थ स्वतन्त्रता है, एक महान् परिणाम और गरिमापूर्ण चुनावकी कोई क्षमता है, और तब वह क्या है जो इस भाँति चुनाव करता है, और उसकी वास्तविक या सम्भव स्वतन्त्रताकी सीमाएँ क्या हैं, उसका आरम्भ या अन्त कहाँ है ?

यह समझना भी कठिन है कि असार अचिरताका कालमें शाश्वत अविच्छिन्नताका इतना विपुल प्रभाव या यह बल कैसे हो सकता है; तब यह विचार आता है कि कोई एक 'चिर' होना ही चाहिए जो इस अविच्छिन्नतामें प्रकट होता है, ध्रुवम् अध्रुवेषु। यह समझना भी कठिन है कि कोई भ्रम,—क्योंकि भ्रम यदि परिणामहीन स्वप्न या सारहीन विभ्रम नहीं तो और क्या है?—न्याय्य परिणाम और दृढ़ नियम तथा श्रृंखलाबद्ध नियतिके इस महान् जगत्की रचना कैसे कर सकता है। कोई गुप्त आत्म-ज्ञान तथा बुद्धिमत्ता होनी ही चाहिए जो कर्मकी ऊर्जाको अपने भावमें निर्देशित करती हो और जिसने उस ऊर्जाके लिये वे पथ नियुक्त कर दिये हों जिन्हें उसे काल-प्रवाहमें काटने होंगे। विशेष रूपोंकी सारी अचिरताके बीच वस्तुओंकी जो तात्त्विक चिरता है उसीके कारण हमारे मन तथा इच्छापर उनका इतना प्रभाव होता है। चूँकि जगत् इतना वास्तविक है इसी कारण हम अपने-आपपर उसकी पकड़ इतने बलके साथ अनुभव करते हैं और हमारी अन्तःशक्तियाँ उसकी ओर मल्लयोद्धाकी इस पकड़के साथ मुड़ती हैं। सचमुचमें जगत् प्रायः हमारे लिये अति प्रचंड रूपसे वास्तविक होता है और हम स्वतन्त्रताकी खोज स्वप्न-प्रदेशों या आदर्श-लोकोंमें करते हैं, और उ वहाँ पर्याप्त रूपसे नहीं पाते हैं, क्योंकि न तो हमें अपने आदर्शको इस सक्रिय वास्तविकता-पर प्रयुक्त करनेकी स्वतन्त्रता रहती है, और न हम ऐसा करनेका प्रभुता-बल विकसि कर सकते हैं, फलतः हम उसकी खोज 'निर्विशेष' की सुदूर और अनन्त महिमामें करते हैं। अतः यह बेहतर होगा कि हम उस दूसरे अधिक व्यापक रूपसे स्वीकार्य भेदप जमें रहें जिसके अनुसार कर्मका जगत् एक व्यावहारिक या सापेक्षिक सत्य है औ उसके पीछे या ऊपर, तपोलीन और अपरिवर्तनीय अध्यात्म-पुरुषकी सत्ता एक महत्त परम सत्यताके रूपमें है। और तब हमें यह खोजना होगा कि क्या एकमात्र अध्यात्म पुरुषकी सत्तामें ही स्वतन्त्रताका कोई स्पर्श है या,—जैसा कि तव अवश्य होना चाहि यदि क्रियारत ऊर्जा और उसके क्रियाकलापकी अध्यक्षता अध्यात्म-पुरुष कर रहा हो,— यहाँ भी स्वतन्त्रताका कोई तत्त्व है या कोई आरम्भ तो है ही, और वह तत्त्व या आरम् यदि लघु और सर्वथा सापेक्षिक हो तब भी, कालके इन डगोंमें, कर्मके इन सम्बन्धों क्या हम इस स्वतन्त्रताको अध्यात्म-सत्ताकी महिमामें चेतन रूपसे निवास करते हु महती और वास्तविक नहीं बना सकते ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जब हम अन्त रात्माके क्रमविकासके शिखरतक उठ जाते हैं तो वहाँ हमें यही प्रभुता प्राप्त होगी

हम एक बात यह देखते हैं कि नियन्त्रणकी ओर यह प्रेरणा और स्वतन्त्रताका यह संस्कार मनकी क्रियाके इर्दगिर्द चिपके रहनेवाला मोड़ और वातावरण हैं और प्रकृति जैसे-जैसे मनःशक्तिकी ओर उठती है वे प्रकृतिमें विकसित होते जाते हैं। जड़तत्त्वका जगत् स्वतन्त्रताके बारेमें कुछ भी जानता नहीं लगता; वहाँ प्रत्येक वस्तु मानों पत्थरकी पट्टियोंपर भावीके सूचक नियमों, ऐसे नियमोंके रूपमें लिखी दिखायी देती है जिनकी प्रक्रिया तो है, पर कोई आरम्भिक कारण नहीं और जो उद्देश्योंके सामंजस्यके लिये तो उपयोगी होते हैं या, कमसे कम, निर्धारित परिणामोंका विश्व तो उत्पन्न करते हैं, परन्तु ऐसी कोई प्रज्ञा नहीं दिखायी देती जिसने उनकी ओर दृष्टि रखकर उन्हें घड़ा हो। प्राकृतिक वस्तुओंके भीतर अन्तरात्माकी विद्यमानताकी बात हम सोच नहीं सकते, क्योंकि उनके भीतर हमें मनकी चेतन क्रिया दिखायी नहीं देती जब कि हमारी धारणाओंके लिये चेतन तथा सक्रिय मानसिक बुद्धि ही अन्तरात्माके अस्तित्वका यदि सारा उपादान नहीं, तो आधार और आधारभूमि तो है ही। यदि जड़तत्त्व ही सब कुछ है तो हम बहुत आसानीसे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सब कुछ जड़-ऊर्जाका कार्य है जो यान्त्रिक रूपसे विधान बनानेवाली किसी अन्तर्निहित और अबोधगम्य नियति द्वारा शासित होती है। परन्तु तब हम यह देखते हैं कि प्राण एक भिन्न उपादानसे बना लगता है; यहाँ विविध सम्भावनाएँ खिलती हैं, यहाँ सृष्टि उत्सुक, दबाव डालनेवाली, नमनीय और परिवर्तनशील हो जाती है; यहाँ हमें एक खोज और एक चुनावका, बहुत सारी शक्यताओंका और वास्तविकताओंके एक चुनावका, एक ऐसे अवचेतन भावका बोध होता है जो अपनी प्राणिक स्वाभिव्यक्तिके लिये चारों ओर टोहमें लगा है और एक सहजवृत्तिमूलक क्रिया घड़ रहा है,—साथ ही, प्रायः, किन्तु कुछ सीमाओंमें ही, प्राणका अपने सन्निकट लक्ष्य या अभी भी दूर रहनेवाले लक्ष्यकी ओर एक निर्भ्रान्त और संबोधिमूलक निर्देशन होता है,—इस सारी बृहत् खोज और परिवर्तनशील प्रेरणके तन्तुमें हमें एक अवचेतन इच्छाका भी बोध होता है। लेकिन प्राण भी सीमाओंके अन्तर्गत बेड़ियोंके बन्धनमें प्रक्रियाओंके निर्दिष्ट क्षेत्रमें ही कार्य करता है।

परन्तु जब हम निकलकर मनमें आते हैं तब प्रकृति सम्भावना और चुनावके प्रति बहुत अधिक व्यापक रूपसे चेतन हो जाती है; मन भावमें ऐसी शक्यताओं और निर्धारणोंके प्रति अवगत होता है जो तात्कालिक वास्तविकता या भूत और वर्तमानकी वास्तविकताओंकी राशिके अटल रूपसे अनिवार्य परिणामकी शक्यताओं और निर्धारणोंसे भिन्न होते हैं; उसे असंख्य "हो सकता है" और "हो सकता था" का बोध होता है, और "हो सकता था" की बातें बिलकुल ही मृत परित्यक्त वस्तुएँ भी नहीं होतीं, बल्कि

'भाव' की शक्ति द्वारा वापस आ सकती हैं, भावी निर्धारण सम्पादित कर सकती हैं और अन्तमें, भले ही अन्य रूपों और परिस्थितियोंमें, किन्तु अपने भावकी आन्तरिक सत्यतामें, अपनी परिपूर्ति कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, मन और भी आगे जा सकता है और जाता है; वह वास्तविक जीवनके आत्म-परिसीमनोंके पीछे एक अनन्त सम्भावनाकी धारणा कर सकता है। और इस अवलोकनसे एक स्वतन्त्र और अनन्त 'इच्छा' के भावका, एक ऐसी असीम्य शक्यतामयी 'इच्छा' के भावका उदय होता है जो अपनी देश तथा कालगत विश्वसंभूति अथवा सृष्टिके इन सारे असंख्य आश्चर्योंका निर्धारण करती है। इसका अर्थ होता है एक अध्यात्म-सत्ता एवं शक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता जो कि कर्म द्वारा निर्धारित नहीं होती, बल्कि कर्मको निर्धारित करती है। प्रतीयमान नियति अध्यात्म-सत्ताके स्वतन्त्र आत्म-निर्धारणकी सन्तान है। जो चीज हमें नियतिके रूपमें प्रभावित करती है, वह एक इच्छा है जो परिणाम-क्रममें कार्य करती है, न कि अन्धी शान्ति जो अपने ही यन्त्र-विन्यास द्वारा चालित होती है।

तथापि यह निष्कर्ष अवश्यमान्य नहीं और जीवनके बारेमें हम जो तीन प्रधान धारणाएँ बना सकते हैं उन्हें इस विषयमें बुद्धि सदा ही तर्कमें उपस्थित कर सकती है। पहले उस धारणाको लें, जो बुद्धिके लिये आसान भी है, कि एक प्रकारकी एक अन्धी यान्त्रिक नियति है,—और उसके सामने या पीछे कुछ भी नहीं है या कोई शुद्ध असत् है। इस नियतिका स्वरूप एक निर्धारित प्रक्रियाका होगा जो कुछ आरम्भिक तथा सर्वसामान्य निर्देशनाओंसे बँधी है, बाकी सब कुछ जिनका ही परिणाम होता है परन्तु यह विश्व-वस्तुओंकी प्रथम प्रतीत मात्र है, दृश्य जगत्की छाप है जो हमें भौतिक विश्वके रूपसे मिलती है। फिर, यह धारणा है कि एक स्वतन्त्र अनन्त सत्, ईश्वर या परम है जो किसी न किसी प्रकार, किसी वस्तुमेंसे या शून्यमेंसे, यथार्थ या धारणागत सृष्टि करता है, या अपने-आपमेंसे अपनी इच्छा या माया या कर्मकी नियतिके जगत्को अभिव्यक्तिमें लाता है जिसमें सारी वस्तुएँ, सारे प्राणी, एक नियतिके, यान्त्रिक या बाह्य नियतिके नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक और आन्तरिक नियतिके शिकारकी तरह किसी अज्ञान-शक्ति या कर्म-शक्ति या नहीं तो किसी प्रकारकी यादृच्छिक पूर्वनियतिके शिकारकी तरह बँधे रहते हैं। और, अन्तमें यह धारणा है कि एक निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत् है जो सम्बन्धोंके विश्वको अवलम्ब देता, विकसित और अनुप्राणित करता है वह शक्ति ही हमारे अस्तित्वकी विश्वव्यापिनी अध्यात्म-सत्ता है, यह जगत् इन सम्बन्धों का क्रमविकास है, विश्वमें जो प्राणी हैं वे इन सम्बन्धोंको अध्यात्म-सत्ताकी किसी स्वतन्त्रताके आधारपर क्रियान्वित करनेवाले अन्तरात्मा हैं,—क्योंकि आन्तरिक रूपसे वे वही हैं,—परन्तु साथ ही वे सम्बन्धोंके नियमको अपनी स्वभाविक अवस्था

मानते हुए उनका पालन करते हैं।

यह नियम दृश्य जगत्‌में या उसके केवल बाह्य यन्त्र-विन्यासको सतहपर देखने-वाली दृष्टिमें नियतिकी एक प्रत्यक्ष श्रृंखला होता है, किन्तु वस्तुत: वह अध्यात्म-सत्ता-का जीवनके अन्दर स्वतन्त्र आत्म-निर्धारण होगा। स्वतन्त्र आत्मा और अध्यात्म-पुरुष भौतिक ऊर्जाकी सारी क्रियाको अनुप्राणित करता हुआ, उसकी निश्चेतनामें गुप्त रूपसे चेतन रहकर विद्यमान होगा; उसकी गतिविधि प्राणकी गतिविधि होगी और उसके पथ-प्रदर्शनका आन्तर तत्त्व भी; परन्तु उसकी उपस्थितिकी प्रथम खुली ज्योति-का कुछ अंश मनके अन्दर ही आयगा। प्रकृतिमें विकसित होता अन्तरात्मा, प्रकृतिर्जीव-भूता, उसका एक अमर आच्छन्न बल होगा जो अध्यात्म-सत्ताकी ज्योतिकी ओर और, फलतः, स्वतन्त्रताकी चेतना और वास्तवताकी ओर बढ़ रहा होगा। आरम्भमें वह प्रकृतिमें आबद्ध होगा और विवश रहता हुआ अपने सारे कार्योंमें कर्मकी प्रेरणाके पीछे चलेगा, क्योंकि सतहपर ऊर्जाकी क्रिया ही उसकी सक्रिय सत्ताका सारा सत्य होगी; विश्राम, स्वतन्त्रता, आरम्भण, ये भी हैं, परन्तु नीचे प्रच्छन्न हैं, अवगूढ़ हैं, और फलत: क्रियामें बिलकुल ही अभिव्यक्त नहीं हैं। मनमें भी कर्मकी क्रिया प्रधान तथ्य होगी; प्रत्येक वस्तु परिवेशपर क्रिया करती और उसके प्रभावोंको प्रत्युत्तर देती हमारी सक्रिय सत्ताकी शक्तिकी प्रकृति द्वारा और इन अभिक्रियाओं और प्रत्युत्तरों-के गुण-धर्मको रंग और आकार देती हमारी सक्रिय सत्ताके गुणकी प्रकृति द्वारा निर्धारित होगी। परन्तु वह शक्ति अन्तरात्माकी शक्ति है, वह गुण अन्तरात्माका गुण है, और अन्तरात्मा ज्यों-ज्यों अपने प्रति संविद् होगा, त्यों-त्यों स्वतन्त्रताकी चेतना उन्मज्जित होगी, अपने-आपको प्रस्थापित करेगी, आग्रह करेगी, एक दृढ़ रूपसे अनुभूत और अधिकृत वास्तविकता होनेकी ओर बढ़नेका प्रयत्न करेगी। अन्तरमें अध्यात्म-तत्त्वमें स्वतन्त्र, प्रकृतिमें सोपाधिक और निर्धारित, आध्यात्मिक ज्योति, प्रभुता और स्वतन्त्रता-को अपनी प्रथम स्वाभाविक अवस्थामें और उसके संकीर्ण निर्धारणोंकी तमोमयता और उलझनपर कार्य करनेके लिये बाहर लानेको अपने अन्तरात्मामें उद्योगशील,—यह मनोमय प्राणी मनुष्यका स्वरूप होगा।

इस आधारपर मनुष्यकी विवशता और मनुष्यकी स्वतन्त्रताके बीच, मनुष्यकी मन, प्राण और शरीरके यन्त्रमें चक्कर लगाती पार्थिव प्रकृति और उस स्वामी विश्वात्मा, परम देव, पृष्ठभागमें स्थित यथार्थ मानवके बीच जिसकी अनुमति या आज्ञा उसकी गतिविधियोंको अवलम्ब देती या उनपर शासन करती है, एक ऐसे स्पष्ट सम्बन्धको देखना हमारे लिये सम्भव हो जाता है जो पूरा परस्पर-विरोधका नहीं होता। मनुष्यका यह अन्तरात्मा विश्वको अभिव्यक्त करनेवाली स्वयम्भू सत्ताका ऊर्ज है, न कि किसी

यान्त्रिक प्रकृतिका प्राणी तथा दास, और केवल उसकी सत्ताके प्राकृतिक उपकरण ही मन, प्राण और शरीर और उनके क्रियाकलाप तथा अंग ही, उस यन्त्रके असहाय उपस्कर और सज्जा हैं। ये चीजें कर्मकी क्रियाके अधीन हैं, परन्तु मनुष्यके स्वरूपको देखें तो वह, अन्दरका यथार्थ मनुष्य, उसके अधीन नहीं, न कर्म लिप्यते नरे। बल्कि कर्म ही उसका उपकरण है और उसकी गतिविधियाँ उसके व्यवहारमें आती सामग्री हैं, और उसे वह निरन्तर, जन्म-जन्ममें, एक सीमित तथा वैयक्तिक व्यक्तित्वको घड़नेके लिये काममें ले रहा है जो एक दिन दिव्य तथा वैश्व व्यक्तित्व हो जा सकता है। कारण, शाश्वत अध्यात्म-पुरुष पूर्ण स्वतन्त्रताका भोक्ता है। यह स्वतन्त्रता निस्सन्देह हमें सारी सत्ताकी एक विशेष स्थिति, मूल या पृष्ठभूमिमें अस्तित्वके निरुपाधिक अनन्तके रूपमें प्रकट होती है, परन्तु विश्वके सम्बन्धमें यह एक ऐसे अस्तित्वकी स्वतन्त्रता है जो अनन्त सम्भावनाएँ प्रदर्शित करता है और जिसमें एक यह क्षमता है कि वह विश्वके सामंजस्योंको अपनी ही शक्यतामेंसे इच्छानुसार घड़े। मनुष्य भी, समस्त कर्म, मन तथा व्यक्तित्वके अवसान द्वारा, निरुपाधिक अनन्तके अन्दर मोक्ष पानेमें भली भाँति समर्थ हो सकता है। परन्तु यह अध्यात्म-पुरुषकी निरुपाधिक स्वतन्त्रताकी सम्पूर्णता नहीं, यह तो बल्कि एक अधूरी स्वतन्त्रता है, क्योंकि यह केवल अपने नैष्कर्म्य द्वारा टिकती है। परन्तु अध्यात्म-पुरुषकी स्वतन्त्रता इस प्रकार आश्रित नहीं; वह कर्मकी इस सारी क्रियाके बीच अक्षत रह सकती है और विश्वभँवरमें अपनी ऊर्जाओंके उँडेले जानेसे क्षीण या रद्द नहीं होती। किन्तु यह कहा जा सकता है कि मनुष्य इस द्वितीय स्वतन्त्रताका भोग नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य होनेके नाते वह वैयक्तिक प्राणी है और फलतः प्रकृतिगत वस्तु है, अज्ञान और कर्मके अधीन है। स्वतन्त्र होनेके लिये उसे वैयक्तिकता, प्रकृति तथा कर्ममेंसे निकल जाना ही होगा, और तब मनुष्यका अस्तित्व नहीं रह जाता, रह जाता है केवल निरुपाधिक अनन्त। परन्तु ऐसा कहना यह मानना है कि आध्यात्मिक वैयक्तिकताकी कोई क्षमता नहीं, अपितु केवल प्रकृतिमें वैयक्तिक होनेकी क्षमता रहती है। तब सब कुछ मानसिक, प्राणिक और शारीरिक कर्मकी एक ग्रन्थिकी रचना हो जाता है जिसके साथ लम्बे समयतक वह एक आत्मा भूलसे अपनी सत्ताको अहंके भ्रमके कारण एकात्म किये रहता है। परन्तु यदि, इसके विपरीत, अध्यात्म-पुरुषकी वैयक्तिक ऊर्जा जैसी कोई वस्तु है तो अवश्य ही, चाहे वास्तविकताकी जिस किसी भी मात्रामें क्यों न हो, स्वयम्भू परम देवकी संयुक्त शक्ति तथा स्वतन्त्रतामें उसका भाग रहेगा; क्योंकि वह उसीकी सत्ताकी सत्ता है।

हमारी सत्ता एवं कर्ममें स्वतन्त्रता कहीं पर है तो सही, और हमें केवल यह देखना है कि वह हमारी बहिर्प्रकृतिमें कैसे और क्यों सीमित है, हम यहाँ कर्मके किसी भी

शासनके नीचे क्यों हैं। हम बाह्य और आरोपित ऊर्जासे केवल इस कारण बँधे प्रतीत होते हैं कि हमारी बहिर्प्रकृति और हमारे अन्तरतम और आध्यात्मिक आत्माके बीच पार्थक्य है और उस बाह्ययतामें हम अपनी समूची सत्ताको साथ लेकर नहीं, अपितु अपनी ही एक आकृति, मोड़ और मानसिक रूपायणको लेकर रहते हैं जिसे हम अपना अहं या अपना व्यक्तित्व कहते हैं। जड़-स्थ विश्वात्मा भी इसी कारण बँधा प्रतीत होता है। उसने भौतिक ऊर्जाकी एक संपीडित क्रियाका, उस ऊर्जाके एक नियम और विन्यासका आरम्भ किया है जिसे अपने परिणाम खोलते जाते देना होगा; स्वयं वह अपने-आपको पीछेकी ओर रोके रखता है, अपने रूपित्र स्पर्शको छिपाये रखता है; परन्तु फिर भी उसकी अवलम्बदायिनी सहमति और प्रेरणा वहाँ रहती हैं और ज्यों-ज़्यों प्रकृति अपने-आपको प्राण तथा मनके सोपानमें उठाती है वह सहमति और प्रेरणा अधिकाधिक खुलेमें आती हैं। तथापि, हमें यह ध्यानमें रखना है कि मनमें भी, और उसकी सचेतन इच्छाके व्यापारमें भी, कर्म ही प्रथम नियम है और वहाँ हमारे लिये कोई पूरी स्वतन्त्रता नहीं हो सकती; मनकी पूर्णतया स्वतन्त्र इच्छा जैसी कोई वस्तु नहीं है। और ऐसा इसलिये है कि मन बाह्य अज्ञानकी क्रियाका, उस क्रियाका अंग है जो ज्ञानकी खोज तो करती है किन्तु उसके परिपूर्ण प्रकाश और वलपर अधिकार नहीं रखती, आत्मा, अध्यात्म-तत्त्व और अनन्तताकी धारणा तो कर सकती है और उन्हें प्रतिबिम्बित भी, परन्तु उनमें पूरा निवास नहीं कर सकती, अनन्त सम्भावनासे प्रकम्पित तो हो सकती है, परन्तु व्यवहार केवलं प्रतिबन्धित सम्भावनाओंके साथ और सीमित अर्ध-प्रभाविणी रीतिसे कर सकती है। अज्ञानको निर्बन्ध स्वामित्वकी अनुमति तो नहीं दी जा सकती; उसकी प्रकृतिके लिये यदि ऐसा स्वामित्व सम्भव हो तो भी नहीं। अज्ञानपूर्ण मन तथा इच्छाको व्यापक तथा यथार्थ स्वतन्त्रता देनेसे कभी भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि अध्यात्म-पुरुषने जिस ऊर्जाको कार्यमें लगाया है उसकी सही व्यवस्थाको वे अस्तव्यस्त कर देंगे और अति दुष्ट अव्यवस्था उत्पन्न कर देंगे। उन्हें आज्ञापालन-के लिये, या यदि वे विरोध करते हों तो विश्व-नियमकी प्रतिक्रियाको सहन करने-के लिये बाध्य करना होगा; उनकी एक आच्छन्न और ठोकर खाते ज्ञानकी आंशिक स्वतन्त्रताको, उसकी क्रिया और उसके परिणाम दोनोंमें, विश्वप्रकृतिके नियम द्वारा और कर्मके विन्यासों और परिणामोंका शासन करनेवाले द्रष्टा विश्वात्माकी इच्छा द्वारा निरन्तर अभिभूत करते रहना होगा। यह स्पष्ट तथ्य है कि यह निरुद्ध और अभिभूत की गयी क्रिया हमारी मनोमयी सत्ता तथा क्रियाका गुणधर्म है।

परन्तु तब भी यहाँ ऐसा कुछ है जिसे हम सापेक्षिक स्वतन्त्रता कह सकते हैं। वह यथार्थमें हमारे बाह्य मन तथा इच्छाकी वस्तु नहीं होती, न ही हमारी उस छायाकी

जिसे हमने अपने मनोमय अहमें व्यक्त किया है, क्योंकि ये वस्तुएँ उपकरण हैं और कर्मके अनुक्रमोंकी राहोंमें कार्य करती हैं। परन्तु फिर भी उन्हें एक शक्तिका अनुभव होता है जो निरन्तर बाहर आ रही है और या तो प्रकृतिकी क्रियाको अनुमति देती या उसमें हस्तक्षेप करती है, और उस शक्तिको वे अपनी शक्ति मान लेती हैं। उन्हें अपने कार्य-विन्यासमें एक सापेक्षिक स्वतन्त्रताका बोध होता है और उसके पीछे शक्यताके रूपमें अवश्य ही एक पूर्ण स्वतन्त्रताका भी और इन दो वस्तुओंको स्पष्ट न जानते हुए मन, अहं तथा इच्छा एकीबद्ध होकर घोषित करते हैं, "मैं स्वतन्त्र हूं।" परन्तु यह स्वतन्त्रता और शक्ति अन्तरात्मासे आये हुए प्रभाव हैं। परिचित दार्शनिक शब्दावलीका व्यवहार करें तो ये पुरुषकी अनुमति तथा इच्छाका प्रतिअंकन करते हैं जिसके बिना प्रकृति अपनी राहपर गतिशील नहीं हो सकती। इस अन्तरात्मिक प्रभावका पहला और अधिक बड़ा भाग प्रकृतिको दी गयी एक अनुमति, एक स्वीकृतिके रूपमें होता है, और इसका उचित कारण भी है। कारण, हम आरम्भ करते हैं वैश्व ऊर्जाकी क्रियासे, जिसे अध्यात्म-पुरुषने गतिशील किया है, और ज्यों-ज्यों हम अज्ञानसे ज्ञानकी ओर उठते हैं, जो पहली चीज हमसे माँगी जाती है वह यह है कि उसके नियमका और उस नियमके साथ हमारे सम्बन्धोंका अनुभव एकत्र किया जाय और इसलिये अंशत: स्वीकृति दी जाय, अपने-आपको चालित होने दिया जाय, गतिविधिकी प्रकृतिको देखा और जाना जाय, नियमको सहा जाय और उसका पालन किया जाय, कर्मको समझा और जाना जाय। यह आज्ञाकारिता निम्नतर और अज्ञानमयी सृष्टिपर बलपूर्वक लादी जाती है। परन्तु विचारधर्मी मनुष्य जो कि पीढ़ी-पीढ़ी करके और जन्म-जन्मान्तरमें वस्तुओंकी प्रकृतिका वर्द्धमान रूपसे अनुभव करता है और चिन्तनशील ज्ञानका और प्रकृतिमें स्थित अपने अन्तरात्माके बोधका विकास करता है, प्रकृतिमें एक प्रवर्तिका इच्छाकी शक्तिका संचार करता है। वह प्रकृतिकी नियत वास्तविकताओंसे बँधता नही, वह अनुमति देनेसे इनकार कर सकता है, और प्रकृतिमें जिस चीजको वह अनुमति नहीं दी जाती है वह निस्सन्देह कुछ समयतक कर्मके प्रवेगसे चलती रहती और अपने परिणाम उत्पन्न करती है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह चीज चलती जाती है, उसका बल क्षीण होता जाता है और वह अशक्तता तथा अप्रचलनकी स्थितिमें जा पड़ती है। मनुष्य इससे भी अधिक कर सकता है, वह अपनी प्रकृतिको एक नयी क्रिया और दिशाका आदेश दे सकता है। अन्तरात्माकी अनुमति उसके अनुमन्ता-रूपकी शक्तिकी अभिव्यक्ति थी, परन्तु यह शक्ति अन्तरात्माके ईश्वर-रूपकी, प्रकृतिका स्वामी होनेकी है। वहाँ प्रकृति तब भी न्यूनाधिक रूपमें अपनी भूतकालीन और अभ्यासगत राहका हठ अपने भूतकालके प्रवेग या पूर्वानुमतियोंके अधिकारके कारण करती है, और यह भी हो सकता

है कि नियन्त्रणके प्रति वह जितनी अनभ्यस्त रहती है उस अनुपातमें वह प्रतिरोध करे और विरोधी शक्तियोंको बुला ले जो हमारी अपनी ही सृष्टियाँ होती हैं, हमारी भूतकालीन इच्छाओंकी सन्तानें होती हैं। तब हमारी सत्ताके गृहमें स्वामी और उसकी पत्नीके बीच, नयी और पुरानी प्रकृतिके बीच, अन्तरात्माकी पराजय और विजयके लिये एक संग्राम होता है। और अवश्य ही यह एक स्वतन्त्रता है, परन्तु केवल एक सापेक्षिक स्वतन्त्रता है, और बड़ासे बड़ा मानसिक प्रभुत्व भी अपने उत्तम रूपमें सापेक्षिक तथा अनिरापद वस्तु ही होता है। एक उच्चतर स्थलसे देखें तो इस स्वतन्त्रतामें एक हल्के कर दिये गये बंधनसे कोई भिन्नता स्पष्ट नहीं दिखायी देती।

हमारे अन्दरका मनोमय पुरुष स्वतन्त्रताके विद्यालयमें शिक्षार्थी हो सकता है, पूर्ण दक्ष नहीं। यथार्थ स्वतन्त्रता तब आती है जब हम मनमेंसे निकलकर अध्यात्मतत्त्वके जीवनमें, व्यक्तित्वमेंसे निकलकर 'व्यक्ति' तक, प्रकृतिमेंसे निकलकर प्रकृतिके प्रभु तक चले जाते हैं। फिर, वहाँ भी प्रथम स्वतन्त्रता एक निष्क्रिय शक्ति होती है; उसका स्वरूप अनुमतिका होता है; वह एक प्रेक्षक और सारभूत स्वतन्त्रता होती है जिसमें सत्ताका सक्रिय अंग परमात्मा और उसकी विश्वव्यापिनी क्रियाशीलताका उपकरण होता है। परन्तु वहाँ अनुमति दी जाती है परमात्माकी इच्छाको, न कि प्रकृतिकी यान्त्रिक शक्तिको, और मनपर डाला जाता है आत्माकी ज्योति एवं शुचिताकी स्वतन्त्रताको, सम्बन्धोंके सही ज्ञानको और दिव्य क्रियाओंके प्रति एक स्पष्ट निःसंग अनुमतिको। परन्तु यदि मनुष्यको भी शक्तिकी, भाग लेनेकी, ईश्वर-पुत्रके रूपमें एक महत्तर दिव्य नियन्त्रणमें होनेवाली सहचारिताकी स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, तो उसे केवल मनसे पीछे ही नहीं चले जाना होगा, प्रत्युत अपने विचार और इच्छामें भी, मनःशक्तिके स्तरोंसे ऊपर खड़े होने होगा और वहाँ उत्तोलन-अवस्थानकी, एक आध्यात्मिक अवस्थानकी[2] प्राप्ति करनी होगी जहाँसे वह अपनी सत्ताके जगत्को प्रभुतासे चालित कर सकेगा। चेतनाका ऐसा अवस्थान हमारे अतिमानसिक क्षेत्रोंमें है। जब जीव केवल चेतनाके सारतत्त्वमें और सत्ताके आध्यात्मिक सत्यमें ही नहीं, अपितु चेतना एवं सत्ताको व्यक्त करनेवाले क्रियाकलापमें भी परम और विश्वव्यापीके साथ एक हो जाता है, जब वह आध्यात्मिक इच्छा तथा ज्ञानके प्रवर्तक और संयोजक सत्यका और ईश्वर तथा जीवनमें अन्तरात्माके उमड़ आते आनन्दका भोग करता है, जब वह आत्मा और उसकी सृष्टिशीला स्वतन्त्रताकी, आत्म-सत्ता एवं आत्माभि-

---

[2] एक "खड़े होनेका स्थल", वह उत्तोलन-अवस्थान जहाँसे आर्किमेदसने जगत्को चलानेका बीड़ा उठाया था, यदि उस स्थलको वह पा भर सकता।

व्यक्तिमें एक शाश्वत आह्लादके[3] सुरको दी गयी अध्यात्म-पुरुषकी अनुमतिकी परिपूर्णतामें प्रवेश पाता है, तब कर्म हो जाता है स्वतन्त्रताका छन्द और जन्म अमरत्वका सुर।

[3] संभूत्या अमृतम् अश्नुते, "जन्मके द्वारा वह अमरत्व भोग करता है"

दस

कर्म, इच्छा और परिणाम

इच्छा, कर्म और परिणाम विश्व-चालिका ऊर्जाके तीन डग हैं। परन्तु कर्म और परिणाम तो इच्छाके उत्पादन मात्र या उसके रूप ही हैं; इच्छा ही उन्हें उनका महत्त्व देती है और उसके बिना वे कुछ भी नहीं होते, कमसे कम, मनुष्यके लिये कुछ भी नहीं होते जो कि विचारधर्मी तथा विकसनशील अन्तरात्मा है, और यह कल्पना की जा सकती है कि मनुष्य जिस अध्यात्म-सत्ताकी लौ और बल है और साथ ही जिसकी सृष्ट वस्तु है, उसके लिये भी कुछ नहीं होते। जब हम विश्वके बाह्य यन्त्र-न्यासपर दृष्टिपात करते हैं तब जो पहली चीज हमें दीखती है या जिसके दीखनेकी हम कल्पना करते हैं वह है ऊर्जा और उसकी कृतियाँ, कर्म और परिणाम। परन्तु यह क्रियाकलाप यदि अकेला हो, उसमें अधिवासिनी इच्छाका प्रकाश न हो, तो वह केवल एक बृहत् अन्तरात्माविहीन यन्त्र-क्रिया है, अराल और घिरनीका जोर जोरसे खड़खड़ाना, स्प्रिंग और पिस्टनका विपुल धमाका है। अध्यात्म-सत्ता और उसकी इच्छाकी विद्यमानता ही कर्मको सार्थक करती है और जीवके लिये परिणामका जो मूल्य रहता है वही सारे बड़े या छोटे परिणामोंको उनका गहरा महत्व देता है। ये सूर्य और मंडल यदि चेतनाका क्षेत्र नहीं हों जहाँ वह चेतना अपनी शक्तिधाराओंको प्रवाहित करती, अपने क्रियाकलापका उन्मेष करती, अपनी सृष्टियोंका रस लेती, योजनाएँ बनाती और अपने विशाल लक्ष्यों एवं परिणामोंमें आनन्द लेती है, तो यदि यह वैश्व हलचल कलको समाप्त हो जाय या इसकी कभी भी सृष्टि नहीं हुई होती, तो किसीके भी लिये या किसी भी वस्तुके लिये, स्वयं विश्वके लिये भी, इसका कोई महत्त्व नहीं होता। अध्यात्म-सत्ता, उसकी चेतना, शक्ति तथा आनन्द ही जीवनका अर्थ हैं। इस आध्यात्मिक सार्थक्यको हटा देते ही ऊर्जाका यह जगत् एक यान्त्रिक संयोग या अन्धी कठोर माया हो जाता है।

मनुष्यका जीवन इस बृहत् सार्थक्यका अंश है, और चूँकि इस भौतिक स्तरपर यह सार्थक्य अपनी अर्थवत्ताकी पूरी क्षमतामें मनुष्यमें ही व्यक्त होता है, वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय अंश है। विश्वगत 'इच्छा' अपनी ऊर्जाके सर्जनशील डगोंमें मनुष्यतक बढ़ती है और उसकी प्रकृतिको देव-रथ बना देती है जिसपर वह कर्मके अन्दर खड़ी होती है, अपनी कृतियोंका अवलोकन केवल प्रकृतिके कार्योंके पीछे या ऊपरसे

ही करना छोड़कर, ठीक सामनेसे करती है और अन्तिम परिणामकी ओर तथा अपने उद्देश्यके पूरे क्रमविकासकी ओर आगे बढ़ती जाती है। मनुष्यकी इच्छा भौतिक सृष्टिमें 'शाश्वत' के गुप्त अभिप्रायके अनावरणके लिये उसका साधन है। मनुष्यका मन समस्याकी सारी गुत्थियोंको लेता और अपने अन्तःस्थ अध्यात्म-तत्त्वके बलसे उन्हें हल करता और उनके वैयक्तिक तथा वैश्व समाधानोंकी पूरी शक्ति और मात्राके समीपतर लाता है। यही उसकी महिमा और महत्ता है, और उसके जन्म, उसके कर्म, उसके प्रस्थान और पुनर्जन्मको सार्थक्य और पूर्ण मूल्य पानेके लिये इसके अलावा किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता भी नहीं। जन्ममें यह लौट लौट आना तब तक होता जायगा,—और इसमें दुःख करने या इससे दूर हटनेकी क्या बात है ?——जब तक कि उसके अन्दर 'शाश्वत' का कार्य पूर्ण न हो जाय या युगचक्र अपने श्रमकी महिमासे विश्राम न ले लेवें।

जगत्के विषयमें यह दृष्टि वह दृष्टिकोण है जिससे हमें मनुष्यकी चेतन इच्छा और जीवनके प्रति उस इच्छाके व्यवहारोंके प्रश्नको देखना होगा, क्योंकि तब सारी चीजें अपने स्वभाविक स्थानमें आ जायँगी और हम बढ़ाचढ़ाकर या घटाकर किये जाते आकलनोंसे बच जायँगे। मनुष्य 'शाश्वत' का चेतन जीव है, अपनी अन्तरतम सत्तामें 'अनन्त'के साथ एक है, और उसमें अन्तःस्थ अध्यात्म-पुरुष उसके कार्यों और उसकी भावीका स्वामी है। क्योंकि भावी है fatum[1] कार्य और सृष्टिका वह रूप जिसके लिये उसके और विश्वके अन्दरकी एक 'इच्छा'ने पहलेसे घोषित कर रखा है कि वही वह वस्तु है जिसे करना है, पाना है, क्रियान्वित करना है, और मनुष्यकी आध्यात्मिक सत्ताकी स्वाभिव्यक्ति बनाना है। भावी है अदृष्ट ; वह वह वस्तु है जिसे अध्यात्म-पुरुष अपनी दृष्टिकी योजनामें छिपाये रखता है, वह वह परिणाम है जो क्षण विशेषके कार्यमें निमग्न श्रमरत मनके लिये कालकी अवगुण्ठित समीपता या उसके दूरके अदृश्य प्रदेशोंके कारण छिपा रहता है। भावी है नियति जिसकी इच्छा और क्रियान्विति प्रकृतिने, जो कि अध्यात्म-पुरुषकी शक्ति है, अपनी स्व-शासित क्रियाओंके स्थिर निर्धारित नियमके अनुसार की है। परन्तु चूँकि यह 'शाश्वत' एवं 'अनन्त', हमारा महत्तर 'आत्मा', विश्व-सत्ता भी है, अतः विश्वमें रहनेवाला मनुष्य अस्तित्वके बाकी सारे भागके साथ अविच्छेद्य रूपसे एक है; और यद्यपि मनुष्यकी वैयक्तिकताके केन्द्र पर या उसके व्यक्तिगत उद्धारके लक्ष्यपर अत्यधिक बल देनेवाले विचार या धर्मोंके मनपर ऐसी छाप पड़ सकती है, तथापि वास्तवमें वह कोई ऐसा जीव नहीं जो अपने विलग आध्यात्मिक नियति कौर स्वभावको कार्यान्वित कर रहा हो, जब कि अन्य सारे

---

[1] लैटिनका एक शब्द जिसका अर्थ भविष्य-कथन होता है। (अनु०)

सत्ताएँ उसके परिवेश और साधन या विघ्न होनेके अतिरिक्त और कुछ न हों—ये चीजें ये सब तो हैं ही, परन्तु उसके लिये अधिक बहुत कुछ भी हैं। मनुष्य अवश्य ही विश्वका अंश मात्र नहीं। वह वह शाश्वत जीव है जो अपनी बाह्य चेतनामें कुछ कालिक उद्देश्योंके लिये परिसीमित है, फिर भी जिसे इन परिसीमाओंमेंसे अपना अभिवर्द्धन करना सीखना है, विश्वप्राण और विश्वातीत शाश्वत अध्यात्म-पुरुषके साथ अपना एकत्व प्राप्त करना और उसे प्रभावी बनाना है। यही आध्यात्मिक आवश्यकता धार्मिक मतके पीछेका सत्य है।

परन्तु मनुष्य ईश्वर और प्रकृतिमें विश्वके सारे प्राणियोंके साथ भी एक है; वह सारे अन्य जीवोंका स्पर्श करता और उन्हें अन्तर्विष्ट करता है, सत्-पुरुषकी इस वैश्व क्रियामें अभिव्यक्त सारी शक्तियोंके साथ संयुक्त है। उसके अन्तरात्मा, विचार, इच्छा और कर्मका वैश्व अन्तरात्मा, विचार, इच्छा तथा कर्मसे अन्तरंग सम्बन्ध है। सब कुछ उसपर और उसके द्वारा क्रिया करता और उसके साथ मिश्रित होता है और वह भी सबपर क्रिया करता है और उसके विचार, इच्छा और कर्म उस एक सार्वजनीन जीवनमें मिश्रित होते और उसीकी एक शक्ति हो जाते हैं। उसका मन विश्वमनका एक रूप और कर्म है। उसे केवल अपनी ही वृद्धि और पूर्णता और प्राकृतिक नियति या आध्यात्मिक स्वतन्त्रतासे व्यस्त रहने और सम्बन्ध रखनेके लिये आह्वान नहीं किया गया है। उसपर एक विशालतर कर्मका भी दावा है। वह एक विश्व-कर्ममें कार्य करता है; दूसरोंका जीवन उसका जीवन है; जगत्-परिणाम और जगत्-विकास भी उसका कार्य हैं। कारण, उसका आत्मा अन्य सारे भूतोंके आत्माओंके साथ एक है।

कर्म और परिणामके साथ हमारी इच्छा-शक्तिके व्यवहारोंको मनुष्यकी वैयक्तिकता और मनुष्यकी विश्वव्याप्तिके इस सत्य-द्वयके प्रकाशमें देखना होगा। और इस प्रकाशमें देखनेपर हमारी वैयक्तिक इच्छाका प्रश्न एक दूसरा रूप ले लेता है। यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अहं, हमारा बाह्य व्यक्तित्व, हमारी सत्ताका केवल एक गौण, एक कालिक, एक उपकरणात्मक रूप हो सकता है। अहंकी इच्छा, व्यक्तिकी बहिर्मुखी और मानसिक इच्छा जो कि गति-धारामें कार्य करती है, स्वतन्त्राके किसी सम्पूर्ण या पृथक् अर्थमें स्वतन्त्र नहीं हो सकती। उसे यह स्वतन्त्रता नहीं हो सकती क्योंकि वह अपनी आंशिक और सीमित प्रकृतिसे बँधा हुआ और अपने अज्ञानके यन्त्र-विन्याससे घड़ा हुआ है, और इस कारण भी कि वह विश्व-ऊर्जाका एक व्यष्टि-रूप और व्यष्टि-क्रिया है और प्रत्येक क्षण परिवेशकी इच्छाएँ, बल और शक्तियाँ उससे टकराती रहती, उसे बदलती और बड़े परिमाणमें घड़ती रहती हैं। परन्तु उसे यह स्वतन्त्रता इसलिये भी नहीं हो सकती कि हमारे अन्दर मनके पीछे वह महत्तर

विश्वात्मा है जो कार्य और परिणामको अपनी सत्तागत और प्रकृतिगत इच्छाके अनुसार, अपनी सत्ताकी शक्तिके अनुसार निर्दिष्ट करता है,—क्षण विशेषमें नहीं, अपितु कालकी अविच्छिन्नताओंमें; केवल परिवेशके प्रति तात्कालिक अनुकूलन द्वारा नहीं, अपितु अपने उस पूर्व-अभिप्राय द्वारा जिसने कि परिवेशको घड़ा है और जो वर्तमान कार्य तथा परिणामको बड़े अंशमें पूर्वनिर्दिष्ट कर चुका है। जीवके अन्दर वह आन्तरिक इच्छा जिसका उस शक्तिके साथ अन्तरंग सम्बन्ध है, यथार्थ इच्छा है और यह बाह्य वस्तु केवल क्षण-क्षणके क्रियान्वयनके लिये एक उपकरण है, कर्मके यन्त्र-विन्यासकी एक कमानी है। उस आन्तरिक इच्छातक वापस जानेपर हम पाते हैं कि वह स्वतन्त्र इच्छा है, वह पृथक् स्वतन्त्रताके कवचसे सज्जित नहीं, अपितु सारे जीवों ओर सारी घटनाओंमें प्रकृतिको निर्देशित तथा बाध्य करनेवाले अध्यात्म-पुरुषकी स्वतन्त्रताके साथके सामंजस्यमें स्वतन्त्र है। इस बातको हमारा बहिर्मुख मन आसानीसे नहीं देख सकता, क्योंकि वह जिस व्यावहारिक सत्यको अनुभव करता है वह प्रकृतिकी ऊर्जा है जो एक साथ ही हमपर बाहरसे क्रिया करती और अन्दरसे हमारी क्रियाको भी घड़ती है और स्वयं प्रकृतिपर भी मानसिक इच्छा द्वारा, जो कि उसका उपकरण है, प्रतिक्रिया करती है जिससे वह ऊर्जाके कर्म और आगेके परिणामके लिये अपनी आत्म-गढ़नको चालू रखती है। फिर भी हमें एक आत्माका बोध होता है और इस आत्माकी विद्यमानता हमारे मनपर यह भाव आरोपित करती है कि ऐसा कोई है जो इच्छा करता है, ऐसा कोई है जो प्रकृतिको भी घड़ता है और परिणामके लिये उत्तरदायी है।

समझ सकनेके लिए हमें क्षण विशेषके कर्म और इच्छा और उसके तात्कालिक परिणामोंपर ही एकान्तिक रूपसे केन्द्रित होना छोड़ देना होगा। हमारी वर्तमान इच्छा और व्यक्तित्व बहुत सारी चीजोंसे, हमारी शारीरिक और प्राणिक आनुवंशिकतासे, हमारी मनःप्रकृतिकी भूतकालीन रचनासे, परिवेशकी शक्तियोंसे, परिसीमनसे अज्ञानसे आबद्ध हैं। परन्तु पृष्ठभागमें रहनेवाला हमारा अन्तरात्मा हमारे वर्तमान व्यक्तित्वसे महत्तर और अधिक वृद्ध है। अन्तरात्मा हमारी आनुवंशिकताका परिणाम नहीं, प्रत्युत उसीने अपने कर्म और रुचियों द्वारा इस आनुवंशिकताको प्रस्तुत किय है। परिवेशकी इन शक्तियोंको उसीने विगत कर्म तथा परिणाम द्वारा अपने चारों ओर खींचा है। अन्य जीवनोंमें उसीने उस मनःप्रकृतिकी रचना की है जिसका व अभी उपयोग कर रहा है। उस पुरातन, दीर्घकालीन, शाश्वत सत्ताशाली अन्तरात्माने —पुरुषः पुराणः सनातनः,—बाह्य परिसीमनको, बाह्य अज्ञानको, एक साधनके रूपमें स्वीकार किया है जिससे वह क्षण-क्षणके कर्मके प्रतिबन्धके अन्तर्गत अपनी अनन्तताके अर्थ और अपनी शक्ति-कृतियोंके परिणाम-क्रमको रूपायित कर सके। इस ज्ञानमें

निवास करना क्षण विशेषकी इच्छा तथा कर्मके मूल्य और ओजको छीन लेना नहीं, प्रत्युत उसे एक अति विशाल रूपसे वर्द्धित अर्थ तथा महत्त्व देना है। तब प्रत्येक क्षण अनन्त वस्तुओंसे भर जाता है और हम देख सकते हैं कि वह एक भूतकालीन नित्यताके कार्यको हाथमें ले रहा और एक भावी नित्यताके कार्यको गढ़ रहा है। हमारे प्रत्येक विचार, इच्छा और कर्म अपने साथ अपनी भावी आत्म-निर्देशनाका बल अपने साथ लिये चलते हैं और हमारे चारों ओरके लोगोंके आध्यात्मिक विकासक्रमके लिये भी सहायता या बाधा होते हैं और विश्व-क्रियाकलापमें एक शक्ति भी। कारण, हमारा अन्तरात्मा दूसरोंसे प्राप्त प्रभावोंको अपनी आत्म-निर्देशनाके लिये अन्दर लेता और अपने प्रभावोंको बाहर करता है जिन्हें दूसरोंका अन्तरात्मा उनके वर्द्धन तथा अनुभवके लिये व्यवहृत करता है। हमारा वैयक्तिक जीवन अपने-आपमें एक अत्यंत महत्तर वस्तु हो जाता है और उसे विश्वकी चालके साथ एक स्थायी एकत्वका आश्वासन भी प्राप्त हो जाता है।

और कर्म तथा परिणाम भी विशालतर अर्थ प्राप्त करते हैं। अभी हम क्षण विशेषकी विशेष इच्छा और कर्मका और समय विशेषके विशेष परिणामका मूल्य अत्यधिक लगाते हैं। परन्तु विशेषको अपना मूल्य केवल उस 'सर्व' से ही मिलता है जिसका वह अंग है, जिससे वह आता है, जिसकी ओर वह गतिशील है। हम कर्म और परिणामकी बाध्यताओंका, इस अच्छे या उस बुरे कर्मका और कर्मके परिणामका भी मूल्य अत्यधिक लगाते हैं। परन्तु अन्तरात्मा जिस यथार्थ परिणामके पीछे लगा है वह है अपनी सत्ताकी अभिव्यक्तिका वर्द्धन, अपनी शक्तिके प्रसार तथा क्रियाका अभिवर्द्धन, अपनी सत्ताका आनन्द, अपनी सृष्टि तथा आत्म-सृष्टिका आनन्द और यह सब केवल अपने सम्बन्धमें ही नहीं, अपितु दूसरोंके सम्बन्धमें भी जिनके साथ उसकी महत्तर संभूति तथा हर्ष एक हैं। कर्म और परिणामका अन्तरात्माके लिये जो मूल्य है उसीसे वे सार्थक होते हैं; वे वे डग हैं जिनसे अन्तरात्मा अपनी अभिव्यक्त प्रकृतिकी पूर्णताकी ओर बढ़ता है। और जब यह लक्ष्य जीत लिया जाता है तब भी हमें कर्म बन्द कर देनेकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसका मूल्य बना रहेगा और वह इन सारे दूसरोंके लिये, जिनके साथ हम आत्मामें एक हैं, सहायताकी एक महत्तर शक्ति होगा। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्वतन्त्रता एवं अनन्तताके प्रति चेतन हुए जीवके लिये उसका कोई अपना मूल्य नहीं होता, क्योंकि हमें कौन समझा सकेगा कि हमारी अनन्तता केवल एक शाश्वत पूर्णविराम, एक अन्तहीन विश्राम, एक अनन्त अवसान है? बल्कि कहीं अधिक, अनन्तताको अनन्त स्वाभिव्यक्तिके लिये नित्य समर्थ रहना चाहिये।

अन्तरात्माके जन्म सतत आध्यात्मिक विकासक्रमकी अवली हैं, और ऐसा

भली भाँति लग सकता है कि जब विकासक्रम समाप्त हो जायगा, और आरम्भमें ऐसा लग सकता है कि जब अज्ञानमें लीन जीव आत्म-ज्ञानकी ओर वापस आता है, तब विकासक्रम अवश्य ही समाप्त हो जायगा, तब हमारे जन्मोंकी अवलीकी भी समाप्ति आ जायगी। परन्तु यह इस विषयका केवल एक पहलू है, शाश्वत नाटकका, कर्मका केवल एक लम्बा अंक है। हम जो अध्यात्म-पुरुष हैं वह केवल शाश्वत चेतना एवं शाश्वत सत्ता नहीं है; उसके गुण-धर्म हैं सत्ताकी शाश्वत शक्ति और शाश्वत आनन्द। अध्यात्म-पुरुषके लिये सृष्टि कष्ट या वेदना नहीं, प्रत्युत वह व्यक्त आनन्द है जो फिर भी अपनी गहराइयोंकी समग्रतामें अप्रगटनीय, अगाध, अनन्त, अक्षय है। यह तो आधिपत्य और अन्वेषणाके लिये श्रमशील और प्रच्छन्न अध्यात्म-शक्तिको पानेमें असमर्थ अज्ञानगत मनकी सीमित क्रिया ही है जो कर्म एवं सृष्टिके आनन्दको रागावेश या कष्ट बना देती है: कारण, सामर्थ्यमें सीमित रहकर और शरीर तथा प्राणकी कठिनाई सहकर भी उसे अपने सामर्थ्यसे परेकी अभिलाषाएँ रहती हैं, क्योंकि वह एक प्रगतिका उपकरण है, एक असीम्य स्वाभिव्यक्तिका वीज है और उसे विकासका कष्ट, बाधाका कष्ट और अपने कर्म तथा आनन्दकी अपर्याप्तताका कष्ट मिलते हैं। परन्तु यह संघर्षशील आत्म-स्रष्टा और कर्म-कर्त्ता एक बार अन्तरके गुप्त अनन्त अध्यात्म-तत्त्वकी चेतना तथा शक्तिमें विकसित हो जाय तो यह सारा रागावेश और कष्ट प्रमुक्त सत्ता और उसके प्रमुक्त कर्मके अपरिमेय आनन्दमें विलीन हो जाता है।

यह बौद्ध ज्ञान कि कर्म और कष्ट अपृथक्य हैं, जिसके कारण बुद्ध 'होने' की इच्छाको, जीवनकी इच्छाको बुझानेके उपायकी खोजमें प्रवृत्त हुए, प्राथमिक और आंशिक प्रतीति ही है। कष्टका उपचार है आत्माको पाना, क्योंकि आत्मा है अनन्त अधिकार और पूर्ण तुष्टि। परन्तु आत्माको निर्वाणमें पाना आध्यात्मिक विकासक्रमका समूचा अर्थ नहीं, बल्कि उसे उसकी 'होने'की शक्तिमें भी पाना होगा, कारण, सत्ता केवल शाश्वत स्थिति ही नहीं, अपितु शाश्वत गति भी है, केवल विश्राम ही नहीं, अपितु कर्म भी है। एक आनन्द विश्राम का है, और एक आनन्द कर्मका है, परन्तु अध्यात्म-सत्ताकी समग्रतामें ये दोनों चीजें विपरीत नहीं रह जातीं, वरन् एक तथा अपृथक्य हो जाती हैं। अध्यात्म-पुरुषकी स्थिति शाश्वत स्थिरता है, परन्तु जगत्-सत्तामें उसकी स्वाभिव्यक्ति भी आदि या अन्तसे रहित है, क्योंकि शाश्वत शक्तिका अर्थ है शाश्वत सृष्टि। हमें जब एककी प्राप्ति होती है तो उसके प्रतिपक्ष और परिणामको गँवा देनेका आवश्यकत नहीं। नींवतक पहुँचनेका अर्थ ऊपरकी रचनाके सारे सामर्थ्यको नष्ट कर देना नहीं नहीं होता।

कर्म क्रियागत अध्यात्म-पुरुषकी इच्छाके अतिरिक्त और कुछ नहीं, परिणा

इच्छाकी सृष्टिके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जो सत्ताकी इच्छामें है वह कर्म और परिणाममें व्यक्त होता है। इच्छा जब मनमें परिसीमित होती है तब कर्म बन्धन और परिसीमनकी तरह प्रकट होता है, परिणाम प्रतिक्रिया या आरोपकी तरह। परन्तु जब सत्ताकी इच्छा अध्यात्म-पुरुषमें अनन्त हो जाती है तब कर्म और परिणाम भी बदलेमें हो जाते हैं सृजनशील अध्यात्म-पुरुषका हर्ष, शाश्वत यान्त्रिकका निर्माण, शाश्वत कविका शब्द और नाटक, शाश्वत संगीतका स्वर-सामंजस्य, शाश्वत शिशुकी क्रीड़ा। यह न्यूनतर, आबद्ध, प्रतीयमानतः पृथक् विकासक्रम अध्यात्म-पुरुषकी उसके अपने असीम्य आनन्दसे की गयी मुक्त आत्म-सृष्टिमें एक डग मात्र है। हम जो कुछ हैं और करते हैं उसके पीछे यही है, उसे मनसे छिपाना और धीरे-धीरे अस्तित्व तथा कर्मके पुरोभागमें आगे ले आना ही प्रकृतिके साथ पुरुषकी वर्तमान क्रीड़ा है।

ग्यारह

पुनर्जन्म और कर्म

कर्मका प्राचीन विचार इस विश्वाससे अपृथक्य था कि अन्तरात्मा नये शरीरोंमें अविराम पुनर्जन्म लेता रहता है। और इन दोनोंका यह घनिष्ठ साहचर्य कोई सांयोगिक घटना ही नही, वरन् ऐसे दो सम्बन्धित सत्योंका एक बिलकुल ही बोधगम्य और वस्तुतः अनिवार्य मिलन था जो एक दूसरेकी सम्पूर्णताके लिये आवश्यक रहते हैं और जिनका पृथक् होकर रहना कठिन होता है। ये दो चीजें एक ही और उसी वैश्व क्रमका अन्तरात्मा-रूप और प्रकृति-रूप हैं। कर्मके विना पुनर्जन्म अर्थहीन है, और कर्म यदि अन्तरात्माके अविच्छिन्न अनुभवके सिलसिलेके लिये उपकरण न हो तो कर्मके लिये न तो अनिवार्य उत्पत्तिका कोई उत्स रह जाता है, न नैतिक तथा युक्तिसंगत आधार ही। यदि हम विश्वास करते हों कि अन्तरात्मा शरीरमें वारबार जन्म लेता है तो हमें यह भी मानना होगा कि पहलेके जीवनों और बादके जीवनोंके बीच भी कोई कड़ी अवश्य होगी और अन्तरात्माके अतीतका प्रभाव उसके भविष्यपर पड़ता है; और यही कर्मके विधानका आध्यात्मिक सार है। इसे नहीं मानना अति अराजक असम्बद्धताका राज्य प्रतिष्ठित करना होगा, जैसा कि हमें स्वप्नमें मनकी कूदों और घुमावोंमें या पागल अवस्थाके विचारोंमें या वहाँ भी शायद ही मिलता है। और यदि यह जीवन, जैसा कि विश्व-निराशावादी कल्पना करते है, स्वप्न या भ्रम हो, या जैसा शोपनहॉवरने कहा था, उससे भी बुरा हो, अन्तरात्माका उन्माद और पागलपन हो, तो हम अर्थहीन परिणामका कोई ऐसा विधान मान ले सकते हैं। परन्तु इस जीवन-जगत्को यदि उसके बुरेसे बुरे रूपमें लें तब भी वह स्वप्न, भ्रम और पागलपनसे भिन्न रहता है, क्योंकि उसमें महीन, जटिल और सूक्ष्म क्रमोंकी योजना है, उसकी विसंगतियाँ भी सहसम्बद्ध और उपयोगी हैं, उसके सम्बन्धोंमें एक सर्वसामान्य और विशेष सामंजस्य है, और भले ही वह हमारा अभीष्ट सामंजस्य नहीं हो, हमारी अभिलाषाका आदर्श सामंजस्य नहीं हो, तो भी प्रत्येक बिन्दुपर उसमें एक क्रियारत प्रज्ञा और भावकी छाप है; यह कार्य किसी फटेहाल मन या बिगड़े यन्त्रका नहीं। पुनर्जन्ममें अन्तरात्माके अविच्छिन्न अस्तित्वको एक विकासक्रमका,——यदि आत्माके विकासक्रमका नहीं भी, क्योंकि उसे अपरिवर्तनीय कहा जाता है, तो उसके अधिक बहिर्मुख और सक्रिय अन्तरात्मा या अनुभव-आत्माके विकासक्रमका सूचक तो होना ही चाहिए। और यह विकासक्रम

सम्भव नहीं यदि जीवन-जीवनान्तरोंमें कोई सम्बद्ध सिलसिला न हो, अन्तरात्माके लिये कर्म तथा अनुभवका परिणाम न हो, क्रमवैकासिकी परिणामशीलता न हो, कर्मका विधान न हो।

अब कर्मकी बातलें और यदि हम उसका कोई खंडित अर्थ न लेकर समूचा अर्थ लें तो उसकी क्रियाके पर्याप्त क्षेत्रके लिये हमें पुनर्जन्मको स्वीकार करना ही होगा। कारण, कर्म ठीक कारण और परिणामके किसी भौतिक या वास्तविक नियम-जैसी, किसी पूर्ववर्ती और उसके यान्त्रिक परिणाम-जैसी वस्तु नहीं। वैसी अवस्थामें ऐसे कर्मका समावेश पूर्णतया हो सकेगा जिसे कालमें सम्पादित किया जा सकेगा और शक्तियोंके सन्तुलनके कार्यान्वयन द्वारा परिणाम अपने यथोचित स्थानमें, अपनी न्याय्य मात्रामें निश्चित रूपसे आयँगे, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे किसी भी तरह अपने प्रवर्तक मनुष्यको स्पर्श करें जो कि अपने कर्मोंके परिणामकी अभिव्यक्ति होनेतक दृश्यमंचसे विदा हो चुका होगा। यान्त्रिक प्रकृति पिताओंके पापोंका फल उन्हें न चखाकर उनकी चौथी या चार सौवीं पीढ़ीको अच्छी तरह चखा सकती है, जैसा कि यह भौतिक प्रकृति वस्तुतः करती भी है; और यहाँ अन्यायकी आपत्ति या कोई अन्य मानसिक या नैतिक आपत्ति भी नहीं उठ सकती, क्योंकि यन्त्र-विन्यासका एकमात्र न्याय या सार्थक्य यह है कि वह अपनी संरचनाके विधानानुसार और अपनी क्रियारत शक्तिकी निर्धारित सम्भाव्यताके अनुसार कार्य करेगा। हम उससे किसी मनकी या नैतिक साम्य या किसी प्रकारके अतिभौतिक उत्तरदायित्वकी माँग नहीं गर सकते। विश्व-ऊर्जा अपने प्रभावोंको निश्चेतन रूपसे पीस निकालती रहती है और व्यक्तिगण उसकी क्रियाके आकस्मिक या गौण साधन मात्र हैं; और यदि कोई अन्तरात्मा हो ही तो भी अन्तरात्मा प्रकृतिके क्षेत्र-विन्यासका अंग मात्र होता है, उसका अस्तित्व अपने लिये नहीं, अपितु प्रकृतिके धन्धेके लिये उपयोगिताके रूपमें होता है। किन्तु कर्म किसी पूर्ववर्ती और परिणामके यान्त्रिक नियमकी अपेक्षा अधिक कुछ है। कर्म है क्रिया, कोई वस्तु की जाती है और एक करनेवाला होता है और एक क्रियाशील परिणाम होता है, ये तीन ही कर्मके संयोजनके तीन जोड़, तीन संधियाँ हैं। और यह एक जटिल मानसिक, नैतिक और स्थूल क्रिया होती है, क्योंकि उसका नियम कर्त्ताके लिये उसके कार्यके स्थूल परिणामकी अपेक्षा मानसिक और नैतिक परिणामके सम्बन्धमें कम सत्य नहीं होता। इच्छा और भाव कार्यकी चालिका शक्ति हैं, और प्रवेगका आगमन हमारे रसायनिक परमाणुओंमें किसी हलचलके होनेसे या विद्युदणों और विद्युदकणोंकी किसी क्रियासे या किसी अनोखी जैविक बुदबुदाहटसे नहीं होता। अतः कार्य औरपरिणामका इच्छा तथा भावसे कोई सम्बन्ध अवश्य होगा और वह इच्छा तथा भाव जिस

अन्तरात्माके होंगे उस अन्तरात्माके लिये कोई मानसिक और नैतिक परिणाम अवश्य होगा। अब यदि हम व्यक्तिको वास्तविक सत्ता मानते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि उसके लिये कार्य तथा परिणामकी एक अविच्छिन्नता है और पुनर्जन्म इस क्रियाका क्षेत्र है। यह स्पष्ट है कि हम एक ही जीवनमें उस जीवनके सारे अर्थों और क्षमताओंको चरितार्थ और निःशेष नहीं कर देते, न कर ही सकते हैं, प्रत्युत केवल भूतकालके धागेको आगे चलाते हैं, वर्तमानमें कोई चीज बुन डालते हैं, भविष्यके लिये कहीं अधिक अमेय रूपसे तैयारी करते हैं।

यदि विश्वका केवल सर्वान्तरात्मा ही हो तो पुनर्जन्मका यह परिणाम कर्मके प्रकृति मात्रसे नहीं निकलता। कारण, तब वह सर्वान्तरात्मा ही अपने अतीतके कोटि-कोटि रूपोंमें चलाता जा रहा होगा, किसी वर्तमान कार्यको कार्यान्वित कर रहा होगा, परिणामके किसी भावी बानेके लिये कर्मका सूत कात रहा होगा। तब व सर्वान्तरात्मा ही प्रवर्त्तक होगा, कर्मकी शक्तिका धारयिता होगा, परिणामकी वाप आती शक्तिको ग्रहण और निःशेष करेगा या आगेके उपयोगोंके लिये फिरसे हाथ लेगा। वह ये सारी चीजें अपनी सत्ताके उसी वैयक्तिक मुखौटे द्वारा करे, इसपर को मूल तत्त्वकी बात निर्भर नहीं करेगी। कारण, व्यक्ति केवल सर्वान्तरात्माका ए दीर्घीकृत क्षण होगा, और उसने अपनी सत्ताके उस क्षणमें जिसे हम 'हम' का नाम दे हैं जिसका सूत्रपात किया होगा, वह अपने परिणामको उसी सत्ताके किसी ऐसे अन क्षणपर वहुत अच्छी तरह उत्पन्न कर सकेगा जो हमारे अहंके दृष्टिकोणसे हमसे सर्वथ भिन्न और असम्बन्ध व्यक्ति होगा। परिणामगत फल या कष्टकी इस प्रतीयमानतः प्राति- निधिक प्राप्तिमें कोई अन्याय नहीं होगा, अयुक्तता नहीं होगी, क्योंकि मुखौटा यदि सप्राण हो और कष्ट पाता हो तो भी उस मुखौटेको इन चीजोंसे क्या करना है? और वास्तवमें, भौतिक विश्वकी प्रकृतिमें सर्वत्र यह नियम है कि एकके कर्मका परिणा बहुत सारे दूसरोंके जीवनोंमें कार्यान्वित होता है, व्यक्तिके कर्मका प्रभाव समुदाय य समष्टिपर पड़ता है। इस घड़ी हम जो बो रहे हैं उसकी लुनाई हमारे बादकी आनेवाल सन्तति कई पीढ़ियोंतक करती है और तब हम इसे परिवारका कर्म कह सकते हैं। आजके मनुष्य समुदाय या जातिके रूपमें जो सकल्प और कर्म करते हैं, वह उनक जातिपर आशीर्वाद या तलवार लेकर तब वापस आता है जब कि स्वयं वे प्रस्थान क चुके होंगे और सुख या कष्ट पानेको विद्यमान नहीं होंगे, और इसे हम राष्ट्रका क कह सकते हैं। समूची मानवजातिका भी कर्म होता है; उसने भूतकालमें जो कि है, वह उसकी भावी नियतिको घढ़ेगा; व्यक्ति तो बस मानवीय विचार, इच्छा, स्वभाव अस्थायी एकक ही लगते हैं जो मानवतामें स्थित अन्तरात्माके दबावके अनुसार का

करते और विलुप्त हो जाते हैं; परन्तु जातिका कर्म जिसकी रचनामें उन्होंने सहायता दी है, सदियों, सहस्राब्दियों, युग-युग चलता रहता है।

परन्तु जब हम अपने अन्दर दृष्टि डालते हैं तो देख सकते हैं कि समष्टिके साथ व्यक्तिके इस सम्बन्धका एक भिन्न अर्थ है; इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम सर्वान्तरात्माकी वैश्व संभूतिमें एक कम या अधिक आयुप्राप्त क्षणके अतिरिक्त और कुछ नहीं : यह भी बस एकसतही रूप ही है, हमारी सत्ताका सत्य बहुत सूक्ष्मतर और महत्तर है। कारण, आद्या और शाश्वत सद्वस्तु, आदि और अन्त, ईश्वर, न तो व्यक्तिमें पृथक् है, न वह केवल और एकमात्र एक विश्वदेव, एक विश्वात्मा ही है। वह इस विश्व तथा अन्य विश्वोंका शाश्वत व्यक्ति और शाश्वत सर्वान्तरात्मा भी है, और साथ ही वह इन चीजोंके अलावा भी बहुत कुछ है। इस विश्वका अन्त हो सकता है परन्तु ईश्वर तब भी रहेगा; और भले ही विश्वका अन्त हो जाय, हमारा अस्तित्व फिर भी ईश्वरके अन्दर रह सकता है; और ये सारे शाश्वत अन्तरात्मा फिर भी उसके अन्दर अस्तित्वमें रहेंगे। परन्तु जैसे उसकी सत्ता नित्य है, वैसे ही उसकी सृष्टियोंकी क्रमधारा भी नित्य है; यदि किसी एक सृष्टिका अन्त आ जायगा तो केवल यह होगा कि एक दूसरीका आरम्भ हो सकेगा और जो सम्भावना पुरानी सृष्टिमें कार्यान्वित नहीं हुई थी उसे नयी सृष्टि एक नूतन आरम्भ तथा सूत्रपातसे आगे चलायगी, क्योंकि अनन्तकी स्वाभिव्यक्तिका अन्त नहीं हो सकता। नास्ति अन्तो विस्तरस्यमे। विश्व अपने-आपको वैसे ही हमारे अन्दर पाता है, जैसे हम अपने-आपको विश्वके अन्दर पाते हैं, क्योंकि हम उस एक शाश्वत सद्वस्तुके अमुक-अमुक मुखड़े हैं, और इस अभिव्यक्तिको कार्यान्वित करनेके लिये व्यक्ति-सत्ताकी भी उतनी आवश्यकता है जितनी विश्व-सत्ताकी, दोनों ही शाश्वतके आत्मावलोकनकी विधियाँ हैं। अभी हम अपने-आपको विश्वमें समाए हुए जीवके रूपमें देख सकते हैं, परन्तु जब हमें आत्म-ज्ञान होता है तब हम विश्वको भी, या तो उसे अपनी वैयक्तिकतामें निहित मानकर सूक्ष्म रूपसे या हम तब जो महान् विश्वभावापन्न आत्मा हो जाते हैं उसमें व्यापक रूपसे, अपने अन्दर समायी हुई वस्तुके रूपमें देखते हैं। ये प्राचीन अनुभूतिके तथ्य हैं, ये पुरानी जानी और कही हुई चीजें हैं, भले ही आधुनिक प्रत्यक्षवादी मनको ये छायावी और अतितात्त्विक लग सकती हैं, क्योंकि वह मन बाह्य वस्तुओंपर लम्बे समयतक इतनी सूक्ष्मतासे ध्यान करता रहा है कि किसी भी महत्तर आलोकके सामने वह चकाचौंध और अन्धा हो जाता है और उसकी परतोंके बीचसे देखनेकी क्षमताको धीमे-धीमे ही पुनः प्राप्त कर रही है; परन्तु इन सबके बावजूद भी ये बातें सच्ची तो सदा ही रही है और आजके दिन इनका अनुभव हममेंसे वह हर कोई भी कर सकता है जो आन्तरिक अनुभवकी

गभीरतम विधिकी ओर मुड़नेका चुनाव कर लेता हो। यदि हम हमें दिये गये नये ज्ञानको उसके समूचे रूपमें देखें तो आधुनिक विचार तथा विज्ञान भी इनका खंडन नहीं करते, अपितु हमारे लिये केवल इन वास्तविकताओंके बाह्य प्रभावों और क्रियाओंको अंकित करते हैं; कारण, सदा ही हम अन्तमें यह देखते हैं कि ऊर्जाका नियम और जड़-तत्त्वका नियम आत्माके सत्यका प्रतिवाद नहीं करता, प्रत्युत उसे यहाँ पुनरुत्पन्न करता और प्रभावी बनाता है।

पुनर्जन्मको यदि हम बाहरकी ओरसे, ऊर्जा और प्रक्रियाकी ओरसे देखें तो उसकी आवश्यकता एक ऐसे दृढ़ और सबल तथ्यपर खड़ी होती है जो सदा ही सामान्य नियम तथा प्रकारकी व्यापकतापर ऊपरसे आ पड़ता है और अस्तित्वका सबसे अधिक अन्तरंग रहस्य है; यह है व्यक्तिकी अद्वितीयता। और यह अद्वितीयता सर्वत्र है, परन्तु अस्तित्वके निम्नतर प्रदेशोंमें केवल गौण तत्त्वके रूपमें प्रकट होती है। हम जैसे-जैसे सोपानक्रममें ऊपर उठते हैं वह अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट हो उठती है; वह मनमें अभिवर्द्धित होती है और जब हम अध्यात्म-तत्त्वकी वस्तुओंपर आते हैं तो विपुल अनुपात प्राप्त करती है। इससे यह संकेत होता लगता है कि इस सार्थक अद्वितीयताका कारण अध्यात्म-तत्त्वकी प्रकृतिसे ही बँधा हुआ है, वह ऐसा कुछ है जिसे अध्यात्म-तत्त्वने अपने अन्दर धृत रखा था और जिसे वह, ज्यों-ज्यों वह भौतिक प्रकृतिमेंसे उन्मज्जित होकर आत्म-विवेकमें वर्द्धित होता है, अधिकाधिक प्रकट करता है। सत्ताके नियम आधारमें हम सबके लिये एक हैं, क्योंकि सारा अस्तित्व एक ही अस्तित्व है; एक ही अध्यात्म-सत्ता, एक ही आत्मा, एक ही मन, एक ही प्राण, प्रक्रियाकी एक ही ऊर्जा क्रियारत है; एक ही इच्छा और प्रज्ञाने सृष्टिके सारे व्यापारको आयोजित किया है या उसे अपने-आपमेंसे विकसित किया है। और फिर भी इस एकतामें एक सतत विविधता होती है जिसे हम पहले सामूहिक विभिन्नताके रूपमें देखते हैं। सर्वत्र एक गोष्ठी-ऊर्जा है, गोष्ठी-प्राण है, गोष्ठी-मन है, और यदि अन्तरात्मा है तो हमारे लिये यह माननेका कारण है कि वह हमारी पकड़के लिये चाहे कितना ही छली क्यों न हो, एक गोष्ठी-अन्तरात्मा भी है जो इस सामुदायिक विविधताका आधार और भित्ति है, भले ही कुछ लोग उसे उसका परिणाम कहें। इससे हमें एक गोष्ठी-कर्मका आधार मिलता है। क्योंकि गोष्ठी या समूहका अन्तरात्मा अपना पुनर्नवीकरण करता है, दीर्घतर आयु प्राप्त करता है और मनुष्यमें तो अपने स्वरूप और अनुभवको पीढ़ी-पीढ़ी विकसित करता ही है। और कौन जानता है कि उसके किसी एक रूप, किसी समुदाय या राष्ट्रके विघटित हो जानेपर वह अन्य रूपोंकी प्रतीक्षा नहीं करेगा, अन्य रूपोंको धारण नहीं करेगा जिनमें उसकी सत्ताकी इच्छाको, उसकी प्रकृति और मनो-

वृत्तिके प्ररूपको, उसके अनुभव-प्रयत्नको नवजात सामूहिक देहोंमें, अन्य युगों या चक्रोंमें आगे ले जाया जायगा, लगभग ऐसा कह सकते हैं वही उनमें चला जायगा ? स्वयं मानवजातिका यह पृथक् सामूहिक अन्तरात्मा और सामूहिक अस्तित्व है। और इसी सामूहिकतापर कर्मकी सामूहिकता अधिष्ठित होती है; समष्टिका क्रियाकलाप और विकास व्यक्ति तथा समष्टिके लिये कर्मके परिणाम और अनुभव वैसे ही उत्पन्न करता है जैसे व्यक्तिका क्रियाकलाप और विकास दूसरोंके लिये, गोष्ठीके लिये, समष्टिके लिये परिणाम तथा अनुभव उत्पन्न करता है। और व्यक्ति भी है ही, उसे हल्का मानकर शून्य या भ्रम नहीं कहा जा सकता; वह सत्यतः है, जीवन्त है, अद्वितीय है। सामुदायिक अन्तरात्मा-वैविध्य शेष वस्तुओंसे ऊपर उठता है, उनका अतिक्रमण करता है, विकासक्रममें पहलेकी अपेक्षा अधिक कुछको, एक नयी चीजको प्रविष्ट करता या बाहर लाता है, नयी शक्तियाँ जोड़ता है। इसी प्रकार व्यक्ति समुदायसे ऊपर उठता और उसका अतिक्रमण करता है। व्यक्तिमें ही, उसकी उच्चतम ऊँचाइयोंपर ही हमें स्वाभिव्यक्तिकी वह दीप्तिशिखा मिलती है जिसके द्वारा वह एकमेव अपनेआपको प्रकृतिमें पा लेता है।

और प्रश्न यह है, यह होता ही कैसे है ? हम जन्ममें प्रवेश करते हैं, एक पृथक् सत्तामें नहीं, अपितु समष्टिके जीवनमें, और फलतः हमें विरासतमें समष्टिके जीवनका विकास मिलता है। दैहिक रूपसे हम एक पीढ़ी द्वारा जन्म लेते हैं जो उसके अभंग इतिहासको आगे ले जाना है; सारी भूतकालीन सत्ताकी देह, प्राण और स्थूल मनोवृत्ति हमारे अन्दर अपनी दीर्घतर स्थायिता पाती है और फलस्वरूप हमें वंश-परम्पराके नियमके नीचे आना ही होता है; उपनिषद् कहती है कि पिता अपनी बीजगत ऊर्जासे अपने-आपको पुनर्सृष्ट करता और सन्तानमें पुनरुत्पन्न होता है। परन्तु हम ज्यों ही विकसित होने लगते हैं, एक नया, एक स्वतन्त्र और दबंग तत्त्व प्रवेश करता है; वह तत्त्व हमारे माता-पिता नहीं, हमारी पूर्वज-परम्परा नहीं, अतीतकी मानव-जाति भी नहीं, अपितु वह है स्वयं "हम", हमारा अपना आत्मा। और यथार्थमें महत्त्वपूर्ण, शिरोमणि, केन्द्रीय तत्त्व यही है। हमारे जीवनमें सबसे अधिक महत्त्वकी चीज हमारी वंशपरम्परा नही; उससे हमें केवल हमारा अवसर या विघ्न मिलता है, हमारी अच्छी या बुरी सामग्री मिलती है, और वस्तुतः ऐसा नहीं देखा गया है कि हम सब कुछ उसी स्रोतसे पातें हों। परम महत्त्वकी चीज यह है कि हम अपनी वंश-परम्पराका क्या कर रहे हैं, यह नहीं कि हमारी वंशपरम्परा हमारा क्या कर रही है। जगत्का अतीत, भूतकालीन मानव, हमारे पूर्वज हमारे अन्दर विद्यमान हैं; किन्तु फिर भी स्वयं हम अपनी सत्ता, अपने जीवन, अपने कर्मोंके शिल्पी हैं। और फिर, जगत्का, मानव-

जतिका वर्तमान है; यदि हमारे पूर्वज हैं तो हमारे समकालीन भी हैं; हमारे चारों ओरका जीवन भी हमारे अन्दर प्रवेश करता, हमें नयी सामग्री देता, हमें अपने प्रभावसे घड़ता, हमारी सत्तापर अपना अपरोक्ष या परोक्ष स्पर्श डालता है। परिवेशकी जिस सत्ता तथा क्रियामें हम हैं और कार्य करते हैं, वह हमपर आक्रमण करती है, हमें परिवर्तित करती है, उसके द्वारा हम अंशतः पुनर्सृष्ट होते हैं। परन्तु व्यक्ति यहाँ भी निर्णायिका शक्तिके रूपमें सूक्ष्म और केन्द्रीय रूपसे प्रवेश करता है। परम महत्त्वकी बात यह है कि इस सारे घेरनेवाले और आक्रमणकारी वर्तमानका हम क्या करते हैं, यह नहीं कि वह हमारा क्या करता है। और वैयक्तिक तथा सर्वसामान्य कर्मकी पारस्परिक क्रियामें, जिसमें दूसरे लोग कारण होते और हमारे जीवनमें प्रभाव उत्पन्न करते और हम कारण होते और उनपर प्रभाव उत्पन्न करते हैं, हम दूसरोंके लिये जीते हैं, भले ही हम ऐसा चाहें या नहीं, और दूसरे लोग हमारे लिये और सबके लिये जीते हैं। फिर भी हमारी मनोवृत्तिकी केन्द्रीय शक्ति इस दृष्टिसे रंगी होती है कि हम अपने लिये जीते हैं और यदि दूसरोंके लिये या जगत्‌के लिये जीते हैं तो केवल इस रूपमें कि वे दूसरे हमारे आत्माके विस्तरणकी तरह, ऐसी वस्तुकी तरह हैं जिसके साथ हम किसी प्रकारके एकत्वमें बँधे हैं। ऐसा लगता है कि हम वह अन्तरात्मा, पुरुष या आत्म हैं जो सबकी सहायतासे हमारे अतीत और वर्तमानमेंसे हमारी भावी सत्ताकी सृष्टि निरन्तर कर रहा है और हम भी अपने चारों ओरके सर्जनात्मक क्रमविकासमें सहाय दे रहे हैं।

तो हममें यह सर्वमहत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र शक्ति क्या है और उसकी आत्मसृष्टि का आदि और अन्त क्या है? यदि वह उस शारीरिक और प्राणिक वर्तमान तथा अतीतसे स्वतन्त्र कोई वस्तु हो जिससे उसे अपनी इतनी सारी सामग्री मिलती है, तो भी क्या उसका अपना कोई भूत और भविष्य नहीं? क्या वह कोई ऐसी वस्तु है जो हमारे जन्मके समय सर्वात्मामेंसे अकस्मात् उन्मज्जित होती और मारी मृत्यु समय अवसान पाती है? उसका आत्म-सृष्टिके लिये, केवल अपने क्षणिक वर्तमा और जातिके भविष्यके लिये नहीं, वरन् अपने लिये, अपने भविष्यके लिये अपने-आप कुछ बना डालनेके लिये जो आग्रह है क्या वह व्यर्थकी धुन ही, परजीवी घोर भूल है है? यदि ऐसा हो तो हमें जगत्-सत्ताका जो नियम दिखायी देता है उसका पूरा प्रत्याख्या होगा; यह बात हमारे जीवनको चीजोंके ढाँचेके साथ किसी महत्तर संगतिमें नहीं बैठायगी, अपितु एक अनोखे तत्त्वको प्रविष्ट करेगी और व्यापक तत्त्वके सम्बन्ध एक असंगति लायगी। यह अनुमान बुद्धिसंगत होगा कि शारीरिक तथा प्राणि विकासक्रमपर ऊपरसे आ पड़नेवाला और उसपर क्रिया करनेवाला यह सबल औ

स्वतन्त्र तत्त्व भूतकालमें था और भविष्यमें भी रहेगा। यह अनुमान भी बुद्धिसंगत होगा कि वह किसी असंबद्ध अस्तित्वमेंसे अकस्मात् प्रवेश नहीं कर गया और न ही वह एक संक्षिप्त हस्तक्षेपके बाद कूच कर जाता है; जगत्के जीवनके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध बल्कि एक लम्बे भूतकालीन सम्बन्धका जारी.रखना है। और इससे तुरंत ही भूतकालके जन्म और कर्मकी सारी आवश्यकताका प्रवेश होता है। हम स्थायी सत्ता हैं और जगत्की स्थायी सत्ताके अन्दर रहकर अपने क्रमविकासमें लगे हुए हैं। हमने अपने मानव-जन्मको विकसित किया है और हम मानव-विकासक्रममें निरन्तर सहायता देते हैं। अपने अतीतके कर्म द्वारा हमने अपनी अवस्थाओंकी और दूसरोंके जीवनके साथ अपने सम्बन्धोंकी और सर्वसामान्य कर्मकी रचना की है। वही हमारी वंशपरम्पराको, हमारे परिवेश, हमारी रुचियों, हमारे सम्बन्धों, हमारी सामग्री, हमारे सुयोगों और विघ्नोंको, हमारे पूर्वनियत सामर्थ्यों और परिणामोंके एक भागको घढ़ता है,—ये स्वेच्छाचारितासे पूर्वनियत नहीं होते, प्रत्युत हमारी ही प्रकृतिकी भूमिका और विगत कर्म द्वारा पूर्वनिर्धारित होते हैं – और इसी आधारित कृतिपर हम नये कर्मका निर्माण करते और अपनी प्राकृतिक सत्ताके बलको अधिक सशक्त या सूक्ष्म बनाते, अनुभवकी वृद्धि करते, अपने आन्तरात्मिक विकासक्रमको आगे बढ़ाते हैं। यह प्रक्रिया वैश्व विकासक्रमके साथ बुनी-गुँथी है और उसकी सारी रेखाएँ सत्ताके जालमें समाविष्ट हैं, परन्तु यह उसका केवल कोई बाहर निकला हुआ बिन्दु या क्षण या वस्तुमें भरी गयी तुच्छ टँगनी ही नहीं है। हमारे अभिव्यक्त आत्मा और विश्वव्यापी सत्ताके इतिहासमें पुनर्जन्मका अर्थ यही है।

इसके विपरीत पुनर्जन्मकी प्राचीन धारणा अतिशय व्यक्तिवादकी भूल करती है। अति स्व-केन्द्रित रहकर उसने व्यक्तिके पुनर्जन्म तथा कर्मको अत्यधिक मात्रामें अपना एकल व्यवसाय, समग्रके अन्दर एक तीक्ष्ण रूपसे पृथक् गतिधारा मान लिया; उसने व्यक्तिकी अपने ही विषयकी रुचिका अत्यधिक सहारा लिया और उसने जब वैश्व सम्बन्धोंको और समग्रके साथके एकत्वको स्वीकार किया भी तो उसने मनुष्यको जीवनको इस रूपमें देखना सिखाया कि वह प्रमुखतया उसके अपने आध्यात्मिक लाभ और पृथक् मोक्षके लिये एक दशा और साधन है। इस धारणाका उद्गम है विश्वके विषयमें इस दृष्टिमें कि विश्व ऐसी गतिधारा है जो परेकी वस्तुमेंसे, एक ऐसी वस्तुमेंसे आती है जिसमेंसे प्रत्येक सत्ता जीवनमें प्रवेश करती है और उसमेंसे वापस अपने मूलमें चली जाती है, और इस निमग्नकारी भावमें कि वह वापस जाना ही एकमात्र सार्थक वस्तु है। इस प्रकार देखनेपर, जगत्में हमारी सत्ता अन्तमें अध्यात्म-पुरुषकी अपरिवर्तनशील नित्यतामें एक उपाख्यानके रूपमें, और संक्षेपमें और सार-रूपमें, एक असुखद

और अकीर्त्तिकर उपाख्यानके रूपमें मानी जाने लगी। परन्तु यह दृष्टि 'अध्यात्म-पुरुष' की जीवनगत इच्छा और विधाओंके विषयमें अति संक्षिप्त दृष्टि थी। यह निश्चित है कि हम जबतक यहाँ हैं, हमारा पुनर्जन्म या कर्म जब अपनी निजी रेखाओंपर चलता है तब भी वह वैश्व जीवनकी उन्हीं रेखाओंके साथ घनिष्ठ रूपसे एक रहता है। परन्तु हमारा आत्म-ज्ञान तथा आत्म-प्राप्ति भी अन्य जीवन तथा अन्य भूतोंके साथके हमारे एकत्वको नष्ट नहीं करते। अन्तरंग विश्वात्मकता आध्यात्मिक पूर्णताकी महिमाका अंग है। विश्वात्मकताका यह भाव, केवल ईश्वरके साथ या हमारे अन्दरके शाश्वत आत्माके साथ ही नहीं, सकल मानवजाति और अन्य प्राणियोंके साथ भी एकत्वका भाव, हमारे मनमें सबसे अधिक प्रधान सुर होनेकी ओर बढ़ रहा है और उसे पुनर्जन्म तथा कर्मके सार्थक्यकी किसी भी भावी धारणा या गणनामें अधिक व्यापक रूपसे विचारमें लेना होगा। इसे प्राचीन कालमें स्वीकार किया गया था और बौद्धोंका करुणाधर्म इसके महत्त्वकी मान्यता भी था, परन्तु सामान्य सार्थक्यके अन्दर इसके एक और भी व्यापक बलको मानना होगा।

जगत्में 'अध्यात्म-पुरुष' का आत्म-संसाधन वह सत्य है जिसपर हम अधिष्ठित होते हैं और यह आत्म-संसाधन कालमें एक महती, एक लम्बी आत्म-वयन है। पुनर्जन्म व्यक्तिमें उसी आत्म-संसाधनकी अविच्छिन्नता, उसी धागेका टिके रहना है; कर्म भौतिक जगत्में उसकी प्रक्रिया है, उसकी एक शक्ति है, ऊर्जा और परिणामकी कृति है, भौतिक जगत् निरन्तर जिस आन्तरात्मिक विकासक्रमका रंगमंच है उसमें एक क्रिया और मानसिक, नैतिक, सक्रिय परिणाम है। इस विषयमें मुख्य परिकल्पना यही है; बाकी जो रह जाता है वह प्रश्न है सामान्य और विशेष नियमोंका, उस विधिका जिससे कर्म जन्म तथा जीवनमें 'अध्यात्म-पुरुष' के उद्देश्यको कार्यान्वित करता और सहायता देता है। और वे नियम तथा विधियाँ जो कुछ भी हों, वे अवश्य ही इस आध्यात्मिक आत्म-संसाधनके लिये उपयोगी होंगे और अपना सारा अर्थ तथा मूल्य उसीसे प्राप्त करेंगे। अध्यात्म-पुरुषके लिये नियम एक साधन है, एक क्रिया-धारा है; नियमका अस्तित्व नियमके ही लिये नहीं है, न किसी अमूर्त्त भावकी सेवाके लिये ही। भाव और क्रियानियम अन्तरात्माके अस्तित्व-क्रममें उसकी प्रगतिके लिये केवल दिशा और मार्ग हैं।

बारह

कर्म और न्याय

कर्मकी रेखाएँ क्या हैं ? अन्तरात्मा, उसकी इच्छा और परिणाम-विकासकी इस ऊर्जाकी आन्तरिक प्रकृति और सक्रिय नियम क्या हैं ? यह प्रश्न यह पूछना है कि हमारे अस्तित्वका क्रियागत अर्थ यहाँ क्या रूप लेता है और उसकी विकसित होती आत्म-सृष्टि तथा क्रियाके निर्देशक घुमाव क्या हैं। और ऐसे प्रश्नका उत्तर किसी ऐसी संकीर्ण भावनासे या किसी ऐसी एकल धारणाके नीचे आकर नहीं देना चाहिये जिसमें प्रकृतिके इस सूक्ष्म जगत्की बहुमुखता और समृद्ध जटिलताको विचारके अन्तर्गत नहीं लिया गया हो। कर्मका नियम अनम्य और यान्त्रिक नियम या आसान व्यवहारसिद्ध नियम नहीं हो सकता, वरन् उसके निर्देशक तत्त्वको स्वयं अध्यात्म-तत्त्वकी तरह सुनम्य और सामंजस्यपूर्ण नादप्रणेता जैसा होना चाहिये जिसकी आत्म-ज्ञानकी इच्छाको वह मूर्त्त करता है, और उसे परिवर्तनशील वैयक्तिक अन्तरात्माओंके आत्म-विकासकी आवश्यकताके अनुकूल बनना चाहिये जो अपनी क्रियाओंके सही सन्तुलन, समन्वय, स्वर-संगतिकी ओर अपनी राहको उसकी रेखाओंके किनारें-किनारे टटोलते चल रहे हैं। कर्मविधानका कारण मनमें नहीं, अध्यात्म-तत्त्वमें है, अतः वह हमारी सीमित औसत मानवीय बुद्धिका वैश्व प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, बल्कि उसे एक महत्तर आध्यात्मिक बुद्धिमत्ताका नियम, एक ऐसा नियम होना चाहिये जो उसकी सारी मूक गुह्य प्रतीतियोंके पीछे हमारी समग्र पूर्णताकी ओर एक समझ-भरे नेतृत्व और सूक्ष्म व्यवस्थाको मूर्त करता हो।

कर्म-विधानकी सामान्य प्रचलित धारणा प्रमुखतया नैतिक है, परन्तु बहुत उन्नीत प्रकारसे नैतिक नहीं। कर्मके विषयमें उसकी धारणा यान्त्रिक और भौतिकवादी नैतिकता है, पारितोषिक और दण्डका ठीक-ठीक परन्तु अपरिष्कृत कानूनी निर्णय और संचालन है, पुण्यके समर्थन और पापके निषेधके लिये एक बाह्य अनुशासन, एक संहिता, एक सन्तुलन है। इसके पीछे भाव यह रहता है कि अवश्य ही कोई ऐसा न्याय होगा जो धरतीपर सुख और दुःखके दिये जानेको शासित कर रहा है; मनुष्यकी समझमें आनेवाली एक साम्याहै जिसका प्रतिनिधित्व कर्मका विधान करता है और जिसका सूत्र हमें इस विधानमें मिलता है। हमने इतना सारा शुभ कार्य, पुण्य किया है; यह हमारी पूँजी है, हमारा संग्रह और बची राशि है। हमें इसका भुगतान

समृद्धिकी इतनी सारी मुद्रामें, इस प्रभुताशालिनी और दिव्य थेमिस[1] की वैध मुद्रामें मिलना ही चाहिये, नहीं तो भला हम शुभ कृत्य करें हीं क्यों? हमने इतनी सारी बुराई की है; वह भी हमें इतने सारे ठीक-ठीक और सही-सही दण्ड और दुर्भाग्यके रूपमें वापस मिलनी ही चाहिये। इतना सारा बाह्य कष्ट अवश्य ही मिलेगा या बाह्य घटना और दबावसे उत्पन्न आन्तरिक कष्ट मिलेगा, क्योंकि यदि वह स्थूल रूपसे अनुभव किया जाने और दिखायी देनेवाला अनिवार्य परिणाम न हो तो प्रतिशोध लेनेवाला न्याय कहाँ होगा और हमें प्रकृतिमें बुराईका निवारण करनेवाली शास्ति कहाँ मिलेगी? और यह निर्णय सही न्यायाधीशका, सख्त शासकका, अच्छेके लिये अच्छाई और बुरेके लिये बुराईके ईमानदार सौदागरका है जिसने ईसाई या बौद्ध मतके आदर्श नियमको न तो कुछ भी सीखा है और न कभी कुछ भी सीखेगा ही, जिसके रक्तमें दया या करुणा नहीं है, पापके लिये क्षमा नहीं है, परन्तु जो कठोरतासे एक सनातन मूसा-संहिताको "आँखके बदले आँख", "दाँतके बदले दाँत", "जैसेको तैसा" के एक धीमे या द्रुत, परन्तु सर्वदा स्थिर और निर्मम रहनेवाले ठीक-ठीक प्रतिकारके परिपूर्ण सिद्धान्तको पकड़े रखता है।

यह व्यापारिक और गणितिक लेखापाल कभी-कभी आश्चर्यकारी सही रूपमें कार्य करता माना जाता है। उस दिन एक विलक्षण कहानी प्रकाशित हुई थी और उसे एक समकालीन घटनाका विवरण बताया गया था। कहानी एक धनी मनुष्यकी थी जिसने हिंस्र साधनोंसे दूसरेकी सम्पत्ति छीन ली थी। इस विवरणमें पीड़ित व्यक्ति उत्पीड़कका पुत्र बनकर जन्म लेता है और एक सांघातिक रोगकी उन्मादावस्थामें प्रकट करता है कि उसने अपने भूतकालमें उत्पीड़क और वर्तमान पिताको उसपर खर्च करनेको बाध्य किया है और इस प्रकार वर्तमान पिताने पहले छीनी गयी जायदाद-के जितना धन खो दिया है, परन्तु उसमें अभी भी एक राशि घटती है, परन्तु वह राशि अब दूसरे प्रकारसे चुकानी है,—ऋण चुका दिया जाता है और आखिरी पाई खर्च होते ही पुनर्जन्ममें आया जीव कूच कर जाता है, क्योंकि उसके जन्म लेनेके एकमात्र कारणकी तुष्टि हो जाती है, हिसाब बराबर हो जाता है और कर्म-देवता तृप्त हो जाता है। इसमें कर्मकी यान्त्रिक कल्पना अपनी संतुष्ट परिशुद्धताकी चोटीपर पहुँच जाती है। साथ ही, जन-मानस परलोकके जीवनकी भावनाको पुनर्जन्मकी धारणाके साथ जोड़नेके प्रयत्नमें पुण्यके लिये दुहरे पारितोषिककी और उल्लंघनके लिये दुहरे दण्डकी कल्पना करता है। अपने शुभ कृत्योंके लिये हमें मृत्युके बाद तब तक पुरस्कार मिलता है जब तक कि हमारे पुण्यका क्रियागत मूल्य निःशेष न हो जाय और तब हम पुनर्जन्ममें आते और पृथ्वीपर पुनः भौतिक रूपमें पारितोषिक पाते हैं। नरकमें हमें अपने पाप

---

[1] विधान और न्यायकी देवी। (अनु०)

के बराबर दण्ड मिलता है और शरीरमें अन्य जीवनमें हम पुनः दण्डित होते हैं। यह न्याय कुछ अनावश्यक, बल्कि अतिरिक्त वस्तु जैसा दिखायी देता है, और यथातथ्य लेखापाल भी बहुत कुछ अमर्यादित शत प्रतिशत सूदखोर जैसा हो जाता है। शायद यह कहा जा सकता है कि परलोकमें कष्टका भोक्ता होता है अन्तरात्मा,—शुद्धिके लिये, और इस लोकमें कष्टका भोक्ता होता है शारीरिक जीव,—जीवनकी शक्तियों और वस्तुओंकी सममितताको दी गयी रियायतके रूपमें; परन्तु फिर भी यह अन्तरात्मा ही होता है जो अपने सूक्ष्म अनुभवमें और अपने भौतिक रूपधारणमें दो बार भुगतान चुकाता है।

हमारी प्रकृतिके जो धागे इस स्वाभाविक किन्तु शायद ही दार्शनिक रहती धारणामें मिश्रित हो जाते हैं, उन्हें इन विचारोंका सही मूल्य जान सकनेके पहले सुलझाना होगा। उनका पहला हेतु नैतिक प्रतीत होता है, क्योंकि न्याय नैतिक भावना है; किन्तु सच्ची नैतिकता है धर्म, उच्चतर प्रकृतिका सम्यक् निष्पादन और क्रियान्वयन, और सम्यक कर्मका सम्यक् हेतु रहना चाहिये, और सच्ची नैतिकताका अपना आधार रहना चाहिये, उसे लोभ और मदकी वैसाखियोंपर लँगड़ाते नहीं चलना है। जो ठीक है उसे स्वयं उसके लिए करना सत्यतः नैतिक है और यह विकसित होते आत्माको उदात्त करता है; जो ठीक है उसे भौतिक पारितोषिककी लालसासे या जल्लादकी प्रतिशोधकी पिटाई या न्यायाधीशके दण्डके डरसे करना क्षण विशेषके लिए बहुत ही व्यावहारिक और उपयोगी हो सकता है, किन्तु यह किसी भी मात्रामें नैतिक नहीं होता, बल्कि मनुष्यके अन्तरात्माको नीचे गिराना होता है, या, कमसे कम, यह सिद्धान्त मनुष्यकी निम्नतर पशु-जैसी और अनाध्यात्मिक प्रकृतिको दी गयी रियायत होता है। किन्तु प्राकृत मनुष्यमें, उच्चतर धर्मसे पहले उत्पन्न होनेवाली और अधिक सबल तथा स्वाभाविक कर्म-प्रेरकके रूपमें दो अन्य बहुत ही हठी चीजें आती हैं, काम और अर्थ, भोगकी कामना और सुख, उनके साथ उसका अनुरूपी कष्ट-भय, और स्वत्व, अर्जन तथा सफलताका आकर्षण, साथमें अभाव और विफलताका अनुपूरक कष्ट, और यही चीज सामान्य बर्बर या अभी भी अर्द्ध-बर्बर रहते प्राकृत मनुष्यको अत्यधिक प्रधानतासे शासित करती है। यदि उसे अपने काम और अर्थकी घनी लगनको नैतिक मानदण्डके अनुरूप करना है तो उसके लिये यह आवश्यक है, और यह आवश्यकता अल्प मात्रामें ही नहीं है, कि पुण्यका फल उसकी अर्थ और सुखकी प्राप्तिके साथ, और पापका फल भौतिक या प्राणिक क्षेत्रकी काम्य वस्तुओंकी किसी हानि और मानसिक, प्राणिक या शारीरिक वेदनाके किसी दण्डके साथ दृढ़तासे सम्बद्ध या एकात्म हो। मानवीय नियम इसी सिद्धान्तपर बढ़ता है; वह अधिक स्थूल और अधिक स्पष्ट अपराधों-

के सामने दण्ड देनेवाले और प्रतिशोध लेनेवाले कष्ट या हानिको रखता है और दूसरी ओर, व्यक्तिको कुछ परिमाणमें यह आश्वासन देता है कि यदि वह विधिगत नियमका पालन करेगा तो उसके वैध सुख तथा अर्थकी प्राप्ति सुरक्षित है। कर्मका प्रचलित सिद्धान्त विश्व-विधानसे यह आशा करता है कि वह मनुष्यके साथ मनुष्यके ही सिद्धान्तानुसार व्यवहार करेगा और ठीक उसी चीजको एक बहुत अधिक कड़ी और बहुत अधिक अमोचन दृढ़ता और परिणामकी स्वत:चालित अवश्यम्भाविताके साथ प्रयुक्त करेगा।

अत: यदि इस दृष्टिकोणको मान्य रखना है तो वैश्व सत्-पुरुष अवश्य ही एक प्रकारका परिवर्द्धित दिव्य 'मानव' या, कह सकते हैं, श्रेष्ठतर मानवाकार भगवान् होगा या, फिर, विश्वविधान मानवीय पद्धतियों तथा मानकोंकी पूर्णता और विशालता होगा, वह मनुष्यके साथ वैसा व्यवहार करेगा जैसा कि मनुष्य अपने पड़ोसीके साथ करनेका आदी है,—केवल इतना है कि वह अपरिष्कृत और आंशिक मानवीय निपुणतासे कार्य नहीं करता , प्रत्युत उसमें या तो निश्चित सर्वज्ञता या अचूक स्वत:क्रिया रहती है। इस धारणाके पीछे जो भी सत्य हो, यह सम्भावना नहीं हैं कि यह इस विषयका पर्याप्त विवरण हो। यदि हमं पुनर्जन्मके सिद्धान्तको अलग रख भी दें तो भी वास्तविक जीवनमें इस पद्धतिके चिह्न मिलते हैं, परन्तु वह किसी दृश्यमान् संगतिके साथ क्रियान्वित नहीं होती,—यदि हम एक असन्तोषप्रद और शायद ही न्याय रहनेवाले प्रातिनिधिक दण्डको इस योजनाका अंग मान लें तब भी नहीं। और पुनर्जन्ममें उसका कार्यान्वयन अधिक अच्छी तरह या निर्दोष रूपसे होगा, इसके निश्चयके लिए कुछ वैसे ही आंशिक चिह्नों और संकेतोंके अलावा और रिक्त स्थलोंकी पूर्त्तिके लिये वस्तुओंकी उपयुक्तताके विषयमें हमारे सामान्य बोधके अलावा हमें क्या मिलेगा ? और फिर नैतिकताका सच्चा स्वरूप इस योंजनाके अन्दर कहाँ आता है ? लगभग ऐसा लगेगा कि वह अधिक उन्नीत क्रिया एक आदर्श गतिधारा है जिसका जीवनके व्यावहारिक शासनके लिये कम उपयोग है, मनुष्यकी जो चौथी और अन्तिम आवश्यकता है आध्यात्मिक मोक्षकी आवश्यकता, उसकी तैयारीके अंग-रूपमें उसका अधिक उपयोग है, और यह मोक्ष हमारे कर्मको पूरा निपटा देता है और जीवनके स्वयं विचार तथा इच्छाके साथ-साथ इस व्यवस्थाको भी उड़ा देता है। कामना जीवन और क्रियाका नियम है, अतएव कर्मका भी। भौतिक स्तरसे ऊपर चीजोंको केवल उनके लिये और उनके विशुद्ध ऋतत्व या विशुद्ध आनन्दके लिये करना सीधे सुदूर स्वर्गलोकोंकी ओर या अनिर्वचनीयकी नीरवताकी ओर दौड़ जाना है। परन्तु अस्तित्वके अर्थके बारेमें यह ऐसी दृष्टि है जिसपर मनुष्यके उच्चतर द्रष्टा मन और पुरुष द्वारा प्रतिवाद करते और यह प्रश्न करनेका समय आ गया है कि क्या जगत्में आत्माकी विधाओंका अधिक

महान्, उदात्त और बुद्धियुक्त सार्थक्य नहीं हो सकता।

परन्तु फिर भी, चूँकि मनुष्यका मन विश्वमनका अंग है और देखनेकी चाहे कितनी ही टूटी या अभी तक अपूर्ण और टेढ़ी रीतिसे क्यों न हो वह उसके किसी भागको प्रतिबिम्बित करता है, अतः यथार्थ सत्यका कुछ अंश इस दृष्टिके पीछे भली भाँति हो सकता है, जब कि साथ ही यह सम्भावना नहीं कि वह समूचा या अच्छी तरह समझा गया सत्य हो। विश्वक्रियाके कुछ निश्चित या सम्भाव्य नियम हैं जो उससे सम्बद्ध हैं और गणनामें अवश्य ही आयँगे। प्रथमतः यह निश्चित है कि प्रकृतिके ऐसे नियम हैं जिनका पालन मंगलकी ओर ले जाता या सहायक होता है और जिनके उल्लंघनसे कष्ट आ पड़ता है; परन्तु उन सभीको नैतिक अर्थवत्ता नहीं दी जा सकती। फिर, यह निश्चिति है कि प्रकृतिके बुने हुए समूचे जालमें कारण और परिणामका नैतिक नियम अवश्य होगा और इसे हम आजकल शायद इस सिद्धान्तके अन्दर बैठायँगे कि शुभ शुभको उत्पन्न करता है और अशुभ अशुभको; इस प्रतिपादनाकी सत्यता निःसन्दिग्ध है, किन्तु हम इस संश्लिष्ट जगत्‌में यह भी देखते हैं कि जिसे हम अच्छा मानते हैं उसमेंसे बुराई निकल आती है, और फिर, बुरेमेंसे ऐसा कुछ निकल आता है जो फिर भी अच्छा प्रमाणित हो। शायद हमारी मूल्यांकन-प्रणाली अति अनम्य रूपसे सुनिश्चित या अति संकीर्ण रूपसे सापेक्षिक है; समग्र योजनाके अन्दर सूक्ष्म वस्तुएँ होती हैं, मिश्रण, पारस्परिक सम्बन्ध, विपरीत धाराएँ, दमित या प्रच्छन्न सार्थक्य रहते हैं जिन्हें हम गणनामें नहीं लेते। वह सिद्धान्त सत्य है, परन्तु सम्पूर्ण सत्य नहीं; वह अन्ततः अपने उस रूपमें तो सम्पूर्ण सत्य नहीं है जिसमें उसे अभी उसकी प्रथम सतही अर्थवत्तामें समझा जाता है।

और, जो कुछ भी हो, कर्मकी सामान्य धारणामें हम शुभकी दो विभिन्न धारणाओं-को संयुक्त कर देते हैं। हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि नैतिक अच्छाई नैतिक अच्छाईकी उत्पत्ति या वृद्धि करती है या उसे ऐसा करना चाहिये, और नैतिक बुराईको नैतिक बुराईकी सृष्टि और वृद्धि करनी चाहिये। ऐसा वह स्वयं हममें करती है। प्रेमका अभ्यास हमारी प्रेम-क्षमताको दृढ़ करता और बढ़ाता है; वह हमारी सत्ताको शुद्ध करता और उसे विश्व-शुभकी ओर खोलता है। इसके विपरीत घृणाका अभ्यास हमारी सत्ताको भ्रष्ट करता, उसे विष और बुरी तथा अस्वस्थ विषाक्त सामग्रीसे भरता और बुराईकी सर्वसामान्य शक्तिकी ओर खोलता है। हमारे प्रेमको भी विस्तार या प्रतिदानके नाते दूसरोंमें प्रेमका उदय करना चाहिये और हमारी घृणाको घृणा उत्पन्न करना चाहिये; ऐसा एक विशेष दूरीतक, बहुत दूरीतक होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह अपरिवर्तनीय या अटल परिणाम हो, ऐसा है भी नहीं; फिर

भी हम अच्छी तरह देख सकते और विश्वास कर सकते हैं कि प्रेम विस्तृत होती तरं फेंकता ही है और जगत्को ऊपर उठानेमें सहायक होता है जब कि घृणाका परिणाम विपरीत होता है। परन्तु एक ओर इस अच्छे और बुरे और दूसरी ओर सुख औ कष्टके बीच कौनसा आवश्यक सम्बन्ध है? क्या नैतिक शक्ति सदा ही अविक रूपसे किसी प्रकारके सजातीय सुखात्मक परिणामकी भाषामें परिणत होगी: सम्पूर्णतया नहीं, क्योंकि प्रेम अपने-आपमें आनन्द है, परन्तु यह भी है कि प्रेम कष्ट भी पाता है; घृणा एक विक्षुब्ध और आत्म-पीड़क वस्तु है, परन्तु उसमें अपना विकृ आनन्द और अपनी तुष्टियाँ हैं; किन्तु अन्तमें हम कह सकते हैं कि प्रेम चूँकि विश्वानन्द से उत्पन्न हुआ है, अतः वह अपने स्वभावमें विजयी होता है और घृणा चूँकि उसका निषेध या विकृति है, अतः जैसे दूसरोंको वैसे ही हमें भी वह कष्टकी अधिक बड़ी राशिकी ओर ले जाती है। और सारी नैतिक अच्छाई और यथार्थ बुराईके बारेमें य कहा जा सकता है कि एक तो ले जाती है वैदिक ऋषियोंके ऋतम्की ओर, परम ऋतकी ओर, हमारी सत्ताके उच्चतम नियमकी ओर, और वह सत्य ही अध्यात्म-सत्ताके आनन्दका द्वार है, उसका आनन्दमय स्वरूप है, दूसरी है ऋत तथा सत्यका अभाव विकृति और वह हमें ऋत तथा सत्यके विपरीत तत्त्वकी ओर, मिथ्या आनन्द या कष्ट ओर खोल देती है। और इस तादात्म्यके किसी प्रतिबिम्बको जीवनके जटिल ढांचे भी प्रकट होना ही चाहिये।

यह सारूप्यता, फिर भी, आन्तरिक क्षेत्रमें, अच्छाई या बुराई या उसकी बहिर्गामिनी क्रियाके परिणामोंके आध्यात्मिक, मानसिक और भावावेगात्मक फ तथा प्रतिक्रियामें तत्त्वतः अधिक सच होती हैं। परन्तु जीवनकी नैतिक और अधि प्राणिक तथा शारीरिक सुखवादिनी शक्तियोंके बीच सारूप्यताकी दृढ़ कड़ी क है? हमारी नैतिक अच्छाई हमारी ओर सौभाग्यकी मुस्कानमें, वैभवके किरीटमें सुघड़ भौतिक कल्याण और सुखमें और हमारी नैतिक बुराई दुर्भाग्यकी भृकुटिमें, विपदाकी कठोरतामें, हीन भौतिक अमंगल और कष्टमें कैसे बदल जाती है?——कारण, मनुष्यक कामना-पुरुष और उसके द्वारा शासित बुद्धि इसीकी तो माँग करते लगते हैं। औ अच्छाईको स्वीकार और अस्वीकार करनेवाली इन दो बहुत ही भिन्न ऊर्जाओंके बी हिसाबका निपटारा या तत्त्वान्तरण कैसे होता है? हम इतना तो देख सकते हैं कि हमारे अन्दरकी अच्छाई या बुराई अच्छे या बुरे कार्यमें अनूदित होती है जो अन्य बातोंके अलावा दूसरोंके लिये बहुत सारा मानसिक और भौतिक सुख तथा कष्ट उत्पन्न करत है, और इस बाहर जाती शक्ति और प्रभावशालिताके समान प्रतिक्रिया-रूपमें अन्द आती शक्ति और प्रभावशालिता होनी ही चाहिये, भले ही उसका क्रियान्वयन तत्का

ही या सारूप्यताके किसी द्रष्टव्य याथातथ्यके साथ होता नहीं लगता। टकराकर लौट आनेका सिद्धान्त प्रकृतिमें फिर भी दिखायी देता है; हमारे कार्यमें धड़ाकेकी प्रतिक्षेप-गति कुछ मात्रामें रहती ही है और जिस इच्छाने उसे जगत्पर फेंका था उसकी ओर उसका वापस चक्रावर्तन होता है। जिस पत्थरको हम वैश्व प्राणपर उद्धततासे फेंकते हैं वह हमपर वापस फेंका जाता है और वह हमारी अपनी मानसिक तथा शारीरिक सत्ताको कुचल सकता है, विकलांग या क्षत कर सकता है। परन्तु यह यान्त्रिक रूपसे टकराकर लौट आना कर्मका सारा सिद्धान्त नहीं। और, कर्म अपनी समूची अर्थवत्तामें मिश्रित नैतिक-सुखात्मक व्यवस्था मात्र भी नहीं, क्योंकि हमारी चेतना तथा सत्ताकी अन्य शक्तियाँ भी अन्दर रहती हैं। फिर, वह कोरी यान्त्रिकता भी नहीं जिसके चलनेका आरम्भ हम अपनी इच्छा द्वारा करते हों और तब हमें निःसहाय होकर जिसका परिणाम स्वीकार करना होता हो; क्योंकि जिस इच्छाने उस प्रभावको उत्पन्न किया था वह उसे बदलनेके लिये भी हस्तक्षेप कर सकती है। और, सबसे बड़ी बात यह है कि आरम्भ-कारिणी और ग्रहणकारिणी चेतना प्रतिक्रियाके मूल्यों और उपयोगोंको बदल सकती और जीवनको प्रकृतिके कठोर नियमकी मूक नियतिमें शरीरधारी आधे अन्धे नटको भाग्य-निर्दिष्ट प्रतिदान या प्रतिफल देनेवाली इस स्वचालित यान्त्रिकतासे भिन्न वस्तु बना सकती है।

कर्मके साथ हमारी चेतना तथा इच्छाका सम्बन्ध ही वह वस्तु है जिसपर कार्य और परिणामकी सारी सूक्ष्मतर रेखाएँ अवश्यमेव निर्भर करेंगी; उस सम्बन्धको ही समूचे सार्थक्यका सन्धिस्थल होना चाहिये। निम्नतर सुखात्मक मूल्यों, भौतिक, प्राणिक और निम्नतर मानसिक सुख, दुःख और कष्टकी व्यवस्थापर नैतिक मूल्योंके अनुसरणकी निर्भरता हमारी सामान्य चेतना तथा इच्छाके लिये बहुत ही आकर्षक होती है; परन्तु हम ज्यों-ज्यों अपनी सत्ताकी उच्चतर ऊँचाइयोंकी ओर बढ़ते हैं उसकी एक गौण शक्ति ही रह जाती है और अन्तमें सारी शक्ति चली जाती है। अतः वह निर्भरता कर्मका समूचा या अन्तिम बल या उसका निर्देशक मानक नहीं हो सकती। कर्म और परिणामके साथ इच्छाके सम्बन्धको अधिक सूक्ष्म तथा उदार रेखाओंपर घड़ना होगा। विश्वव्यापी अध्यात्म-पुरुषका कर्मके विधानमें मनुष्योंके साथ मूल्योंके निम्नतर स्तरमें जो व्यवहार होगा वह उस व्यापारके केवल अंग-रूपमें और मनुष्यके वर्तमान उद्देश्योंको दी गयी रियायतके रूपमें होगा। ये मूल्य मनुष्यके ही लगाये हुए हैं; मनुष्य सुख और समृद्धिकी माँग उपस्थित करता है और उनकी विपरीत वस्तुओंसे भय खाता है; वह स्वर्गकी जितनी कामना करता है उतना पुण्यसे प्रेम नहीं करता, नरकसे जितना डरता है पापसे उतनी घृणा नहीं करता, और उसके ऐसा करनेसे

जगत्-व्यवस्था भी उसके लिये वही अर्थ और रंग धारण कर लेती है। परन्तु जीवनका आन्तर पुरुष केवल विधायक और न्यायाधीश नहीं है जिसका कार्य कानूनी न्यायके मानकको संरक्षित रखना, निवारिका शास्ति और पुरस्कार, पारितोषिक और दण्ड, नर्ककी प्रचण्ड वेदनाएँ और स्वर्गके अनुग्रहपूर्ण भोग वितरित करना हो। वह जगत्में स्थित भगवान् है, आध्यात्मिक विकासक्रमका प्रभु और मानवमें विकसित होता देवता है। वह देवता, चाहे कितनी ही धीमी गतिसे क्यों न हो, सुख और कष्टके पुरस्कार-दण्डोंपर निर्भर करनेकी अवस्थासे आगे बढ़ता है। सुख और दुःख हमारी आरम्भिक सत्तापर शासन करते हैं और उस आरम्भिक भूमिकामें दुःख प्रकृतिके द्वारा उन वस्तुओं का विज्ञापन होता है जिनसे हमें बचना चाहिये, सुख प्रकृतिके द्वारा दिया गया उन वस्तुओंकी ओर आकर्षण होता है जिनके अनुसरणके लिये वह हमें लुभाना चाहती है। ये उपाय सीमित लक्ष्योंके लिये प्रथम व्यावहारिक परीक्षण हैं; परन्तु हम जैसे-जैसे बढ़ते हैं हम उनके संकीर्णतर उपयोगोंसे आगे चले जाते हैं। उच्चतर प्रकृतिकी प्राप्तिके लिये हमें प्रकृतिकी प्राथमिक चेतावनियों और प्रलोभनोंकी निरन्तर अवज्ञा करनी होगी। हमें कर्मका अधिक उदात्त आध्यात्मिक विधान विकसित करना होगा।

यदि हम अपनी कर्मण्यताके महत्तर उद्देश्योंपर विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। हो सकता है कि सत्यके अनुसरणका परिणाम हमारे लिये शास्ति और कष्ट हो, स्वदेश-सेवा अथवा जगत्-सेवा हमसे हमारे बाह्य सुख और सौभाग्यकी क्षति या हमारे शरीरके नाशकी माँग करे, हमारे इच्छाबलकी वृद्धि और आत्माकी महत्ता कष्टकी कठिनाई और सुख तथा भोगके दृढ़ परित्याग द्वारा ही सम्भव हों। हम फिर भी सत्यका अनुसरण अवश्य करेंगे, हमारे अन्तरात्माने हमसे हमारी जातिकी जिस सेवाकी माँग की है उसे करेंगे, हम अपने बल और आन्तरिक महत्ताकी वृद्धि करेंगे, हमें असम्बद्ध पुरस्कारकी चाह ही नहीं होगी, हम न तो शास्तिसे बचना चाहेंगे, न अपने श्रमके ठीक-ठीक फलके लिये सौदा करेंगे। और जो वर्तमान जीवनमें हमारे कार्यके लिये सत्य है वह अवश्य ही समान रूपसे बहुतेरे जन्मोंमें हमारे सम्बद्ध कर्म और आत्म-विकासके लिये भी सत्य होगा। चाहे इस जन्ममें, चाहे भावी जीवनोंमें, हमारे लिए मूल्य-वस्तु सुख और दुःख, सौभाग्य या दुर्भाग्य नहीं है, बल्कि वह है हमारी पूर्णता और मानव-जातिका उच्चतर मंगल, उसके लिये चाहे जिस किसी भी कष्ट और विपत्तिका मूल्य चुकाना पड़े। स्पिनोजाकी यह उक्ति कि हर्ष श्रेष्ठतर पूर्णताकी ओर गमन है और दुःख न्यूनतर पूर्णताकी ओर, एक अति संक्षिप्त सूक्ति है। निस्सन्देह आह्लाद पूर्णताका वातावरण होगा और वह उसके लिये हमारे किये गये श्रमकी वेदनाकी भी प्रतीक्षा करता है, परन्तु पहले आता है एक उच्चतर आह्लाद जिसकी कीमत के रूपमें बहुत सारी कठिनाई

झेलनी होती है, और बादमें एक उच्चतम आध्यात्मिक आनन्द जो कि बाह्य परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करता, बल्कि उनकी अर्थवत्ताका नया रूप देने और उनकी प्रतिक्रियाओंको रूपान्तरित करनेके लिये सशक्त होता है। ये चीजें जगत्-ऊर्जाके यहाँके प्रथम रूपायणसे ऊपर हो सकती है, विश्व-जीवनके श्रेष्ठतर लोकोंसे आते प्रभाव हो सकती हैं, परन्तु ये फिर भी यहाँकी कर्म-व्यवस्थाका अँग, शरीरमें होनेवाले आध्यात्मिक विकास-क्रमकी प्रक्रिया हो सकती हैं। और ये उच्चतर अन्तरात्मा-प्रकृति और इच्छा, कार्य तथा परिणामको, कर्मके उच्चतर नियमको प्रविष्ट करती हैं।

अत: व्यावहारिक न्यायके विषयमें जो मानवीय धारणा है उसका भावी जन्मोंमें विस्तरण और वहाँ जीवनके प्रतीयमान अन्यायका सशोधन, केवल यही कर्मका विधान नहीं है। जगत्-ऊर्जाकी सारी क्रियाओंमें अवश्यही कोई न्याय या बल्कि ऋतत्व होना ही चाहिये; प्रकृति अपनी कार्रवाइयोंमें निस्सन्देह कर्त्तव्यनिष्ठ लगती है। परन्तु मनुष्यके जीवनमें वहुत सारे तत्त्व रहते हैं जिन्हें गणनामें लेना होता है; वहाँ भीपर्व, स्तर, श्रेणियाँ हैं। और हमारी सत्ताकी उच्चतर सीढ़ीपर चीजें न तो वैसी दीखती हैं न सर्वथा वैसी होती हैं जैसी कि निम्नतर स्तरपर। और प्रथम सामान्य स्तरपर भी बहुत सारे तत्त्व होते हैं; केवल नैतिक सुखात्मक मानक ही नहीं होता। यदि यह उचित है कि पुण्यवान् मनुष्यको सफलता एवं सुखका पुरस्कार और दुष्टको पतन तथा कष्टका दण्ड मिलना चाहिये, चाहे किसी भी समय, किसी भी जीवनमें, पृथ्वीपर या स्वर्गमें या नरकमें क्यों न हो, तो यह भी उचित है कि सबल मनुष्यको उसके अर्जित बलका पुरस्कार मिले, इच्छावल जिस किसी भी क्षेत्रमें उद्यम करे अपने प्रयास तथा कार्योंका फल प्राप्त करे। परन्तु प्रश्न उठेगा, ऐसा सही रूपसे, नैतिकताके अनुसार, सदाचारके नियमके अनुसार तो सम्पन्न नहीं होता ? इच्छा, कार्य और परिणामके इस सम्बन्धमें सही क्रिया क्या होती है? यदि हम धार्मिक और ईमानदार होकर भी मन्दबुद्धि, दुर्बल और अयोग्य हों तो ? और स्वार्थी तथा अधार्मिक होनेपर भी यदि हममें बुद्धिकी तेज गतिवाली लौ हो, समझदार मस्तिष्क हो, साधनको लक्ष्यके अनुकूल करनेका कौशल हो, लक्ष्यकी ओर स्थिर, दृढ़ और साहसपूर्ण इच्छा हो तो ? तव हममें ऐसी अपूर्णता तो है जो अपने परिणाम अवश्य आरोपित करेगी, परन्तु हममें ऐसी क्षमताएँ भी हैं जो अपनी राह बनायँगी ही। सत्य यह है कि ऊर्जाकी अनेक श्रेणियाँ हैं और प्रकृतिके सामंजस्योंके बीच उनके सही सम्बन्धोंको सही रूपसे जाना जा सके उसके पूर्व उनकी पृथक् विशिष्ट क्रियाको देख लेना होगा। हमें जिस जालको खोलना है वह जटिल है। जब हम अंगोंको समग्रके अन्दर देख चुकेंगे,तत्त्वों और उनकी सादृश्यताओंको समग्रकी दृष्टिसे देख चुकेंगे, केवल तभी हम कर्मकी रेखाओंको जान सकेंगे।

दूसरा खण्ड

कर्म - रेखाएँ

एक

आधार

कर्मकी धारणाके पीछे दो प्रत्यय हैं जो उसके घटक तत्त्व हैं, एक तो प्रकृतिका उसकी ऊर्जा या क्रियाकलापोंका नियम, और दूसरे, अन्तरात्मा, जीव, जो उस नियमके अधीन रहता है, उस ऊर्जाके अन्दर क्रियाकलापोंको डालता है और अपनी क्रियाओंके अनुरूप और अनुसार उससे प्रतिदान पाता है। और यहाँ कुछ बातें तुरन्त उठ खड़ी होती हैं जिनकी उपेक्षा नही चलेगी। यदि विश्वप्रकृतिके क्रियाकलापका स्वरूप और अर्थ, और प्रकृतिकी सत्ताका धर्म जो कि उसके क्रियाकलापका निर्माता है, अन्तरात्माके क्रियाकलापसे भिन्न हो, वह क्रियाकलाप यदि मनकी, आत्माकी, अध्यात्म-पुरुषकी ऊर्जा या कृति न हो, तो क्रियाकलापके इस निष्पादन और उसके प्रतिदानका यान्त्रिक महत्त्व ही हो सकता है, अधिक कुछ नहीं, उसका मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सार्थक्य नहीं हो सकता। यदि वैयक्ति ऊर्जा ऐसे अन्तरात्माकी ऊर्जा है जो क्रियाकलापको निष्पादित कर रहा है और वैश्व ऊर्जासे भौतिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक फलके रूपमें प्रतिदान पा रहा है, तो प्रतिदान करनेवाली उस वैश्व ऊर्जाको भी सर्वान्तरात्माकी ऊर्जा होना चाहिये जिसमें और जिससे सम्बन्धित होकर सर्वान्तरात्माकी यह वैयक्तिक लौ रह रही है। और हम यदि विचार करें तो यह प्रत्यक्ष है कि व्यक्तिकी कर्म-ऊर्जा कोई चमत्कारिक रूपसे पृथक् तथा स्वतन्त्र वस्तु नहीं, वह कोई एसी नहीं जो अपनेसे जन्मी हो, अपने-आपमें रह रही हो, अपनी पृथक् तथा सम्पूर्णतया स्व-रचित शक्तिमत्तामें कार्य कर रही हो। इसके विपरीत, वैयक्तिक ऊर्जाके अन्दर वैश्व ऊर्जा ही कार्य करती है, और निस्सन्देह उसकी क्रियाका वैयक्तिक विनियोग होता है किन्तु वह कार्य करती है वैश्व रेखाओंपर और अपने वैश्व विधानके अनुसार। किन्तु यदि यही समूचा सत्य हो तो कोई यथार्थ व्यक्ति नहीं रह जाता है और न किसी प्रकारका यथार्थ उत्तरदायित्त्व ही; केवल विश्वप्रकृतिका यह उत्तरदायित्त्व रहता है कि सर्वान्तरात्माने, विश्वपुरुषने जैसे विश्वके अन्दर वैसे ही व्यक्तिके अन्दर जिस भाव या शक्तिको व्यक्त किया है वह उस भाव या शक्तिको कार्यान्वित करे। परन्तु यहाँ व्यक्तिके अन्तरात्माकी बात भी आती है, और वह अनन्तकी सत्ता है और सर्वान्तरात्माका चेतन तथा कार्यकारक अंश है, उसका प्रतिनिधि या सहकारी है, और उसे जो ऊर्जा दी गयी है उसे वह अपने सामर्थ्य, अपने प्ररूपके अनुसार व्यक्त करता

है, उसे ऐसी इच्छासे सीमित करता है जो एक अर्थमें उसकी अपनी हैं। विश्वमें रहनेवा परमात्मा प्रभु है, प्रकृतिका ईश्वर है, लेकिन उसी प्रकार व्यक्ति भी एक प्रतिनि एक प्रत्यायुक्त ईश्वर है, अपनी प्रकृतिका यदि अधिराज नहीं तो उपराज तो है ही, कह सकते हैं कि उसे प्रकृतिकी विश्व-ऊर्जाका एक अपना रूप और उपयोग मिला और वह उसीका अभिकर्त्ता और निरीक्षक है।

इसके बाद हम देखते हैं कि प्रत्येक सत्ता जीवनमें, जगत्में, वस्तुतः किसी जाति अन्तर्गत एक व्यक्ति होती है, और प्रत्येक जातिका अपना-अपना स्वभाव होता है औ प्रत्येक व्यक्तिका भी जातिके स्वभावके अन्तर्गत अपना-अपना स्वभाव होता है। कर्म धर्म सामान्यतः जातिके इस स्वभाव द्वारा और वैयक्तिकतः व्यक्तिके स्वभाव द्वा निर्धारित होता है, परन्तु उस विशालतर वृत्तके अन्तर्गत ही। मनुष्यका एक वि विलक्षण और अद्वितीय स्वरूप होता है; वह ईश्वरका अवनमित अंश और साथ मानवजातिका प्राकृतिक अंश है। अन्य शब्दोंमें, एक सर्वसामान्य स्वधर्म और वैयक्तिक स्वधर्म होता है, अर्थात् जातिके लिये और जातिके अन्तर्गत व्यक्तिके सारे क्रियाकलापका एक स्वभाविक सिद्धान्त और नियम होता है। और यह स्पष्ट है कि प्रत्येक क्रिया सर्वसामान्य स्वधर्मका और उसके अन्तर्गत वैयक्तिक स्वधर्म एक विशेष विनियोग, एक एकल परिणाम, एक पूर्ण या अपूर्ण, ठीक या विकृत व्यव होगी।

किन्तु, फिर यह है कि यदि यही सब कुछ हो, यदि प्रत्येक मनुष्य जीवनमें अ जिस वर्त्तमान स्वभाविको लेकर आता है वह उसके लिये पहलेसे निर्धारित हो औ अटल हो और उसे उसीके अनुसार कार्य करना पड़े तो कोई यथार्थ उत्तरदायित्व होगा, क्योंकि वह अपनी प्रकृतिगत अच्छाईके अनुसार अच्छा और अपनी प्रकृति बुराईके अनुसार बुरा करेगा, वह अपनी प्रकृतिकी अपूर्णताके अनुसार अपूर्ण या उस पूर्णताके अनुसार पूर्ण होगा, और उसे अपनी अच्छाई या बुराईका प्रतिदान भोगना हो अपनी पूर्णता या अपनी अपूर्णताके यथोचित परिणाम ठीक-ठीक सहने होंगे, कि यान्त्रिक रूपसे सहने होंगे, न कि अपने वरण द्वारा: कारण यह है कि उसका प्रतीयमा वरण उसकी प्रकृतिकी बाध्यकारिता होगा और, किसी भी प्रकार, अपरोक्ष रू हो या परोक्ष रूपसे, उसके आत्माकी इच्छाका परिणाम नहीं होगा। किन्तु वस्तु उसकी सत्तामें विकासकी शक्ति है, परिवर्तनकी शक्ति है या, हमारे आधुनिक प्रत्ययों भाषामें क्रमविकासिनी शक्ति है। उसकी प्रकृति अभी जैसी है वैसी वह इसलि है कि उसने अपने भूतकाल द्वारा उसे ऐसा बनाया है; उसने इस वर्तमान निरूपण अपने आत्मामें एक पहलेसे रहती इच्छा द्वारा प्रोत्साहित किया है। वह अपने अध्या

तत्त्वकी शक्ति और सर्वान्तरात्माके वीर्यसे विश्वप्रकृतिकी विपुल सम्भावनाओंमेंसे मानवतातक उठा है। अपनी उसी मानवताके लम्बे क्रमविकाससे उसने अपनी वर्त्तमान वैयक्तिक सत्ताकी प्रकृति और कर्मको विकसित किया है; उसने मानवीय प्रकृतिकी अपनी ऊँचाई और रूपका निर्माण किया है। उसने जिसे बनाया है उसे वह बदल सकता है, और यदि विश्वकी सम्भावनाओंके अन्तर्गत ऐसा होना सम्भव हो तो वह मानवीय प्रकृतिसे परे और अतिमानवीय प्रकृतितक या उसकी ओर उठ सकता है। विश्वप्रकृतिकी सम्भावना और उसके नियम ही उसकी प्राकृतिक सत्ता और कर्मण्यताका निर्धारण करते हैं, परन्तु अध्यात्म-तत्त्वके अधीन होना उसके नियमका अंग है, और आग्रहपूर्ण पुकारके उत्तरमें वह विकसित होगी भी, क्योंकि तब वह उस दिशामें अवश्य ही प्रत्युत्तर देगी, आवश्यक ऊर्जा देगी, कार्योंका निर्धारण करेगी, वह अवश्य ही उसका परिणाम सुनिश्चित करेगी। उसका अतीत और जो वर्त्तमान प्रकृति और परिवेश उसे मिले हैं वे सतत विघ्न उपस्थित कर सकते हैं, किन्तु अन्तमें वे उसके अन्दर रहनेवाली क्रमवैकासिकी इच्छाकी सच्चाई, सम्पूर्णता और आग्रहके अनुपातमें उस इच्छाके सामने सर नवायँगे ही। सर्वसत्ताकी सारी सम्भावना उसके अन्दर है, सर्वेच्छाकी सारी शक्ति उसके पीछे है। यह क्रमविकास और इसकी सारी परिस्थितियाँ, मनुष्यका जीवन, उसके जीवनका रूप, उसकी घटनाएँ, उसके मूल्य उसी प्रेरणासे उद्‌गत होते और मनुष्यके आत्माके भूत, वर्त्तमान या भावी सक्रिय इच्छाके अनुसार घड़े जाते हैं। जैसा उसका ऊर्जाका व्यवहार है, वैसा ही वैश्व ऊर्जाका उसको प्रतिदान था और अभी और बादमें भी होगा। यही कर्मका मूलभूत अर्थ है।

साथ ही, शरीरमें जन्म लेते अध्यात्म-तत्त्वका यह कार्य और क्रमविकास सहज और सरल नहीं, जैसा कि वह तब होगा या हो सकता था यदि सारीकी सारी प्रकृति एक ही धागेकी होती और क्रमविकास किसी एक ही शक्तिकी श्रेणियोंका ऊपर उठाया जाना भर होता। कारण, प्रकृतिकी ऊर्जाके अनेक धागे, अनेक श्रेणियाँ, अनेक रूप हैं। जन्मके जगत्‌में एक ऊर्जा अन्नमयी सत्ता तथा प्रकृतिकी है, एक ऊर्जा प्राणमयीमेंसे उद्‌गत होती मनोमयी सत्ता तथा प्रकृतिकी है, एक ऊर्जा मनोमयीमेंसे उद्‌गत होती आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक सत्ता तथा प्रकृतिकी है। और ऊर्जाके इन रूपोंमेंसे प्रत्येकका अपना-अपना विधान, अपनी-अपनी कार्य-रेखा है, उसे क्रिया और अस्तित्वकी अपनी-अपनी रीतिका अधिकार है, क्योंकि समग्रकी किसी न किसी आवश्यकताके लिये प्रत्येककी आधारभूत आवश्यकता रहती है। और तदनुसार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऊर्जा अपने-अपने अन्तर्वेगमें अपनी-अपनी रेखाओंका अनुसरण करती है, बाकीकी ओर ध्यान नहीं देती और सम्मिलनमें दूसरोंपर अपना जितना

आधिपत्य जमा सकती है जमाती है। स्वयं मनोमयी सत्ता अति जटिल वस्तु है और उसकी ऊर्जाके अनेक रूप हैं, मनोमयी प्रकृतिकी एक बौद्धिक, एक नैतिक, एक भावमयी, एक सुखात्मिका ऊर्जा रहती है, और प्रत्येकके अन्दर रहनेवाली इच्छा अपने स्वशासनके लिये अपने-आपमें निरपेक्ष रहती है और फिर भी, क्रिया-रूपमें उसके अन्दर और उसके आर-पार अन्य धागोंके प्रवेशके कारण वह परिवर्त्तित होनेको बाध्य हो जाती है। जगत्-क्रियाकी विधि और गति निस्सन्देह कठिन और जटिल प्रक्रिया हैं, गहना कर्मणो गतिः,अतएव हमारे अपनी क्रियाकी विधि और गति भी गहन है, क्योंकि हमारा निरा म ऐसा कितना भी क्यों न करना चाहे हम उनके विधानको जगत्-क्रियाके विधानसे पृथक् नहीं कर सकते। और यदि ये सारी ऊर्जाएँ अध्यात्म-पुरुषकी प्रकृतिकी ऊर्जाओं के रूप हैं तो यह सम्भव है कि परम आध्यात्मिक सत्ताकी चेतनामें उठ जानेपर ही ह जगत्-क्रियाके सारे सर्वांगीण रहस्य और सामंजस्यको, और फलतः कर्मके सर्वांगी अर्थ और विधानको पूरा-पूरा समझनेकी आशा कर सकें।

अतः यदि विश्व-क्रियाके सारे प्रत्यक्ष जालको ऊर्जाके किसी एक ही रूपके नियमसे समाहित करके इस पहेलीकी गाँठको खोलनेका प्रयत्न करें तो यह आंशिक उद्देश्यके लिये तो उपयोगी हो सकता है किन्तु अन्ततः इससे अल्प लाभ ही मिल सकता है। वि एकमात्र नैतिक समस्या नहीं, अच्छे और बुरेके बीच विरोधकी ही समस्या नहीं विश्वपुरुषके बारेमें किसी भी तरह यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वह कोई कठो नैतिकतावादी हो जिसका प्रयोजन केवल सबसे नैतिक अच्छाईके विधानका पाल कराना हो, या वह सदाचारकी ओरकी प्रवृत्तिका स्रोत हो और अबतक बहुत ही दी सफलता पाकर भी अपना सिक्का जमाने और शासन करनेका प्रयत्न कर रहा है या वह कोई कठोर न्यायदाता हो जो दुष्टता, कष्ट और बुराईसे भरे इस जगत्में - जि उसने ऐसा बनाया है या जिसका ऐसा होना वह सहन कर रहा है,——प्राणियोंको पुरस्कृ और दण्डित करता हो। स्पष्ट ही वैश्व इच्छाकी इसकी अपेक्षा अनेक अन्य और अधि नमनीय विधियाँ हैं, उसकी रुचियाँ अन्तहीन हैं, उसकी सत्ताके बहुत सारे अन्य तत्त्व जिन्हें अभिव्यक्त करना है, ऐसी बहुत सारी रेखाएँ हैं जिनका उसे अनुसरण क है, ऐसे बहुत सारे नियम और उद्देश्य हैं जिनका उसे पीछा करना है। जगत्का वि केवल यह नहीं है कि हमारी अच्छाई हमें अच्छाई लाती है और बुराई बुराई, न उसकी पर्याप्त कुंजी यह नैतिक सुखवादी नियम ही होता है कि हमारी नैतिक अच्छ हमारे लिए सुख और सफलताको लाती है और हमारी नैतिक बुराई दुःख तथा दुर्भाग्य जगत्में ऋतत्वका एक नियम है, परन्तु वह ऋतत्व है प्रकृतिके सत्यका और अध्या पुरुषके सत्यका, और वह नियम एक विशाल तथा वैविध्यमय नियम है और

सारे रूप धारण करता है जिन्हें समझना और स्वीकार करना है; उसके बाद ही हम उसके उच्चतम या सर्वांगीण तत्त्वतक पहुँच सकेंगे।

बौद्धिक सत्तामें रहनेवाली इच्छा ज्ञानको और ज्ञानके सत्यको अध्यात्म-सत्ताके शासक तत्त्वके रूपमें खड़ा कर सकता है, सांकल्पिक सत्तामें रहनेवाली इच्छा इच्छा या बलको स्वयं ईश्वरके रूपमें देख सकती है, सौन्दर्यबोधिनी सत्तामें रहनेवाली इच्छा सौन्दर्य और सामंजस्यको परम विधानका सिंहासन दे सकती है, नैतिक सत्तामें रहनेवाली इच्छाको उसका दर्शन नेकी या प्रेम या न्यायके रूपमें हो सकता है, और इसी तरह एक लम्बा अध्याय वन सकता है। परन्तु यद्यपि ये सब उस परमात्माके परम रूप तो बहुत भली भाँति हो सकते हैं, तथापि अनन्तके कार्योंको किसी एक सूत्रमें बन्द कर देनेसे नहीं चलेगा। और आरम्भके लिये यह उत्तम होगा कि कर्मके नियमको यथा-सम्भव अधिकसे अधिक व्यापक और अस्पष्ट रूपसे शब्दोंमें रखा जाय और उसे किसी विशेष रंग या सारांशके बिना बस यह कहकर व्यक्त किया जाय कि जैसी ऊर्जाका व्यवहार किया जायगा वैसा ही उसका प्रतिदान होगा, और इस प्रतिदानमें चेतन इच्छाकी कोई गणितिक सठीकता नहीं होगी, उसके परिणाम यन्त्रवत् नहीं होंगे, प्रत्युत वह जगत्की अनेकों शक्तियोंकी जटिल क्रियाके अधीन होगा। यदि हम इस प्रकार व्यापक रूपसे अपना आधार-कथन उपस्थित करते हैं तो साधारण समाधानोंकी सरलता चली जाती है, परन्तु यह हानि केवल सिद्धान्त-प्रेम या मानसिक आलस्यके लिये ही होती है। विश्वक्रियाका सम्पूर्ण विधान या सबको शासित करनेवाला अद्वितीय विधान भी किसी भौतिक, यान्त्रिक और रसायनिक ऊर्जाके दायरेमें नहीं आ सकता, वह प्राण-शक्तिका ही विधान नहीं हो सकता, न ही वह नैतिक विधान या मन या भाव-विचारकी शक्तियोंका ही विधान हो सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि इनमेंसे कोई भी चीज अकेली ही न तो सारी मूलभूत शक्तियोंको समाविष्ट करती है, न उनकी व्याख्या ही। यह सम्भावना है कि ऐसा अन्य कुछ है जिसके साधन और ऊर्जाएँ ही ये सब हैं। हमारा आरम्भिक सूत्र केवल एक सामान्य यान्त्रिक नियम हो सकता है, किन्तु फिर भी यह सम्भावना है कि वह यन्त्र-विन्यासके सारे अंगोंका व्यावहारिक नियम हो, और यदि वह केवल अपने-आपका कथन करता है और आरम्भमें इससे अधिक कुछ भी नहीं करता तो भी उसकी क्रियाओंकी विविधतापर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो बहुत सारे अर्थ खुल सकते हैं और हम उसके तात्त्विक सार्थक्यकी ओर बढ़ सकते हैं।

कर्मका व्यावहारिक और कार्यकारी आधार है जीवका प्रकृतिकी ऊर्जाओंके साथ सारा सम्बन्ध, पुरुषके द्वारा प्रकृतिका व्यवहार। प्रकृतिकी ऊर्जाओंसे पुरुषकी जो माँग है, उनको उसकी जो अनुमति है या उसके द्वारा उनका जो उपयोग है और

प्रकृतिकी ऊर्जाओंका पुरुषपर जो प्रत्यागमन और प्रतिवर्त्तन है वही हमारे जन्मों हमारी प्रगतिके डगोंका निर्धारण करेगा, वह प्रगति चाहे किसी निर्दिष्ट दिशामें चाहे लम्बे उतार-चढ़ावमें, चाहे चिर वृत्तके अन्दर। कर्मके विधानका एक और प पारिस्थितिक पक्ष है, और वह निर्भर करता है इसपर कि हमारा कर्म केवल हमा अपनी ओर ही नहीं, बल्कि दूसरोंकी ओर क्या मोड़ ले रहा है। हम जिन ऊर्जाओं व्यक्त करते हैं उनकी प्रक्रांति और हमपर उनके परिणामोंका प्रत्यागमन और प्रतिव भी केवल हमें ही नहीं, हमारे चारों ओरके लोगोंको भी प्रभावित करते हैं और दूसरों हमारे कार्योंका क्या नियोग होता है, उसका उनपर क्या प्रभाव पड़ता है और हमा अपने जीवन तथा सत्तापर उस नियोगका जो प्रत्यागमन होता है और उस प्रभाव परिणामका प्रत्यावर्तन होता है उन्हें भी विचारमें लेना होगा। परन्तु हम दूसरों जिस ऊर्जाको व्यवहृत करते हैं वह सामान्यत: एक मिश्रित, शारीरिक, प्राणिक, नैति मानसिक और आध्यात्मिक प्रकृतिकी होती है, और प्रत्यागमन तथा परिणाम मिश्र प्रकृतिके होते हैं। हमारी शारीरिक क्रियामें, हमारे अन्दरसे बाहर डाले प्राणिक चापमें शारीरिक और प्राणिक बलके साथ-साथ एक मानसिक अथवा नैति बल भी होता है और प्राय: हमारी चेतन इच्छा तथा ज्ञानसे सर्वथा परे निकल जा है और हमारे लिये तथा दूसरोंके लिये उसके परिणामकी प्रकृति और परिणाम हम अभिप्राय या गणना और पूर्वानुमानसे बहुत भिन्न मिलते हैं। गणना हमसे इस का नहीं हो सकती कि हमारे द्वारा कार्य करती विश्व-ऊर्जा अति जटिल होती है और हमा चेतन इच्छा उसके अन्दर केवल उपकरणकी तरह प्रवेश करती है; हमारा यथा स्वीकरण अन्दरकी एक अधिक मूलभूत शक्तिका होता है, हमारे अवचेतन तथा अ चेतन आत्माका एक गुप्त, एक अवगूढ़ अनुमोदन होता है। और प्रत्यागमन भी अभिकर्ता चाहे जो भी हों, उसी जटिल विश्व-ऊर्जाका होता है, और उसका निर्धार उस ऊर्जामें जो शक्ति क्रिया कर रही है और जिस शक्तिपर क्रिया की जा रही है, उ किसी कठिन पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा होता है।

परन्तु कर्मका एक दूसरा, एक अन्तिम और मूलभूत अर्थ होता है; उसमें हम अन्तरात्मा और परमात्मा या सर्वात्माके बीच सम्बन्ध होता है। सब कुछ उसी आधारित है, उसीकी ओर जाता है और सब कुछको प्रत्येक डगपर उसीसे प्रसंग रख होता है। वह सम्बन्ध भी कोई वैसी सरल वस्तु नहीं जिसकी कल्पना धर्मोंमें की जा है। कारण, उसे एक बहुत ही विशाल आध्यात्मिक अर्थके अनुरूप होना होगा कि कर्मकी समूची प्रक्रियाके आधारमें है और विश्व-ऊर्जके व्यवहारमें होती हमा क्रियाओंमें प्रत्येकका उस मूलभूत और शायद अनन्त अर्थके साथ कोई सम्बन्ध अव

रहना चाहिये। ये तीन चीजें,——प्रकृतिमें जीवकी इच्छा और प्रकृतिकी जीवमें, जीवपर, उसके द्वारा और वापस उसकी ओर क्रिया, दूसरोंपर जीवकी क्रिया और उसकी क्रियाकी शक्तिका उसकी ओर प्रत्यागमन जिसमें दूसरोंकी क्रियासे जटिलता उत्पन्न होती है, इनके पारस्परिक आवागमनका प्रभाव, और जीवके कार्यकलापका उसके अपने उच्चतम आत्मा एवं सर्वात्माके साथके, ईश्वरके साथके सम्बन्धमें अर्थ,—— इन सबसे कर्मके सारे पहलू बनते हैं।

दो

पार्थिव नियम

कर्म-रेखाओंपर विचार करनेमें, अवश्य ही, जगत्की क्रियाके वास्तविक और समग्र रूपके अध्ययनसे आरम्भ करना चाहिये, उसमे चाहे हमारी नैतिक या मानसिक बुद्धिके नियम या कामनासे कितनी ही विपरीतता क्यों न मिले, और हमें यह देखना चाहिये कि क्या उसीके तथ्योंमें उसकी अपनी व्याख्या नहीं मिल सकती। हमारी नैतिक चेतना या हमारी बुद्धि जिन अनम्य ढाँचोंको अनन्तकी स्वतन्त्र या अकारण रूपसे आत्म-निर्धारण करनेवाली गतिधारापर, उसकी सत्ताकी अपरिमेय बृहत् या उसकी इच्छाकी महती जटिलताओंपर लदे रहते देखना चाहती है, यदि जगत्का वास्तिविक सत्य उनसे बाहर छूटा रह जाता है, तो बहुत सम्भवतः इसका कारण यह है कि हमारी नैतिक चेतना और हमारी मानसिक बुद्धि मानसिक और मानवीय होनेके नाते इतनी संकीर्ण है कि वह अनन्तको समझ नहीं सकती, उसे बाँध नहीं सकती। समस्याके आधारको जब कभी भी हम कठिनाईमेंसे बच निकलनेके लिये, जो कुछ हमारा अतिक्रमण करता है उसपर अपनी मर्यादाओंको आरोपित करने और ईश्वरको स्वयं हमारे जैसा होनेको ही बाध्य करनेके लिये बदलेंगे, तो यह, बहुत सम्भवतः, एक बच निकलना और बौद्धिक उपाय होगा, सत्यका मार्ग नहीं। आखिरकार ज्ञानकी समस्या है अनन्तकी गतिधाराओंको प्रतिबिम्बित करना और अनन्तका अवलोकन करना, न कि उसे हमारी बुद्धि द्वारा उसके लिये तैयार किये गये किसी साँचेके अन्दर बलात् बैठाना।

कर्मकी सामान्य धारणा इस पिछली अप्रामाणिक पद्धतिका अनुसरण करती है। हम जिस जगत्को देखते हैं वह, हमारी धारणाओंके अनुसार, यदि अनैतिक नहीं हैं तो नैतिक भी नहीं है और हमारे भावानुसार उसे जैसा होना चाहिये उसका प्रत्याख्यान करता है। अतः हम उसके पीछे जाते हैं, यह आविष्कार करते हैं कि यह पृथ्वी-जीवन ही सब कुछ नहीं है, वहाँ फिरसे अपना नैतिक नियम निर्मित करते हैं और यह पाकर हर्षित होते हैं कि आखिरकार विश्व हमारी मानवीय धारणाओंका अनुसरण करता ही है और इसलिये सब कुछ ठीक है। यहाँ जो अच्छे और बुरेका रहस्यमय संघर्ष मानिकी[1] सिद्धान्तका संग्राम, असमाधेय जाल है, उसका उपचार नहीं होता, न उसका

---

[1] तीसरी शताब्दीके मनि नामक दार्शनिकका सिद्धान्त कि हर कुछ प्रकाश और अन्धकार अच्छाई और बुराई, इन दो प्रधान तत्त्वोंसे उत्पन्न हुआ है। (अनु०)

व्याख्या ही होती है, परन्तु हम यह कहते हैं कि अन्ततः अच्छे और बुरेके साथ उनके प्रकारानुसार न्याय-व्यवहार तो होता है, अन्य लोकों अथवा जन्मोंमें अच्छेको उपयुक्त रूपसे पुरस्कार और बुरेको उपयुक्त रूपसे दण्ड दिया जाता है, अतः एक नैतिक नियमका आधिपत्य है और हम यह विश्वास सँजोए रख सकते हैं कि नेकीकी विजय होगी, अहुरमज्दकी जीत होगी, न कि अहरिमनकी, और समग्र रूपकी ओर देखें तो सब कुछ जैसा होना चाहिये वैसा ही है। या यदि ऐसा नहीं है, यदि यह जाल ऐसा है कि उसमेंसे निकला न जा सके, यदि यह जगत् ही बुरा है या जीवन एक विपुल भूल ही है – और यदि वह मनुष्यकी कामनाओं और धारणाओंके अनुकूल न हो तो मनुष्यका उसे ऐसा ही माननेकी ओर झुकाव भी रहता है,––तो कमसे कम हम वैयक्तिक रूपसे नैतिक विधानको तुष्ट करके जालमेंसे निकलकर दूर एक श्रेष्ठतर जगत्के सुख या निर्वाणकी अशरीर तथा अमना शान्तिमें चले जा सकते हैं।

परन्तु प्रश्न यह है, "क्या यह कोई बालेय और अधीरतायुक्त भाव तो नहीं? क्या ये समाधान समस्याकी सारी जटिलताके समाधानके समीप पहुँचते हैं? मान लें कि एक आधिपत्यशाली नैतिक विधानका शासन है; यह शासन जगत्में जो कर्म किया जाता है उसपर नहीं,––क्योंकि वह या तो स्वतन्त्र है या, यदि स्वतन्त्र नहीं है तो सब प्रकारका होनेको बाध्य किया जाता है,––अपितु कर्म-फलपर होता है और अन्तमें एक परम शुभ अपनेको कार्यान्वित करेगा। यह कठिनाई रहती है कि वह शुभ अशुभको अपने साधन, लगभग प्रधान साधनके रूपमें क्यों व्यवहृत करे, या आधिपत्यशाली नैतिक विधानको, जो कि प्रभुसत्तासम्पन्न, अमोचन, निरपेक्ष, अनुल्लंघ्य है, अस्तित्वका यदि कारण नहीं, तो व्यावहारिक नियामक तो है, क्यों बाध्य किया जाना चाहिये कि वह इतनी सारी अनैतिक चीजों द्वारा और एक ऐसी शक्तिके अभिकरण द्वारा जो नैतिक नहीं, पृथ्वीलोकके नरक और परलोकके नरक द्वारा, दण्डकी कुछ निर्दयता और प्रतिशोध लेनेवाली विपदाके महाप्रकोप द्वारा, कष्ट, वेदना और उत्पीड़नके अपरिमेय और कभी समाप्त न होते लगनेवाले क्रम द्वारा, अपनी परिपूर्ति सम्पन्न करे। अवश्य ही इसका कारण यह होना चाहिये कि अनन्तके अन्दर अन्य वस्तुएँ हैं, अतः यहाँ अन्य नियम और शक्तियाँ हैं और इनमेंका नैतिक विधान चाहे अपने-आपमें कितना ही श्रेष्ठ और प्रभुतासम्पन्न क्यों न हो, उसे उन अन्य विधानों और शक्तियोंकी गतिविधिके साथ हिसाब रखना ही होगा और वह अपनी रेखाओंको उस घुमावके अनुकूल करनेको बाध्य होता है। और यदि ऐसा है और यदि हमें सच्चे सम्बन्धोंका अवलोकन करना है तो हमें इन अन्य शक्तियोंके पृथक् विधान और दावेका अध्ययन करते हुए आरम्भ करना होगा; कारण, इस अध्ययनके बिना हम यह ठीक-ठीक नहीं

जान सकते कि जगत्-क्रियाके जटिल समूहमें हम जिस किसी भी नैतिक नियम हस्तक्षेप करते देख सकते हैं वे अन्य शक्तियाँ उसपर कैसे क्रिया करती हैं, उसे प्रतिबन्धित करती हैं या वह नैतिक नियम ही उनपर कैसे क्रिया करता और व्यवहृत करता है। और पहले हमें पार्थिव विधानके उस रूपको देखना चाहिये वह पुनर्जन्मके किसी भी प्रश्नसे अलग रहनेसे मिलता है, यहाँ शक्तियोंका जो खेल, नियम, अभिप्राय है उसे देखना चाहिये; कारण, हो सकता है कि सारा मूल इसमें विद्यमान ही हो और पुनर्जन्म इसके सार्थक्यको उतना सुधारता या नहीं हो, जितना कि उसे सम्पूरित करता हो।

परन्तु पृथ्वीपर पहली ऊर्जा भौतिक है; भौतिक ऊर्जाकी रेखाएँ भौतिक रूपोंकी सृष्टि करती हैं, उसकी शक्तियोंको प्रस्तरित करती हैं, वे हमारे जन्मकी प्रत्यक्ष अवस्थाएँ हैं और हमारे पार्थिव जीवनके व्यावहारिक आधार तथा मूल सर्जन करती हैं। और इस पहली ऊर्जाका स्वभाव तथा स्वधर्म क्या है? वह 'नैतिक' शब्दके मानवीय अर्थमें नैतिक नहीं होती : भौतिक विश्वके देवताओंको नैतिक विभेदोंका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, प्रत्युत वे ऊर्जाका निरा नियम जानते हैं, किसी शक्तिकी गतिविधिका सही मार्ग और परिपथ, उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया, उसकी क्रियाका ठीक परिणाम ही जानते हैं। हमारे या तत्त्वोंमें नैतिकता नहीं, विवेककी झिझक नहीं। अग्नि व्यक्तियोंका आदर करता और यदि सन्त या मनीषीको उसमें डाल दिया जाता है तो उसके शरीरको छोड़ेगा नहीं। समुद्र, तूफानी हवा, जहाजोंको तोड़नेवाली जल-चट्टानें यह नहीं कि जल-राशिमें डूबे हुए न्यायनिष्ठ मनुष्यके लिये वह भाग्य उपयुक्त था या इन निर्दयताओंमें यदि कोई दिव्य या वैश्व न्याय कार्य कर रहा है, वृक्ष या पशु या पर निष्पक्ष रूपसे आघात करनेवाला तड़ित यदि ईश्वरकी तलवार या कर्मका है,—परन्तु ऐसा केवल मनुष्यके लिये प्रतीत होगा, क्योंकि बाकी सब कुछ तो घटना है,—ज्वालामुखी, प्रचण्ड तूफान या भूकम्पके द्वारा किया गया विनाश वहाँ कष्ट या विनाश पानेवाले प्रत्येक मनुष्यके किसी विगत जीवनमें वैयक्तिक किये गये या समुदायके किये गये पापोंका दण्ड है, तो कमसे कम, प्राकृतिक तो यह नहीं जानती हैं, न इसकी कोई परवाह ही करती हैं, बल्कि अपने क्रोधकी निष्पक्षतामें ऐसे किसी भी अभिप्रायके प्रमाणको हमारी नजरसे छिपा लेती हैं। निष्ठ और अन्यायी, दोनोंपर सूर्य समान चमकता है, वर्षा एक समान पड़ती है; मयी और कराल प्रकृतिमाताकी उपकारिता और अपकारिता, उनकी सुन्दरता भयावहता, उनकी उपादेयता और संकटशालिताका दान और कष्ट उनकी

सन्तानोंको पक्षपात या विपक्ष भावके विना दिया जाता है और उनके लिये नेक मनुष्य पापीकी अपेक्षा अधिक प्रियपात्र नहीं होता। यदि नैतिक दण्डका कोई विधान प्रयुक्त किया जा रहा है, तो ऐसा करनेवाली अवश्य ही कोई ऐसी इच्छा है जो उससे ऊपर है या कोई ऐसी शक्ति है जो उसके निश्चेतन वक्षमें उससे अज्ञात रहकर कार्य कर रही है।

परन्तु स्वयं वह इच्छा उस नैतिक 'पुरुष' की नहीं हो सकती जो मनुष्यकी धारणाओंके अनुसार नीतिपरायण हो,—वशर्ते कि वह सचमुचमें मनुष्यकी सबसे अधिक शुष्कतया निर्मम और बर्बर नैतिक बुद्धि या अबुद्धिके रूपमें मनुष्यके जैसा न हो। कारण, उसके क्रियाकलापमें दण्डकी ऐसी भयावहताएँ निहित हैं जिन्हें किसी सर्वशक्तिमान् शासक मानवमें नृशंसताएँ कहकर उनसे घृणा की जायगी और नैतिक दिव्य शासकमें भी दानवीयके अलावा और कुछ नहीं माना जायगा। इस प्रकार कार्य करनेवाला व्यक्तिक ईश्वर जोहोभा-मोलोच[1] होगा, नेकी और दयाकी माँग करनेवाला दयाहीन और नेकीहीन होगा। दूसरी ओर एक निश्चेतन शक्तिको मानना जो किसी सनातन नैतिक नियमको यन्त्रवत् कार्यान्वित कर रही हो, जिसका कोई प्रवर्त्तक या चालक न हो, एक विरोधाभास होगा, क्योंकि नैतिकता चेतन मनकी सृष्टि है; निश्चेतन यन्त्रमें अच्छे-बुरेकी भावना नहीं हो सकती, नैतिक अभिप्राय या तात्पर्य नहीं हो सकता। विश्वस्थ निर्व्यक्तिक अथवा सर्व-व्यक्तिक चिन्मयी इच्छा या अध्यात्म-सत्ता ऐसा विधान भली भाँति बना सकती और उसका कार्यान्वयन सुनिश्चित कर सकती है, परन्तु तब वह हमपर अच्छाई और बुराई और उनके परिणामोंको लादती रहकर भी स्वयं तो अच्छाई और बुराईसे परे होगी। और यह कहना इसके अलावा क्या है कि वैश्व पुरुष हमारी नैतिक मर्यादाओंके अन्दर नहीं आता और वह नैतिकतासे अतीत वह अनन्त है जो यहाँ भौतिक प्रकृतिमें हमारे सामने अवनैतिक अनन्तके रूपमें प्रकट हो रहा है।

अब हमें प्रत्येक संकेत आश्वस्त करता है कि भौतिक प्रकृतिमें एक चेतन अनन्त विद्यमान है, किन्तु वह चेतना हमारी चेतनाकी तरह निर्मित या सीमित नहीं। इस प्रकृतिकी सारी निर्मितियाँ और गतियाँ एक असीम्य संबोधिमूलक प्रज्ञाकी वस्तुएँ हैं जो इतनी महती और स्वतःस्फूर्त है, इतने रहस्यमय रूपसे स्वतः-प्रभाविणी है कि उसे बुद्धिमत्ताका नाम नहीं दिया जा सकता; वे एक ऐसी शक्ति और इच्छाकी वस्तुएँ हैं जो शाश्वततामें कालके लिये और अपने प्रत्येक डगमें, उन डगोंमें भी जो अपने बाहर

---

[1] यहूदी देवता मोलोचको शिशुबलि दी जाती थी। जोहोभा एक अन्य देवताका नाम है।(अनु०)

या सतही प्रवेगमें हमें निश्चेतन प्रतीत होते हैं, एक अनिवार्य और पूर्वानुमान गतिसे कार्य कर रही है। और जैसे उसमें यह महत्तर चेतना तथा महत्तर शक्ति है, ही उसकी निर्मितियोंमें सामंजस्य तथा सौन्दर्यका एक असीम्य आन्तर तत्त्व भी जो सदा ही उसका साथ देता है यद्यपि उस तत्त्वमें भावके कार्य हमारे सौन्दर्यबो मानकोंसे मर्यादित नहीं होते। वहाँ एक अनन्त सुखवाद भी है, आनन्दका असी भाव भी है, जिससे हम तब अवगत होते हैं जब हम प्रकृतिके साथ निर्व्यक्तिक एक प्रवेश करते हैं; और जैसे उसके अन्दर जो कुछ विकराल है वह भी उसके सौन्दर्य अंग है, वैसे ही जो कुछ उसके अन्दर संकटप्रद, निर्दयी और नाशकारी है, वह भी उस आह्लादका, उसके सार्वभौम आनन्दका अंग है। अतः यदि हमारे अन्दरके अन्य तत्त्वोंको, हमारी बुद्धि, हमारी क्रियात्मक और संकल्पात्मक सत्ता, हमारी सौन्दर्यर सत्ता, हमारी सुखवादी सत्ताको भौतिक विश्वके अवलोकनमें यह संवोधिजा अनुभव होता है कि एक ऐसी महान् तथा असीम्य वस्तु उसमें तुष्टि पा रही है जो भी रहस्यमय रूपसे उनके अपने ही प्रकारकी वस्तु है, तो क्या हमारे नैतिक बोधको, हम ऋतत्व-बोधको भी वहाँ उस वस्तुकी तुष्टि नहीं दिखायी देगी जिसका एक प्रति वह स्वयं है? विश्वमें नैतिक व्यवस्थाके लिए हमारी माँगकी जड़में इसी प्रकार संबोधिमूलक बोध रहता है। हाँ, किन्तु यहाँ भी हमारी आंशिक धारणाएँ, हम अपने नैतिक मानक पर्याप्त नहीं होते; वह ऋत एक महत्तर और असीम्य ऋत वह नैतिक सूत्रसे आबद्ध नहीं, और उसका पहला सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु अ अपनी ऊर्जाके विधानका पालन करे और प्रत्येक ऊर्जा समूची योजनाके अन्दर अ स्व-रेखाओंपर चले, अपने स्व-कर्म संपन्न करे और अपने प्रतिदान उत्पन्न करे। भौ विधान भौतिक जगत्का ऋत और न्याय है, उस जगत्का कर्त्तव्य है, वह वह है उस जगत्में होना चाहिये। उपनिषद्में यक्ष-रूपी ब्रह्मके प्रश्न करनेपर, "तु क्या शक्ति है?" अग्नि-देवका उत्तर होता है, "मेरी यह शक्ति है कि जो कुछ दिया जाता है, मैं उसे जला डालता हूं," और प्राण तथा मनके प्रश्न पर प्रत्येक भौ वस्तु वैसा ही उत्तर देती है। भौतिक वस्तु अपनी भौतिक ऊर्जाकी रेखाओंका पा करती है, किसी अन्य विधान या ऋतसे सरोकार नहीं रखती। व्यवस्थाके प्र आधार-रूपमें आरम्भके लिये यदि यह सिद्धान्त नहीं हो तो किसी भी कर्म-विधान नैतिक विधानका भी अस्तित्व नहीं रह सकता।

तो इस भौतिक प्रकृतिके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है? हम देखते हैं मनुष्य वह अन्तरात्मा है जो भौतिक प्रकृतिमें हस्तक्षेप करता है और जिसका भौ जन्म प्रकृतिके क्रिया-विधानके अधीन रहते शरीरमें प्रकृतिसे ही होता है। और

भी प्रकृतिसे अधिक कुछ रहनेवाले, एक प्राण, एक मन, एक अध्यात्म-सत्ता रहनेवालेके रूपमें उसका कार्य क्या है? उसका स्वभाव क्या है, स्वधर्म क्या है? प्रथमतः उसे प्रकृतिकी आज्ञाका पालन यन्त्रकी तरह करना होता है जिसकी सँभाल उसके शरीरमें कार्य करती स्वयं वह प्रकृति रखती है; परन्तु प्रकृतिके अन्दर प्रच्छन्न चेतनाकी शक्तिको विकसित पुरुषके रूपमें उसका कार्य होता है उसके विधानको जानना और उपयोगमें लाना, और उसे जानने तथा उपयोगमें लानेमें भी उसकी अधिक भौतिक सीमा, अभ्यास, उद्देश्य तथा विधिका अतिक्रमण करना। प्रकृतिकी आज्ञाका पालन, परन्तु प्रथमा प्रकृतिका अतिक्रमण भी, मनुष्यमें सदा ही अन्तःस्थ अध्यात्म-पुरुषका अभिप्राय रहता है। अतिक्रमणका अविच्छिन्न धारा-क्रम जगत्-क्रियामें सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है और स्वयं क्रमविकास प्रकृतिका स्वातिक्रमणकी ओर, महत्तर आत्म-संभूतिकी ओर सतत प्रेरण तथा प्रयत्न है, वह प्रकृतिका वह मार्ग है जिससे वह अपने अन्तःस्थ आत्माको अधिकाधिक व्यक्त करती है, उसके जन्म और जाग्रत् बल या विद्यमानताके महत्तर रूपको बाहर लाती है। प्राण इन अतिक्रमणोंके एक समूचे प्रदेशको लाता है, मन एक अन्य और महत्तर प्रदेशको, और चूँकि मन इतने स्पष्ट रूपमें अपूर्ण तथा अधूरा है, स्वरूपतः ही एक खोज करनेवाली वस्तु है, अतः अवश्य ही मनसे ऊपर उससे परेके एक या अनेक प्रदेश होंगे। भौतिक क्रियाकलापके नियम और प्राणिक कर्मके विधानका सामना मनुष्य अपने मनकी क्षमताओं द्वारा करता है; वह मानसिक तथा नैतिक कर्मके नियमको प्रविष्ट करता है और इन सोपानोंकी सीढ़ियोंके सहारे एक अन्य वस्तुकी ओर ऊपर उठता है जो इनसे अधिक है, आध्यात्मिक क्रियाकी शक्तिमत्ताकी ओर ऊपर उठता है जो उसे स्वयं कर्मके अतिक्रमणतक, जन्म और संभूतिसे मुक्ति या जन्म और संभूतिकी स्वतन्त्रतातक, एक पूर्णताप्रद अतिक्रमणतक भी ले जा सकती है।

प्रकृतिके जगत्में, जो कि नैतिक नहीं, मनुष्य केवल नैतिक बोधके विकास द्वारा भौतिक विधानका अतिक्रमण नहीं कर सकता। इसका मूलभूत नियम बल्कि चेतन बुद्धि तथा इच्छाका प्राण और जड़की ओर अभिमुख होनां है—स्वयं नैतिकता यही ज्ञान तथा इच्छा है जिसकी खोज मनुष्यके आन्तर आत्मा और उसके बन्धु प्राणियोंके सम्बन्धमें "सत्यम् ऋतम्" के लिये है। परन्तु प्रकृतिकी शुद्ध भौतिक रेखाओंके साथ उसके व्यवहार नैतिक नहीं होते; आरम्भमें ऐसा होता है कि जहाँ ऐसा करना अनिवार्य होता है वहाँ वह उनका पालन करता है, सहजवृत्ति या अनुभवके सहारे उनका व्यवहार करता हुआ तुष्टि पाता है, उसके हाथों बाध्य होकर कष्ट भोगता है, और जैसे-जैसे वह वर्द्धित होता है, इच्छा तथा ज्ञान द्वारा अधिकाधिक संघर्ष करता है ताकि वह प्रकृतिकी शक्तियोंको अपने उपयोग और सुखके लिये, उपकरण और साधनकी प्राप्ति-

के लिये, सुअवसरोंके महत्तर आधार और वृत्तके लिये, इच्छा तथा ज्ञानके हर्ष मात्र लिये जान सके और अधिकृत कर सके। वह प्रकृतिकी शक्तियोंको अपने सुअवस बनाता है और उनके वर्द्धनके लिये प्रकृतिके संकटोंका सामना करता है। वह प्रकृति शक्तियोंको चुनौती देता है, उसकी मर्यादाओंका उल्लंघन करता है, उसके प्रथ निषेधके विरुद्ध सतत अपराध करता है, उसके दण्ड स्वीकार करता और उन्हें जीत है, उसके साथ अपने मन तथा इच्छाका मल्लयुद्ध करता हुआ उसकी उन महत्त सम्भावनाओंसे अवगत होता है जिन्हें स्वयं प्रकृतिने मनुष्यके आगमनकी प्रतीक्षा अव्यवहृत छोड़ दिया था। वह मनुष्यके प्रयासका सामना करती है भौतिक बा तथा निरोधसे, एक सदा पीछे हटती जाती 'नहीं' से, स्वयं मनुष्यके अज्ञानके आवरण अपने संकटोंके भयसे। और, आध्यात्मिक साहसिकताके अभियानके विरोध ज्ञानके नूतन अभिवर्द्धनों, इच्छाके नये रूपों या आचरणके नये मानकोंके विरोधमें मनु की अमुक सहजप्रवृत्तियाँ जो प्रतिरोध खड़ा करती हैं और जिससे उन्हें बुद्धिहीनता पाप और अधर्म इसलिये माना जाता है कि जो प्रतिष्ठित हो चुका है उसका वे उल्लं करते हैं, उस प्रतिरोधको प्रकृतिकी देन मानते हुए यह कल्पना व्यक्त की जा सक है कि भौतिक प्रकृतिके लिये, उसके अपने प्राथमिक जड़-स्वरूपके लिये, स्वयं प्रा ही, अपने आरम्भ, विच्युतियों, ठोकरों और कष्टके साथ, प्रकृतिके निश्चित भौति सामंजस्य और ठीक-ठीक मापके विधानके विरुद्ध अपराध है, और मन तो और बहुत अधिक, क्योंकि वह जीवटवाला होता है, असीम साहसिकताका पाप करता उसकी अन्तिम चाह अमितकी ओर, नियमातीतकी ओर, अनन्तकी ओर होती है

परन्तु वास्तवमें, भौतिक प्रकृतिरूपिणी देवी अपने साथ मनुष्यके व्यवहार जिस चीजसे सरोकार रखती है वह बस मनुष्यके प्रयासको अपनी ऊर्जाओंके प्रतिदा न्यायपूर्ण नियमका पालन ही है। जहाँ कहीं भी मनुष्यके ज्ञान तथा इच्छाका प्रकृति ऊर्जाओंकी रेखाओंके साथ सामंजस्य हो सकता है, प्रकृतिपर उसकी जो क्रिया हो है उसीके अनुसार वह प्रतिदान देती है; जहाँ वह ज्ञान और इच्छा प्रकृतिपर अपर्या रूपसे, अज्ञानपूर्वक, असावधानीसे, सभूल क्रिया करती हैं, प्रकृति उसके प्रयत्न अभिभूत करती या चोट पहुँचाती है; मनुष्य जैसे-जैसे अधिक इच्छा करता औ आविष्कार करता है, प्रकृति उसे अपनी शक्तियोंकी महत्तर उपयोगिता और फ रूपमें प्रतिदान देती है, उसकी अधिकारप्राप्तिको स्वीकृति देती और उसके बलात् का समर्थन करती है। मनुष्यने प्रकृतिके उसकी महत्तर गुप्त सम्भावनाओंवा स्वरूपके साथ एकत्व पा लिया है, उसका उसके साथ योग हो गया है,—मनुष्यने सम्भावनाओंको मुक्त किया है और जैसा वह उनका उपयोग करता है वैसा ही

प्रकृतिसे उनका प्रतिदान मिलता है। वह प्रेक्षण करता है और प्रकृतिके लिये उसकी रेखाएँ विस्तृत करता है और प्रकृति एक यथातथ संचालन और आज्ञाकारिताके साथ प्रत्युत्तर देती है। वर्त्तमानमें वह यह सब क्रियाकी अमुक भौतिक सीमाओं और रेखाओंके अन्तर्गत कर सकता है और एक परिवर्त्तन तो होता है किन्तु आमूल परिवर्तन नहीं। ऐसे संकेत हैं कि भौतिकपर मानसिक और चैत्यिक ऊर्जाके अधिक सीधे चाप द्वारा प्रत्युत्तरको अधिक परिवर्तनशील बनाया जा सकता है, भौतिकका अटल दीखनेवाली सीमाओं और अभ्यासोंसे विलगाव हो जाता है, और यह धारणागम्य है कि जैसे-जैसे ज्ञान और इच्छाका उच्चतर और अधिक उच्चतर शक्तियोंके प्रदेशमें प्रवेश होगा, भौतिक ऊर्जाकी क्रिया भी पूरी प्रत्युत्तरशील हो जा सकेगी, उसके लिये जिस किसी भी प्रतिदानकी माँग व्यक्त होगी, वह दे सकेगी, उसकी रेखाएँ पूर्णतया नमनीय हो सकेंगी। परन्तु इस अतिक्रान्तिको सर्वेच्छा द्वारा निर्धारित महान् आद्य नियमोंका आदर करना ही होगा : भौतिक ऊर्जाका निर्बन्ध उपयोग, शायद बड़ा रूपान्तर भी हो सकेगा, परन्तु उसके मूलभूत नियम एवं उद्देश्यसे विलगाव नहीं होगा।

इस सबसे एक विधानका शासन, एक ऊर्जाके न्यायपूर्ण प्रतिदानका सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है जो कि कर्मका तटस्थ सार-तत्त्व है, किन्तु उसकी आँखोंमें नैतिक मानकोंके लिये आदर नहीं होगा, उसमें नैतिक तात्पर्य नहीं होगा। भौतिक ज्ञान और उसकी शक्तियोंतक पहुँचनेके लिये मनुष्य निर्दय और अनैतिक साधनोंका आविष्कार कर सकता और करता है या प्रकृति जिन ऊर्जाओंको मनुष्यके लिये प्राप्य बनाती है उन्हें वह अनैतिक उद्देश्योंकी ओर मोड़ दे सकता है, परन्तु यह बात उसकी इच्छा और उसके अपने अन्तरात्माके बीचकी और अन्य प्राणियोंके साथ उसके सम्बन्धकी होती है, यह मनुष्य और अन्य प्राणियोंके मतलबकी बात है, प्रकृतिके मतलबकी नहीं। भौतिक प्रकृति अपने परिणाम और पारितोषिक निष्पक्ष रूपसे देती है और मनुष्यसे उसकी माँग नैतिक विधानके पालनकी नहीं, अपितु भौतिक विधानके पालनकी रहती है : वह केवल यह चाहती है कि उसकी भौतिक रेखाओंका ठीक-ठीक ज्ञान और सतर्क व्यवहार हो, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। विज्ञानकी बहुत सारी निर्दयताओंपर उसके किसी कर्मिक प्रत्युत्तरकी कार्रवाई नहीं होती, अपनी दी गयी युक्तियोंके अनैतिक व्यवहारके विरुद्ध उसका विद्रोह नहीं होता, वह अज्ञानका दण्ड बहुत देती है परन्तु दुष्टताका कोई भी नहीं। यदि प्रकृतिके नीचेके चक्करोंमें ऐसा कुछ है जो नैतिक विधानके अमुक उल्लंघनोंके विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है तो उसका आरम्भ एक ऊँचे स्तरपर, अस्पष्ट रूपमें, प्राणसे होता है। उस प्रकारकी एक प्राणिक प्रतिक्रिया वहाँ रहती है और वह शारीरिक-प्राणिक प्रभाव उत्पन्न करती है, परन्तु यह ध्यानमें रखना

है कि इस प्रकारकी प्रतिक्रियामें हमारी सीमाओं और मापोंका पालन नहीं हो बल्कि वैसी ही अविवेकशील निष्पक्षता रहती है जैसी कि भौतिक प्रकृतिके कार्यों इस क्षेत्रमें हमें एक प्रातिनिधिक दण्डके विधानको स्वीकार करना होता है, सदा दोषीके पापोंके लिये निर्दोषपर प्रहार होता मिलता है, और यह चीज यदि मान प्राणीके हाथों भुगतायी जाय तो हमें वीभत्स और पाशविक रूपसे अनैतिक और अन्या पूर्ण लगेगी। अपनी भूलों और अतिशयताओंके लिये अपने आपको दण्डित करने प्राण उस प्रतिक्रियाको अतिशयता या भूल करनेवालेतक सीमित रखनेकी कोई परवाह नहीं करता लगता। यहाँ ऊर्जा-रेखाओंकी एक ऐसी व्यवस्था है जो क कम प्रथमतः या अभिप्रायमें नैतिक नहीं होती, बल्कि प्रतिदानोंके एक ऐसे तन् सम्बन्ध रखती है जिसपर हमारे नैतिक विचारोंका शासन नहीं है।

प्राणकी गतिविधि भी सचमुचमें नैतिक रेखाओंपर उतनी ही थोड़ी अधि लगती हैं जितनी कि भौतिक गतिविधि। प्राणका मूलभूत ऋत और न्याय है प्राणि ऊर्जाओंके घुमावका अनुसरण, प्राण-शक्तिकी क्रियाओंका पालन और अपनी नि शक्तियोंको प्रतिदान। उसका कार्य है अतिजीवी होना, अपना पुनरुत्पादन कर वर्द्धित होना, अधिकृत करना और भोग करना, अपनी क्रिया, बल, सत्त्व और सुख उतना दीर्घ, वर्द्धित और सुनिश्चित करना जितना कि पृथ्वी करने दे। इन उद्देश्यों प्राप्तिके हेतु प्राणके लिये सभी साधन अच्छे हैं: बाकी जो कुछ है वह प्राणिक ऊर्जा औ उसके भौतिक साधनोंके बीच सही सन्तुलनकी बात है, उसकी शक्तियोंकी अभिव्यक्ति की और उन शक्तियोंके बदले उसे जिस प्रकारका प्रतिदान मिलता है उसकी बात है आरम्भमें हमें केवल इतना ही दीखता है,——और प्राणमें मनका उन्मज्जन हो जाने बाद भी, और जब तक मन प्राणशक्तिका आज्ञाकारी रहता है, यही बात रहती है प्राणिक प्रकृति अपने उद्देश्योंका कार्यान्वयन पर्याप्त त्रुटिहीन रूपसे करती है, प नैतिक अर्थमें निर्दोष रूपसे करती हो ऐसा तो विल्कुल नहीं कहा जा सकता। आ संरक्षणके लिये मृत्यु उसका द्वितीय साधन है, परिवर्तन, पुनर्नवीकरण और प्रकृ लिये विनाश उसका सतत उपकरण है, अधिकतम बार निजको या दूसरोंको दि गया कष्ट विजय और सुखके लिये उसका मूल्यदान है। सकल प्राण अन्य प्राण ही जीता है, अनधिकार प्रवेश और शोषण द्वारा अपने लिये स्थान बनाता है, साह द्वारा, किन्तु उससे भी अधिक, संघर्ष द्वारा अधिकार करता है। प्राण क्रिया करता प्राणियोंके पारस्परिक आघात और एक दूसरेके पारस्परिक उपयोग द्वारा, प उसकी क्रिया पारस्परिक सहायता द्वारा अंशतः ही और पारस्परिक आक्रमण भक्षणके द्वारा बहुत अधिक होती है। और उसकी पुनरुत्पत्ति एक ऐसे साधनसे

है जिसे नैतिक बोध, अधिकतम सहनशील रहनेकी अवस्थामें भी, पाशवोचित और निम्न अनुभव करता है, उसे अपने-आपमें अनैतिक माननेको प्रवण रहता है, और प्रखर सन्यासवाद या पवित्रतावादकी अवस्थामें उठनेपर तो नीच कहकर परित्यक्त करता है। और फिर भी जब हम एक बार अपनी सीमित मानवीय धारणाओंको अलग रख देते हैं और इस विशाल, वैविध्यमय और अद्‌भुत प्राणिक प्रकृतिको, जिसमें हमने जन्म लिया है, निष्पक्ष आँखोंसे देखते हैं, तो हमें उसके अन्दर एक रहस्यमयी पूर्णतावाली व्यवस्था मिलती है, संबोधिकी एक गभीर तथा असीम्य बुद्धिमत्ताका कार्य मिलता है, उसके पूर्णदृष्टि-सम्पन्न कार्यमें एक विशाल बल तथा संकल्प मिलता है, हमें जो विसंवादोंका तन्त्र प्रतीत होता है उसमेंसे निर्मित सौन्दर्य तथा सामंजस्यका एक महान् सम्पूर्ण मिलता है, जीवन तथा सृष्टिका एक सशक्त हर्ष मिलता है जिसे वैयक्तिक मृत्यु अथवा कष्टका कोई भारी शुल्क भी थका नहीं सकता, निरुत्साहित नहीं कर सकता और जिसमें बल्कि ये वस्तुएँ, जब हम उसकी गतिधाराके महत्तर आनन्दके साथ एकत्व लाभ करते हैं, उभार ही लाती लगती हैं और उसके उल्लासके रंगकी उपस्थितिमें इन छायाओंका मूल्य रहता नहीं लगता। यहाँ भी प्राणिक प्रकृतिके इन डगोंमें और उसकी ऊर्जाओंके नियममें अनन्तका एक सत्य है; और प्राणके लिये,—मानों प्राणके ही निमित्त और सृष्टिके आनन्दके निमित्त,—'अनन्त' के आग्रहके इस सत्यके लिये ऋत तथा सामंजस्यके, उचित सन्तुलन और मापके, ऊर्जाके उचित क्रिया और प्रतिक्रियाके अपने मानक हैं जिनका निर्णय मानवीय नियमसे नहीं किया जा सकता। यह मनसे पहले आनेवाला और निर्व्यक्तिक एवं अचल तपस तथा आनन्द है और फलंतः अचल न-नैतिक व्यवस्था है।

फिर, प्राणिक प्रकृतिके साथ मनुष्यका सम्बन्ध है पहले तो उसके नियमका पालन और अनुसरण करते हुए उसके साथ एक होनेका, बादमें उसे चेतन बुद्धि तथा इच्छा द्वारा जानने और निर्देशित करनेका और उस निर्देशन द्वारा प्राणके प्रथम विधानका, उसके नियम और अभ्यास, सूत्र और आरम्भिक अर्थका अतिक्रमण करनेका। पहले वह प्राणकी सहजवृत्तियोंका आज्ञाकारी रहनेको बाध्य होता है और उसे पशुकी तरह भी कार्य करना पड़ता है, किन्तु वह जो कुछ करता है उसमें एक मनोभावापन्न प्रेरण, एक अधिकाधिक स्पष्ट चेतना और उत्तरदायी इच्छाके अभिवर्द्धित तत्त्व रहते हैं। पहले उसे भी अपने अस्तित्वके लिये, अपने लिये और अपनी जातिके लिये स्थान बनानेके लिये, वर्द्धन, अधिकार और भोगके लिये, अपनी जीवन-गतिकी प्राथमिक प्राणिक रेखाओंको दीर्घ, अभिवर्द्धित तथा सुनिश्चित करनेके लिये प्रयास करना होता है। वह भी ऐसा दूसरोंकी तरह ही, युद्ध और हत्या द्वारा, भक्षण द्वारा, अनधिकार प्रवेश

द्वारा, पृथ्वी,उसके उत्पादनों,उसकी बुद्धिहीन सन्तानों और अपने साथी मनुष्यों अपना भार लादता हुआ करता है। उसकी प्राणिक प्रकृतिका धर्म है प्रथमत: ब द्रुतता और साहसके प्रति और उत्तरजीविता, प्रभुता और सफलताकी सारी सहायिक वस्तुओंके प्रति दायित्व। उसके अन्दरकी जो वस्तुएँ नैतिक सार्थक्यका विकास कर हैं उनमेंसे भी अधिकांशका,—— उदाहरणार्थ आत्म-नियन्त्रण, तपस्या, अनुशासन ——मूल स्वरूप नैतिक नहीं, प्रत्युत क्रियामय है। वे प्राणिक-क्रियाशील ऊर्जा हैं, नैतिक ऊर्जाएँ नहीं; वे मनोभावापन्न प्राण-शक्तियोंका सम्यक् रूपसे घनीभूत औ व्यवस्थित प्रयोग हैं और वे जो प्रतिदान खोजती और पाती हैं वे प्राण और क्रिया श्रेणीके हैं, वे हैं बल, सफलता, प्रभुता, प्राणिक अधिकार और विस्तारके वर्द्धित सामर्थ्य या इन वस्तुओंके प्राणिक-सुखात्मक परिणाम, मनुष्यकी कामनाओंकी तुष्टि, प्राणि सुख, भोग और प्रसन्नता।

मनुष्यका पहला व्यवसाय है व्यक्ति और जातिके जीवनकी रेखाओंमें अभि वर्द्धनके लिये अपनी सचेतन बुद्धि तथा इच्छाको लाना। यहाँ, फिर, जीवन-ऊ अपने प्रतिदान प्रथमत: इन दो शक्तियोंको और किसी नैतिक शक्तिको द्वितीय और अंशत: ही देती है। जीवनके प्राथमिक मूल्योंमें युद्धका पुरस्कार बलवान् मिलता है, दौड़में जीत द्रुतगतिवान्‌को मिलती है, और जो दुर्बल और मन्द हैं वे अ महत्तर पुण्यके बलपर लक्ष्य और मुकुटका दावा नहीं कर सकते; और इसमें एक न्या है बल्कि पुरस्कारका नैतिक सिद्धान्त यहाँ अन्याय हो जायगा, क्योंकि वह ऊर्जाके स प्रतिदानोंके सिद्धान्तका खण्डन होगा जब कि वह सिद्धान्त कर्मके किसी भी सम्भ नियमके लिये मूलभूत होता है। मनकी शक्तियों द्वारा होनेवाले कर्मकी बात उठा तो वहाँ भी महत्तर सफलताएँ, श्री और विजय महान् बुद्धिशाली मनुष्यों और महा इच्छावाले मनुष्योंके हाथ लगती हैं, न कि अनिवार्यत: अधिक नैतिक बुद्धि या अधि नैतिक-भावापन्न इच्छाके हाथ। जीवनके इस सक्रिय पहलूमें नैतिकताका मोल केव विवेकशील नियन्त्रण या एकाग्रकारी तपस्याके रूपमें रहता है। जीवन-देवी उन सहायता करती है जो अत्यधिक बुद्धिमानी और निष्ठासे उसके अन्तर्वेगोंका अनुसर करते हैं या उनकी सहायता करती है जो उसके विस्तरणके महत्तर अन्तर्वेगोंकी सहाय अत्यधिक सबलतासे करते हैं। इन्हें ही जीवनसे अधिकतम विवेकयुक्त लाभ मिल है और इन्हें ही उसके बल, क्रिया और हर्षकी अधिकतम प्राप्ति होती है।

यह महत्तर गतिधारा एक साथ ही अधिक हर्षके साथ-साथ अधिक कष्ट शक्तिको लाती है, जीवनके महत्तर पुण्योंके साथ-साथ जीवनके महत्तर पापोंको ला है। जैसे भौतिक प्रकृतिके संकटोंको, वैसे ही प्राणिक ऊर्जाके संकटोंको भी मनुष्य उ

उन निरापद नियमों और सीमाओंका उल्लंघन करके उठाता है जिन्हें वह पशुपर स्वभाविक रूपसे आरोपित करती है। अपनी ऊर्जाओंके उपयोगमें प्रकृतिके अपने सन्तुलन होते हैं, निरापद माप और प्रतिबन्ध होते हैं जो जीवनयापनको यथासम्भव निरापद बनाते हैं,——क्योंकि जीवनमात्र स्वभावत: एक संकट और साहसिकता है, परन्तु प्रकृतिमें एक विवेक रहता है जो साहसिकताके तत्त्वको उतना न्यून कर देता है जितना कि उसके लक्ष्योंसे संगत रहता है और मनुष्यकी बुद्धि और भी अधिक अच्छा करनेके लिये, संकटमय जीवनके बदले निरापद जीवन व्यतीत करनेके लिये, अपने जीवनकी व्यवस्थामेंसे अधिक विकट अनिश्चितियोंको बहिष्कृत करनेके लिये प्रयत्न करती है। परन्तु मनुष्यकी विस्तरणकी सहजवृत्ति निरन्तर प्रकृतिके सन्तुलन भंग करती रही है और मनुष्यकी अपनी सीमाओं और मापोंकी अवहेलना करती रही है। उसमें उत्कण्ठा है अनुभवकी, सामान्य, ज्ञात तथा निरापदके अनुभव तथा भोगकी तरह अमित तथा अज्ञातके बल, अनुभव और भोगकी, सन्तुलित औसतकी तरह संकट-शाली चरमत्वोंकी। वह जीवन-शक्तिकी सारी सम्भावनाओंकी थाह लेता रहेगा, उसकी सारी ऊर्जाओंके सही और गलत दोनों तरहके उपयोगोंकी जाँच करेगा, अपने कष्टका शुल्क चुकायगा और अपनी अधिक भव्य विजयोंका पुरस्कार पायगा। प्राणकी विधाओंमें कार्य करता मन जहाँ तक ऐसा कर सकता है, मनुष्यको प्राणकी रेखाओंका अभिवर्द्धन और उसकी क्रिया तथा सम्भावनाओंका रूपान्तरण करना है। अबतक यह कार्य रूपोंको श्रेष्ठतर करते रहना रहा है और कभी भी इतनी दूरीतक नहीं गया है कि आमूल परिवर्तन कर दे और उसके प्रथम स्वरूपको पददलित कर दे। हममें अधिकतर लोगोंका अधिकतर भाग अवर्द्धित, मनोभावापन्न, युक्तिशील और चेतन इच्छावान् पशुका है, इस स्वरूपसे आगे हम अपने आन्तरिक जीवनके रूपान्तरण द्वारा ही जा सकते हैं, और प्राणिक प्रकृतिके रूपान्तरकी और उसे उच्चतर अध्यात्म-तत्त्वका उपकरण बनानेकी आशा हम केवल तब कर सकते हैं जब कि हम उसे ऊपर उठाते हुए किसी ऐसे आध्यात्मिक बलके साथ एकीभूत कर दें जिस तक हम अभी तक नहीं पहुँचे हैं। तब मनुष्य यथार्थत: अपने जीवनका स्वामी, अपनी प्राणिक एवं भौतिक प्रकृतिका नियन्ता हो सकता है जिसका प्रयास वह कर रहा है।

इस बीच अपने मनके अन्तर्मुख मोड़ द्वारा ही वह किसी अतिक्रान्ति-जैसी वस्तु तक, जीवनके लिये नहीं, अपितु सत्यके लिये, सौन्दर्यके लिये, अन्तरात्माके बलके लिये, शिव एवं ऋत, प्रेम एवं न्यायके लिये जीवनयापन जैसी किसी वस्तु तक पहुँचता है। यही प्रयास ऊर्जाके निम्नतर चक्करोंमें एक उच्चतर वृत्तकी शक्तियोंको, कार्य और कार्यफलके, कर्मके उस मानसिक तथा सत्यत: नैतिक विधानके अंशको लाता है जो अन्तमें उसका आध्यात्मिक विधान बन जानेकी ओर मुड़ता है।

तीन

मन:प्रकृति और कर्म-विधान

मानव आखिरकार अपने मानवत्वके सारतत्त्वमें या अपने अन्तरात्माकी आन्तरिक सत्यतामें कोई ऐसी प्राणिक और शारीरिक सत्ता नहीं है जिसे मानसिक इच्छा तथा बुद्धिकी विशेष शक्ति तक उठा दिया गया हो। यदि वैसा होता तो जिस मतके अनुसार हमारा अस्तित्व जीवनेच्छाकी, एक ऐसी प्राणशक्तिकी अभिव्यक्ति है जो अपनी ही क्रीड़ा, उन्नयन, कार्यकुशल शक्ति, विस्तारके अतिरिक्त किसी अन्य लक्ष्य द्वारा चालित नहीं होती, तो इसकी अच्छी सम्भावना होती कि वही मत हमारे विश्व पर्याप्त सिद्धान्त हो और हमारा कर्म-विधान उसी एक लक्ष्यके साथ पूरा समस्वर और उसी प्रधान तत्त्व द्वारा व्यवस्थित हो। अवश्य ही इस जगत्की बाह्य क्रियाओंके ब भागमें, या यदि हम अपनी आँखोंको प्रधानत: विश्वात्माकी प्राणिक क्रीड़ापर गड़ाये हुए उन क्रियाओंको मनुष्यका प्रमुख व्यवसाय और मुख्य महत्त्वपूर्ण वस्तु मानते हैं तो मानव-सत्ताके विषयमें इस सीमित दृष्टिको एक आभासी औचित्य मिल जाता है। किन्तु मनुष्य जितना अधिक अपने अन्दर देखता और जितना अधिक वह अन्दर जाता और अपने मन तथा अन्तरात्मामें अन्तरंग और प्रधान रूपसे निवास करता है, उतना ही अधिक वह यह आविष्कार करता है कि वह शरीरकी पेटीमें रहनेवाला और प्राणकी क्रियाओंके जालमें उलझा हुआ मनु, मनोमय पुरुष है। वह शारीरिक शक्तियोंके यन्त्र-विन्यासका विचारशील, इच्छावान् तथा अनुभवकारी परिणाम होने या प्राणिक शक्तियोंका समझदार सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा अधिक कुछ है। मनुष्यकी सत्ताकी एक मनोमयी ऊर्जा है जो पार्थिव क्रियासे और मनुष्यकी अपनी पार्थिव प्रकृतिसे ऊपर उठी रहती, उनमें व्याप्त रहती और उनका उपयोग करती है।

मनुष्यकी सत्ताकी यह प्रकृति हमें कर्मके प्राणवादी विधानसे सन्तुष्ट नहीं रहने देती : अध्यात्म-सत्ताकी जागृत मनोमयी ऊर्जा प्राणमयी ऊर्जाकी रेखाओंमें हस्तक्षेप करती, उन्हें ऊपर उठाती और परिवर्तित करती है; यह ऊर्जा भौतिक विश्वमें उन्मज्जित होती है, यहाँ पृथ्वीपर अपने आवासके लिये मानव-रूपकी सृष्टि करती है, मनुष्यकी संश्लिष्ट प्रकृतिको अपनी अभिव्यंजिका शक्ति, अपने सामंजस्योंकी स्वरलिपि बनाती है। भौतिक प्रकृतिकी प्रतीयमान निश्चेतना, वह सुन्दर और कराल, दयालु और निर्दय, चेतन किन्तु निर्नैतिक प्राणशक्ति

जो कि हमारे सामने दीखनेवाली प्रथम वस्तु है, इस लोकमें विश्वपुरुषकी समूची स्वाभिव्यक्ति नहीं, अतएव समूची प्रकृति भी नहीं। उसके अन्दर मनुष्य आता है प्रकृतिके उच्चतर धर्मको और फलतः कर्म-रेखाओंके उच्चतर तन्त्रको व्यक्त और चरितार्थ करनेके लिये। मनोमयी ऊर्जा अपना विभाजन करती और बहुतेरी दिशाओं-में दौड़ती है; उसकी अपनी क्रियाके स्तरोंका ऊपर उठता सोपान है, उसके सक्रिय लक्ष्यों और उद्देश्योंका बड़ा वैविध्य और सम्मिलन है। उसकी बुनाईकी अनेक लड़ियाँ हैं और वह प्रत्येकका अनुसरण उसकी अपनी रेखापर करती है और एकके धागोंमें दूसरीके धागोंको अनेक तरहसे मिलाती है। उसमें एक ऊर्जा विचारकी होती है जो ज्ञानके प्रतिदान और सतत वर्द्धनके लिये निर्गत होती है, एक ऊर्जा इच्छाकी होती है, जो चेतन अधिकार, सत्ताकी परिपूर्ति और प्रतिदान और वर्द्धनके लिये निर्गत होती है, एक ऊर्जा चेतन सौन्दर्य-रसिकताकी होती है जो सौन्दर्यके सर्जन और उपभोगके प्रतिदान और वर्द्धनकी टोहमें रहती है, एक ऊर्जा भावावेगकी होती है जो अपनी क्रियामें सत्ताकी भावप्रवण शक्तिके उपभोग और तुष्टिका प्रतिदान और सतत वर्द्धन माँगती है। ये सारी ऊर्जाएँ एक प्रकारसे अपने लिये कार्य करती हैं और फिर भी एक दूसरीपर निर्भर करती हैं और विकट रूपसे एक दूसरीकी संगिनी और परस्परमिश्रित हैं। साथ ही मन जड़तत्त्वमें उतर आया है और उसे प्राणिक तथा शारीरिक ऊर्जाके इस जगत्में और इसके द्वारा कार्य करना होता है, प्राणिक तथा शारीरिक कर्मकी रेखाओंको मंजूर करना और उनका कुछ करना होता है।

तो, चूँकि मनुष्य मनोमय पुरुष है, अध्यात्म-सत्ताकी मनोमयी स्वाभिव्यक्तिके विकासक्रमका साधन है, अतः वह अपने कर्म और प्रकृतिके नियमको प्राणिक तथा शारीरिक विधिके प्रति आज्ञाकारी रहने और अपने प्राणिक तथा शारीरिक अस्तित्वके अधिक महान्, अधिक व्यवस्थित, अधिक पूर्ण भोगके लिये, चिरस्थायीकरण, पुनरुत्पादन, स्वत्व, भोग और विस्तरणके लिये उसका बुद्धियुक्त व्यवहार करनेतक सीमित नहीं कर दे सकता। मनोमय पुरुष और प्रकृतिका एक उच्चतर धर्म है और मनुष्य उसके प्रति चेतन होगा ही और उसे अपने प्राण तथा कर्मपर आरोपित करना चाहेगा ही। आरम्भमें वह प्राणकी आवश्यकताओं और प्राणकी ऊर्जाओंकी क्रियासे बहुत ही प्रमुख रूपसे शासित होता है, और उनपर तथा अपने चारों ओरके जगत्पर अपनी मनोमयी ऊर्जाका प्रयोग करनेमें ही वह अपनी ज्ञान तथा इच्छाकी शक्तियोंका प्रथमारम्भिक विकास करता और अमार्जित अन्तर्वेगोंको शिक्षित करता है जो उसे उसके भावावेग-सम्बन्धी, सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी और नैतिकता-सम्बन्धी विकासक्रमके मार्गमें ले जाते हैं। परन्तु सदा ही एक अस्पष्ट तत्त्व रहता है जिसे मनोमयी ऊर्जाओंकी क्रियामें

उन्हींके कारण रस मिलता है और यही तत्त्व, वह आरम्भमें आत्मचेतना तथा बुद्धि चाहे कितना ही अपूर्ण क्यों न हो, मनुष्यमें प्रकृतिका जो विशिष्ट अभिप्राय है उसे प्रत्युपस्थित करता है और उसके मानसिक तथा अन्ततः उसके आध्यात्मिक विक क्रमको अवश्यम्भावी कर देता है। अपने चारों ओरके बाहरी जगत्के आग्रहके कार और उस जगत्के सुयोगोंको व्यवहृत करने और उसके घेरे और संकटोंका सामना करनेकी आवश्यकताके कारण मनुष्यका मन प्राण और बाह्य कर्मसे और भौतिक तथा प्राणि शक्तियोंके साथ अपने व्यवहारोंके लिये विचार, इच्छा और प्रत्यक्षबोधकी उपयोगिता बहुत आविष्ट रहता है, और जो मनोमयी प्रकृति अपने आन्तरिक स्व-विकासकी मां करती है, ज्ञान, प्रभुता, सौन्दर्य और शुद्धतर भावुक आनन्दकी खोज उन्हींके निमि करती है, उस प्रकृतिकी अधिक उत्कृष्ट और अधिक निष्काम क्रिया, उसके संचाल हेतुका सूक्ष्मतर ढाँचा, और मनोमयी प्रकृतिकी इस उच्चतर ऊर्जाके विशिष्ट व्यवसा इस पूर्वव्यवस्तताको उप-उत्पत्तियोंकी तरह, और हर दिशामें, अप्रधान वस्तुएँ लग हैं जिन्हें मनोभावापन्न प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताकी आवश्यकताओं और मांग हेतु सदा ही स्थगित किया जा सकता और उनके नीचे गौण स्थानमें रखा जा सक है। परन्तु मानवजातिका अधिक उत्कृष्ट और अधिक विकसित मन सदा एक विप आत्म-दर्शनकी ओर अभिमुख हुआ है, उसे ही हमारी सत्ताका अधिकतम विशि और मूल्यवान् तत्त्व माननेको प्रवण रहा है और उसकी पुकारों या उसके नियोग आदेशके लिये बहुत कुछ और कभी-कभी सब कुछ बलिदान करनेको उद्यत रहा है तब स्वयं जीवन, वस्तुतः मनुष्यके लिये क्रमविकासके हेतु, नवानुभवके सुयोग हेतु, कार्य-क्षेत्र ही, मानसिक और आध्यात्मिक सत्ताके कठिन प्रयास और प्रभुत्व परिस्थिति ही हो जाता है। अब, इस मनोमयी ऊर्जाकी रेखाएँ क्या होंगी और प्राणि तथा शारीरिक कर्मकी रेखाओंको वे किस भाँति प्रभावित करेंगी और उनसे किस भां प्रभावित होंगी ?

जीवन-रेखाओंके सहारे प्रक्षिप्त होती मनुष्यकी मनोमयी ऊर्जाकी तीन गति हैं; वे एक-एक करके आनेवाली गतियाँ हैं, फिर भी परस्पराच्छादिनी हैं और ए दूसरीमें प्रवेश कर जाती हैं। उन्होंने मनुष्यके कर्म-विधानकी एक त्रिविध लड़ी बन है। पहली वह है जो प्राथमिक, स्पष्ट, सार्वभौमिक है, मनुष्यके प्रारम्भोंमें प्र हैं;——इसमें मनुष्यका मन अपने आपको जड़गत जीवनके विधानके अधीन कर और उसके अनुकूल बनाता है ताकि वह पार्थिव अस्तित्वका अधिकतम उपयोग अपने सुख और लाभके लिये, अर्थ और कामके लिये कर सके, और उसकी पहलेसे विद्य रेखाओंमें केवल वही परिवर्तन या संशोधन होता है जो मानवीय बुद्धि, इच्छा, भावा

और रसबोधके आघातमात्रमे अंतर्निहित है। ये निस्सन्देह वे शक्तियाँ हैं जो सारे प्राणियोंमें सर्वसामान्य रहनेवाले प्रथम अमार्जित, संकीर्ण और मूलतः पशुगत लक्ष्यों और गतिविधिको चेतन रूपसे नियमित और अधिकाधिक निपुण तथा विलक्षण व्यवहारसे ऊपर उठाती, बहुत ही अभिवर्द्धित करती और असीम रूपसे विरल और सूक्ष्म कर देती हैं। और मनोभावापन्न प्राणिक जीवनका यह तत्त्व, उसकी गतिविधिकी ये रेखाएँ जो कि औसत आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और गृहस्थ मनुष्यके जीवनके मुख्य धूसर ठोस उपादान होती है, एक विशाल आयाम और भव्य चमक धारण कर सकती हैं, परन्तु अपने विशिष्ट, अपने मूल और अवतक टिके रहनेवाले स्वभावमें ये सदा विचारशील, इच्छाशील, अनुभवशील, परिमार्जनशील मानव-पशुकी गतिविधिकी रेखाएँ, उसके कर्मकी विधि रहती हैं। हम जब धारणा और कर्मके उच्चतर स्तरमें चढ़ जाते हैं तो इनका तिरस्कार नहीं करना है, इन्हें अपनी समग्र सत्ता-विधिमेंसे बहिष्कृत नहीं करना है, परन्तु ये फिर भी मानवीय सम्भावनाका लघु भाग ही हैं, और इन्हें यदि मानव-प्राणीके सर्वोपरि व्यवसाय या सबसे अधिक आदेशक विधानके रूपमें देखा जाय तो मानवीय सम्भावना सीमित और अवनत हो जाती है, क्योंकि वर्द्धित, सक्रिय और समृद्ध करनेका बल इनमें अवश्य ही एक विशेष बिन्दुतक रहता है, परन्तु सत्यतः स्वातिक्रमणतक उठानेका बल नहीं, अतएव आरोहणके लिये इनका उपयोग केवल तब रहता है जब कि किसी महत्तर विधान और किसी उदात्ततर हेतुके द्वारा ये स्वयं उन्नीत और रूपान्तरित हो चुकी हों। इस ऊर्जाका संवेग एक बहुत ही सबल मानसिक क्रिया हो सकता है, बुद्धि, इच्छाबल और सौन्दर्यरसिक बोधका बड़ा उत्पादन और भावोच्छ्वास-शक्तिका व्यय उसमें निहित हो सकते हैं, परन्तु वह जो प्रतिदान माँगती है वह प्राणिक सफलता, भोग, स्वामित्व और तुष्टिका है। निस्सन्देह मन अपनी शक्तियोंको प्रयासका और अपनी परिपूर्णताको पारितोषिकका भोजन देता है, परन्तु वह अपने चारागाहसे बँधा रहता है। यह एक मिश्र गति होती है जिसके साधन होते हैं मानसिक, प्रतिदान होते हैं बहुत प्रधान रूपसे प्राणिक, प्रतिदानके मूल्योंको उसके मानदण्ड मापते हैं बाह्य सफलता और विफलतासे, बहिर्वृत्त या बहिर्जात सुख और दुःखसे, सौभाग्य और दुर्भाग्यसे, जीवन और शरीरके परिणामसे। इस सबल प्राणिक पूर्वव्यवस्तताने ही हमें कर्मके विधानकी प्रचलित धारणाका एक तत्त्व दिया है, यह भावना दी है कि प्राणिक सुख और दुःखका दिया जाना ही विश्व-न्यायका माप है।

जीवन-रेखाओंपर चलनेवाले मनकी दूसरी गतिधारा प्रमुख क्रियामें तब आती है जब मनुष्य अपने अनुभवमेंसे मानसिक नियम, मानदण्ड या आदर्शको, एक मूर्त्तरूपित अमूर्तत्त्वको प्रस्तुत करता है जिसका प्रथम इंगित जीवनानुभवने किया है, परन्तु

वह उससे आगे जाता है, प्राणिक ऊर्जाकी वर्त्तमान आवश्यकताओं और माँगोंका अ क्रमण करता है और जीवन-धर्मपर कोई आदर्श मानसिक नियम, ऋतत्वकी साम कृत धारणाको मूर्त करनेवाला कोई सिद्धान्त आरोपित करनेके लिये उस ऊ वापस आता है। कारण, इसका मूल तत्त्व मनका यह आविष्कार या विश्वास है सारी वस्तुओंमें विचार, इच्छा, अनुभव, बोध और कर्मका एक सही विधान, एक मानदण्ड, एक सही मार्ग है जो प्राणिक प्रकृतिकी संबोधिकी बातसे भिन्न है, प्रमुखतया प्राणिक चालक हेतुको लेकर प्राणिक प्रकृतिसे लाभ उठाना चाहते प्रथम व्यवहारोंकी बातसे भिन्न है, क्योंकि उसने बुद्धिके मार्गका, आत्म-शासिका नियमका सन्धान पा लिया है। यह चीज प्राणिक सुख और लाभ, अर्थ और का खोजमें एक मानसिक सत्य, न्याय और ऋतकी धारणाको, धर्मकी धारणाको प्र करती है। धर्मका अधिकांश व्यावहारिक भाग नैतिक होता है, नैतिक वि भाव होता है। मनकी पहली गतिधारा न-नैतिक होती है या नैतिकता बिलकु उसकी विशिष्टता नहीं होती। उसमें यदि कर्मके मानदण्डकी धारणा रहती तो ऐसे मानदण्डकी रहती है जो रूढ़ि द्वारा समर्थित है, जीवनका वह नियम है जो मिला हुआ है और इसी कारण सही है, या वह कोई ऐसी नैतिकता है जो कार्यसाधक अविभेद्य है, जिसे इस कारण स्वीकृत और प्रयुक्त किया गया है कि उसे कार्यकु बल और सफलताके लिये, विजय, मान, अनुमोदन और सौभाग्यके लिये आ या सहायक पाया गया है। इसके विपरीत, धर्मका भाव अपने मूल तत्त्वमें प्रधा नैतिक है। धर्म, अपने ऊँचे स्तरोंपर, नैतिक नियमको मनुष्यके स्वीकरण और पाल लिये उसके स्वाधिकारके नाते और उसे स्वयं उसके अपने लिए उपस्थित करता धर्मका विशालतर भाव वास्तवमें सारी ऊर्जाओंके सच्चे विधानकी एक धार और सारी वस्तुओंमें एक विवेकको, एक ऋतत्व, विचार और ज्ञानको, सौन्दर्य सच्चे नियमको केवल हमारे नैतिक क्रियाकलापमें ही नहीं, सारे अन्य मानवीय क्रि कलापमें अपने अन्दर सम्मिलित करता है। परन्तु फिर भी, धर्मकी भावनामें ही नैतिक तत्त्वके बहुत प्रधान होनेकी, यहाँ तक कि मनुष्य जिस ऋतकी रचना क है उसकी परिकल्पनापर उसका एकाधिपत्य होनेकी भी प्रवृत्ति रही है,— नैतिकताका सम्बन्ध जीवन-कर्मसे है, मनुष्य अपनी प्राणिक सत्ता और अपने मनुष्यके साथ जो व्यवहार करता है उससे है और यही चीज मनुष्यका पहला सर्व व्यवसाय और उसकी सबसे अधिक ठोस कठिनाई रही है, और प्राणिक सत्ताकी काम अभिरुचियाँ, सहजवृत्तियाँ अपने-आपको पहले और अधिकतम दबावके साथ इस ऋतके आदर्श और उच्चतर विधानकी माँगके विरूद्ध एक तीक्ष्ण और बहुत

संघर्षमें डली पाती हैं। अतः मनुष्यके सामने इस पर्वमें सही नैतिक कर्म ही मनके खड़े किये गये अनेक मानदण्डोंके बीच अवश्यमान्य वस्तुके रूपमें आता है, नैतिक दावा ही एकमात्र सुनिश्चित अनुल्लंघ्य वस्तु है, नैतिक विधान ही उसका सारा धर्म है।

तथापि, आरम्भमें, मनुष्यकी नैतिक धारणाएँ और उसके अन्दर नैतिक ऊर्जाकी दिशा और उत्पत्ति और उसकी प्रतिदानकी माँग उसकी प्राणिक धारणाओं और माँगोंसे विकट रूपमें मिश्रित हो जाती हैं और बादमें भी अवलम्ब और प्रोत्साहनके लिये उनपर बहुत सामान्यतः और बहुत अधिक मात्रामें सहारा लेती हैं। मानवीय नैतिकता पहले तो कर्मके रूढ़िगत नियमोंके बड़े समूहको, रूढ़िगत और पारम्परिक आचरणको लेती है जिसके बड़े भागका नैतिक मूल्य बहुत सन्दिग्ध रहता है, उसे ऋतत्वका आदेशात्मक अनुमोदन देती है और नैतिक आदर्शकी सच्ची चीजोंको उस अमार्जित समूहके अन्दर सरका देती या उसपर अध्यारोपित कर देती है, परन्तु फिर भी वह उन्हें एक सर्वसामान्य और समान संहिताके हिस्सेकी तरह रखती है। वह प्राण-पुरुषको, उसकी कामनाओं, आशाओं और भय-भावनाओंको आकर्षित करती है, मनुष्यको पुरस्कारकी आशा और दण्डके भयसे पुण्यकी ओर उत्तेजित करती है, इस साधनमें वह मनुष्यके अमार्जित और टटोलते सामाजिक आचरणकी पद्धतिका अनुकरण करती है : कारण, जब वह अपने विधान और नियमको पा लेती है तब वह चाहे अच्छा हो या बुरा, उसे वह अन्ततः समुदायकी व्यवस्था और कार्यकुशलताके लिये उत्तम समझती है और उसे आदेशात्मक बना देना चाहती है, मनुष्यकी प्राणिक सत्ताका विरोध होनेपर उसे स्वीकार करानेके लिये रिश्वत देती, डराती और साथ ही प्रभावित करती, शिक्षित करती, राजी भी करती है। मनुष्यकी नैतिकता अपूर्णताके साथ अपना समजन करती हुई, अधिकांशमें धर्मके मुखसे, मनुष्यको यह कहती है कि नैतिक नियम अपने-आपमें अवश्यमान्य है, परन्तु यह भी कहती है कि उसका अनुसरण मनुष्यके लिये व्यक्तिगत रूपसे बहुत कार्यसाधक है, नेकी ही अन्तमें सबसे निरापद नीति है और पुण्य अन्तमें सबसे उत्तम वेतनदाता,—क्योंकि यह एक विधान-शासित जगत् है। उसे यह वचन दिया जाता है कि धर्मात्मा मनुष्यको समृद्धि मिलेगी, दुष्टका नाश होगा और पुण्यके मार्गमें सुखद स्थान आते हैं। या, यदि यह बात नहीं चली, क्योंकि अनुभव इसे सुस्पष्ट रूप झूठा ठहराता है और स्वयं मनुष्य भी अपने-आपको सर्वदा धोखा नहीं दे सकता, तो नैतिकता उसे यहाँ तो नामंजूर किये जानेवाले परन्तु परलोकमें किसी रूपमें दिये जानेवाले प्राणिक पुरस्कारोंकी जमानत देती है। स्वर्ग और नरकको, अन्य जीवनोंमें आनेवाले सुख और दुःखको रिश्वत और भयके रूपमें उसके, सामने रखा जाता है। मनुष्यकी आसानीसे तुष्ट होनेवाली बुद्धिको अधिक अच्छी तरह तुष्ट करनेके लिये

मनुष्यसे कहा जाता है कि जगत्पर एक नैतिक विधानका शासन है जो मनुष्यके पा
सौभाग्योंके परिमाणका निर्णय करता है, एक न्यायका शासन है और न्याय य
कि प्रत्येक कर्मका उसका ठीक-ठीक प्रतिक्षेप होता है, उसके अच्छे कार्यका फल अ
होगा और बुरेका बुरा। नैतिक नियम, नेकी और न्यायके बारेमें ये धारणाएँ,
भाव कि वे अपने-आपमें अवश्यमान्य वस्तु हैं, किन्तु फिर भी हमारे मानवीय स्वभा
उसे प्रवर्त्तित करनेके लिये रिश्वत और भयकी आवश्यकता रहती है,——जिससे
दीखता लगता है कि कमसे कम उस स्वभावके लिये वे सर्वदा अवश्यमान्य नहीं
पुरस्कार और दण्डके लिये यह आग्रह जिसका कारण यह है कि हमारी प्रथम अनु
सत्तासे संघर्ष करती नैतिकताको बहुत बड़े परिमाणमें प्रतिबन्धों और निषेधोंके सम
रूपमें प्रकट होना होता है जिन्हें किसी बाध्यकारिणी या प्रलोभनदायिनी वि
वास्तविकता या प्रतीतके बिना प्रवर्त्तित नहीं किया जा सकता, निर्व्यक्तिक नै
और व्यक्तिगत अहमात्मक माँगके बीच यह कूटनीतिक समझौता या उनके
बराबरीका यह प्रयत्न, ऋतत्व और प्राणिक उपयोगिता, पुण्य और कामनाके
यह सुविधाजन्य विवाह,——ये समायोजन ही कर्म-विधानकी प्रचलित धारणा
मूर्त होते हैं।

कर्मकी प्रचलित धारणाओंके पीछे वह कौन सा यथार्थ सत्य है जो मनुष्यके
लोकके जीवनके वास्तविक तथ्यों या मूलभूत शक्तियोंमें या विश्वकी ऊर्जाओंके निय
दृश्य क्रियाओंमें रहता है? यह स्पष्ट है कि इसमें एक सारगर्भित सत्य है, परन्तु
सम्पूर्णका अंग मात्र है; उसका शासन या प्राधान्य एक विशेष तत्त्वकी ही वस्तु
प्राणिक ऊर्जाके विधान और मन तथा अध्यात्म-तत्त्वके महत्तर तथा उच्चतर विधा
बीच संक्रमण-गतिकी बहुत सारी रेखाओंमेंसे एक रेखापर दिये जाते बलकी वस्तु
ऊर्जाके किन्हीं भी दो प्रकारोंका सम्मिश्रण ऊर्जाके उत्पादन और प्रतिदानकी मिश्र
जटिल क्रिया खड़ी करता है, और जो अति तीक्ष्णतासे कटा हुआ नियम शक्तिके मान
तथा नैतिक उत्पादनके साथ प्राणिक प्रतिदानको जोड़े रखता है उसपर बहुत आ
उठायी जा सकती है और वह इस विषयका समूचा सत्य नहीं हो सकता। किन्तु
भी जहाँ प्राणिक प्रतिदानके लिये, सफलताके लिये, बाह्य सुख, अच्छाई या सौभा
लिये माँग रहती है, वह ऊर्जामें रहनेवाले प्रधान अभिप्रायका चिह्न होती और
संकेत करती है कि शक्तियोंका पलड़ा संकेतित दिशामें झुक रहा है। प्रथम दृ
यदि सफलता ही अभीष्ट है तो यह स्पष्ट नहीं कि इस विषयमें नैतिकताको क्या
है, क्योंकि अधिकतर चीजोंमें हम देखते हैं कि सफलता स्वाभाविक परिणाम
है साधनों और परिस्थितियोंकी सही समझ और उनके बुद्धियुक्त या संबोधि

व्यवहारका और दृढ़ इच्छाबलका, पुरुषकी शक्तिके व्यवस्थित प्रचालनका। अहमात्मिका इच्छा तथा बुद्धिके प्राणिक लक्ष्योंके अनुसरणमें मनुष्य उसपर दण्ड़ोंकी किसी प्रणाली द्वारा नियन्त्रण लगा सकता है, जगत्के पुरस्कारोंके लिये नैतिक शर्त्तें लगा सकता है, किन्तु ऐसा प्रतीत हो सकता है, जैसा कि वस्तुतः कई प्राणात्मक सिद्धान्तों-में प्रतिपादित किया जाता है, कि यह प्रकृतिपर एक कृत्रिम आरोपण है और मनोशक्ति तथा प्राणशक्तिके गुटमें होनेवाली निर्बन्ध और सबल क्रीड़ाको कुण्ठित और निर्बल कर देता है। परन्तु सत्य यह है कि तपस्या ही, ऊर्जाका सम्यक् संकेन्द्रण ही, सफलताके लिये महत्तम शक्ति है, और तपस्यामें नैतिक तत्त्व अनिवार्य रूपसे होता है।

मनुष्य मनोमय प्राणी है; वह जिन प्राणशक्तियोंको धारण किये रहता या व्यवहृत करता है उनपर वह नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है, और इस स्वामित्वकी एक शर्त्त है आवश्यक आत्म-नियन्त्रण, एक संयम, एक व्यवस्था, एक अनुशासन जो उसकी मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्तापर आरोपित हो। पशु-जीवन स्वतः ही नियमोंके अधीन होता है; वह सहजवृत्तिमूलक प्राणिक धर्मका क्षेत्र है। मनुष्य अपने मनकी निर्बन्ध क्रीड़ा द्वारा इन स्वतःचलित नियन्त्रणोंसे मुक्त होता है और उसे उनके स्थानपर इच्छा और बुद्धिके प्रतिबन्धोंको, एक समझयुक्त नियमको, एक स्वेच्छित अनुशासनको स्थापित करना होता है। अपनी ऊर्जाओंका सबल व्यय और उनकी निर्बन्ध क्रीड़ा ही नहीं, अपितु उनका सही संयम और नियन्त्रण भी मनुष्यके जीवनकी सफलता स्वस्थाकी शर्त्त है। नैतिक तत्त्व ही एकमात्र तत्त्व नहीं : यह पूरा सत्य नहीं कि नैतिक ऋतत्व ही सदा जीतता है या जिस पक्षमें धर्म है, उस पक्षकी सदा विजय होती है, यतः धर्मों ततो जयः। तात्कालिक सफलता प्रायः ही अन्य शक्तियोंको जाया करती है, ऋतकी अन्तिम विजय भी सामान्यतः शक्तिके किसी रूपके साहचर्य द्वारा आती है। परन्तु फिर भी, वैयक्तिक और सामूहिक या राष्ट्रीय सफलताके बहुत सारे तत्त्वोंके बीच एक तत्त्व नैतिक भी सदा ही रहता है और अभिस्वीकृत ऋतत्वकी अवज्ञाकी किसी न किसी समय विनाशक या घातक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त, अपनी ऊर्जाओंके व्यवहारोंमें, मनुष्यको अपने संगियोंका और उनकी ऊर्जाओंकी सहायता और विरोधका ध्यान रखना होता है, और उसके उनके साथके सम्बन्ध उसपर ऐसी रोक, माँग और शर्त आरोपित करते हैं जिनका नैतिक तात्पर्य होता या जिनसे नैतिक तात्पर्य प्रकट होता है। उसपर लगभग शुरूसे ही, प्राणिक सफलता और तुष्टिके अनुसरणमें भी, अनेक बाध्यताएँ लादी जाती हैं जो नैतिक व्यवस्थाका प्रथम व्यावहारिक आधार हो जाती हैं।

और, मानसिक, नैतिक तथा प्राणिक वर्गके इस सन्तुलनको प्रत्युत्तर देनेवाली

शक्तियाँ मानवीय शक्तियाँ हैं और विश्वशक्तियाँ भी। प्रथमतः एक सूक्ष्म, अज्ञे गम्य और दुर्ज्ञेय वस्तु है जो हमारे मार्गोंमें हमारे सामने आती है, एक शक्ति है जिस प्राचीन यूनानी बहुत ध्यान रखते थे, एक बलशालिता है जो मनुष्यके अभिवर्द्धन, अधि और भोगके प्रयासपर आँख रखती है और विरोधी तथा विपरीत लगती है। यूनानि ने उसे देवताओंकी ईर्ष्या कहकर या दुर्भाग्य, नियति, आटे[1] कहकर चित्रित किया है मनुष्यमें अहमात्मिका शक्ति अपनी विजय और जीतमें दूरतक वढ़ ज्ञा सकती किन्तु उसे सावधान रहना होगा, नहीं तो उसे वह शक्ति उसके बल या कार्यमें खूँट निकालने, उसकी पराजय कौर पतनके लिये कोई पर्याप्त सुयोग पानेके लिये म मिलेगी। उसके प्रयासके पीछे वह विघ्न और विपर्यय लेकर पड़ी रहती है और उस अपूर्णताओंका लाभ उठाती, प्रायः उससे खेलती, उसे लम्बी छूट देती, आनेमें करती और अपने समयकी प्रतीक्षा करती है,––और केवल उसकी नैतिक न्यूनताओं ही नहीं, अपितु उसकी इच्छा तथा बुद्धिकी भूलों, उसके बल तथा विवेकके अतिरेकों न्यूनताओं, उसकी प्रकृतिके सारे दोषोंका लाभ उठाती है। वह उसकी तपस्या ऊर्जाओंसे अभिभूत लगती है, किन्तु वास्तवमें वह अपने समयकी बाट जोहती वह अविच्छिन्न या चरम समृद्धिपर छा जाती और प्रायः उसे विनाशकी ओर आकस्मि मोड़ देकर चकित करती है। वह सफलता तथा विजयकी एक निरापदता, एक आ विस्मृति, एक गर्वशालिता और उद्दण्डता ले आती और शिकारको छिपे हुए न्याया या अदृश्य नियमकी दीवारसे टक्कर खानेके लिये आगे बढ़ाती जाती है। वह पा अतिशयता और स्वार्थी हिंसाके लिये जितनी घातक है उतनी ही अन्धे दम्भके और अहमात्मक पुण्यके भूठे दावेके लिये। ऐसा लगता है कि मनुष्यसे, व्यक्ति राष्ट्रोंसे उसकी यह माँग रहती है कि वे एक सीमा और एक परिमाणके अन्दर क्योंकि उस सीमासे आगे जो कुछ है संकटप्रद है; अतएव यूनानियोंने सब चीज मिताचारको सद्गुणका श्रेष्ठतक भाग माना।

यहाँ जीवन-शक्तियोंमे ऐसा कुछ है जो हमारे लिये अस्पष्ट रहता है और हमारी पाक्षिक भावनाएँ अनर्थकारी मानती हैं क्योंकि वह चीज हमारी कामनाओं काटती है, परन्तु वह विश्वमन, विश्वबुद्धि या परम शब्द (Logos) के किसी या अभिप्रायके अधीन है जिसे प्राचीन ज्ञानियोंने विश्वमें कार्य करते देखा था। उसकी उपस्थितिका अनुभव स्थूलतर प्रकारके धार्मिक मनको होता है तो यह उत्पन्न होता है कि विपदा पापके लिये दण्ड है,––वह यह नहीं देखता कि उसके

---

[1] सर्वनाश, दुर्भाग्यकी यूनानी देवी। (अनु०)

अज्ञानके लिये, इच्छा और तपस्याकी भूलके लिये, मूर्खता, दुर्बलता और त्रुटिके लिये भी दण्ड मिलता है। यथार्थमें यह अनन्तका प्रतिरोध होता है जो जीवनके बीच मनुष्यके अपूर्ण अहंके इस दावेके विरूद्ध कार्य कर रहा है कि वह अपना अभिवर्द्धन करे, स्वामित्व पाय, मौज करे और अपूर्ण रहकर भी पूर्ण और स्थायी सुखकी, अपने जगत्-अनुभवकी आनन्दमयताकी प्राप्ति करे। यह कहा जा सकता है कि यह दावा अनैतिक है, और जो शक्ति उसका प्रतिरोध करती है और हमारी अपूर्णताओंको उत्तर दनेके रूपमें, हमारी आँखोंके लिये चाहे कितनी ही अनिश्चिति और देरसे क्यों न हो, कष्ट और विफलताका प्रतिदान देती है, उसे नैतिक शक्ति माना जा सकता है, न्यायनिष्ठ कर्मकी अभिकर्त्री माना जा सकता है, यद्यपि केवल कर्म-सिद्धान्तके संकीर्ण नैतिक आशयमें नहीं। वह शक्ति जिस नियमका प्रतिनिधित्व करती है वह यह है कि हमारी अपूर्णताओंके अस्थायी या घातक परिणाम होंगे, हमारे ऊर्जा-उत्पादनमें यदि कोई दोष है तो परिणाममें उसे सुधारा जा सकता या प्रतिसन्तुलित और क्षीण किया जा सकता है, परन्तु यदि उसमें अड़ा रहा जाय तो उसकी प्रतिक्रिया उसके प्रत्यक्ष गुणोंकी अपेक्षा भी अधिक हो जायगी, कोई एक भूल तपस्याके सारे फलको नष्ट कर देती लग सकती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति इच्छाके आशयमें, हृदय, नैतिक बोध या बुद्धिमें किसी आमूल दूषणसे होती है। यह कर्मके संक्रमिक विधानकी पहली रेखा है।

हमारे कार्योंके प्रति विश्वशक्तियोंके कर्मिक उत्तरकी एक दूसरी रेखा भी एक ऐसा धारण करती है जो हमें उसे नैतिक माननेकी ओर प्रलोभित करती है। कारण, प्रकृतिमें प्रतिकार-नियमका एक निश्चित तत्त्व देखा जा सकता है या,——शायद एक अधिक उपयुक्त रूपकमें कहें, क्योंकि यह क्रिया बौद्धिक और ऐच्छिक न होकर बल्कि यान्त्रिक प्रतीत होती है,——ऊर्जाकी एक बूमरैंग -गति दीखती है जो अपने संचारकपर वापस आती है। हम जिस पत्थरको फेंकते हैं उसे जगत्-जीवनमें रहनेवाली कोई छिपी शक्ति हमपर वापस फेंकती है, हम दूसरोंपर जो क्रिया छोड़ते हैं वह हमारे अपने जीवनोंपर वापस आती है,——ऐसा वह सदैव किसी सीधी प्रतिक्रिया द्वारा नहीं करती प्रत्युत प्रायः घुमावदार और असम्बद्ध राहोंसे और कभी-कभी, यद्यपि यह किसी भी भाँति कोई सर्वसामान्य नियम नहीं, अपने निजके ठीक-ठीक आकार या परिणाममें। यह व्यापार हमारी कल्पनाके लिये इतना आकर्षक और हमारे नैतिक बोध और प्राणिक भावनाओंके लिये इतना प्रभावशाली रहा है कि सारी संस्कृतियोंकी विचारधारामें

---

[1] बूमरैंग आस्ट्रेलियाके आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त शस्त्र है जिसका इस भाँति व्यवहार किया जा सकता है कि वह फेंकनेवालेपर वापस आ जाय। (अनु०)

उसे किसी गम्भीर रूपके उद्गारमें इस प्रकार व्यक्त किया गया है,—"जैसी क वैसी भरनी", "तलवार चलानेवालेका तलवारके हाथों नाश होगा", "तूने वा बीज रोपा है, तुझे तूफानकी फसल मिलेगी",—और हमें यह लोभ होता है कि उसका सार्विक नियम बना लें और उसे नैतिक व्यवस्थाके पर्याप्त प्रमाणकी त स्वीकार कर लें। परन्तु सतर्क विचारक किसी ऐसे उपसंहारको माननेकी शीघ्र करनेके पहले लम्बे समयतक ठहरेगा, क्योंकि उसके विरुद्ध खड़ा होनेवाला भी कुछ है और उस प्रकारकी निश्चित प्रतिक्रिया मानव-जीवनका सामान्य नियम होने अपेक्षा बल्कि अपवाद होती है। यदि यह नियमित लक्षण होता तो मनुष्य नि और निर्व्यक्तिक विधानकी संहिता जल्दी सीख लेते और यह जान लेते कि कि बचना है और जीवनके निषेधों और प्रतिषेधोंकी सूची क्या है। परन्तु प्रकृतिका ऐसा दण्ड-विधान नहीं है।

भौतिक प्रकृतिकी क्रिया तथा प्रतिक्रियाकी गणितिक परिशुद्धताकी आ मानसिक और प्राणिक प्रकृतिसे नहीं की जा सकती। परन्तु हम ज्यों-ज्यों सोपा चढ़ते हैं प्रत्येक वस्तु केवल बेहद अधिक सूक्ष्म, संश्लिष्ट और परिवर्त्तनशील ही हो जाती जिसके फल-स्वरूप हमारी जीवन-क्रियामें शक्तियोंका असाधारण पर गुन्थन और बहुत सारे मूल्योंका मिश्रण होता है, अपितु यहाँ तक कि उसी का मनोवैज्ञानिक और नैतिक मूल्य भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें परिस्थिति, अवस्था कर्त्ताके हेतु तथा मनोभावके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। प्रतिकार-सिद्धा नियमको जब मनुष्यपर मनुष्य द्वारा प्रयुक्त किया जाता है तो वह कोई न्यायपू नैतिक नियम नहीं ठहरता; उसे यदि मनुष्यके जीवन-कार्य और जीवन-हेतु संश्लिष्ट और सूक्ष्म जालपर न्याय या निर्व्यक्तिक नियमके अतिमानवीय वि द्वारा स्थूल व्यावहारिकताके सुलभ अपरिष्कृत नियमसे प्रयुक्त किया जाय तो सुधरती नहीं। और यह भी स्पष्ट है कि मानवजातिमें क्रियारत विश्वशक्तिके लम्बे और सूक्ष्म उद्देश्य इस अति निर्दिष्ट और संक्षिप्त पद्धतिको सार्वभौमिक कर लाभान्वित नहीं, पराजित ही होंगे। अतएव हम देखते हैं कि उसकी क्रिया नि न होकर बल्कि यदाकदा और आन्तरायिक होती है और स्वयंवह और स्पष्टतया गम्य न होकर बल्कि परिवर्तनशील होती और हमारे मनको स्वेच्छाचारी लगती

कभी कभी व्यक्तिके जीवनमें कर्मका इस प्रकारका प्रतिक्षेप निर्णायक प्रायः भयानक रूपसे स्पष्ट होता है और दाण्डिक न्याय निष्पादित होता है, किन्तु भी हो सकता है कि यह चीज उसे अप्रत्याशित रूपमें, बहुत देरके बाद और आश्चर्य दिशाओंसे मिले। परन्तु हमारी नाटकीय भावनाको यह कितना ही सन्तोषप्रद

न लगे, यह प्रतिफलदायिनी प्रकृतिकी सामान्य पद्धति नहीं। प्रकृतिकी विधियाँ अधिक टेढ़ी-मेढ़ी , सूक्ष्म, परोक्ष और अपाठ्य हैं। प्रायः ऐसा होता है कि राष्ट्र भी इसी भाँति विगत अपराधों और भूलोंका भुगतान चुकाता है और प्रतिकार-सिद्धान्तके नियमकी संकेत-संहिता सबकका इशारा करने वर्त्तमान रहती है, परन्तु वैयक्तिक रूपसे कष्ट तो निर्दोष ही भोगते हैं। बेल्जियमका कोई व्यापारी मनोवृत्तिवाला राजा राष्ट्रके रबर-प्रदेशों और अफ्रीकाके मानव-मवेशी फार्मसे लाभ उठानेकी ओर प्रवृत्त होता है और उसके कारिन्दे उसका कोष जल्दी-जल्दी भर डालनेको हजारों सस्ते हब्शी जीवनोंकी हत्या करते, बलि चढ़ाते और उन्हें विकलांग करते हैं। वह योग्य राजा समृद्धिकी श्री और सौभाग्यकी पुनीत सुगन्धमें जीवन बिताकर मृत्यु पाता है, उसके कारिन्दे कोई कष्ट नहीं भोगते : परन्तु अब अचानक जर्मनीका आगमन होता है, वह व्यापारिक और सैनिक साम्राज्यका स्वप्न देखता हुआ अपने शस्त्रोंके मार्गपर समृद्धिशील बेल्जियमसे होकर रौंदता हुआ निकलता है और उसके द्वारा मौतके घाट उतारे गये नर-नारी और लगड़े-लूले शिशु हमें आश्चर्यकारी रूपसे कर्मका स्मरण कराते और प्रतिकार-सिद्धान्तके किसी अस्पष्ट और स्वेच्छाचारी नियमका उदाहरण देते हैं। कमसे कम इस उदाहरणमें राष्ट्र अपनी संगठित सत्ताके रूपमें अपराध-कृत्यमें भाग लेनेका दोषी था, परन्तु ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं जिनमें भुगतान चुकानेवाला न तो दोषी राष्ट्र होता है, न दोषी व्यक्ति ही, बल्कि शायद कोई भली नीयत रखनेवाला और पुण्यनिष्ठ भूलकर्त्ता ही उस अशुभ प्रतिदानका हिसाब पाता है जिसका भुगतान उससे पहले आनेवाले सबल निरंकुश जनोंको दिया जाना ही न्याय्य था, किन्तु वे तो अन्ततक बल, श्री और सुखका भोग करते हुए जीवन काट गये।

यह स्पष्ट है कि जो शक्ति इतनी विलक्षण रीतिसे कार्य करती है, वह चाहे यदा-कदा कितने ही आकर्षक और नाटकीय रूपमें कारण और परिणामका संकेत क्यों न करे, उससे हम बहुत निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। दण्ड देनेमें वह इतनी अधिक अनिश्चित है कि मनुष्यका मन दाण्डिक न्याय-प्रणालीसे जिस लक्ष्यकी आशा करता है उसका काम नहीं चलता, वह अपने प्रभावमें इतने अनभिज्ञेय रूपसे परिवर्त्तनशील है कि मानवीय स्वभावमें जो तत्त्व कार्यसाधकताका परिचर होता है और अपने डगोंका नियमन परिणामकी ओर सावधानीकी नजर रखते हुए करता है उसके लिये निर्देशकके रूपमें कार्य नहीं कर सकती। प्रतिशोध लेनेवाले दैवकी बिजलियोंके यदाकदा इस छूट पड़नेके बावजूद, विश्वके जटिल नियमोंकी अनिश्चितियोंके बीच कर्मिक न्यायकी इन यदाकदा आनेवाली स्पष्टताओंके बावजूद, मनुष्य और राष्ट्र सदा उसी रीतिसे कार्य करना जारी रखते हैं। वस्तुतः इन घटनाओंकी क्रिया कुछ दूरीतक अवचेतन

मनपर सूक्ष्म और अपूर्ण रीतिसे होनेके सिवाय मनुष्यके मन और इच्छापर नहीं, बल्कि मनुष्यसे बाहर और आंशिक रोक तथा नियामककी तरह होती है जिससे ऊर्जाके प्रतिदानों और विश्वात्माके जीवन-उद्देश्योंके सन्तुलनको बनाये रखनेमें सहायता मिलती है। यह क्रिया संक्रमणकालीन कर्मकी प्रथम रेखाकी भाँति होती है जिसका अभिप्राय मनुष्यके प्राणिक अहंकी सफलताको रोकना होता है और जो एक बीचके अस्थायी दबाव और बाध्यताकी तरह तबतक उपयोगी होती है जबतक कि वह अपने प्राणिक आत्माके बावजूद भी अपनी सत्ताके महत्तर नियमका और अपने निर्देशक मन तथा शासक आत्माके संचालक हेतुकी अधिक शुद्ध क्रियाधाराका सन्धान न पा ले और उनका आज्ञाकारी होनेमें सफल न हो जाय। अतः विश्वगत इच्छामें इससे एक नैतिक उद्देश्यकी सहायता तो होती है, किन्तु वह अपने-आपमें, उस अन्यके साथ संयुक्त होकर भी, नैतिक व्यवस्थाका नियम होनेके लिये पर्याप्त नहीं।

कर्मकी एक तीसरी सम्भव रेखाका, जिसमें बाह्य यान्त्रिकता कम है, इस उक्तिमें संकेत मिलता है कि सदृश सदृशकी सृष्टि करता है और इस नियमके अनुसार अच्छा अच्छेकी सृष्टि करेगा और बुरा बुरेकी। नैतिक प्रतिदान या बल्कि नैतिक ऊर्जाओंके भुगतानकी भाषामें इसका अर्थ यह होगा कि प्रेमको व्यक्त करनेसे हम प्रेमका प्रतिदान पायँगे और घृणाको व्यक्त करनेसे घृणाका; यदि हम दूसरोंके प्रति न्यायवान् हैं तो दूसरे भी हमारे प्रति न्यायवान् या दयावान् होंगे और सामान्यतः अपने साथी मनुष्योंके लिये जो अच्छाई करेंगे वह उनके द्वारा सजातीय रूपकी अच्छाईके प्रतिदानके रूपमें वापस आयगी और विश्वकी शासिका सरकारके नैतिक डाकघरमें यथाविधि पंजीकृत होकर हमारे पतेपर वापस डाल दी जायगी। दूसरोंके साथ हम वैसा व्यवहार करें जैसा हम उनके द्वारा किया जाना चाहेंगे, क्योंकि अवश्य ही तब वे हमारे साथ वैसा व्यवहार करेंगे, यही इस नैतिक जुगतका सिद्धान्त प्रतीत होता है। यदि यह सच होता तो मानव-जीवन सचमुचमें सामंजस्ययुक्त नैतिक अहंभाव और नेकीसे चलनेवाले व्यापारिक आवागमनकी एक ऐसी बहुत ही सममित व्यवस्थाके अन्दर स्थिरता प्राप्त कर ले सकता था जो उस प्रकारके नैतिक सौन्दर्यबोधसे ग्रस्त रहनेवालोंको पर्याप्त सुचारु और सुन्दर लग सकती है। परन्तु मानव-जीवकी ऊर्ध्वमुखी प्रगतिके लिये यह प्रसन्नताकी बात है कि व्यवहारमें यह नियम ठहरता नहीं, क्योंकि विश्वात्माके सामने संसिद्धिके लिए महत्तर लक्ष्य हैं और महत्तर नियम है। यह नियम प्रवृत्तिकी दिशामें कुछ दूरीतक सच है और कभी कभी अच्छी तरह कार्य भी करता है, और मनुष्यकी विवेकशीला बुद्धि कर्मक्षेत्रमें उसका कुछ ध्यान रखती भी है, परन्तु यह नियम सर्वत्र और सदा सच्चा नहीं उतरता। यह काफी स्पष्ट है कि यह सम्भावना रहती है

कि हिंसा और अन्याय प्रत्युत्तरमें घृणा, हिंसा और अन्यायकी रचना करेंगे और इन प्रवृत्तियोंको हम अदण्डित रहने दे कर केवल तब छूट दे सकते हैं जब कि हम प्रतिरोधका सामना कर सकनेके लिये पर्याप्त सबल हों या पर्याप्त सबल और साथ ही पर्याप्त विवेकशील भी रहें जिससे उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओंके लिये प्रबन्ध कर सकें। यह भी सच है कि नेकी और दयालुता बरतकर हम दूसरोंमें एक सद्भावनाकी रचना करते हैं और सामान्य या अनुकूल परिस्थितियोंमें कृतज्ञता और सजातीय प्रतिदानकी अपेक्षा उनके समर्थन और अनुमोदनपर अधिक निर्भर कर सकते हैं। परन्तु यह अच्छाई और बुराई दोनों ही अहंकी गतियाँ हैं और मानव-प्रकृतिकी मिश्रित अहतापर कोई भी सुरक्षित या निश्चित निर्भरता नहीं हो सकती। अहमात्मक स्वार्थी बल (उसे यदि यह ज्ञात हो कि क्या करना है और कहाँ रुकना है), हिंसा और अन्यायका एक परिमाण भी (यदि वह सबल और निपुण हो), चालाकी, छल और अनेक प्रकारकी बुराइयाँ, पशुके साथ पशुके व्यवहारमें जो भुगतान देती हैं, वास्तवमें मनुष्यके साथ मनुष्यके व्यवहारमें वे उससे कोई कम नहीं देतीं, और दूसरी ओर नेकी बरतनेवाला, जो कि प्रतिदान या पुरस्कारकी प्रतीक्षा करता है, यह पाता है कि जितनी बार उसे अपने सौदेका प्रतिदान मिलता है उतनी ही बार वह निराश भी होता है। मानव-स्वभावकी दुर्बलता उसे रौंदनेवाली शक्तिकी पूजा करती है, सफल शक्तिकी पूजा करती है, सफल बलशालिताको श्रद्धाँजलि देती है, प्रत्येक प्रकारके सबल या कौशलपूर्ण आरोपणको विश्वास, स्वीकृति, आज्ञाकारिताका प्रतिदान दे सकती है : वह घृणा और आतंककी गतियोंके बीच भी नाक रगड़ सकती, तुरिया सकती, प्रशंसा कर सकती है; उसकी निष्ठाएँ विलक्षण होती हैं और उसकी सहजवृत्तियाँ अयौक्तिक। और उसकी अनिष्ठाएँ भी वैसी ही अयौक्तिक या हल्की और चंचल होती है : वह न्याय्य व्यवहार और उपकारको स्वाधिकार मान लेती और वापस चुकानेकी बातको भूल जाती या उसका ख्याल नहीं रखती। और इससे भी अधिक बुरी बात यह होती है कि न्याय, करुणा, उपकार और दयालुताको काफी बार अपने विपरीत तत्त्वोंका पुरस्कार मिलता है और सद्भावनाके उत्तरमें दुर्भावना निष्ठुर रूपसे सामान्य अनुभव है। यदि जगत् और मनुष्यमें कोई वस्तु अच्छाईके लिये अच्छाई और बुराईके लिये बुराई लौटाती है तो उतनी ही बार वह अच्छाईके प्रतिदानमें बुराई और, किसी चैतन नैतिक अभिप्रायसे या उसके बिना, बुराईके प्रतिदानमें अच्छाई देती है। और यदि कोई निरहंकार पुण्य या दिव्य शुभ और प्रेम जगत्में प्रवेश करता है तो वह भी विरोधी प्रतिक्रियाओंको जगाता है। अट्टीला और चंगेजका अन्ततक सिंहासनपर आरूढ़ रहना, ईसा मसीहको शूली और सुकरातके भाग्यमें विषपान, मानव-स्वभावके जगत्में

नैतिक प्रतिदानके किसी नियमके सम्बन्धमें आशावादी धारणाके समर्थनमें कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं।

जगत्-नियमोंमें भी इसके निश्चित अस्तित्वका चिह्न शायद ही अधिक मिल है। वस्तुत: विश्वायोजनमें अच्छाईमेंसे बुराई निकलती है और बुराईमेंसे अच्छा और नैतिक तथा प्राणिक नियमोंके बीच कोई ठीक-ठीक अनुरूपता नहीं मिलती हम इतना ही कह सकते हैं कि जो अच्छाई की जाती है उसकी प्रवृत्ति जगत्में अच्छाई कुल परिमाण और कुल बलको वर्द्धित करनेकी होती है और जितनी उसकी वृ होती है मानव-सुखका कुल परिमाण उतना ही अधिक होनेकी सम्भावना होती और जो बुराई की जाती है उसकी प्रवृत्ति जगत्में बुराईके कुल परिमाण और कुल बल वर्द्धित करनेकी होती है और जितनी उसकी वृद्धि होती है मानव-कष्टका कुल परिमा उतना ही अधिक होनेकी सम्भावना होती है, और अन्तमें, बुराई करनेवाले मनुष्य राष्ट्रको किसी न किसी प्रकार उसका चुकादा देना होता है, परन्तु ऐसा प्राय: न बुद्धिजन्य रूपसे वर्गीकृत या संविभाजित परिमाणमें होता है और न सदा प्राणि सौभाग्य तथा दुर्भाग्यके स्पष्ट अनुवादके रूपोंमें ही ।

संक्षेपमें, जिन्हें हम कर्मकी संक्रमणकालीन रेखाएँ कह सकते हैं उनका अस्ति है और जगत्-शक्तियोंकी क्रियाको देखनेमें हमें उन्हें विचारमें लेना होगा। पर वे न तो कर्मका समूचा नियम हैं, न हो ही सकती हैं। और ऐसा न हो सकनेका का यह है कि वे संक्रमणकालीन हैं, क्योंकि अच्छाई और बुराई नैतिक मूल्य हैं, प्रा मूल्य नहीं, और उनका स्पष्ट अधिकार केवल नैतिक प्रतिदानके लिये है, प्राणिक प्र दानके लिये नहीं, क्योंकि पुरस्कार और दण्डको सुकृत्य और कुकृत्यकी उपाधियों रूपमें रखा जाय तो वे किसी यथार्थ नैतिक व्यवस्थाके उपादान नहीं होते, नैतिक व्यवस् की रचना नहीं कर सकते, कारण, इस सिद्धान्तकी सामयिक उपयोगिता चाहे जो कु भी हो, स्वयं वह सच्ची तथा शुद्ध नैतिकताके उच्चतर दृष्टिकोणसे मूलभूतत अनैतिक होता है, और फिर, ज्ञान, बल और अनेक अन्य शक्तियाँ भी हैं जिनका गणना स्थान है और जिनका अपना अधिकार होता है। नैतिक और प्राणिक शुभका सार मानवीय अहंकी माँग है और उसकी अन्य माँगोंमेंसे बहुतोंकी तरह यह माँग भी जग मानसकी कुछ प्रवृत्तियोंके अनुरूप हैं, परन्तु उसका समूचा नियम या उच्चतम उद्दे नहीं। एक नैतिक व्यवस्था हो तो सकती है, परन्तु उसकी रचना हमें अपने अन्द और स्वयं उसीके लिये करनी है, और जब हम उसकी रचना इस तरह कर चुकेंगे औ जीवनकी अन्य शक्तियोंके साथ उसके सही सम्बन्धको पा चुकेंगे, केवल तभी हम मनुष्यके प्राणिक अस्तित्वके सही व्यवस्थापनमें नैतिक व्यवस्थाको उसके पूरे मूल्य प्रतिष्ठा दे सकनेकी आशा कर सकेंगे।

तीसरा खण्ड

कर्मकी उच्चतर रेखाएँ

एक

कर्मकी उच्चतर रेखाएँ

मनकी तीसरी गतिधारा मनुष्यके अन्तरात्माको प्राणिक तथा मानसिक शक्तियोंके जालमेंसे निकालनेका उद्योग करती और उसके सामने एक ऐसा क्षेत्र खोलती है जिसमें मन अपने-आपको, कमसे कम अपने विचार तथा इच्छाके मस्तकको, प्राणिक माँगों और मानकोंके ऊपर उठाता और वहाँ, अपनी क्रियाओंके शिखरपर, निम्नतर कर्मको उसने जो कोई भी रियायतें दे रखी हों, मनोमय पुरुषके सच्चे आदर्शोंके लिए, उसकी सच्ची माँगोंके लिये जीता है, भले ही वह शरीरमें बन्दी क्यों न हो और जड़जगत्में जीवनकी अवस्थाओंसे मल्ल करनेको निर्दिष्ट क्यों न हो। मनोमय पुरुषकी सहजात चाह होती है मनोमय अनुभवके लिये, मनके वहुविध वलके लिये, मनकी क्षमताओं, प्रसन्नताओं, वृद्धि और पूर्णताओंके लिये, और ये चीज़ें उसकी प्रकृतिको जो अनिवार्य तुष्टि देती हैं उसके कारण उनके लिये उसकी चाह उन्हींके निमित्त होती है,——बुद्धिकी चाह होती है सत्य तथा ज्ञानके लिये, नैतिक मनकी चाह ऋत और शुभके लिये, सौन्दर्यबोधी मनकी चाह सौन्दर्य और सौन्दर्यानन्दके लिये, भावनाप्रवण मनकी चाह प्रेमके लिए और हमारे संगी प्राणियोंके साथ सम्बन्ध रखनेके हर्षके लिए, इच्छावृत्तिकी चाह स्वाधिकारके लिए और वस्तुओं और जगत् और हमारे अस्तित्वपर अधिकारकी प्राप्तिके लिये। और जिन मूल्योंको मनोमय पुरुष परम तथा प्रभावी मानता है वे मूल्य हैं सत्य और ज्ञानके, ऋत और शुभके, सौन्दर्य और सौन्दर्यरसिक आनन्दके, प्रेम और भावोच्छ्वासी हर्षके, अधिकार और आन्तरिक प्रभुताके। इन्हीं चीजोंको वह जानता और अधिकृत करना चाहता है, इन्हींका अनुसरण, आविष्कार, भोग और वर्द्धन करना चाहता है। इसी महान् जीवट-कार्यके लिये वह जगत्में आया है, ये चीजें उसे जो अन्तहीन क्षेत्र देती हैं उनके बीच साहसिकतासे चलनेके लिये, परीक्षण करने, संकट उठाने, प्रत्येक सम्भावनाका अनुसरण करने, उसके दिये गये सूत्रका अन्त तक पीछा करने और साथ ही प्रत्येकके अन्दर उसके वर्त्तमान आविष्कृत नियम और मर्यादाको देखनेके लिये। जैसे अन्य क्षेत्रमें वैसे ही यहाँ भी, जैसे प्राणिक और शारीरिक क्षेत्रमें वैसे ही मनोप्रदेशोंमें भी, उसकी बुद्धि तथा इच्छावृत्तिका नियुक्त कार्य यह है कि वे एक सदा बढ़ते अनुभव द्वारा वर्द्धमान प्रकाश बल, ऋत, सत्य, आनन्द, सौन्दर्य और विशालत्वकी दशाओंको जानें और अधिकृत करें, और सत्य तथा विधानका

आविष्कार ही नहीं, किसी तन्त्र और व्यवस्थाकी स्थापना ही नहीं, उसकी रेखा
और सीमाओंका सतत विस्तरण भी करते रहें। अतएव जैसे प्राणक्षेत्रमें वैसे ही
क्षेत्रोंमें, मनुष्य, मनोमय जीव, अत्यधिक समयतक न तो किसी स्थापित तन्त्रके आंशि
सत्यमें विराम पा सकता है, न किसी ऐसी व्यवस्थामें ही जिसे भूलसे कुछ समयके लि
शाश्वत व्यवस्था मान लिया गया हो,——इस क्षेत्रमें तो इस विरामकी सम्भाव
न्यूनतम रहती है, क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति करता है, वह सदा और भी आ
बढ़नेकी ओर प्रलोभित होता है और अन्तमें यह अनुभव कर लेता है कि वह अनन्त
अन्वेषक और परमकी शक्ति है। यहाँ उसका आधार प्राण और जड़के तमोवृत अनन्त
निमज्जित है, किन्तु उसका मस्तक अध्यात्म-सत्ताके ज्योतिर्मय अनन्तकी ओर उठता है

अतः मनोमयी ऊर्जाकी तीसरी गतिधारा उसे प्राणिक तथा शारीरिक कर्म
नीचे गिरानेवाले और सीमित करनेवाले दावेके जोरदार आधिपत्यसे ऊपर अ
स्वदेश और स्वराज्यमें ले जाती है। यह सच है कि उसकी निम्नतर सत्ता प्राण
शरीरके नियमके अधीन रह जाती है, और यह भी सच है कि वह सत्यका, ऋत
शुभका, सौन्दर्यका, प्रेम तथा हर्षका, मनकी इच्छा तथा अधिकारका कोई नि
जीवनमें पाने या अपने चारों ओरके जगत्में ले आनेका प्रयत्न अवश्य करेगा, क्यों
उस प्रयत्नके कारण ही वह पशु न हो करके मनुष्य है और उसके बिना उसे अपनी स
जीवनतुष्टि नहीं मिल सकती। परन्तु दो बातोंका बोध और अनुभव उसे अधिका
पाना होता है:—पहली यह है कि प्राण और जड़ अपने स्वधर्मका अनुसरण करते हैं, न
किसी नैतिक, किसी बुद्धिसंगत, किसी मनोनिर्दिष्ट सौन्दर्यबोधी व्यवस्था या मन
किसी अन्य व्यवस्थाका,——अन्ततः उस अर्थमें तो नहीं जो कि मनुष्यका उससे आ
होता है,——और यदि वह किसी ऐसी चीजको उनमें समाविष्ट करना चाह
है तो स्वयं उसे ही यहाँ उसकी सृष्टि करनी होगी, शारीरिक और प्रा
नियमका अतिक्रमण करना होगा और एक अन्य तथा श्रेष्ठतर व्यवस्था
अन्वेषण करना होगा; और दूसरी यह है कि वह इन चीजोंका अनुसरण
उन्हींके लिये जितना अधिक करता है, वह उनके स्वरूपका उतना ही अ
आविष्कार करता है, और उनकी शक्तिका ऐसा विकास करता है कि वह प्रा
अभिभावी हो जाय और उसे उच्चतर प्रकृतिके वायुमंडलमें ऊपर उठा ले जा
अन्य शब्दोंमें, वह उपयोगात्मक ज्ञान, नैतिकता, सौन्दर्यबोध, भावावेगशक्ति
इच्छाशक्तिके व्यावहारिक अनुसरणसे चलकर,——उसके प्राणिक लक्ष्योंके
जीवन प्रथमतः जैसा है उसके लिये उपयोगी रहनेवाली इन चीजोंसे चलकर,—
चीजोंके एक आदर्शात्मक अनुसरणकी ओर और जीवनको अपने आदर्शकी मू

रूपान्तरित करनेकी ओर बढ़ता है। निस्सन्देह, वह इसे अभीतक उपलब्ध करनेमें असमर्थ है और सन्तुलन और समझौतेपर ठहरनेको विवश है क्योंकि जो उसके आदर्शोंसे परे है उसके सारे समन्वयकारी रहस्यको उसने पाया नहीं है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह उनके विशुद्ध स्वरूपका अनुसरण उनकी अपनी अनिवार्य और अन्तर्जात माँग तथा आकर्षणके नाते, उनके अनन्त और परम-चरम स्वरूपकी ओर उन्हींकी प्रवृत्तिकी रेखापर करता है, त्यों-त्यों वह उस रहस्यकी समग्रानुभूतिके अधिक समीप जाता है। इस प्रकार उसके इस आविष्कारकी सम्भावना रहती है कि जैसे प्राण तथा जड़के सौन्दर्य और अखण्डनीय व्यवस्थाका कारण प्राण तथा जड़में 'अनन्त' का आनन्द, और अपने अन्दरके पुरुष एवं आत्माके प्रच्छन्न ज्ञान, इच्छा तथा भावके प्रति यहाँ कार्य करती शक्तिकी निष्ठा है, वैसे ही मनुष्यके अपने प्रच्छन्न आत्मामें, उसके अपने विशाल और निभृत आत्मामें 'अनन्त' के आत्म-ज्ञान, इच्छा, हर्ष, प्रेम तथा आह्लादका, हर्ष और कर्मके अधिकार, ऋत और सत्यका एक रहस्य है जिसके द्वारा उसका अपना महत्तर जीवन प्राण तथा मनकी परिच्छिन्नताओंसे ऊपर उठता हुआ अपने ही अन्दर अनन्त पूर्णता, सौन्दर्य और आनन्दका और स्वतःस्फूर्त्त तथा अखण्डनीय व्यवस्थाका अनुसन्धान पा ले सकता है।

इस बीच, मनकी यह तीसरी गतिधारा मानसिक ऊर्जाओंके प्रतिदानके नियमका आविष्कार करती है जो अपने प्रकारमें विशुद्ध है, प्राणिक तथा शारीरिककी तरह निश्चयात्मक है, अपने प्रति, मनके आत्मा और मनकी प्रकृतिके प्रति उसी तरह निष्ठावान् है और मानसिक क्रियाधाराको दिये जानेवाले प्राणिक प्रतिदानोंका नहीं, प्रत्युत जीवमें अन्तरात्माकी प्रगतिका और शुभ, सौन्दर्य तथा बलकी शक्तिकी प्रगतिका, मनःशक्ति और अन्तरात्मा-शक्तिकी प्रगतिका और महानता, प्रेम, आनन्द तथा ज्ञानकी प्रगतिका नियम है। यहाँ तक ऊपर उठा हुआ नैतिक मन अब नेकीका अनुसरण पृथ्वीपर या अन्य अस्तित्वमें पुरस्कार पानेके लिये नहीं करता, वरन् अब वह ऐसा करता है स्वयं नेकीके लिये, और बुराईका त्याग वह पृथ्वीपर बादमें इसी जीवनमें या नहीं तो अन्य जीवनमें या नरकमें दण्ड पानेके भयसे नहीं, वरन् इस कारणसे करता है कि बुराईका अनुसरण उसकी सत्ताकी अवनति और व्याधि है और उसका अपने अन्तर्जात तथा अवश्यकरणीय प्रयाससे पतन है। यह उसके लिये उसकी नैतिक प्रकृतिकी आवश्यकता है, एक सत्यतः निश्चयात्मक आदेश, एक पुकार है जिसका मनुष्यकी अधिक संश्लिष्ट समग्र प्रकृतिमें उसके अन्य भागों और उनकी आवश्यकताओं द्वारा कुण्ठित या दमित या निष्कासित होना सम्भव रहता है, परन्तु जो नैतिक मनके लिये बाध्यकारी तथा परम है। जो भलापन नेकीसे कार्य करनेके लिये पुरस्कार

माँगता है और जिसे सीधी राहपर चलते रह सकनेके लिये दण्डकी आवश्यकता रहती है, वह नैतिक सत्ताका सच्चा अंश या सच्चा धर्म नहीं, बल्कि मिश्रित रचना है, मनुष्यकी व्यावहारिक बुद्धिका नियम है जो सदा उपयोगिताकी खोजमें रहती है और जो सहायक और कार्यसाधक है उसे ही ठीक मानती है, एक ऐसा नियम है जो प्रथमतः अन्तरात्माके विकासकी ओर नहीं देखता, अपितु नियमित बाह्य आचरणको यान्त्रिक रूपसे सुरक्षित करनेकी ओर नजर रखता है और इस हेतु प्राणिक सत्ताको रिश्वत देकर और भयभीत करके उसका अनुमोदन और उसकी अपनी सहजवृत्तियों और स्वाभाविक साहसिकताओंकी अनिच्छुक सहमति प्राप्त करता है। इस प्रकार रचा गया भलापन एक व्यवहारसाधकता, एक स्वाभाविक शालीनता, अहंका एक विवेकयुक्त परिसीमन, सच्ची चीजके स्थानपर एक व्यापारिक वस्तु है या, अपने उत्तम रूपमें, यह मनका अभ्यास है, अन्तरात्माका सत्य नहीं, और मनके अन्दर यह एक निर्माण है, मिश्रित वस्तु है, अवर सामग्रीसे बना है, एक रूढ़िगत भलापन है जो असुरक्षित है, जीवनकी घिसाईसे विनाशनीय है और अन्य व्यवहारसाधकताओंके साथ उसका आसानीसे घुटाला हो जाता है या वह उनके द्वारा खरीद लिया जा सकता है या उनसे हार जा सकता है; यह अन्तरात्माका ऊँचा और स्पष्ट ऊपर उठता निर्माण नहीं, अन्तरात्माकी स्थायी और अन्तरकी सजीव आत्म-रचना नहीं। संक्रमणके एक डगके रूपमें रूढ़िगत नैतिकताकी जो भी व्यावहारिक उपयोगिता या सेवा हो, वह जिस भ्रम और प्राणिक समझौतेके मानसिक अभ्यासका पोषण करती है उस अभ्यासने, और जिन अधिक आपत्तिजनक भ्रमों और समझौतोंको उस अभ्यासका समर्थन है उन्होंने उसे मानव-जीवनको सच्ची नैतिक व्यवस्थाकी ओर प्रगति करनेकी ओरसे पीछे रोक रखनेवाली प्रधान शक्तियोंमेंसे एक शक्ति बना दिया है। यदि मानव-जाति किसी स्थायी और सच्चे रूपसे आगे बढ़ी है तो उस सद्‌गुणके नाते नहीं जिसकी रचना पुरस्कार या दण्ड द्वारा या तुच्छ प्राणिक अहंके सामने बलवान् रहनेवाली किन्हीं भी विधियों द्वारा हुई हो, बल्कि वह आगे बढ़ी है निम्नतर मनपर उच्चतर मनके आग्रहसे, ऋतपर स्वयं ऋतके लिये आग्रहसे, अवश्यमान्य नैतिक मूल्योंपर नैतिक सत्ता और नैतिक आचरणके एक ऐसे निरपेक्ष नियम और सत्यपर आग्रह जिसका पालन करना ही होगा, निम्नतर मनकी चाहे जो कोई भी उद्दंडताएँ हों प्राणिक समस्याकी जो कोई भी वेदनाएँ हों, बाह्य परिणाम, निम्नतर स्तरका परिणाम जो कुछ भी हो।

इस उच्चतर मनका अपना विशुद्ध और सम्पूर्ण अधिकार केवल थोड़ेसे उच्च जीवोंपर ही होता है, दूसरोंमें यह मन निम्नतर और बाह्य मनपर क्रिया तो करता

है परन्तु विचार और इच्छाके बहुत ही भ्रान्त अभिग्रहण, भ्रम और विकृति और विकृतिकारी अथवा क्षयकारी सम्मिश्रणके बीच, आचरणके निम्नतर अहमात्मक, प्राणिक और रूढ़िगत मानकों द्वारा शासित समूहपर उसका प्रभाव परोक्ष और अल्प होता है। जो कुछ भी हो, इससे हमें वह सूत्र मिलता है जिसका पीछा हमें कर्म-रेखाओंके कुण्डलाकार आरोहणका अनुसरण करनेके लिये करना होता है। और पहले हम यह देखते हैं कि नेक मनुष्य नैतिक नियमका अनुसरण स्वयं उस नियमके लिये करता है, किसी भी अन्य हेतुसे नहीं; वह न्यायके हेतु न्यायपरायण है, धर्मके हेतु धर्मपरायण है, दयाके हेतु दयालु है, सत्यके ही लिये सत्यनिष्ठ है। हरिश्चन्द्रने वचनकी सत्यताकी अडिग निष्ठामें अपना, पत्नी, सन्तान, राज्य और प्रजाका बलिदान कर दिया; शिविने शरणार्थीकी रक्षाके राजोचित कर्त्तव्यसे च्युत होनेकी अपेक्षा बाजको अपना मांस दे डाला; बोधिसत्वने क्षुधार्त्त व्याघ्रके सामने अपना शरीर ही रख दिया; पुनीत कथाओं और महाकाव्योंके कथानकोंके इन चित्रोंमें इस श्रेष्ठतर प्रकारके सद्‌गुणका अभिषेक किया गया है और ये चित्र नैतिक इच्छाका ऐसा उन्नयन और नैतिक ऊर्जाका ऐसा नियम प्रकाशित करते हैं जो मनुष्यसे या किसी भी जीवन्त वस्तुसे या कर्म-देवताओंसे कोई भी प्रतिदान नहीं माँगता, कोई भी शर्त्त नहीं रखता, परिणामकी, अधिकतम लोगोंके कम या अधिक या अधिकतम मंगलकी गणना नहीं करता, न तो सुखात्मक मापको अपनाता है न उपयोगात्मक मापको ही, प्रत्युत उस कार्यको सरल भावसे, कर्त्तव्यकी तरह केवल इसलिये करता है कि वह ऋत और सद्‌गुण है और अतः मनुष्यकी सत्ताका धर्म, उसकी प्रकृतिका अनुल्लंघ्य आदेश ही है।

नैतिक माँगमें इस प्रकारकी ऊँची केवलता शरीर और अहंके लिये भयावह होती है, क्योंकि उसमें आरामदायक छूट और समझौतेको, उपशमनकारी शर्त्तों या अवस्थाओंको, अहंभावात्मक जीवन और पुण्यके बीच किसी लाभदायक समझौतेको अनुमति नहीं मिलती। वह व्यावहारिक बुद्धिके लिये भी आपत्तिजनक है क्योंकि वह जगत् और मानव-प्रकृतिकी संश्लिष्टताकी अवज्ञा करती है और उसमें एक चरमवादिता ऐकान्तिक अतिरंजनाका वर्ण दीखता है जो आदर्श कार्यमें जितना ऊपर उठी हुई है जीवनके लिये उतनी ही संकटपूर्ण है। न्याय और सही ही किया जाय भले ही आकाश गिर पड़े, यह ऐसा आचरण-नियम है जिसे केवल आदर्श मन ही धीरजसे स्वीकार कर सकता या आदर्श प्राण ही व्यंवहारमें सहन कर सकता है। और विशालतर आदर्श मनके लिये भी यह केवलता तब अविश्वसनीय हो जाती है जब कि वह अन्तरात्माके उच्चतर धर्मके प्रति न होकर, एक बहिर्नैतिक धर्म, एक आचरणसंहिताके प्रति आज्ञाकारी हो। कारण, तब उत्थानकारी उत्साहके स्थानपर हमें

मिलेगी फरीसीकी अनम्यता, प्युरिटन (शुद्धिवादी) की उग्रता या संकीर्णता या प्रकृतिके किसी एक ही और अपर्याप्त पक्षका जीवनहन्ता अत्याचार। यह चीज अब-तक वह उच्चतर मनोमयी गतिधारा नहीं, अपितु उसकी ओर उद्योग है; यह एक संक्रमणकालीन विधान और प्राणात्मक समझौतेसे ऊपर उठनेका प्रयास है। और यह अपने साथ एक कृत्रिमता लाती है, एक तनावट, एक बलप्रयोग, प्रायः एक जुगुप्सा-जनक कठोर संयम लाती है जो हमारी प्रकृतिकी उच्चतर पूर्णता नहीं, क्योंकि उसमें विवेक और विशाल बुद्धिमत्ता और सच्चे नैतिक मनकी सरल स्वाभाविकता और जीवनकी नम्यताओंकी अवज्ञा है; यह कठोर संयम जीवनपर अत्याचार करता है, किन्तु उसका रूपान्तर नहीं करता। तथापि यहाँ भी नैतिक ऊर्जाके उत्पादनको एक महान् प्रतिदान पानेकी खोज रहती है; नैतिक कर्मके किसी धर्मके अनम्य आज्ञापालन-पर आग्रह रखते हुए उस वस्तुका निर्माण जिसका अभी तक हमारे अन्दर अस्तित्व है नही या अपूर्ण रूपसे है परन्तु एकमात्र जो ही हमारे आचरणके धर्मको सच्ची और सजीव चीज बना सकती है, नैतिक पुरुषका निर्माण जिसकी प्रकृति अपरिवर्त्तनीय रूपसे नैतिक हो, यदि यह लक्ष्य वास्तवमें इस प्रकार निष्पन्न किया जा सकता हो तो यह प्रयत्न वास्तवमें करने लायक है। किसी भी कल्पित यान्त्रिक या निर्व्यक्तिक धर्म या ईश्वर या पैगम्बरके नाममें मनुष्यपर बाहरसे लादा गया कोई भी नियम, केवल इसी नाते, मनुष्यके लिये सच्चा या ठीक या बाध्यकारी नहीं हो सकता : वैसा वह केवल तब हो सकता है जब कि वह उसकी आन्तरिक सत्ताकी किसी माँगको पूरी करता या उसके किसी विश्वासको सहायता देता हो। और जब वह आन्तरिक सत्ता प्रकट हो जाती, विकसित हो जाती, प्रत्येक क्षण स्वाभाविक रूपसे सक्रिय, सरल और स्वतःस्फूर्त्त रूपसे अनुल्लंघ्य हो जाती है, तब हमें उसके आत्म-ज्ञानके प्रकाशमें, उसकी आत्म-परिपूर्त्तिके सौन्दर्यमें, उसके अन्तरंग जीवन-तात्पर्यमें सच्चा, आन्तरिक और संबोधिमूलक विधान प्राप्त होता है। तब न्याय, सत्य, प्रेम, अनुकम्पा, शुचिता और बलिदानका कार्य हमारे न्यायनिष्ठ अन्तरात्माकी, हमारे सत्यनिष्ठ अन्तरात्माकी, हमारे प्रेम तथा अनुकम्पापूर्ण अन्तरात्माकी, हमारे शुचितापूर्ण या बलिदानप्रवण अन्तरात्माकी निर्दोष अभिव्यंजना, उसका स्वभाविक प्रस्फुटन हो जाता है। और बाह्य प्रकृतिको दिये जानेवाले उसके आज्ञात्मक आदेशकी महत्ताके सामने प्राणिक सत्ता और व्यावहारिक बुद्धि और सतही जिज्ञासु मानसिक बुद्धिको यह कहकर सर नवाना होगा, और वे नवाती भी हैं, कि वह स्वयं उनसे महत्तर वस्तु है, कोई ऐसी वस्तु है जो सीधे भगवान् और अनन्तकी है।

इस बीच हमें कर्मके उच्चतर विधानका, ऊर्जाके उत्पादन और प्रतिदानोंके

उच्चतर नियमका सूत्र प्राप्त हो जाता है और हम तत्काल और प्रत्यक्ष देख लेते हैं कि कर्मके सारे विधानकी भाँति वह भी, पहले भले ही प्रच्छन्न रूपसे हो, किन्तु मनुष्यके लिये, यथार्थमें और अन्ततोगत्वा, उसके आध्यात्मिक विकासक्रमका विधान है। उसके पुण्य-कृत्यको, उसकी ऊर्जाके नैतिक ऋततत्वके उत्पादनको मिलनेवाला सच्चा प्रतिदान,—चाहें तो कहें, उसका पुरस्कार और एकमात्र प्रतिदान जिसके लिये आग्रहकरनेका उसे अधिकार है,—उस कृत्य या उत्पादनका उसपर इस रूपमें प्रत्यागमन होना है कि उसमें नैतिक बलका विकास हो, उसकी नैतिक सत्ताका निर्माण ऊपर उठे, वह जो ऋत, न्याय, प्रेम, दया, पवित्रता, सत्य, बल, साहस और आत्म-देनसे पूर्ण अन्तरात्मा बनना चाहता है उसका प्रस्फुटन हो। दुष्कृत्यको, ऊर्जाके नैतिक अऋततत्वके उत्पादनको मिलनेवाला सच्चा प्रतिदान,—चाहें तो कहें उसका दण्ड, और उसकी एकमात्र शास्ति जिससे डरना आवश्यक या उचित है,—उस कृत्य या उत्पादनका उसपर इस रूपमें प्रत्यागमन है कि नैतिक बलके विकासमें विलम्ब हो, नैतिक सत्ताका जो निर्माण ऊपर उठा था वह विनष्ट हो जाय, वह जो पवित्र, सबल और ज्योतिर्मय पुरुष होना चाहता है, वह पुरुष, उसका अन्तरात्मा, तमोवृत, मलिन और दीन हो जाय। वह अपने कृत्यसे आन्तरिक सुख पा सकता है, ऋतमें परिपूरित अन्तरात्माकी स्थिरता, शान्ति और तुष्टि पा सकता है, या वह आन्तरिक आपदा पा सकता है, उसके उतार या वैफल्यका कष्ट, विक्षोभ, असुख और बाधा पा सकता है, परन्तु ईश्वरसे अथवा नैतिक विधानसे और कुछ नहीं मांग सकता। नैतिक अन्तरात्मा,—कृत्रिम नहीं, प्रत्युत सच्चा नैतिक अन्तरात्मा,— जीवनकी वेदनाओं, कष्टों, कठिनाइयों और उग्र अभित्रासोंको अपने पापोंके दण्डके रूपमें नहीं, अपितु अवसर और परीक्षाके रूपमें, अपनी प्रगतिके लिये अवसर और अपने निर्मित या सहज बलकी परीक्षाके रूपमें लेता है, और सौभाग्य तथा सारी बाह्य सफलताको पुण्यके लालायित पुरस्कारके रूपमें नहीं, अपितु उसे भी एक अवसर और एक और भी बड़ी और कठिनतर परीक्षाके रूपमें लेता है। ऋततत्वके इस महान् साधकके लिये कर्मके प्राणिक विधानका क्या अर्थ हो सकता है या उसके देवता उसका ऐसा क्या कर सकते हैं जिसका उसे भय हो या जिसकी उसे चाह हो? ऐसे अन्तरात्माके लिये, अपने विकासक्रमकी इस ऊँचाईपर पहुँचे हुए मनुष्यके लिये, जगत् और जागतिक तात्पर्य तथा विधानकी नैतिक-प्राणिकवादी व्याख्या सार्थक नहीं होती। वह मनुष्य मध्याकाशकी शक्तियोंके क्षेत्रसे आगे निकल चुका है, उसके आत्माके प्रयासका मस्तक इन शक्तियोंके साम्राज्यके निष्प्रभ और धूसर प्रदेशसे ऊपर उठ चुका है।

दो

सत्यकी उच्चतर रेखाएँ

नैतिक पुरुषके इस चरम आग्रहसे भ्रान्त होकर यदि यह अनुमान कर लिया जाय कि अनन्तकी हमसे एकमात्र या परम माँग नैतिक है या उच्चतर कर्मका एकमात्र विधान और उसकी रेखा नैतिक हैं और इसके सामने अन्य किसी भी चीजका महत्त्व नहीं, तो इससे बढ़कर कोई भूल नही हो सकती। एक जर्मन चिन्तकका यह विचार कि मनुष्यके लिये यह अनुल्लघ्य प्रेरणा है कि वह सही और शुभकी, सही आचरणके दृढ़ नियमकी खोज करे, परन्तु अधि-आत्माकी कोई ऐसी अनुल्लंघ्य प्रेरणा नहीं जो उसे सत्य या सुन्दरकी, सम्यक् सौन्दर्य और सामजस्य और सम्यक् ज्ञानके नियमकी खोज करनेको बाध्य करे, विलक्षण भ्रान्त धारणा है। यह एक मिथ्या निगमन है जिसकी उत्पत्ति मनुष्यके मनकी एक सक्रमणकालीन गतिधारासे, और उसमें भी उसके संश्लिष्ट व्यापारके एक ही पहलूमे अति व्यस्त रहनेसें हुई है। भारतीय चिन्तकोंकी दृष्टि अधिक बुद्धिमती थी; उन्होंने यह स्वीकार करते हुए भी कि सम्यक् नैतिक सत्ता और आचरण प्रथम आवश्यकता है, ज्ञानको महत्तर अन्तिम माँग और अनिवार्य शर्त माना, और उनका यह विशालतर अनुभव परिपूर्ण दृष्टिके बहुत समीप आया कि या तो पूर्ण ज्ञानकी ओर प्रेरणा द्वारा या इच्छाकी विशुद्ध निर्व्यक्तिकता द्वारा या दिव्य प्रेम और पूर्णानन्दके उल्लास द्वारा ,——और चैत्यिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताकी निमग्नकारिणी एकाग्रता द्वारा भी,——जीव 'परम' की ओर मुड़ता है और हमारे आत्मा, प्रकृति तथा चेतनाका प्रत्येक भाग भगवान्‌की पुकार और उनके दुर्निवार आकर्षणकी ओर उन्मीलित हो सकता है। वस्तुतः इन सबका उन्नयन, भगवान्‌का हमारी सत्ताकी सारी विधाओंपर एक आदेश, ईश्वर, स्वतन्त्रता और अमरत्वपर सम्पूर्ण अधिकारकी, समाकलनकारी अधिकारकी प्राप्तिकी ओर आत्म-परिवर्द्धनकी प्रेरणा है और इस नाते वही हमारी प्रकृतिका सर्वोच्च धर्म है।

प्राणकी मूलभूत गतिधाराको किसी निरपेक्ष नैतिक आग्रहकी बात कुछ भी मालूम नहीं, उसके लिये एकमात्र सुनिश्चित आदेश प्रकृतिका ही आदेश है जो प्रत्येक प्राणीको बाध्य करता है कि वह अपना जीवन अपने अन्तर्जात आत्म-स्वरूपके अनुसार और प्रकृतिके स्वभावको व्यक्त करनेवाली विधाके अनुसार प्रतिष्ठत करे जैसा कि उसे करना ही होगा, या ऐसा यथासम्भव उत्तम रूपमें करे। मन द्वारा अनुगर्भित

प्राणकी संक्रमणकालीन गतिधारामें वस्तुत: एक नैतिक सहजप्रवृत्ति होती है जो विकसित होकर नैतिक बोध और भाव हो जाती है,—किन्तु न तो सम्पूर्णतया, क्योंकि वह प्रवृत्ति आचरणके ऐसे बड़े प्रदेश छोड़ देती है जिनमें नैतिक बोधकी रिक्ति या नैतिक बोधके प्रति निश्चेतना होती है, दूसरोंके मोलपर अहमात्मक कामनाओंकी तुष्ट परिपूर्ति होती है, और न आदेशात्मक रूपसे ही, क्योंकि प्राणिक सत्ताका नियम, जिसे पहले आरोपित किया गया था और जो अधिक स्वाभाविक रूपसे आधिपत्यशाली है, उससे आसानीसे मोर्चा लेता और उसका आसन उलट देता है। प्राकृतिक अहमात्मक मनुष्य आचरणके उस सामूहिक या सामाजिक नियमका ही पालन अधिकतम कड़ाईसे करता है जिसे विधान और परम्पराने उसके मनपर अंकित कर दिया हो, और उसके रूढ़िगत वृत्तके बाहर वह अपने-आपको एक आसान स्वच्छन्दता देता है। बुद्धि किसी ऐसे नैतिक विधानके भावको लेती है जिसके साथ यह आबन्ध रहता है कि मनुष्य उसकी ओर ध्यान दे और उसका पालन करे और उसकी अवज्ञा वह एक बाह्य जोखिम या एक आन्तरिक जोखिम उठाकर ही कर सकता है; वह इस भावको सर्वसामान्य बना देती है, और पहले और सबसे अधिक वह एक नैतिक विधान, आत्म-नियन्त्रण, न्याय, धर्मपरायणता और आचरणके आबन्धके लिए आग्रह करनी है, न कि सत्य, सौन्दर्य और सामंजस्य, प्रेम या स्वामित्वके नियमके लिए ; क्योंकि अपनी कामनाओं और सहजप्रवृत्तियों और अपने बाह्य प्राणिक क्रियाकलापका नियमन मनुष्यकी पहली आवश्यक पूर्वव्यस्तताका विषय है और पहले उसे अपनी स्थिति और एक निश्चित तथा अनुमोदित व्यवस्था यहीं पानी होती है, उसके बाद ही वह अधिक गहरे जाना और अपनी आन्तरिक सत्ताकी दिशामें अधिक विकसित होना सुरक्षित रूपसे आरम्भ करता है। इस सतही नैतिक बोधमें, इस सापेक्षिक आबन्धमें आन्तरिक तथा निरपेक्ष नैतिक आदेशकी संबोधिको भावमय मन ही लाता है, और यदि उसमें नैतिकताको प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान और कुछ मनोंमें पूरा ही स्थान देनेकी प्रवणता रहती है, तो इसका कारण फिर भी यही है कि पृथ्वीपर मनके विकासक्रममें लम्बे समयतक क्रियाको दी गयी प्राथमिकता मनुष्यको इस ओर चालित करती है कि वह अपने आदर्शवादको पहले क्रियामें और अन्य प्राणियोंके साथके सम्बन्धोंमें प्रयुक्त करे। परन्तु जैसे मनमें वह नैतिक सहजप्रवृत्ति रहती है जो शुभकी खोज करती है, वैसे ही मनुष्यमें सौन्दर्यरसिक सहजप्रवृत्ति, भावनाप्रवण और क्रियात्मक सहजप्रवृत्ति और वह सहजप्रवृत्ति भी रहती है जो ज्ञानकी खोज करती है, और वर्द्धमान बुद्धि जैसे नैतिक दिशामें वैसे ही इन सारी दिशाओंमें भी विकास सिद्ध करने और उनका सही नियम पानेसे मतलब रखती है, क्योंकि सत्य, सौन्दर्य, प्रेम, बल और शक्ति, मन तथा प्राणके

सच्चे वर्द्धनके लिये आखिरकार धर्मपरायणता, पवित्रता और न्यायपरायणताके समान ही आवश्यक हैं। उच्च भावमय स्तरपर पहुँचकर ये चीजें भी,——नैतिक हेतुसे किसी कम रूपमें नहीं,——इस सापेक्षिक स्वरूप और महत्त्ववाली चाह और आवश्यकता नहीं रह जातीं, वरन् आध्यात्मिक पूर्णताकी ओर ले जानेवाला नियम, उस ओरकी पुकार, एक आन्तरिक तथा निरपेक्ष दिव्य आदेश हो जाती हैं।

मनुष्यका उच्चतर मन केवल शुभकी ही नहीं, सत्यकी, ज्ञानकी खोज करता है। उसकी सत्ता नैतिक है और बौद्धिक भी, और उसे चलानेवाला अन्तर्वेग, उसकी जाननेकी इच्छा, सत्यकी प्यास, अपने ऊर्ध्वमुख अभिविन्यासमें, अपनी प्रारम्भिक क्रियाओंमें भी, शुभकी इच्छासे कम दिव्य नहीं, अधिक भी है; वह हमारी चेतना तथा सत्ताके विकास और हमारे कर्मके सही व्यवस्थापनके लिये आवश्यक है; वह मनुष्यपर विश्वगत आत्माकी इच्छा द्वारा आरोपित आदेशात्मक आवश्यकताके रूपमें भी कम नहीं। और जैसे शुभके अनुसरणमें वैसे ही ज्ञानके अनुसरणमें भी हमें ऊर्जाके विकासक्रमकी वे ही रेखाएँ और पर्व दिखायी देते हैं। प्रथमावस्थामें, उसके आधार-रूपमें, केवल एक प्राण-चेतना रहती है जो अपने आत्माको खोजती है, अपनी गतियों, क्रियाओंऔर प्रतिक्रियाओं, अपने परिवेश, अभ्यास और निर्धारित नियमोंके प्रति अधिकाधिक चेतन होती है, सदा ही स्वानुभवसे कुछ पाती, अभिवर्द्धित होती और लाभ उठाना सीखती रहती है। निस्सन्देह यही बुद्धिकी चेतना और व्यवहारका मूलभूत उद्देश्य है, और विचारशीला इच्छाको अपने अन्दर रखनेवाली बुद्धि मनुष्यकी प्रमुख क्षमता है, वह उसकी अन्य सारी क्षमताओंको अवलम्ब देती, उनका आलिंगन करती, उन्हें अपने परिवर्त्तनसे परिवर्त्तित करती, अपने विस्तारसे विस्तृत करती और अधिकाधिक पूर्ण बनाती है। मन, अपनी प्रथम क्रियामें, ज्ञानका अनुसरण किसी जिज्ञासासे करता है, परन्तु उसे प्रधानतः व्यावहारिक अनुभवकी ओर, एक ऐसी सहायताकी ओर मोड़ देता है जो उसे जीवनके प्रथम व्यवहारों और उद्देश्योंकी पूर्ति अधिक अच्छी तरह करने और उन्हें अधिक आश्वस्त रूपसे वर्द्धित करनेकी क्षमता देती है। बादमें वह बुद्धिके अधिक स्वतन्त्र व्यवहारका विकास करता है, परन्तु तब भी प्राणिक उद्देश्यकी ओर एक प्रधान घुमाव रहता है। और हम यह देख सकते हैं कि जीवनके प्रतिदान देनेवाली शक्तिके रूपमें विश्वऊर्जा नैतिक ऋतत्वकी अपेक्षा बुद्धिको, बुद्धिकी सही व्यावहारिक क्रियाओंको अधिक प्रत्यक्ष महत्त्व और अधिक गोचर परिणाम देती लगती है। इस भौतिक जगत्में यह सन्दिग्ध तो है ही कि नैतिक अच्छाईका प्रतिदान प्राणिक मंगलके रूपमें कहाँ तक मिलता है और नैतिक बुराई प्रतिक्षेपका दण्ड कहाँतक पाती है, परन्तु यह निश्चित है कि हम बहुत सामान्यतः अपनी भूलोंका, अपनी मूढ़ता

सही क्रियाविधिको न जाननेका, हमारी चैत्यिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताको शासित करनेवाले नियमोंकी अवज्ञा या दुष्प्रयोगका मूल्य चुकाते ही हैं; यह निश्चित है कि ज्ञान जीवन-निपुणता और सफलताके लिये एक बल है। भौतिक जगत्‌में बुद्धिका अपना मोल है; वह प्राणिक और शारीरिक कष्टकी ओरसे अपनी रक्षा करती है, उसे नैतिक ऋतत्व और नैतिक उद्देश्यकी अपेक्षा अपने प्राणिक पुरस्कार अधिक निश्चित रूपमें मिलते हैं।

किन्तु मानवजातिका उच्चतर मन जैसे नैतिक सत्ताके प्राणात्मक और उपयोगात्मक मोड़ और माँगको उसका अन्तिम शब्द माननेमें तुष्ट नहीं होता, वैसे ही वह बुद्धिकी खोजमें ज्ञानके उपयोगात्मक व्यवहारको अन्तिम शब्द माननेमें तुष्ट नहीं होता। जैसे मनुष्यकी नैतिक सत्तामें वैसे हीं उसकी बौद्धिक सत्तामें भी ज्ञानकी आवश्यकताका उदय होता है; यह आवश्यकता ज्ञानकी जीवन-उपयोगिताके कारण नहीं होती, सही रूपसे कार्य करनेके लिये, चारों ओरके जगत्‌के साथ सफलता और बुद्धिपूर्वक व्यवहार करनेके लिये सही रूपसे जाननेकी दरकारके कारण नहीं होती, अपितु यह अन्तरात्माकी आवश्यकता, आन्तरिक सत्ताकी अनुल्लंघय माँग होती है। बुद्धिका सच्चा और अन्तर्भूत धर्म ज्ञानके लिये ही ज्ञानका अनुसरण है, न कि प्रथमतः, या अवश्यतः ही, जीवन-साधनकी प्राप्ति या अभिवर्द्धन और कर्म-साफल्यके लिये ज्ञानका अनुसरण। प्राणधर्मी क्रियाशील मनुष्य बुद्धिके इस अनुरागको एक आदरणीय परन्तु फिर भी अव्यावहारिक और प्रायः नगण्य उत्सुकताके ही रूपमें माननेको प्रवण रहता है : जैसे वह नैतिकताका मूल्य उसके सामाजिक प्रभावों या जीवनमें मिलनेवाले उसके पुरस्कारोंसे लगाता है, वैसे ही वह ज्ञानका मूल्य उसके बाह्य सहाय्यसे लगाता है; विज्ञान उसकी आँखोंमें महान् है अपने आविष्कारोंके कारण, वह आराम, साधनों और उपकरणोंकी जो वृद्धि करता है उसके कारण : सब चीजोंमें प्राणिक निपुणता ही ऐसे मनुष्यका मानक है। परन्तु, वास्तवमें, प्रकृति शुरूसे ही एक अधिक विशाल और अधिक आन्तरिक इच्छाकी ओर देखती और महत्तर उद्देश्यसे चालित होती है, और ज्ञानकी सारी खोज उत्पन्न होती है मनकी आवश्यकतासे, मनःप्रकृतिकी आवश्यकतासे, और इसका अर्थ होता है यहाँ प्रकृतिमें स्थित अन्तरात्माकी आवश्यकतासे। उसकी जाननेकी आवश्यकता उसकी वर्द्धित होनेकी आवश्यकतासे अभिन्न है, और बच्चेकी उत्सुक जिज्ञासासे ऊपर उठते क्रममें विचारक, विद्वान्, वैज्ञानिक और दार्शनिकके मनके गम्भीर चापतकमें उसका स्थिरांक, प्रकृतिका मूलभूत उद्देश्य, वही है। प्रकृति जब केवल अपनी कृतियोंके संरक्षणमें, जीवनमें, बाह्य सत्तामें व्यस्त प्रतीत होती है उस सारे समय भी उसका गुप्त और आधारनिष्ठ उद्देश्य भिन्न रहता है,—वह उद्देश्य,

उसके अन्दर जो छिपा हुआ है उसका क्रमविकास है, क्योंकि यदि उसका प्रथम सक्रिय शब्द प्राण है तो उसका महत्तर प्रकटनकारी शब्द है चेतना, और प्राण तथा कर्मका विकासक्रम प्राणमें संवृत चेतनाके विकासक्रम, बन्दी अन्तरात्माके विकासक्रम, जीवके विकासक्रमका साधन ही है। कर्म साधन है, किन्तु ज्ञान उसका चिह्न और चेतन जीवका विकास उसका उद्देश्य। अतः ज्ञानानुसरणके लिये मनुष्यके द्वारा बुद्धिका व्यवहार वह चीज है जो उसे अन्य प्राणियोंसे सबसे अधिक भिन्न बनाती और जीवनके क्रममें उसे उसका उच्च और विलक्षण स्थान देती है। ज्ञानके लिये उसका अनुराग,—प्रथमतः जगत्-ज्ञानके लिये, परन्तु बादमें आत्म-ज्ञानके लिये, फिर ईश्वर-ज्ञानके लिये, उस ज्ञानके लिये जिसमें दोनोंका मिलन होता और दोनोंमें समान रहनेवाला रहस्य प्राप्त होता है,——उसके आदर्श मनकी केन्द्रीय गतिधारा है और उसकी सत्तापर कर्मकी अपेक्षा महत्तर आदेशक है, और यद्यपि वह उसपर अधिकार करनेमें उसके बाद आता है, तथापि वह अपनी पहुँचके विस्तारमें महत्तर है, कर्मपर अपनी प्रभावशालिता-में भी महत्तर है, मनुष्यमेंके सत्य-बलको जगत्-ऊर्जासे मिलनेवाले प्रतिदानोंसे भी महत्तर।

यह तो जब उच्चतम मनकी तीसरी गतिधारा आती है जिसमें वह अपने-आपको अपनी इच्छा तथा बुद्धिके विशुद्ध आत्माको, अपने प्रयासके दीप्तिमान् मस्तकको प्राणिक चालक हेतुसे वियुक्त करनेकी तैयारी करता है तभी प्रकृतिकी यह अनुल्लंघ्य प्रेरणा, यह अन्तर्भूत आवश्यकता जो मनुष्यके मनमें ज्ञानकी ओर प्रेरणाकी रचना करती है, बहुत महत्तर वस्तु हो जाती है, बदलेमें अधिकाधिक स्पष्ट रूपसे उस अन्तरात्मा-का भावमय और परम आदेश हो जाती है जो अज्ञानके कोषों और तुषोंमेंसे बाहर आ रहा है और सत्यकी ओर, प्रकाशकी ओर इस भाँति बढ़ रहा है मानों वह उसकी परि-पूर्तिकी शर्त्त है और उसे भगवान् ही उसकी सत्तासे चाह रहे हैं। ज्ञानकी ओर उद्दीपकके रूपमें बाह्य उपादेयताका आकर्षण तब वैसे ही बिलकुल आवश्यक नहीं रह जाता जैसे हमारे आरोहणके उसी ऊँचे स्तरपर पुण्यके लिये उद्दीपकके रूपमें अभी या बादमें प्राणिक पुरस्कारके प्रदानकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है, और चाहे जिस किसी भी सौन्दर्याभासी रँगमें उसे महत्त्व दिया जाय उसे उस निष्काम भावकी अवनति, आन्त-रात्मिक प्रेरक हेतुकी उच्च पवित्रतासे च्युति भी माना जाता है। यहाँ तक कि बौद्धिक खोजके अधिक बाह्य रूपोंमें भी इस निरपेक्षताके किसी अंशका अनुभव और शास्त्र शुरू हो चुकता है। वैज्ञानिक अपने आविष्कारोंमें लगा रहता है ताकि वह विश्वकी प्रक्रियाके नियम तथा सत्यको जान सके और उनके व्यावहारिक परिणाम प्रश्नकर्ता मनके लिये गौण हेतु ही होते हैं और उच्चतर वैज्ञानिक बुद्धिके लिये तो बिलकुल

ही नहीं होते। वस्तुओंके अन्तिम सत्यकी खोजके लिये वैज्ञानिक प्रवृत्त होता है अन्दरसे, केवल सत्यके लिये, और सत्यका साक्षात्कार करनेके अतिरिक्त अन्य सब कुछ उसके लिये, उसके निमग्नकारी मन और ज्ञानान्तरात्माके लिये गौण या महत्त्वहीन होता है; उस एक अनुल्लंघ्य प्रेरणामें किसी भी चीजको हस्तक्षेप करने नहीं दिया जा सकता। और इस निरपेक्ष तत्त्वकी रुचि और प्रक्रियामें उसी प्रकारकी अनन्यताकी ओर प्रवृत्ति रहती है। चिन्तकका सम्बन्ध रहता है सत्यको खोजने और उसे अपने ऊपर तथा जगत्पर प्रवर्त्तित करनेसे, और ऐसा करनेमें वह इसपर विचार नहीं करता कि जीवन, धर्म, नैतिकता और समाजके स्थापित आधारोंको भंग करनेमें उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, दूसरी कोई भी बात उसके विचारमें नहीं आती; जीवनपर उसके क्रियावंत परिणाम जो कुछ भी हों, वह सत्यके शब्दका उच्चार करेगा ही। और यह निरपेक्ष तत्त्व तब अधिकतम निरपेक्ष हो जाता है, यह अनुल्लंघ्य प्रेरणा तब अधिकतम अनुल्लंघ्य हो जाती है जब आन्तरिक क्रिया बौद्धिक खोजकी उदासीनताको पार कर जाती और सत्यके अनुभवके लिये, ज्योतिर्मय और आन्तरिक सत्यके जीवनके लिये, नूतन सत्य-चेतनामें जन्म लेनेके लिये ज्वलन्त प्रयास हो जाती है। प्रकाशप्रेमी, मुनि, ज्ञानयोगी, द्रष्टा, ऋषि, ज्ञानके लिये और ज्ञानमें निवास करते हैं, क्योंकि उनकी खोज होती है प्रकाश तथा सत्यके निरपेक्ष रूपकी और उनपर उसका दावा अद्वितीय और परम होता है।

साथ ही यह भी जगत्-ऊर्जाकी एक रेखा है, क्योंकि जगत्-शक्ति केवल शक्ति-बल और कर्मबल नहीं, चेतनाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति है,—और कर्ममें सफलता चाहनेवाली इच्छाकी ऊर्जाकी भाँति ज्ञानकी ऊर्जाके उत्पादनके भी अपने परिणाम अवश्य ही आते हैं। परन्तु मनमें इस उच्चतर स्तरपर होनेवाली खोज जो परिणाम लाती है वह सत्यतः और विशुद्धतः जीवका प्रकाश एवं सत्यमें ऊर्ध्वमुख विकास ही है; वह विकास और उसके साथ जो भी सुख आय, वही वह एकमात्र परम पुरस्कार है जिसकी चाह ज्ञानान्तरात्माको होती है और अन्दरके प्रकाशपर अन्धकाराच्छादन, सत्यसे च्युत होनेकी वेदना, केवल सत्यके विधानानुसार और सम्पूर्णतया उसके प्रकाशमें निवास न करनेवाली अपूर्णताकी वेदना, यही उसके लिये एकमात्र दण्डरूपी कष्ट है। मनुष्यमें जो ज्ञानका उच्चतर अन्तरात्मा है उसके लिये जीवनके बाह्य पुरस्कार और कष्ट तुच्छ चीजें हैं। यहाँ तक कि उसका उच्च ज्ञान-मन भी प्रायः उन सारी चीजोंका सामना करेगा जो उसे जगत् द्वारा कष्टके रूपमें दी जा सकती हैं, वैसे ही जैसे कि जिस सत्यको वह जानता और जिसके लिये वह जीता है उस सत्यके अनुसरण और प्रतिष्ठानके लिये वह सब प्रकारके बलिदान करनेको तैयार

रहता है । रोमकी आगमें जलता हुआ ब्रूनो, सभी धर्मोंके शहीद, यन्त्रणा और अत्याचार को सहनेवाले और उनका अपने अन्दरके प्रकाशके साक्षीके रूपमें स्वागत करनेवा लोग, इस अचिर जगत्के विश्वव्यापी कष्टके अज्ञात कारणको खोजने और उसमें निकलकर परम चिरत्वमें चले जानेके मार्गको ढूँढ़नेके लिये सब कुछका परित्या करनेवाले ,बुद्ध, पूर्ण सत्य एवं परम चेतनामें प्रवेश करनेके एकमात्र संकल्पको लेक जागतिक जीवन .और उसके क्रियाकलापों, भोगों और आकर्षणोंको भ्रम कह क परित्यक्त करनेवाले संन्यासी, ज्ञानकी इस अनुल्लंघ्य प्रेरणाके साक्षी हैं, इसके च उदाहरण तथा प्रदर्शक हैं ।

प्रकृतिका अभिप्राय, उसकी विधाओंका आध्यात्मिक औचित्य, अन्तमें उस ऊर्जाओंके इस मोड़में प्रकट होता है जो कि चेतन जीवको सत्य तथा ज्ञानकी रेखाओं सहारे सहारे ले जाता है । प्रकृति प्रथमावस्थामें भौतिक प्रकृति है जो स्थापित स और नियमके आधारके अनुसार अपना दृढ़ क्षेत्र निर्मित करती है परन्तु उसकी निर्देश अवचेतन ज्ञान द्वारा होती है जिसे उसने अपने जीवोंको तव तक नहीं बताया है । इस वाद वह धीमे-धीमे आत्म -चेतन होता प्राण है, तव वह ज्ञानकी खोज इसलिये करती कि वह अपनी राहोंपर उन्हें देखती हुई विचरण करे और अपनी गतिविधिकी संश्लिष्ट तथा कौशल दोनोंका वर्द्धन करे, परन्तु वहाँ धीमे-धीमे यह चेतना भी विकसित जाती है कि ज्ञानका अनुसरण अधिक उच्च तथा अधिक शुद्ध लक्ष्यके लिये, सत् लिये, ज्ञानान्तरात्माकी जीवनाभिव्यक्ति और आध्यात्मिक आत्म-प्राप्तिके उसकी तुष्टिके लिये करना ही होगा । परन्तु अन्तमें, सत्य और प्रकाशमें वर्द्धित हो जीव, अपने पूर्ण सत्यकी ओर विकसित होता जीव जो कि उसकी पूर्णता है, प्रकृति ऊर्जाओंका धर्म और उच्च लक्ष्य हो जाता है । और, प्रत्येक पर्वमें प्रकृति जीवके और चेतनाके विकासके अनुसार ही प्रतिदान देती है । आरम्भमें निपुणता औ प्रभाविणी बुद्धिका प्रतिदान मिलता है ,—और प्रकृतिकी अपनी आवश्यकता इस बात पर्याप्त व्याख्या देती है कि वह जीवनके पुरस्कार न्यायनिष्ठको क्यों नहीं देती, प्रधान नैतिक नेकीको क्यों नहीं देती, जैसा कि नैतिक मन चाहेगा, प्रत्युत निपुण और बलवा को, संकल्प, शक्ति और बुद्धिको देती है,——और बादमें जीवके सामर्थ्यों और क्षमता चेतन व्यवहार और बुद्धियुक्त निर्देशनमें मन तथा अन्तरात्माके आलोकीकरण सन्तुष्टिका अधिकाधिक स्पष्टतासे उभरता हुआ प्रतिदान मिलता है, और अ आता है वह अद्वितीय परम प्रतिदान, जीवका प्रकाशमें वर्द्धन, ज्ञानमें उसकी पूर्णता तुष्टि,उसका उच्चतम चेतनामें जन्म और उसकी अपनी अन्तर्जात अनुल्लंघ्य प्रेरणा विशुद्ध परिपूर्ति । वह विकास ही, दिव्य जन्म अथवा आध्यात्मिक स्वातिक्रमण

उसका परम पुरस्कार है; पूर्वीय जगत्‌के मनके लिये सर्वोच्च प्राप्ति सर्वदा वही रहा है,—मानवीय अज्ञानमेंसे दिव्य आत्म-ज्ञानमें प्रवेशकी ओर विकास ।

परिशिष्ट

श्री अरविन्दके पत्र

1. मृत्यु और उसके बाद 177

2. मृत्युपर शोक नहीं 210

3. मृत्यु और अतिमानसिक सिद्धि 212

एक

मृत्यु और उसके बाद

प्रत्येक बार अंतरात्मा जन्म लेता और प्रत्येक बार विश्व-प्रकृतिके उपादानोंसे एक मन, प्राण और शरीरकी रचना होती है। यह रचना अंतरात्माके भूतकालके विकास और उसके भविष्यकी आवश्यकताके अनुसार होती है।

जब शरीर विघटित हो जाता है तो प्राणसत्ता प्राणलोकमें चली जाती और वहाँ कुछ समयतक रहती है, किंतु कुछ समय बाद प्राणिक कोष विलीन हो जाता है। मनोमय कोष सबके बाद विलीन होता है। अंतमें अंतरात्मा या चैत्य पुरुष नये जन्मका समय निकट आनेतक चैत्य लोकमें विश्राम करनेके लिये चला जाता है।

साधारण रूपमें विकसित मनुष्योंके लिये मोटा-मोटी रीति यही है। इसमें व्यक्तिकी प्रकृति और विकासके अनुसार भेद हुआ करते हैं। उदाहरणके लिये, यदि मनका प्रबल विकास हुआ हो तो मनोमय पुरुष टिका रह सकता है; इसी प्रकार प्राण-पुरुष भी रह सकता है, बशर्ते कि वे सच्चे चैत्य पुरुषद्वारा संगठित और उसके इर्द-गिर्द केंद्रित हों; ऐसी दशामें वे चैत्य पुरुषकी अमरतामें भाग लेते हैं।

अंतरात्मा अपने जीवनानुभवोंको इकट्ठा करता और विकासक्रममें बढ़नेके लिये उन्हें ही आधार बनाता है। जब वह जन्म लेकर लौटता है तो अपने मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय कोषोंके साथ अपना उतना कर्म लेकर आता है जितना कि आगेके अनुभवके लिये नये जीवनमें उसके लिये उपयोगी होता है।

श्राद्ध और अन्य क्रिया-काण्ड वास्तवमें जीवके प्राणिक भागके लिये, जीवको पृथ्वी या प्राणलोकोंसे बांध रखनेवाले प्राणिक स्पंदनोंसे छुटकारा पानेमें सहायता देनेके लिये किये जाते हैं ताकि वह शीघ्रतासे चैत्य शांतिमें विश्राम करने चला जाय।

*

* *

मैंने श्राद्धकर्मके मूल अर्थकी ही बात कही थी। मैं जाति-भोज या ब्राह्मण-भोजकी बात नहीं कर रहा था; ये भोज क्रियाकांडमें हैं ही नहीं। श्राद्ध जिस रूपमें किया जाता है वह वस्तुत: प्रभावी है या नहीं यह दूसरी बात है, क्योंकि इसे करनेवालोंमें

न तो ज्ञान है, न गुह्यशक्ति ही।

*

* *

शरीर छोड़नेके बाद, अन्य लोकोंमें कुछ अनुभव ले लेनेके बाद जीव अपने मनो और प्राणमय व्यक्तित्वोंको फेंक देता और अपने भूतक़ालके सारतत्त्वको आत्मसा करने और नये जीवनकी तैयारी करनेके लिये विश्राममें चला जाता है। यह तैया ही नये जन्मकी परिस्थितियाँ निश्चित करती औंर एक नये व्यक्तित्वकी गठन और उसके उपादानोंके चुनावमें उसका पथप्रदर्शन करती है।

दिवंगत जीव पूर्वजन्मोंके अनुभवोंके सारांश मात्रको रखता है, न कि उनके ब्योरोंको। जब जीव किसी विगत व्यक्तित्व या व्यक्तित्वोंको अपने वर्तमान जीव विकासके अंगके रूपमें साथ लाता है, केवल तभी विगत जन्मके ब्योरोंको स्मरण रख की संभावना रहती है। नहीं तो केवल योगदृष्टिसे ही यह स्मृति मिलती है।

हम जिसे केंद्रीय सत्ता, जीवात्मा कहते हैं उसीका नाम कारण-पुरुष है। जीवनलीलासे ऊपर रहता है, उसे सदा सहारा देता रहता है।

हो सकता है कि ऐसी गतियाँ देखनेमें आवें जो पीछेकी ओर ले जानेवाली किंतु ये गतियाँ वास्तवमें पीछेकी ओर जानेवाली नहीं, वरन् टेढ़ी-मेढ़ी भर होती इनका अर्थ होता है किसी ऐसे स्थलपर फिरसे वापस आना जहाँ कार्य पूरा नहीं हु होता, ताकि बादमें अधिक अच्छे ढंगसे आगे बढ़ा जा सके। मनुष्यका अंतरा पशु-स्तरमें वापस नहीं जाता; परन्तु प्राणिक व्यक्तित्वका कोई अंग पशु-योनि अपनी पाशविक वृत्तियोंसे निवृत्त होनेके लिये विच्छिन्न होकर उस योनिमें चला सकता है।

इस जनश्रुतिमें कोई सत्य नहीं कि लोभी मनुष्य साँप बन जाता है। यह प्रच आकर्षक अंधविश्वासोंमें है।

*

* *

अंतरात्मा शरीर छोड़ देनेके बाद, जब तक चैत्य पुरुष अपने अस्थायी कोषों नहीं त्याग देता, कई स्थितियों और भूमियोंसे गुजरता है; तब वह चैत्य लोकमें पहुँ

है और उस लोकमें वह पुनर्जन्मके लिये तैयार होनेतक एक प्रकारकी निद्रामें विश्राम करता है। जिन मानवीय अनुभवोंमेंसे वह गुजरा है उनके सारको ही, जिसे वह अपने विकासके लिये काममें ले सकता है उसे ही वह अंतमें अपने साथ रखता है। सामान्य नियम यही है किंतु यह उन अपवाद-स्वरूप व्यक्तियों या बहुत - विकसित प्राणियोंके लिये लागू नहीं होता जिन्हें सामान्य मानवस्तरकी अपेक्षा महत्तर चेतना प्राप्त हो गयी है।

अतरात्मा (चैत्य पुरुष) नहीं, अपितु अभिव्यक्त सत्ताका कोई अंग, सामान्यत: प्राणका कोई अंग, किसी कामना, बंधुता या अनुभवकी आवश्यकताके कारण, निम्नतर रूप धारण करता है। साधारण मनुष्यमें ऐसा काफी बार होता है।

*

* *

मृत्युके समय जीव मस्तकसे होकर शरीरसे निकलता है। वह सूक्ष्म शरीरमें निकलता है और अस्तित्वके अन्य लोकोंमें कुछ समयके लिये जाता है जहाँ वह अपने पार्थिव जीवनके परिणाम होनेवाली कुछ अनुभूतियोंमेंसे गुजरता है। पीछे वह चैत्य लोकमें पहुँचता है जहाँ वह एक प्रकारकी निद्राकी स्थितिमें तबतक विश्राम करता रहता है जबतक कि उसका पृथ्वीपर नया जन्म आरंभ करनेका समय नहीं आ जाता। साधारणतया ऐसा ही होता है – किंतु कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अधिक विकसित होते हैं और वे इस धाराका अनुसरण नहीं करते।

*

* *

मृत्युके बाद अंतरात्मा सूक्ष्म शरीरमें निकल जाता है।

स्मृतियाँ पुनर्जन्मतक नहीं, कुछ ही समयतक ठहरती हैं,——नहीं तो छाप इतनी सबल होती कि विगत जन्मोंकी स्मृति, नया शरीर लेनेके बाद भी, अपवाद न होकर नियम होती।

तुम कहते हो "एक जन्मके संबंध बादके जन्मोंमें टिके रहते हैं और इसकी संभावना आसक्तिके बलपर निर्भर करती है।" यह संभव तो है किंतु नियम नहीं; नियम बल्कि यह है कि उसी संबंधको निरंतर दुहराया नहीं जायगा, पृथ्वीपर वे ही लोग विभिन्न

जीवनोंमें बार-बार मिलते हैं किंतु संबंध भिन्न होते हैं। यदि निरंतर उसी व्यक्तित्व उन्ही संबंधों और अनुभवोंके साथ दुहराया जाय तो पुनर्जन्मका उद्देश्य पूरा नहीं होगा

यह बात नहीं है कि मृत्युके बाद मानवरूपसे नीचेके प्राणियोंमें अहंका पूरा विना हो जाता है।

पूरे विश्रामकी निष्क्रिय स्थितिमें होनेकी बात अहंके लिये नहीं, अपितु चै पुरुषके लिये उस समयके लिये कही गयी है जब वह प्राणकोष और अन्य कोषोंको छो चुकता है और चैत्य लोकमें विश्राम करता है। उसके पहले वह चैत्य लोककी रा प्राणलोक और अन्य लोकोंमेंसे गुजरता है।

दिवंगत व्यक्ति जब तक पृथ्वीके काफी निकट रहते हैं (गुह्यानुभवियों सामान्यतः यह मानना है कि ऐसा तीन वर्षोंतक ही होता है) या यदि वे पृथ्वीसे आ हैं या यदि वे वैसे लोग हैं जो चैत्य लोककी ओर नहीं बढ़ते किंतु पृथ्वीके निकट र रहते और जल्दी पुनर्जन्म ले लेते हैं तो उनसे सीधा संपर्क होना संभव है।

इन चीजोंके बारेमें सबपर लागू होनेवाली उक्तियाँ आसानीसे नहीं तै की जा सकती—एक सामान्य रेखा होती है, किंतु वैयक्तिक उदाहरणोंमें लग अनिश्चित मात्रामें विभिन्नता होती है।

*

* *

मृत्युके बाद एक ऐसा समय आता है जब मृत व्यक्ति प्राणजगत्‌मेंसे गुज और वहाँ कुछ समयतक रहता है। इस यात्राका पहला भाग ही संकटपूर्ण या दायक हो सकता है; बाकी यात्रामें तो जीव अपने जीवनकालकी प्राणिक काम या प्रवृत्तियोंके अवशिष्ट अंशको विशेष परिवेशमें निःशेष करता है। जैसे ही इन सबसे क्लांत हो जाता और इनसे परे जानेमें समर्थ हो जाता है, वैसे ही उसका प्रा कोष खिसक पड़ता है। इसके बाद जीवको कुछ मानसिक अवशिष्टांशोंसे मु पानेके लिये कुछ समयकी आवश्यकता होती है और ऐसा होनेपर वह चैत्य ज जाकर विश्राम लेता है। जबतक पृथ्वीपर अगला जीवन धारण करनेका समय आ जाता तबतक वह वहीं रहता है।

दिवंगत जीवको सहायता दी जा सकती है अपनी शुभेच्छा द्वारा या यदि कि गुह्य साधनोंका ज्ञान हो तो उनके द्वारा। एक चीज जो अवश्य ही नहीं करनी च वह है दिवंगत जीवके लिये दुःख या आसक्तिकी भावना रखकर उसे पीछे

या ऐसा कुछ भी करना जिससे कि वह पृथ्वीके समीप खिंच आये या विश्रामस्थलतक पहुँचनेकी यात्रामें उसे देरी हो।

*

* *

कुछ लोगोंके साथ ऐसा हो सकता है कि उन्हें थोड़ेसे समयतक पता ही न लगे कि वे मर गये हैं,——विशेषतः तब जब कि मृत्यु अप्रत्याशित और आकस्मिक होती है,—किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी लोगों या अधिकतर लोगोंके साथ ऐसा होता है। कुछ लोग अर्द्ध-अचेतनताकी दशामें या मृत्युके समयकी मानसिक स्थितिसे उत्पन्न किसी अंधकारमयी आतरिक अवस्थासे ग्रस्त रहनेकी अवस्थामें पहुँच जा सकते हैं जिसमें उन्हें इसका कुछ भी अनुभव नहीं होता कि वे कहाँ हैं, इत्यादि। अन्य लोग यात्राके विषयमें काफी चेतन होते हैं।

यह सच है कि प्रयाण करनेवाला व्यक्ति अपनी प्राणिक देहमें शरीरके समीप या जीवनके क्षेत्रके समीप कुछ समयतक, बहुत प्रायः आठ-आठ दिनोंतक टिका रहता है, और प्राचीन धर्मोंमें उसके विच्छेदके लिये मंत्रों तथा अन्य साधनोंका उपयोग किया जाता था। जिसकी प्रकृति पृथ्वीसे बहुत बंधी रहती या सबल भौतिक कामनाओंसे भरी होती है वह जीव शरीरसे अलग हो जानेपर भी पार्थिव वातावरणमें लम्बे समयतक रुका रह सकता है। यह अवधि अधिकसे अधिक तीन वर्षकी होती है। बादमें वह प्राणिक लोकोंमें चला जाता है, अपनी यात्रामें आगे बढ़ता जाता है जिसके अंतमें – जल्दी हो या देरीसे – चैत्य विश्राममें पहुँच जाता है और वहाँ नया जीवन न मिलनेतक रहता है। यह भी सच है कि मृतकके लिये किया गया दुःख और शोक मृतकको पार्थिव वातावरणसे बंधा रखता है और आगे न बढ़ने देकर पीछेकी ओर खींचता है जिससे उसकी प्रगतिमें बाधा आती है।

*

* *

चैत्य पुरुष अपने लोककी यात्रामें बाह्य आवरणोंको गिराता चले, यही सामान्य रीति है। किंतु इस रीतिके अनगिनत व्यतिक्रम हो सकते हैं; प्राण-जगत्से ही वापस चले आना हो सकता है और बहुतसे ऐसे उदाहरण हैं जिनमें प्रायः तत्काल ही जन्म

हो गया है और कभी-कभी विगत जीवनकी घटनाओंकी पूरी स्मृति भी बनी रही है।

स्वर्ग और नरक प्रायः जीवकी, या बल्कि प्राणकी, काल्पनिक अवस्थाएँ हैं जिनक निर्माण वह यहाँसे प्रयाण करनेपर अपने लिये करता है। नरकसे अभिप्राय होता है प्राण-जगत्‌में कष्टकारी यात्रा या वहाँ टिके रहनेसे; उदाहरणार्थ, आत्महत्याके बहुतसे प्रसंगोंमें ऐसा होता है कि जीव इस अस्वाभाविक और हिंस्र प्रयाणके कार यंत्रणा और बेचैनीकी शक्तियोंसे घिरा रहता है। निस्सन्देह, मन और प्राणके ऐ भी लोक हैं जो हर्षपूर्ण या अंधकारपूर्ण अनुभूतियोंसे भरे हैं। मृतककी प्रकृतिमें जो चीजें गठित हुई हैं वे आवश्यक बंधुता पैदा करती हैं और इसके परिणाम-स्वरूप मृतक इन लोकोंमेंसे गुजर सकता है; किन्तु पुरस्कार या दण्डकी भावना एक स्थूल औ गँवारू कल्पना है, महज एक प्रचलित भ्रांति है।

पुनर्जन्ममें लौटनेपर जीवको पहलेकी सारी बातें बिलकुल विस्मृत ही हो जा ऐसा कोई नियम नहीं। विशेषतः बचपनमें विगत जीवनकी अनेक स्मृतियां बनी रह हैं और वे बहुत सबल और स्पष्ट भी हो सकती हैं, किंतु जड़तत्त्वधर्मिणी शिक्षा औ परिपार्श्वके प्रभाव उनके सही स्वरूपको पहचाननेमें बाधक होते हैं। ऐसे लोग भी बहुत हैं जिन्हें विगत जीवनकी निश्चित स्मृतियाँ रहती हैं। किंतु शिक्षा और वातावर इन चीजोंको पनपने नहीं देते, ये चीजें टिक नहीं पातीं, न विकसित हो पाती हैं; अधिकत लोगोंमें उन्हें गला घोंटकर मिटा दिया जाता है। साथ ही यह भी ध्यानमें रखन चाहिये कि चैत्य पुरुष जिस चीजको अपने साथ ले जाता और वापस ले आता है व साधारणतया विगत जीवनोंकी अनुभूतियोंके पूरे ब्योरे नहीं, अपितु उनका सार होत हैं; अतः हमें जैसी स्मृति वर्तमान जीवनकी रहती है वैसीकी आशा इसके लिये नह करनी चाहिये।

जीव चैत्य लोकमें सीधे भी जा सकता है, किंतु यह निर्भर करता है प्रयाण समयकी चेतनाकी स्थितिपर। यदि उस समय चैत्य पुरुष सामनेके भागमें हो तो तत्का उस लोकमें चले जाना बिलकुल संभव है। यह चीज मानसिक, प्राणिक और चै अमरत्वपर निर्भर नहीं करती। जिन्हें इसकी प्राप्ति हो चुकी है उन्हें तो बल्कि ना लोकोंमें विचरण करनेकी शक्ति मिल जाती है और वे स्थूल जगत्‌से बंधे बिना स् जगत्‌पर क्रिया भी कर सकते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन चीजों लिये कोई एक नपा-तुला नियम नहीं है, बहुत प्रकारकी विभिन्नताएँ संभव हैं जो नि करती हैं चेतनापर, उसकी शक्तियों, प्रवृत्तियों और रूपायणपर, यद्यपि एक साम ढाँचा और खाका तो रहता है जिसके अंदर सब चीजें जँच जाती और अपना-अप स्थान ले लेती हैं।

* * *

क्रमविकासशील जीव या अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष और विशुद्ध आत्मा, इन दोनोंके अन्तरको स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। विशुद्ध आत्मा अजन्मा होता है, जन्म या मृत्युमेंसे नहीं गुजरता, जन्म या शरीर, मन या प्राण या इस अभिव्यक्त प्रकृतिसे स्वतन्त्र होता है। यद्यपि वह इन सबको धारण करता और अवलंब देता है, फिर भी वह इनसे बंधता नहीं, सीमित नहीं होता, प्रभावित नहीं होता। दूसरी ओर, अंतरात्मा वह है जो जन्ममें उतर आता और मृत्यु द्वारा,—किंतु स्वयं उसकी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वह अमर है,—एक अवस्थासे अन्य अवस्थामें जाता है, पृथ्वीलोकसे अन्य लोकोंमें जाता है और फिर पार्थिव जीवनमें वापस आता है। अंतरात्मा इस प्रकार जीवन-जीवन प्रगति करता हुआ विकासक्रमके मार्गपर आगे बढ़ता है जो उसे मानव-स्तरपर पहुँचा देता है और इन सबके बीच वह एक अपनी सत्ताका निर्माण करता है जिसे हम चैत्य पुरुष कहते हैं जो विकासक्रमको अवलंब देता और शारीरिक, प्राणिक और मानसिक मानव-चेतनाका विकास विश्व-अनुभूतिके लिये, एक प्रच्छन्न और अपूर्ण किंतु वर्द्धमान आत्माभिव्यक्तिके लिये उपकरणके रूपमें करता है। यह सब वह पर्देके पीछे रहकर करता है और अपना दिव्य स्वरूप उतना ही प्रकट करता है जितना कि अपूर्ण उपकरणात्मिका सत्ता उसे वैसा करनेका अवकाश देती है। किंतु एक समय आता है जब कि वह पर्देके पीछेसे निकल आनेकी तैयारी कर सकता, नायक हो जा सकता और सारी उपकरणरूपिणी प्रकृतिको दिव्य परिपूर्त्तिकी ओर मोड़ सकता है। यही सच्चे आध्यात्मिक जीवनका आरंभ है। अब अंतरात्मा अपने-आपको अभिव्यक्त चेतनाके मनोमय मानवकी अपेक्षा उच्चतर विकासके लिये तैयार करनेमें समर्थ हो जाता है; वह मानसिकको पारकर आध्यात्मिक स्थितिमें और फिर आध्यात्मिक सीढ़ियोंको पार करता हुआ अतिमानसिक स्थितितक पहुँच सकता है। तबतक कोई कारण नहीं कि वह जन्म लेना बंद कर दे, वास्तवमें वह ऐसा नहीं कर सकता। आध्यात्मिक स्थितिमें पहुँचकर यदि वह पार्थिव सृष्टिसे बाहर निकल जाना चाहे तो वह ऐसा निस्संदेह कर तो सकता है, किंतु ऐसी उच्चतर अभिव्यक्तिकी संभावना भी रहती है जो ज्ञानमें होगी न कि अज्ञानमें।

अतः तुम्हारा प्रश्न उठता ही नहीं। अगले जीवनकी पुकार आनेतक चैत्य लोकमें विश्राम करनेके लिये चैत्य पुरुष जाता है, न कि शुद्ध आत्मा। अतः उसके नवीन जन्म ग्रहण करनेके निमित्त दबाव डालनेके लिये 'शक्ति' की आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने स्वभावमें ऐसा कुछ है जिसे विकासक्रमको सहारा देनेके लिये भगवान्‌से निःसृत किया गया है और जबतक विकासक्रममें भगवान्‌का अभिप्राय सिद्ध नहीं हो जाता तबतक उसे ऐसा करते रहना ही होगा। कर्म तो पार्थिव जीवनका

महज एक यंत्र है, उसका आधारभूत कारण नहीं। ऐसा हो भी नहीं सकता, क्योंकि अंतरात्माने जब पहली बार इस जीवनमें प्रवेश किया तब उसके पीछे उसका कोई कर्म नहीं था।

फिर 'सर्वग्रासिनी माया' या 'समस्त चेतना खो देने' से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? अंतरात्मा समस्त चेतना नहीं खो दे सकता, क्योंकि उसका स्वभाव ही है चेतना, किंतु यह चेतना मनोमय प्रकारकी नहीं होती जब कि मनोमयी चेतनाको ही साधारणतया हम चेतना कहते हैं। यह चेतना पहले जड़ प्रकृतिकी तथाकथित निश्चेतना और फिर मन, प्राण और शरीरके अर्धचेतन अज्ञान द्वारा विलुप्त या विनष्ट नहीं, केवल आवृत होती है। अंतरात्मा अपनी अंतर्निहित चेतनाको वैयक्तिक मन, प्राण और शरीरके विकासके अनुसार यथासंभव मात्रामें प्रकट करता है; वह उस चेतनाको इन करणों द्वारा और बाह्य व्यक्तित्व द्वारा जिन्हें उसके लिये और उसके द्वारा - क्योंकि दोनों बातें ठीक हैं – इस वर्तमान जीवनके लिये तैयार किया गया है, बाहरी उपकरणात्मिका प्रकृतिमें यथासंभव दूरी तक और यथासंभव रीतिसे अभिव्यक्त करता है।

पुनर्जन्मके दौरानमें अंतरात्माके भीषण यंत्रणा भोगनेके बारेमें मैं कुछ नहीं जानता। प्रचलित विश्वासोंको जब कुछ आधार प्राप्त रहता है तो भी वे कदाचित् ही ज्ञानदीप्त और ठीक-ठीक होते हैं।

*

* *

(1) चैत्य पुरुष मन, प्राण और शरीरको धारण करता हुआ उनके पीछे रह है। फलतः लोक-सोपानमें मनोमय, प्राणमय या भौतिक लोकोंकी भाँति चैत्य लो कोई एक लोक नहीं है, वरन् इन सब लोकोंके पीछे अवस्थित है और विकसनशी अंतरात्मा दो जीवनोंके बीचकी अवधिमें विश्राम करने यहीं जाते हैं। यदि देह, प्र और मनकी ऊर्ध्व-क्रमपरंपरामें अन्य तत्त्वोंकी तरह चैत्य भी मात्र एक तत्त्व हो और उस परंपरामें अन्य तत्त्वोंकी तरह एक ही धरातलपर किसी स्थानमें स्थित हो तो वह बाकी सबका अंतरात्मा न बन पाता, दूसरे तत्त्वोंके क्रमविकासको संभव बन वाला और विश्वकी अनुभूतिके द्वारा भगवान्‌की ओर विकसित होनेमें उनका उपक की तरह व्यवहार करनेवाला भागवत तत्त्व न बन पाता। इसी तरह चैत्य लो अन्य लोकोंके बीच कोई ऐसा लोक नहीं हो सकता जिसमें विकसनशील अंतरा

अतिभौतिक अनुभूतियोंके लिये जाता हो। चैत्य लोक वह लोक है जिसमें अंतरात्मा विश्राम करनेके लिये, उसने जो कुछ अनुभव किया है उसका वहाँ आध्यात्मिक रूपमें परिपाचन करने और अपनी मूलभूत चेतना और चैत्य स्वभावमें पुनः निमग्न हो जानेके लिये अपने अंदर चला जाता है।

(2) जो थोड़ेसे लोग अज्ञानमेंसे वाहर निकल जाते और निर्वाणमें चले जाते हैं उनके सृष्टिके उच्चतर लोकोंमें सीधे ऊपर चले जानेका प्रश्न नहीं होता। निर्वाण या मोक्ष लोक नहीं, जीवकी मुक्तिकी अवस्था है और सभी जगतों और सृष्टिसे अलग हट जाना है। इस सम्बन्धमें पितृयान या देवयानका उदाहरण शायद ही उठता है।

(3) चैत्य लोकमें विश्राम करते अतरात्माओंकी स्थिति सपूर्णतः निष्क्रिय होती है; प्रत्येक अंतरात्मा अपने अंदर सिमट जाता है, दूसरोंके साथ उसकी कोई परस्पर-क्रिया नहीं होती। जव वे अपनी समाधिमेंसे निकल आते हैं तो नये जीवनमें उतरनेके लिये तैयार होते हैं; किन्तु इस बीच वे पार्थिव जीवनपर क्रिया नहीं करते। वहाँ अन्य सत्ताएँ भी होती हैं जो चैत्य लोककी संरक्षिकाएँ होती हैं, किन्तु उनका सरोकार बस चैत्य लोकसे और अंतरात्माओंके पुनः देहधारणसे रहता है, पृथ्वीसे नहीं।

(4) चैत्य लोककी कोई सत्ता पार्थिव लोकके मानव-प्राणीके अंतरात्माके अंदर नहीं घुल-मिल सकती। कुछ प्रसंगोंमें यह होता है कि कभी-कभी कोई उन्नत चैत्य सत्ता अपना स्फुलिंग नीचे भेजती है; वह स्फुलिंग मानव-प्राणीके अंदर रहता और उसे तबतक तैयार करता रहता है जबतक कि वह इस योग्य नहीं बन जाय कि वह चैत्य सत्ता जीवनमें प्रवेश कर सके। ऐसा तब होता है जब कोई विशेष काम करना और उसके लिये मानव-वाहनको तैयार करना होता है। ऐसा अवतरण उस मनुष्यके व्यक्तित्व और प्रकृतिमें अकस्मात् एक बड़ा परिवर्तन ला देता है।

(5) अंतरात्मा साधारणतया बराबर एक ही लिंग धारण करता रहता है। यदि लिंग-परिवर्तन होता है तो नियम यह है कि इसका संबंध व्यक्तित्वके उन अंगोंसे होता है जो केंद्रीय नहीं होते।

(6) पुनर्जन्मके लिये वापस आनेवाला अंतरात्मा नये शरीरमें कब प्रवेश करता है इसका कोई नियम नहीं बताया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्तिकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। कुछ चैत्य पुरुष गर्भाधानके समयसे ही जन्म-वातावरण और माता-पितासे संबंध स्थापित कर लेते हैं और गर्भकालमें ही व्यक्तित्व तथा भविष्यका आयोजन निर्धारित करते हैं; कुछ संबंध जोड़ंते हैं केवल प्रसवके समय, और कुछ जीवनकालमे बादमें भी – ऐसी दशाओंमें चैत्य पुरुषकाकोई स्फुलिंग ही उस जीवनको धारण किये रहता है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि भावी जन्मकी अवस्थाओंका

मूलभूत निर्धारण चैत्य लोकके विश्रामकालमें नहीं वरन् मृत्युके समय होता है – उ समय चैत्य पुरुष यह चुनाव करता है कि अगले पार्थिव प्राकटचमें उसे क्या करना है और परिस्थितियाँ उसीके अनुरूप संयोजित हो जाती हैं।

यह भी ध्यानमें रहे कि यह विचार कि पुनर्जन्म और नये जीवनकी परिस्थितियाँ पुण्य या पापके पुरस्कार या दंडके रूपमें मिलती हैं "न्याय"-संबंधी मानवीय विचारका असंशोधित रूप है जो बिलकुल ही अदार्शनिक और अनाध्यात्मिक और जीवनके सच्चे अभिप्रायको ही विकृत कर देनेवाला है। यहाँ जीवन क्रमविकास है और जीव अनुभव से बढ़ता है, प्रकृतिमें इस या उस चीजको इसके द्वारा कार्यान्वित करता है, और य जीवनमें कष्ट आता है तो इस कार्यान्वयनके लिये, न कि अज्ञानमें अनिवार्य रह भूल-भ्राँतियों या पदस्खलनके लिये ईश्वर या विश्व- विधानद्वारा दिये गये फैसले रूपमें।

* * *

इन प्रश्नोंका निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है, क्योंकि सबपर लागू होनेवा कोई सामान्य नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। मन एक या अनेक अटल निय बना लिया करता है। किंतु सृष्टि वास्तवमें बहुत ही नमनीय, वैचित्र्यपूर्ण और ब मुखी है। अतः मेरे उत्तरोंको इन विषयोंका संपूर्ण या निःशेष प्रतिपादन बिलकुल न मानना चाहिये।

(1) जीवन्मुक्तने अपने लिये जो भी लक्ष्य स्थिर किया हो वहीं वह चला ज सकता है, चाहे वह निर्वाणकी स्थिति हो या कोई दिव्य लोक, और वहाँ निवास क सकता है, या जहाँ कहीं भी जाय, पार्थिव गतिधारासे संपर्क बनाये रख सकता औ यदि उस गतिधारामें सहायता देनेकी उसकी इच्छा हो तो उसमें वापस भी आ सकता है

जीवकी वर्तमान उच्चतम उपलब्धिके लोकसे सीधे एक और भी उच्चतर लोक जानेकी यह बात संशयात्मक है। यदि वह मूलतः क्रमविकासकी नहीं, बल्कि कि उच्चतर लोककी सत्ता हो, तो वह उस लोकमें लौट जायगा। यदि वह और भी ऊँ जाना चाहे तो यह युक्तिसंगत है कि जबतक वह उस उच्चतर लोककी उपयुक्त चेत प्राप्त न कर ले तबतक उसे विकासक्रमके क्षेत्रमें वापस आना होगा। यह सनात विचार कि यदि देवता भी मुक्ति पाना चाहें तो उन्हें पृथ्वीपर आना होगा, इस आरोहण लिये भी लागू हो सकता है। यदि जीव मूलतः विकसनशील सत्ता है (रामकृष्ण ईश्वरकोटि और जीवकोटिका जो भेद किया है वह यहाँ भी लागू हो सकता है) उसे विकासक्रमके मार्गपर चलते हुए ही बढ़ना होगा, या तो निर्वाणके द्वारा अभावात्म निवृत्तिकी ओर या सच्चिदानंदकी क्रमवर्द्धनशील अभिव्यक्तिमें भावात्मक भाग संसिद्धिकी ओर।

वापस आनेकी असंभाव्यताका प्रश्न जटिल है। दिव्य पुरुष कभी भी वापस आ सकता है – जैसा कि रामकृष्णने कहा है, ईश्वरकोटिका जीव जन्म-मृत्यु और अमरत्वके बीचकी सीढ़ीपर इच्छानुसार चढ़-उतर सकता है। अन्य लोगोंके लिये यह संभावना है कि वे यदि चाहें तो, शाश्वत: समा:, एक आपेक्षिक अनंत कालतक विश्राम कर सकते हैं, किंतु वापस आनेकी बात तबतक नहीं खत्म हो सकती जबतक कि वें अपनी संभाव्य उच्चतम स्थितिमें नहीं पहुँच जाते।

नहीं, नये जन्मके पहले चैत्य लोकमें वापस जाना विकासक्रमकी धाराका ही अंग है; यह दिव्य पुरुषोंके पुनर्जन्मके लिये अनिवार्य नहीं।

(2) यहाँ उन्नत चैत्य पुरुषसे अभिप्राय उससे हो सकता है जो अंतरात्माकी स्वतन्त्रतातक पहुँच चुका है और भगवान्‌में लीन हो गया है – लीन होनेका अर्थ नष्ट होना नहीं है। ऐसा पुरुष चैत्य लोकमें सोता नहीं वरन् अपनी आनंदमयी तल्लीनताकी स्थितिमें रह सकता है या किसी उद्देश्य-सिद्धिके लिये वापस भी आ सकता है।

"अवतरण" का अर्थ प्रसंगानुसार अलग-अलग होता है। यहाँ मैंने इस अर्थमें व्यवहार किया था कि चैत्य पुरुष अपने लिये तैयार मानवीय चेतना और शरीरमें उतर आता है; यह अवतरण जन्मके समय हो सकता है या उससे पहले, या वह बादमें भी उतर सकता है और उसने अपने लिये जो व्यक्तित्व तैयार किया है उसे धारण कर सकता है। तुमने ऊपरके जिन व्यक्तियोंकी बात कही है वह ठीक समझमें नहीं आ रही है। चैत्य पुरुष ही देह धारण करता है।

(3) नही, चैत्य पुरुष एकसे अधिक शरीर नहीं ले सकता। प्रत्येक मानव-प्राणीके लिये केवल एक ही चैत्य पुरुष होता है, लेकिन उच्चतर लोकके पुरुष, जैसे अधिमानसलोकके देवतागण, एक ही समयमें एकसे अधिक शरीरोंमें अपने भिन्न-भिन्न स्फुलिंग भेजकर एकसे अधिक मानव-देहोंमें प्रकट हो सकते हैं। इन्हें उन देवताओंकी विभूतियाँ कहेंगे।

(4) मानव-अंतरात्मा चैत्य जगत्‌के संरक्षक नहीं होते। चैत्य जगत्‌के संरक्षकोंका न तो कोई पद है जिसके लिये वे नियुक्त होते हों और न इसका कोई अधिकारी वर्ग होता है। ये तो चैत्य लोककी सत्ताएँ होते हैं और उस लोकमें अपना स्वाभाविक कार्य-कलाप करते रहते हैं। 'संरक्षक' शब्दका व्यवहार तो मैंने बस उनके कार्यका स्वरूप बतानेके लिये उपमा या रूपकके रूपमें किया था।

*

* *

उस कालमें मेरे ख्यालसे शैवोंके एक-दो मतोंको छोड़कर सार्वभौम आदर्श जन्मसे परित्राण पाना ही था। यह बात भगवान्के बहुतसे जन्म लेनेकी बातसे बिलकुल मेल नहीं खाती, क्योंकि गीताने उच्चतम स्थिति भगवान्में लयको नहीं, वरन् भगवान्के अंदर निवास करनेको बताया है। यदि ऐसा है तो कोई कारण नहीं कि जो मुक्त और सिद्ध पुरुष भगवान्की निवास करनेकी स्थितिमें पहुँच चुके हैं उन्हें पुनर्जन्म और उसके कष्टोंका भय भगवान्से अधिक क्यों लगे।

*

* *

पितृयानको निम्नतर लोकोंमें ले जानेवाला माना जाता है जिनमें अभी भी अज्ञानके क्षेत्रमें होनेवाले विकासक्रममें पड़े पितृगण गये हुए हैं। देवयानके द्वारा व्यक्ति अज्ञानसे परे प्रकाशमें पहुँच जाता है। पितृगणके संबंधमें कठिनाई यह है कि पुराणोंमें उन्हें वे पूर्वज माना गया है जिन्हें तर्पण दिया जाता है – एक प्रकारकी पूर्वजोंकी प्राचीन पूजा है जैसी अभी भी जापानमें विद्यमान हैं, किंतु वेदोंमें उनका अभिप्राय उन पितृगणोंसे लगता है जो पहले चले गये हैं और अतिभौतिक लोकोंकी खोज कर चुके हैं।

*

* *

मृत्युके समय चैत्य पुरुष यह चुनता है कि अगले जन्ममें वह क्या संपन्न करे और वह नये व्यक्तित्वका स्वरूप और उसकी परिस्थितियाँ भी निर्धारित करता है जीवन अज्ञानकी परिस्थितियोंमें अनुभव प्राप्त करते हुए तबतक क्रमशः प्रगति करते रहनेके लिये है जबतक हम उच्चतर प्रकाशके लिये तैयार नहीं हो जाते।

*

* *

मनुष्यकी मृत्यु-क्षणकी इच्छा केवल सतहकी वस्तु है। ऐसा हो सकता है कि उसे चैत्य पुरुषने निर्धारित किया हो और इस प्रकार वह भविष्यकी गठनमें सहाय

दे सकती है; किंतु वह इच्छा चैत्य पुरुषके चुनावको निर्धारित नहीं करती। चैत्य पुरुषका चुनाव तो पर्देके पीछेकी चीज है। बाह्य चेतनाकी क्रिया आंतरिक प्रक्रियाको निर्धारित नहीं करती, वास्तविकता इससे उल्टी है। तथापि कभी-कभी आंतरिक क्रियाके चिह्न या अंश ऊपरी सतहपर आते हैं; उदाहरणस्वरूप, मृत्युके समय कुछ व्यक्तियोंको अपने भूतकालकी परिस्थितियोंका एक विशाल झलकके रूपमें दर्शन या स्मरण हो जाता है; यह चैत्य पुरुषका कूच करनेसे पहले जीवनका सिंहावलोकन होता है।

*

* *

मृत्युके समय चैत्य पुरुषका जो चुनाव होता है वह व्यक्तित्वकी अगली गठनको विस्तारसे कार्यान्वित नहीं, निर्धारित करता है। जब वह चैत्य लोकमें प्रवेश करता है तब अपने अनुभवोंके सारको आत्मसात् करना आरंभ करता है और भावी चैत्य व्यक्तित्वका निर्माण इस आत्मसात्करण द्वारा, पूर्वकृत निश्चयके अनुसार होता है। यह आत्मसात्करण पूरा हो जानेपर वह नये जन्मके लिये तैयार हो जाता है, किंतु कम विकासवाले जीव यह सारा काम अपने-आप पूरा नहीं करते, उच्चतर लोककी कुछ ऐसी शक्तियाँ और सत्ताएँ होती हैं जो यह काम करती हैं। फिर, जब वह जन्म ले लेता है तो यह निश्चित नहीं कि वह जो करना चाहता है उसके मार्गमें भौतिक जगत्की शक्तियाँ नहीं आ खड़ी होंगी और उसने अपना जो नया यंत्र और आधार बनाया है वह, हो सकता है, उस कार्यके लिये पूरा सशक्त न हो, क्योंकि यहाँ उसकी अपनी शक्तियों और विश्व-शक्तियोंके बीच आपसमें क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। असफलता हो सकती है, पथभ्रष्टता हो सकती है, आंशिक परिपूर्त्ति होकर ही रह जा सकती है,—बहुतेरी चीजें घटित हो सकती हैं। यह सब नपातुला यंत्र-विन्यास नहीं, वरन् जटिल शक्तियोंकी क्रिया है। तथापि यह और कहा जा सकता है कि विकसित चैत्य पुरुष इस संक्रमणकालमें कहीं अधिक चेतन रहता है और इस कालका काफी कार्य स्वयं कर लेता है। कितना समय लगता है यह निर्भर करता है उसके विकासपर और उसके एक विशेष गतिछंद पर। कुछका लगभग तत्काल पुनर्जन्म होता है, दूसरोंको अधिक समय लगता है, कुछको तो शताब्दियाँ लग जा सकती हैं। किंतु यहाँ भी यह बात है कि यदि चैत्य पुरुष काफी विकसित है तो वह अपना गतिछंद और अपनी विश्राम-अवधि चुननेके लिये स्वतन्त्र होता है। प्रचलित मत अत्यधिक यंत्रवत् हैं। यही बात

पाप-पुण्य और अगले जन्ममें उनके परिणामके बारेमें भी कही जा सकती है। विग जन्ममें व्यवहृत की गयी ऊर्जाओंका परिणाम अवश्य ही हुआ करता है, किंतु उस बाल-सुलभ जैसे सिद्धांतके अनुसार नहीं। रूढ़िवादी मतके अनुसार इस जन्ममें सज्जन व्यक्तिका कष्ट पाना इस बातका प्रमाण होगा कि विगत जीवनमें वह बहुत बड़ा दुष्ट रहा होगा और दुर्जनका फलना-फूलना इस बातका प्रमाण कि पृथ्वीपर जब वह पिछली बार पधारा होगा तब वह देव-तुल्य ही रहा होगा और उस समय उसने पुण्यों और सुकर्मोंके जो प्रचुर बीज बोये होंगे उन्हींके फलस्वरूप वह सौभाग्यकी यह भा फसल काट रहा है। यह बात इतनी सममित है कि सत्य नहीं हो सकती। यदि जन्मका लक्ष्य अनुभवके सहारे प्रगति करना है तो यह मानना ही होगा कि भूतकालके कर्मोंकी जो भी प्रतिक्रियाएँ होती हैं वें व्यक्तिके सीखने और प्रगति करनेके लिये होती हैं न कि (भूतकालकी) कक्षाके अच्छे विद्यार्थियोंके लिये मिठाइयोंके रूपमें और बुरोंके लिये पिटाईके रूपमें। अच्छे और बुरे कर्मका वास्तविक अनुशासन एकके लिये सौभाग्य और दूसरेके लिये दुर्भाग्य नहीं, बल्कि यह है कि अच्छा कार्य हमें उच्चतर प्रकृतिकी ओर ले जाता है जो अंतमें शोक और कष्टके परे उठ जाती है और बुरा हमें निम्नतर प्रकृतिकी ओर खींचता है जो सदैव दुःख, कष्ट और बुराईके चक्करमें पड़ी रहती है।

*
* *

विगत जन्मोंसे आनेवाली अविजेय कठिनाई नामकी कोई चीज नहीं। हां कुछ संस्कार ऐसे होती हैं जो सहायता करते हैं और कुछ ऐसे जो बाधा पहुँचाते हैं। इन बाधा पहुँचानेवाले संस्कारोंको विसर्जित और विलीन करना होता है, इनके बार-बार होते रहनेका अवसर बंद करना होता है, श्रीमांने तुम्हें यह बात इस प्रवृत्तिका मूल बताने और उससे छुटकारा पानेकी आवश्यकता समझानेके लिये कही थी – उन्होंने किसी अविजेय कठिनाईका नहीं, बल्कि इससे एकदम विपरीत संकेत किया था।

*
* *

'मूढ़ योनिषु' या 'अधोगच्छन्ति' में पशु-योनिमें जानेका निश्चित संकेत नहीं है, लेकिन यह सच है कि इस प्रकारका सामान्य विश्वास केवल भारतमें ही नहीं वरन्

उन सभी देशोंमें प्रचलित रहा है जिनमें 'देहांतरप्राप्ति' या 'पुनर्जन्म' में विश्वास किया जाता रहा है। शेक्सपियर जब किसीकी दादीके बारेमें यह कहता है कि वह पशुमें चली गयी तब वह देहांतरणमें पाइथागोरसके विश्वासकी ओर ही इशारा करता है। किंतु अंतरात्मा, चैत्य पुरुष, जब एकबार मानव-चेतनामें पहुँच जाता है तो जैसे वह वृक्ष या क्षण-जीवी कीट पतंग नहीं बन सकता, वैसे ही वह पशुकी निम्नतर चेतनामें भी वापस नहीं जा सकता। सच बात यह है कि प्राणिक शक्ति या गठित उपकरणात्मक चेतना या प्रकृतिका कोई अंग यदि पार्थिव जीवनकी किसी वस्तुमें प्रबल रूपमें आसक्त रहा हो तो वह पशु-योनिमें जा सकता है और प्रायः ही चला जाता है। मनुष्य-शरीरमें भी तत्काल पुनर्जन्म लेने और पूर्वजन्मकी पूरी स्मृति साथ रखनेवाले जो उदाहरण हैं उनमेंसे कुछका कारण इस बातमें मिल सकता है। सामान्यतया पूर्वजन्मोंकी सही-सही स्मृति केवल यौगिक विकास या पारदर्शितासे ही आ सकती है।

*

* *

जब प्राण विखंडित हो जाता है तब उसकी कुछ सबल वृत्तियाँ, कामनाएँ लोलुपताएँ, पशु-रूपोंमें पड़ जा सकती हैं; उदाहरणस्वरूप, कामवासना अपने अधीनकी प्राणिक चेतनाके भागके साथ लेकर कुत्तेमें पड़ जा सकती या अत्यधिक लोलुपताकी कोई अभ्यासगत वृत्ति प्राणिक चेतनाके भागको सूअरमें ले जा सकती है। पशु उस प्राणिक चेतनाके प्रतिनिधि हैं जिसमें मन प्राणमें संवृत रहता है, अतएव ऐसी चीजें तुष्टिके लिये स्वभावतः उन्हींमें जायँगी।

*

* *

मृत व्यक्तिके अंश चैत्य लोककी राहपर जानेवाले आंतर पुरुषके नहीं, अपितु मृत्युके बाद गिर पड़नेवाले उसके प्राणकोषके अंश होते हैं। जन्मके लिये ये जन्म ले रहे किसी अन्य जीवके प्राणके साथ जुड़ जा सकते हैं या कोई प्राणिक सत्ता इनका उपयोग जन्म ले रहे शरीरमें प्रविष्ट होने और अपनी प्रवृत्तियोंकी तुष्टिके लिये उसपर आंशिक अधिकार करनेके लिये कर सकती है। यह सम्मिलन जन्मके बाद भी हो सकता है।

* * *

मानवीय रूप या योनिमें जन्म लेनेवालोंमें चैत्य पुरुष स्वभावतः ही सभी मे रहता है। केवल प्राणलोककी सत्ताओं जैसे अन्य प्रकारके प्राणियोंमें ऐसा नहीं है और ठीक यही कारण है कि वे मनुष्यपर अधिकार करना चाहते और यहाँ जन्म लि बिना ही भौतिक जीवनका मजा लेना चाहते हैं, क्योंकि इस प्रकार वे विकासक्र आध्यात्मिक प्रगति और परिवर्तनके चैत्य विधानसे बच जाते हैं। किंतु मृत व्यक्ति प्राणिक अंश-जैसे रूपायण भिन्न चीजें हैं, ऐसी चीजें हैं जो पृथ्वीको नहीं छोड़तीं औ न कोई मानव-पुनर्जन्म ही धारण करती हैं, वरन् किसी ऐसे मानवीय पुनर्जन्म (निस्सन्देह उस मानवीय पुनर्जन्ममें चैत्य पुरुष रहता है) संयुक्त हो जाती है जिन उनका कुछ सादृश्य होता है और जो इसलिये उनके समावेशपर कोई आपत्ति या विरो नहीं करता।

*

* *

‘क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु’ -- (गीता 16.19) में ‘आसुरीषु’ क अर्थ संभवतः पशु नहीं हो सकता। गीता सुस्पष्ट शब्दोंका व्यवहार करती है औ यदि उसका अभिप्राय पशुसे रहता तो वह आसुरिक न कहकर पशु कहती। जहां दंडकी बात है वह यह है कि उनकी प्रकृति आसुरिकताकी और भी गहराइयोंमें तब त गिरती जाती है, जब तक वे मानों उसके तलको न छू लेवें। परंतु यह तो जो अ बेलगाम प्रवृत्तियोंको मुक्त रूपसे प्रश्रय देते हैं, उनसे ऊपर उठनेका प्रयत्न नहीं क उनके लिये स्वाभाविक परिणाम होता है, जब कि व्यक्तित्वके उच्चतर पक्षका अनुशील करनेवाला स्वभावतः ही देवत्व या भगवान्‌की ओर ऊपर उठता और विकसित हो है। गीतामें कहा गया है कि भगवान् सारे विश्वकी क्रियाको प्रकृति द्वारा निर्या करते हैं, इसलिये ‘मैं फेंकता हूँ’ का उसके विचारोंके साथ मेल है! जगत् प्रकृति यंत्र-रचना है, किंतु ऐसी यंत्ररचना जो भगवान्‌की उपस्थितिद्वारा नियंत्रित है।

*

* *

जहाँतक मैं जानता हूं, पुनर्जन्ममोंमें सामान्यतः नर या नारी किसी एक ही धार अनुसरण होता है, बारी-बारीसे परिवर्तन नहीं होता। मेरे ख्यालसे यही भा

मत-परंपरा भी है, यद्यपि शिखंडी-जैसे कुछ अपवाद भी हैं जो किसी उद्देश्यसे हुए थे। यदि किसीका लिंग-परिवर्तन होता है तो उसमें केंद्रीय सत्ता नहीं, सत्ताका कोई भाग ही परिवर्तनमें हिस्सा बँटाता है।

* * *

प्रचलित मतसे तुम्हारा क्या मतलब है? पुनर्जन्मके जितने भी प्रचलित आख्यान मैंने सुने हैं उनमें पुरुष अगले जन्ममें पुरुष हुआ है और स्त्री स्त्री हुई है – बशर्ते कि वे पशु-योनिमें न गये हों; लेकिन पशु हो जानेपर भी, मेरा ख्याल है, पुरुष नर-पशु होता है और स्त्री मादा-पशु। लिंग-परिवर्तनके बहुत थोड़ेसे ही उदाहरण मिलते हैं, जैसे कि महाभारतमें शिखंडी। थियोसोफीकी धारणा कच्ची कल्पनासे भरी है; एक थियोसोफिस्टने तो यहाँतक कहा है कि यदि इस जन्ममें तुम पुरुष हो तो अगले जन्ममें तुम्हें नारी होना ही होगा और इसी प्रकार क्रम चलता रहेगा।

* * *

ठीक-ठीक लिंग नहीं, बल्कि जिसे नर-तत्त्व और नारी-तत्त्व कहा जा सकता है वही चैत्य पुरुषमें है। पुनर्जन्ममें लिंग-परिवर्तनका प्रश्न कठिन है। पुनर्जन्म कुछ रेखाओंपर चलता है और जहाँ तक मेरा अनुभव है और लोंगोंका भी सामान्य अनुभव है, एक व्यक्ति साधारणतः एक ही रेखापर चलता है। किंतु लिंग-परिवर्तनको असंभव नहीं घोषित किया जा सकता। ऐसे उदाहरण हैं जिनमें बारी बारीसे परिवर्तन होता है। नरमें नारी-चिह्नोंकी विद्यमानताका यह अर्थ अनिवार्य नहीं कि भूतकालमें उसका नारी-रूपमें जन्म हुआ था – वे शक्तियोंकी सामान्य क्रीड़ा और अपने रूपायणोंके दौरान आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे गुण होते हैं जो दोनों ही योनियोंमें पाये जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि मानवीय व्यक्तित्वका कोई खंड किसी-ऐसे जन्ममें संयुक्त रहा हो जो उसका अपना नहीं था। भूतकालके किसी व्यक्तिके बारेमें कहा जा सकता है, "मैं वह नहीं था, किंतु मेरे मानसीय व्यक्तित्वका एक खंड उसमें वर्तमान था।" पुनर्जन्म जटिल व्यापार है, उसका यंत्रविन्यास उतना सरल नहीं जैसा कि जन-साधारण सोचते हैं।

* * *

मुझे तुम्हारे पत्रका प्रश्न अति अनम्य शब्दोंमें और जीवनकी शक्तियों और वास्तविकताओंकी नमनीयताका पर्याप्त ध्यान रखे बिना उठाया गया लग रहा है। यह कुछ ऐसी समस्या लग रही है जैसी कि आधुनिकतम वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके बलपर खड़ी की जा सकती है कि यदि सब कुछ प्रोटोन और इलेक्ट्रोनसे बना है, और सारे प्रोटोन और इलेक्ट्रोन बिल्कुल एक जैसे हैं (सिवाय इसके कि उनके समूहकी संख्याओंमें विभिन्नता होती है, और केवल संख्याका अंतर गुणमें कोई भी या इतना असाधारण अंतर या कोई भी अंतर कैसे ला सकता है?) तो उनकी क्रियामें परिमाण, प्रकार, शक्ति और हर चीजकी दृष्टिसे इतना प्रकांड अंतर कैसे हो जाता है? परन्तु हमें यह क्यों मानना चाहिये कि सभी चैत्य बीजों या स्फुलिंगोंने एक ही समय दौड़ शुरू की और सभी समान अवस्थावाले, समान शक्ति और प्रकृतिवाले थे? माना कि सबके मूल एक भगवान् ही हैं, सबके अंदर एक ही आत्मा है; किंतु जब अनंत प्रकट होता है तो वह अनंत वैविध्यमें क्यों नहीं प्रकट हो सकता? भला असंख्य एकरूपता ही क्यों होनी चाहिये? इनमेंसे कितने सारे बीजोंने दूसरोंसे बहुत पहले आरंभ किया था और उनके पीछे विकासकी कितनी बड़ी कहानी है? और कितने सारे बीज शैशवकालमें हैं, महज कच्चे और अधकचरे हैं? और, जिन सबने एक साथ प्रारंभ किया था उनमेंसे भी कुछ ऐसे क्यों नहीं होने चाहिये जो बड़ी तेजीसे दौड़ पड़े हों और कुछ ऐसे हुए हों जो भटक गये हों, कठिनाईसे बढ़े हों या चक्कर काटते रहे हों? और फिर, विकास का एक क्रम है, विकासक्रमकी एक विशेष स्थितिमें ही पशु-स्तरकी समाप्ति होती है और मानवीय स्तरका आरंभ। मानवीय स्तरके आरंभका अर्थ होता है एक बहुत बड़ी क्रांति या उलट-पलट। और वह वस्तुतः है क्या चीज? पशु-स्तरकी सीमातक प्राण और भौतिक तत्त्वका विकास होता है, मानवीय स्तरके आरंभके लिये क्या यह आवश्यक नहीं कि प्राणिक और भौतिक विकासक्रमको आगे ले जानेके लिये मनोमय सत्ताका अवतरण हो? और फिर क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो मनोमयी सत्ताएँ अवतरित हों वे एकसे बल और कदवाली न हों; और फिर, उन्हें प्राणिक और भौतिक चेतनाका जो उपादान मिला हो वह एक-सा विकसित न हो? गुह्यविद्याकी एक यह भी परंपरा है कि वर्तमान सृष्टिसे ऊपर रहती सत्ताओंका एक वर्गक्रम है और जब वे अपने-आपको इस सृष्टिके अंदर डाल देती हैं तब उनके परिणामोंमें मात्राओंका उतना ही विपुल अंतर स्पष्टतया होता है। फिर, ये सत्ताएँ कभी-कभी मानव-प्रकृतिके जन्म-द्वारोंसे इस लीलामें हस्तक्षेप भी करती हैं। बहुत प्रकारकी जटिलताएँ हैं और समस्याको किसी गणित-सूत्रके अनम्य रूपमें नहीं व्यक्त किया जा सकता।

इन समस्याओंकी कठिनाईका बड़ा भाग -- मेरा मतलब विशेषकर उनके

परस्पर-विरोधोंसे है जिनकी व्याख्या नहीं दी जा सकती – इसलिये उठता है कि समस्या ही बुरी तरहसे खड़ी की जाती है। पुनर्जन्म और कर्मके प्रचलित सिद्धांतको ही लिया जाय : वह केवल इस मानसिक मान्यतापर आधारित है कि प्रकृतिकी क्रियाएँ नैतिक होनी चाहियें और समान न्यायकी सही-सही नैतिकताके अनुसार होनी चाहियें; इनमें पुरस्कार और दण्डका एक सूक्ष्म, यहाँतक कि गणितीय नियम होना चाहिये, या कम-से-कम, उनके परिणाम ऐसे होने चाहियें जो ठीक ठीक अनुरूपता-विषयक मानुषी कल्पनाके अनुसार हों। किंतु प्रकृति नैतिक नहीं है। वह अपने कार्यको संपन्न करनेके लिये सब प्रकारकी शक्तियों और प्रक्रियाओंका, नैतिक, अनैतिकऔर अवनैतिक, सबकी खिचड़ी बनाकर व्यवहार करती है। प्रकृतिके बाह्य पक्षको देखा जाय तो वह अपना कार्य पूरा करनेके अतिरिक्त या जीवन-लीलामें निपुणतापूर्ण वैविध्य लानेके हेतु परिस्थितियाँ तैयार करनेके अतिरिक्त और किसी भी चीजकी परवाह नहीं करती दीखती। चेतन आध्यात्मिक शक्तिके रूपमें प्रकृतिका जो गभीरतर पक्ष है उसे देखा जाय तो जिन जीवोंका भार उसने अपने ऊपर लिया है, वह उनके अनुभव-जनित वर्द्धन, उनके आध्यात्मिक विकासके कार्यसे ही संबंध रखती है और इस विषयमें स्वयं इन जीवोंकी बात भी सुनी जाती है। ये सभी भले आदमी विलाप और आश्चर्य करते हैं कि बिना किसी उचित कारणके उनपर और अन्यान्य भले व्यक्तियोंपर ऐसे निरर्थक कष्ट या दुर्भाग्य आ पड़ते हैं। किंतु ये चीजें क्या वास्तवमें उनपर किसी बाहरी शक्तिसे या कर्मके यांत्रिक नियमके कारण आ पड़ती हैं? क्या यह संभव नहीं कि स्वयं जीव ही – बाह्य मन नहीं, अपितु अंतरस्थ पुरुष – इन सबको अपने विकासके अंग-रूपमें स्वीकार और वरण करता है ताकि वह तीव्र गतिसे अवश्यक अनुभवमेंसे गुजर सके, रास्ता काटकर निकल सके, भले ही बाह्य जीवन और शरीरपर संकट आये या उनकी बहुत बड़ी हानिके रूपमें मूल्य चुकाना पड़े? वर्द्धमान अंतरात्माके लिये. हमारे अंतरस्थ पुरुषके लिये, क्या कठिनाइयाँ, बाधा-विघ्न, आक्रमण आदि प्रगतिका, अधिक शक्ति बढ़ानेका, अधिक व्यापक अनुभव प्राप्त करनेका,आध्यात्मिक विजयके लिये शिक्षण पानेका साधन नहीं बन सकते? हो सकता है कि इनसब चीजोंकी व्यवस्था ऐसी ही हो, न कि महज पुरस्कारके रूपमें रुपये-आने-पैसे बाँटने और दंड-रूपमें विपत्तियाँ ढानेके लिये।

पत्रमें तुम्हारे मित्र द्वारा कही गयी परिस्थितियोंमें जानवरोंके प्राण लेनेकी जो समस्या है उसकी भी यही बात है। उसे सभी ही दशाओंमें लागू होनेवाले एक अटल नैतिक सही और गलतके आधारपर खड़ा किया गया है – किन्हीं भी परिस्थितियोंमें क्या जानवरके प्राण लेना सही है? जब उसे सुखमृत्यु देकर कष्टसे रिहाई दी जा

सकती है तो क्या उसे अपनी आँखोंके नीचे कष्ट सहने देना सही है ? इस प्रकार उठाये गये प्रश्नका कोई निःसंदिग्ध उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि उत्तर ऐसी सामग्रीपर निर्भर करता है जो मनके सामने नहीं होती। वास्तवमें इतने सारे कष्टको देखने और सुननेकी स्नायविक अक्षमता, निष्फल परेशानी, विरुचि और असुविधा आदि ऐसे बहुतसे अन्य तत्त्व हैं जिनके कारण लोग कठिनाईमेंसे निकलनेके इस संक्षिप्त और दयापूर्ण उपायकी ओर झुकते हैं; इन सबसे इस भावको सबल होनेमें सहायता मिलती है कि स्वयं जानवर भी इसमेंसे निकल जाना चाहेगा। किंतु इसके बारेमें वास्तवमें उस पशुकी क्या भावना है ? क्या ऐसा नहीं कि वह वेदनाके बावजूद भी जीवनसे चिपट रहा हो ? या अंतरात्माने जीवनकी उच्चतर स्थितिमें अधिक जल्दी विकसित हो उठनेके लिये इन चीजोंको स्वीकार किया हो ? यदि ऐसा है तो यह माना जा सकता है कि उस जानवरके साथ बरती गयी दया उसके कर्ममें हस्तक्षेप कर सकती है। वस्तुतः हो सकता है कि सही निर्णय हर मामलेमें भिन्न भिन्न हो और ऐसे ज्ञानपर निर्भर करता हो जो मनको है नहीं;——और यह कहना बहुत संगत हो सकता है कि जबतक उसे वह ज्ञान प्राप्त न हो जाय उसे प्राण लेनेका अधिकार नहीं। धर्म और नीतिशास्त्रने इस सत्यके किसी धुँधले दर्शनसे ही अहिंसाधर्मको प्रस्फुटित किया – किंतु वह भी एक ऐसा मानसिक नियम हो जाता है जिसे व्यवहारमें लागू करना असंभव पाया जाता है। और शायद इन सबका पाठ यह है कि अभी जैसी स्थिति है, हर दशामें हमें अपने प्रकाशके अनुसार उत्तमके लिये प्रयत्न करना चाहिये किंतु इन समस्याओंका समाधान एक ऐसे महत्तर प्रकाश, एक ऐसी महत्तर चेतनाकी ओर आगे बढ़नेमें मिल सकता है जिसमें मानव-मन द्वारा वर्तमान रूपमें व्यक्त की गयी समस्याएँ ही नहीं उठेंगी. कार तब हमें जगत्‌को एक भिन्न रीतिसे देखनेवाली दृष्टि मिलेगी और एक ऐसा पथ-प्रदर्शन मिलेगा जो अभी हमें नहीं मिलता। मानसिक या नैतिक नियम एक सामयिक उपा है जिसे एक बहुत ही अनिश्चित और लड़खड़ाते रूपमें काममें लेनेके लिये मनुष्य त तक बाध्य होते हैं जबतक वे चीजोंको अध्यात्म-तत्त्वके प्रकाशमें समग्र रूपमें न देख सकें।

*
* *

पुनर्जन्मके बारेमें एक बहुत प्रचलित भूलसे बचना चाहिये। प्रचलित विचा यह है कि टीटस बाल्बस जॉन स्मिथ बनकर जन्म लेता है, जो व्यक्तित्व, चरित्र और गुण उसे पिछले जन्ममें प्राप्त थे उन्हें ही लेकर फिर पैदा होता है, अंतर केवल यह हो

है कि इसबार वह कोट-पतलून पहन रहा है जब कि पिछली बार वह चोगा पहनता था और सीधी-सादी लैटिनकी जगह लंदनिया अंगरेजी बोल रहा है। पर बात ऐसी नहीं है। भला कालके आदिसे लेकर अंततक उसी व्यक्तित्व या चरित्रको लाखों बार दुहराते रहनेसे क्या लाभ हो सकता है? अंतरात्मा अनुभवके लिये जन्म लेता है, जबतक वह भगवान्‌को जड़-तत्त्वके अंदर उतार नहीं लाये तबतक बढ़ते रहनेके लिये, क्रमशः विकसित होते रहनेके लिये पार्थिव जीवनमें आता है। वास्तवमें शरीर धारण करनेवाला केंद्रीय पुरुष है, न कि बाह्य व्यक्तित्व। व्यक्तित्व तो साँचा मात्र है जिसे उस एक जीवनमें अनुभवको आकार देनेके लिये वह गढ़ लेता है। दूसरे जन्ममें वह अपने लिये भिन्न व्यक्तित्व, भिन्न सामर्थ्य, भिन्न जीवन और व्यवसायका निर्माण करेगा। मान लिया जाय कि महाकवि वर्जिलने फिरसे जन्म लिया है। हो सकता है बादके एक या दो जीवनोंमें वह कविता लिखें, पर अवश्य ही महाकाव्य नहीं लिखेंगे बल्कि उसकी जगह शायद छोटे-छोटे सुन्दर और आकर्षक गीति-काव्यकी रचना करेंगें जिन्हें लिखनेकी कोशिश उन्होंने रोममें की थी पर सफल नहीं हुए थे। अन्य जन्ममें, संभव है कि वह बिलकुल ही कवि न हों, बल्कि दार्शनिक और योगी बनें और उच्चतम सत्यको प्राप्त और प्रकट करनेका प्रयास करें – क्योंकि यह भी उनके उस जन्ममें उनकी चेतनाकी एक धारा थी जो चरितार्थ नहीं हुई थी। संभवतः उससे पहले वह शासक या योद्धा रहे होंगे, एनियस या ऑगस्टसके कार्योंका गान करनेसे पहले शायद वैसे कार्य वह स्वयं कर चुके होंगे। इसी प्रकार, इस दिशामें या उस दिशामें, केंद्रीय पुरुष एक नये चरित्र, एक नये व्यक्तित्वका विकास करता, वर्द्धित होता, विकसित होता और सभी प्रकारके पार्थिव अनुभवोंमेंसे गुजरता है।

विकसनशील जीव जब और भी उन्नत होता और अधिक समृद्ध तथा जटिल बन जाता है तब मानों वह अपने व्यक्तित्वोंको एकत्र करता है। कभी तो वे सक्रिय तत्त्वोंके पीछे खड़े होते हैं, जहाँ-तहाँ अपना कोई रंग, कोई विशेषता, कोई क्षमता डालते रहते हैं। अथवा, कभी वे आगे आ जाते हैं और वहाँ एक बहुमुख व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है, बहुमुख चरित्र या बहुमुखी, कभी-कभी तो सर्वतोमुखी प्रतीत होनेवाली क्षमता दिखायी देने लगती है। किंतु यदि पहलेके व्यक्तित्वको, पहलेकी क्षमताको पूरी तरह सामने लाया भी जाता है तो जो कुछ पहले किया जा चुका है उसे ही दुहरानेके लिये नहीं, वरन् उसी क्षमताको नये रूपों, नये आकारोंमें ढालनेके लिये, उसे सत्ताके नये सामंजस्यमें घुला-मिला देनेके लिये ले आया जाता है और यह चीज जो पहले थी उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इस तरह यह आशा नहीं करनी चाहिये कि कोई योद्धा या कवि पहले जो कुछ भी था बस वही अपने पुनर्जन्ममें भी बना रहेगा। बाहरी विशेषताओं-

मेंसे कुछ फिरसे प्रकट हो सकती हैं, परन्तु बहुत ही परिवर्तित होकर, नये सम्मिश्रणके अंदर नये रूपमें ढलकर। सच पूछा जाय तो जो पहले नहीं किया गया था उसे ही करनेके लिये उसकी शक्तियाँ नयी दिशामें नियोजित की जायँगी।

एक और चीज। पुनर्जन्ममें प्राथमिक महत्त्वकी चीज व्यक्तित्व नहीं, चरित्र नहीं, वरन् चैत्य पुरुष है जो प्रकृतिके क्रमविकासके पीछे विद्यमान रहता और उसके साथ-साथ विकसित होता रहता है। चैत्य पुरुष जब शरीरसे प्रस्थान कर जाता है, अपने विश्राम-स्थलके मार्गमें जब मन और प्राणके कोषोंको भी उतार देता है, तब भी वह अपने साथ अपने अनुभवोंके सार-मर्मको ले जाता है – भौतिक घटनाओंको नहीं, प्राणिक गतियोंको नहीं, मनकी रचनाओंको नहीं, सामर्थ्य या चरित्रको नहीं, वरन् उनसे जो सारतत्त्व उसने एकत्र किया था जिसे भागवत तत्त्वकी संज्ञा दी जा सकती है जिसके लिये बाकी सब कुछका अस्तित्व था, उसको साथ ले जाता है। यही चीज स्थायी कमाई है और यही भगवान्‌की ओर बढ़नेमें सहायक होती है। यही कारण है कि विगत जीवनोंकी बाहरी घटनाओं और परिस्थितियोंकी याद सामान्यतया नहीं रहा करती,——उनकी याद रहनेके लिये आवश्यक है मन, प्राण, यहाँतक कि सूक्ष्म शरीरके भी सातत्यकी ओर सबल विकासकी, क्योंकि यद्यपि यह सारी चीज एक प्रकारकी बीजरूपा स्मृतिके रूपमें बनी रहती है पर फिर भी साधारणतया बाहर नहीं प्रकट होती। योद्धाकी गरिमामें जो भागवत तत्त्व था उसकी विश्वासपात्रता, उदात्तता और उच्च साहसिकतामें जो तत्त्व प्रकट हुआ था, कविके सुसमंजस मन और उसकी उदार शक्तिके पीछे जो भागवत तत्त्व था और उनमें प्रकट हुआ था, वह तत्त्व बना रहता है और चरित्रके नये सामंजस्यमें नयी अभिव्यक्ति पा सकता है, या यदि नया जीवन भगवान्‌की ओर अभिमुख हो तो वह सिद्धिके लिये या भगवान्‌के लिये जो कार्य करना है उसके लिये शक्ति-रूपमें व्यवहृत हो सकता है।

*
* *

अ-भौतिकवादी यूरोपीय विचारधारा अंतरात्मा और शरीरके बीच भेद करती है – शरीर मर्त्य है, मानसिक-प्राणिक चेतना अमर्त्य अंतरात्मा है और जैसे धरतीपर वैसे ही स्वर्गमें सदा ही एक-सी रहती है (कैसा भयानक विचार!) या यदि पुनर्जन्म है तो भी सदा ही वही धिक्कृत व्यक्तित्व वापस आता है और वैसा ही मूर्ख बनता है

* * *

अपने नाना जीवनोंके क्रममेंसे गुजरता हुआ जीव नाना प्रकारके व्यक्तित्व धारण करता, नाना प्रकारके अनुभवोंके बीचसे गुजरता है, परंतु ऐसा कोई नियम नहीं कि वह उन्हें अगले जीवनमें ले ही जाय। वह नया मन, प्राण और शरीर धारण करता हैं। पिछले मन और प्राणकी क्षमताओं, प्रवृत्तियों, अभिरुचियों तथा वैयक्तिक विशिष्टताओंको नया मन और प्राण पूरा-पूरा नहीं, बस उतना ही लेते हैं जितना कि नये जीवनके लिये उपयोगी होता है। एक जीवनमें जिसे कवित्वपूर्ण अभिव्यक्तिकी शक्ति मिली है, अगले जीवनमें हो सकता है कि उसमें न कोई कवित्वशक्ति हो, न उस ओर कोई रुचि ही। दूसरी ओर, ऐसा हो सकता है कि एक जीवनमें जो वृत्तियाँ दबा दी गयीं या छूट गयीं या अपूर्णतः विकसित हुईं, वे दूसरे जीवनमें बाहर आ जायँ। इसलिये तुमने जो वैषम्य देखा है उसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं। चैत्य पुरुष भूतकालके अनुभवोंके सारतत्त्वको तो रखता है, लेकिन अनुभव और व्यक्तित्वके रूपोंको नहीं, उन्हें वह उतनी ही मात्रामें रखता है जितनीकी उसे अपनी प्रगतिकी नयी अवस्थाके लिये आवश्यकता होती है।

अनुभवके नये दौरानमें जीव कुछ समयतक ऐन्द्रिय सुखकी खोजकी अनुमति दे सकता है और बादमें उसे छोड़ दे सकता और ऊँची चीजोंकी ओर मुड़ सकता है। यह सब किसी एक जीवन-कालमें भी घटित हो सकता है, दूसरे जीवनमें तो अधिक निश्चित रूपमें ऐसा हो सकता है जब कि उसमें प्राचीन व्यक्तित्वोंको साथ नहीं ले जाया जाता।

*
* *

"अन्य शक्तियाँ" शब्दोंका व्यवहार किस प्रसंगमें हुआ था यह मुझे याद नहीं। परंतु तुम्हारा यह कहना सच है कि ऐसा तब होता है जब अतीतमें किसी व्यक्तित्व या उसके भागको वर्तमान जीवनमें सबल रूपसे टान लाया जाता है। मेरे ख्यालसे यह सच है कि किसी विगत जीवनमें तुम क्रांतिकारी थे या यदि क्रांतिकारी नहीं थे तो उग्र राजनैतिक कार्यमें लगे हुए थे । मैं इसे नाम या स्पष्ट आकार नहीं दे सकता। किंतु वहाँसे केवल आकस्मिक क्रोध और हिंस्र वृत्तियाँ ही नहीं, शायद सहायता, सुधार और शुद्धिकी कामना और अन्य तीव्रताएँ तथा उग्रताएँ भी आयीं। जब इस प्रकार किसी व्यक्तित्वको टान लाया जाता है तो केवल अवांछनीय पहलू ही नहीं टाने जाते, जिन चीजोंने निर्मल और शुद्ध किया था वे भी सहायिका हो सकती हैं।

* * *

अवश्य ही अवचेतन इस जीवनके लिये ही गठित होता है और जीव उसे अपने साथ एक जीवनसे दूसरे जीवनमें नहीं ले जाता। यदि स्मृतिसे हमारा अभिप्राय ब्योरोंकी स्मृति हो तो विगत जीवनोंकी स्मृति कोई ऐसी वस्तु नहीं जो सत्तामें कहीं भी सक्रिय हो। ब्योरोंकी स्मृति शांत पड़ी रहती है, उसका सुराग नहीं मिलता, केवल यह है कि भूतकालसे टान लाये गये कुछ संघटक व्यक्तित्वोंको उस विशेष जीवनकी याद बनी रहती है जिसमें वे व्यक्त थे; उदाहरणके लिये, वेनिस या रोममें किसी समय व्यक्त किया गया व्यक्तित्व उस समयकी घटनाके एक या कई ब्योरोंकी समय-समयपर याद कर सकता है। किंतु सामान्यत: किन्हीं विशेष स्मृतियोंको नहीं, विगत जीवनोंके सारको ही सत्तामें सक्रिय किया जाता है। अत: यह कहना असंभव है कि वह स्मृति चेतनाके किसी विशेष भागमें या किसी विशेष स्तरमें अवस्थित होती है।

*
* *

नहीं, अवचेतन सत्ता भौतिक जीवनका उपकरण है और मृत्युके बाद विलुप्त हो जाती है। वह इतनी अधिक असंबद्ध है कि उसका संगठित स्थायी अस्तित्व नहीं हो सकता।

*
* *

अधिकांश लोगोंकी प्राणसत्ता कुछ समयके बाद विघटित हो जाती है क्योंकि वह अमरताके लिये काफी गठित नहीं होती। अंतरात्मा जब उतरता है तब नये जीवनके लिये नयी उपयुक्त प्राणसत्ता गठित करता है।

*
* *

यदि किसीका सबल आध्यात्मिक विकास हुआ रहता है तो उसके लिये मृत्युके बाद अपने विकसित मन या प्राणको बनाये रखना अधिक सुगम होता है। किंतु यह नितांत आवश्यक नहीं कि वह व्यक्ति भक्त या ज्ञानी हो। उदाहरणके लिए शैली

या प्लेटो जैसे व्यक्तियोंके बारेमें यह कहा जा सकता है कि उनकी मनोमयी सत्ता विकसित थी और चैत्यके चारों ओर केंद्रित थी, किन्तु प्राणसत्ताके संबन्धमें यह बात शायद ही कही जा सकती है। नेपोलियनकी प्राणसत्ता सबल थी, पर चैत्य पुरुषको केन्द्र बनाकर गठित नहीं थी।

*

* *

(मृत्युके बाद "चक्रों" की उत्तरजीविता) वे जैसे हैं उनके उस रूपमें नहीं। उनका कितना अंश बचा रहता है और किस मात्रामें, यह हरेकके विकासपर निर्भर करता है। निस्सन्देह चक्र तो बचे रहते हैं क्योंकि वे सूक्ष्म देहमें होते हैं और वहींसे अपने अनुरूपी स्थूल चक्रोंपर क्रिया करते हैं।

*

* *

जिस प्रकार चेतनाके सामान्य चेतन स्तरोंमें मनुष्यके बहुतेरे व्यक्तित्व हैं, उसी प्रकार उसकी चेतना जब बादमें विकसित होती है तब विभिन्न सत्ताएँ भी उसकी चेतनाके साथ जुड़ सकती हैं, उसके उच्चतर मनमें या सत्ताके उच्चतर स्तरोंमें उतर आ सकतीं और उसके व्यक्तित्वके साथ संयुक्त हो सकती हैं। यह सिद्धांतकी बात हुई। जहाँ तक उस विशेष सूचनाकी बात है जिसका तुमने जिक्र किया है वह सही नहीं है। उसका शायद उस समयसे संबंध है जब श्रीमां कार्यमें सहायताके लिये सत्ताओंको नीचे उतार रही थीं।

*

* *

पृथ्वीपर जन्म लेना उच्चतर लोककी सभी सत्ताओंके लिये सदा संभव है। ऐसी दशामें वे सत्ताएँ अपने लिये मन या प्राणकी सृष्टि कर लेती हैं या ऐसे मन, प्राण या शरीरसे संबद्ध हो जाती हैं जो उनके प्रभावोंमें पहलेसे तैयार हो चुका होता है। वास्तवमें, ऐसी सत्ताओंके प्रकट होनेकी एक ही विधि नहीं, बल्कि बहुत-सी विधियाँ हैं।

* * *

परन्तु विगत जीवनोंको अत्यधिक महत्व नहीं देना है। इस योगके का लिये व्यक्ति वह है जैसा वह है और, और भी अधिक, जैसा वह होगा। वह क्या इसका महत्व थोड़ा है।

*
* *

गंभीरतासे बात कही जाय तो ये ऐतिहासिक अभिनिर्धारण संकटपूर्ण क्षे और कल्पनाकी क्रीड़ाके सैकड़ों दरवाजे खोल देते हैं। जैसी वस्तुस्थिति है इन कुछको अवश्य ही सत्य होना भी चाहिये, परन्तु लोग जब एक बार शुरू कर देते हैं वे यह नहीं जानते कि कहाँ रुकना चाहिये। व्यक्ति अभी जैसा है उसकी व्या करनेवाली शक्तियोंके शरीरी रूपों या जीवनोंकी अपेक्षा उनकी धाराएँ ही अ महत्वपूर्ण हैं, और जहाँतक विशेष जीवनों या बल्कि व्यक्तित्वोंकी बात है केवल उन्हीं सार्थक्य है जो उस व्यक्तिमें बहुत निश्चित रूपसे हैं और जिन्होंने, वह अभी जिसे विक कर रहा है, उसमें सबल रूपसे योगदान किया है। किंतु इनका नाम निर्धारित क सदा संभव नहीं होता, क्योंकि जो होता रहा है उसके लाखवें भागका नाम भी मा काल द्वारा संरक्षित नहीं है।

*
* *

यह समझाना कुछ कठिन है। जब किसीको नया शरीर मिलता है तो य केंद्रीय सत्ता एक होती है तथापि जो प्रकृति उसके अंदर निवास करती है,--मन प्रकृति, प्राणकी प्रकृति, देहकी प्रकृति--वह बहुतसे व्यक्तित्वोंसे बनी होती है, न किसी एक सरल व्यक्तित्वसे जैसा कि अनुमान किया जाता है। यह जटिल व्यक्ति कुछ तो बनता है विगत जन्मोंके व्यक्तित्वोंको एकत्र करनेसे और कुछ बनता पार्थिव वातावरणसे उन अनुभवों, प्रवृत्तियों और प्रभावोंको एकत्र करनेसे जि संघटक व्यक्तित्वोंमेंसे कोई उसकी अपनी प्रकृतिके अनुकूल समझकर ग्रहण करता है हो सकता है कि तुमने 'क' या उनके किसी शिष्यद्वारा छोड़े हुए किसी ऐसे ही प्रभाव ग्रहण कर रखा हो पर तुम उन दोनोंमेंसे किसीके भी अवतार न होओ।

* * *

ये चीजें (बुद्ध, रामकृष्ण, विवेकानन्द और शंकरका प्राय: सूक्ष्म दर्शनमें दीखना) भूतकालके विचारों और प्रभावोंके कारण हैं। ये कई प्रकारकी होती हैं – कभी-कभी ये केवल विचारकृत आकृतियाँ होती हैं जिन्हें व्यक्तिकी अपनी ही विचार-शक्ति किसी मानसिक सिद्धिके वाहनके रूपमें कार्य करनेके लिये रच डालती है, कभी-कभी विभिन्न स्तरोंकी शक्तियाँ इन रूपोंको धारण कर लेती हैं जिससे उस व्यक्ति द्वारा होनेवाले उनके कार्यको सहारा मिलता है; किंतु कभी-कभी व्यक्ति वास्तवमें उस चीजके संपर्कमें होता है जिसे बुद्ध या रामकृष्ण या विवेकानन्द या शंकरका नाम, रूप, व्यक्तित्व प्राप्त था।

यह आवश्यक नही कि इन व्यक्तित्वोंके सदृश कोई तत्त्व उस व्यक्तिमें हो। ऐसा संबंध बनानेके लिये मन या प्राणका कोई विचार, अभीप्सा या रूपायण ही काफी होता है; ये शक्तियाँ जिस चीजकी प्रतीक होती हैं उसका प्रत्युत्तर देनेवाला कोई स्पंदन कहीं भी हो तो वह काफी होता है।

* * *

लोगोंको उनके विगत जीवनोंके बारेमें श्रीमाँ केवल तभी कुछ कहती हैं जब कि वह ध्यानावस्थामें उनके अतीतके दृश्य या स्मृतिको निश्चित रूपमें देखती हैं; लेकिन ऐसा आजकल विरला ही होता है।

विगत जन्मोंकी जो चीज मुख्यत: याद रहती है वह है व्यक्तित्वकी प्रकृति और जीवनके अनुभवके सूक्ष्म परिणाम। नाम, घटना और स्थूल विवरणकी याद विशिष्ट परिस्थितियोंमें ही रहती है और उनका महत्त्व बहुत ही गौण होता है। जब लोग इन बाहरी चीजोंको याद करनेकी कोशिश करते हैं तो वे साधारणतया रोमानी कल्पनाएँ खड़ी कर लेते हैं जो सच्ची नहीं होतीं।

मेरे ख्यालसे तुम्हें विगत जीवनोंके बारेके इन विचारोंको हटा देना चाहिये। यदि (नाम या महज बाहरी ब्योरोंके बिना) विगत व्यक्तित्वोंकी याद अपने-आप हो आये तो यह कभी-कभी महत्त्वपूर्ण चीज होती है जो वर्तमान विकासकी किसी चीजका सूत्र पकड़ा देती है, लेकिन उस व्यक्तित्वके स्वरूपको और चरित्रके वर्तमान संघटनमें उसके हिस्सेको जानना बिलकुल पर्याप्त है। बाकीका उपयोग अल्प है।

* * *

विगत जन्मोंके बारेमें इन विचारोंमें पूरा विश्वास करना आवश्यक नहीं। 'अ'के पुनर्जन्मके बारेमें 'क'का विचार स्पष्टतया विचार मात्र है – और कुछ नहीं।

जब इन चीजोंमें कोई सच्चाई होती है तो अधिकतम बार यह इस बोधकी बात होती हे कि अमुक व्यक्तिमें कभी मूर्त्त हुई किसी शक्तिका हमारी अपनी प्रकृतिमें भी कुछ भाग रहा है, यह नहीं कि वही व्यक्तित्व यहाँ है।

नि:सन्देह, पुनर्जन्म होता है, परंतु यह स्थापित करनेके लिये कि अमुकने अमुकके रूपमें फिरसे जन्म लिया है, गभीरतर अनुभूतिकी आवश्यकता होती है, महज मनकी संबोधिसे काम नहीं चल सकता क्योंकि वह आसानीसे भूल कर सकती है।

*

* *

'क' और 'ख' के बारेमें इस तरहके विचार मनके विचार हैं जिनकी ओर प्राण-सत्ताकी सबल आसक्ति होती है – विगत जीवनोंके सत्यका संधान इस प्रकार नहीं पाया जा सकता। ये मानसिक विचार सच नहीं। तुम विगत जीवनोंमें क्या थे - यह जाननेके लिये तुम्हें मुक्त प्रकृतिमें मिलनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रतीक्षा करनी होगी।

*

* *

मृत्यु होते ही (अन्नमय कोषके अलावा) मनोमय तथा अन्य कोषोंको चैत्य पुरुष तुरंत नहीं त्याग देता। कहा जाता है कि पृथ्वीके संपर्कसे एकदम परेके क्षेत्रमें चले जानेमें सामान्यतया तीन वर्ष लग जाते हैं – किंतु, ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो इसे अधिक धीरे या जल्दी पार करें। चैत्य लोक पृथ्वीसे संपर्क नहीं रखता,—कमसे कम, उस तरीकेसे नहीं रखता। और जो भूत या प्रेत प्रतात्माओंकी बैठकमें प्रकट होते हैं वे चैत्य पुरुष नहीं होते। 'माध्यम' के आश्रयसे उपस्थित होनेवाली चीज मिश्रित होती है – इस मिश्रणमें होती हैं माध्यमकी अवचेतन सत्ता (यहाँ 'अवचेतन' का प्रयोग यौगिक अर्थमें नहीं, वरन् साधारण अर्थमें किया गया है), वहाँ बैठकमें भाग लेनेवालों की अवचेतन सत्ता, मृतकों द्वारा छोड़े हुए या शायद ऐसे प्राणिक कोष जिन्हें कभी कभी कोई प्रेत अथवा प्राणिक सत्ता अधिकृत कर लेती या व्यवहृत करती है, स्वयं मृत व्यक्ति अपने प्राणकोषमें या नहीं तो उस अवसरके लिये ग्रहण की हुई किसी चीजमें

(परंतु ऐसे समय प्राणिक अंग ही संवाद देता है), पृथ्वीके निकटके निम्नतम प्राणिक शारीरिक जगत्की प्राकृतिक शक्तियाँ, अपदेवता आदि-आदि । यहाँ अधिकांश भयावह रूपसे विश्रृंखल होता है, प्रेतलोकके धूसर प्रकाश और छायाके माध्यमसे आनेवाली सभी प्रकारकी चीजोंका गड़बड़घुटाला होता है। जो संवाद देने आते हैं, उनमेंसे बहुतेरे ऐसे मालूम होते हैं जो अभी-अभी सूक्ष्म लोकमें गये हैं, वहाँ अपने-आपको पार्थिव जीवनके ही एक अधिक सुधरे संस्करणसे घिरा अनुभव करते हैं और समझते हैं कि पृथ्वीके बाद वही वास्तविक और सच्चा परलोक है, किंतु यह मानव-स्तरकी भावनाओं, प्रतिरूपों और साहचर्योंको आशावादी ढंगसे बनाये रखना भर होता है। अतः प्रेत 'पथ प्रदर्शकों' तथा बैठकोंमें संवाद देनेवाले अन्य प्रेतोंद्वारा वर्णित परलोक ऐसा ही होता है।

*

* *

प्रेत पथप्रदर्शकोंसे प्राप्त संवादोंपर बहुत अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ये प्रेत पथप्रदर्शक अपने माध्यमको बस वही चीज सुझाते हैं जो कि बैठकमें शामिल होनेवाले या होनेवालोंके मनमें या वातावरणमें रहती है और इसकी सार्थकता बहुत कम होती है। निस्सन्देंह, अन्य लोकोंके प्रभाव आते हैं, और किसी भी संख्यामें आ सकते हैं, किंतु विरले उदाहरणोंके अतिरिक्त, इस पथ-प्रदर्शनका प्रधान स्वरूप इस प्रकारका नहीं होता।

*

* *

स्वतःलेखन और प्रेतात्माओंको बुलानेकी बैठकें बहुत मिश्रित व्यापार हैं। उनमें कुछ तो माध्यमके और कुछ बैठनेवालोंके अवचेतन मनसे आता है। परन्तु यह भी सच नहीं कि सब कुछ नाटकीय कल्पना और स्मृतिका ही खेल होता है। कभी-कभी ऐसी बातें आती हैं जिन्हें विद्यमान व्यक्तियोंमेंसे कोई भी न जान सकता, न याद रख सकता था, कभी-कभी तो (हालाँकि ऐसा विरला ही होता है) भविष्यकी भी झाँकियाँ मिलती हैं। किन्तु सामान्य तौरपर ये बैठकें आदि ऐसी प्राणिक सत्ताओं और शक्तियोंके बहुत ही नीचेके लोकोंके संस्पर्शमें ला देती हैं जो स्वयं ही अंधकार,

असंगति या छलनासे भरे हैं और जिनके साथ संबंध रखना या जिनके किसी भी प्रभाव अधीन होना खतरनाक होता है। आउस्पेंसकी और अन्य लोग अत्यधिक "गणितीय मनोवृत्तिको साथ लेकर इन परीक्षणोंमेंसे गुजरे होंगे और निस्सन्देह उनका यह है ही उनका रक्षक था, पर साथ ही उसने उन्हें उनके अर्थको ऊपरी बौद्धिक दृष्टिके सिव किसी अधिक गहरी दृष्टिसे नहीं देखने दिया।

*

* *

भूतसे तुम्हारा क्या मतलब है? प्रचलित भाषामें इस शब्दके अंतर्गत बहुत पृथक्-पृथक् व्यापार आते हैं जिनमें परस्पर कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। उनमें कुछको ही लें:—

(1) सूक्ष्म शरीरमें स्थित किसी मानव अंतरात्मासे वास्तविक संपर्क हो और किसी मूर्तिके दिखायी देने या किसी वाणीके सुनायी देनेसे हमारे मनमें उसक लिप्यंतरण होना।

(2) कोई मानसिक रूपायण जिसे किसी मृत व्यक्तिके विचार या भाव कि स्थान या मुहल्लेके वातावरणपर मुद्रित कर जाते हैं। वह रूपायण वहाँ घूम रहता या अपने-आपको दुहराता रहता है जबतक कि वह शेष नहीं हो जाता या कि विधिसे विघटित नहीं हो जाता। किसी हत्याके समयकी, उसके संबंधकी या उन पहलेकी घटनाओंके दृश्यके किसी भुतहे घरमें बार-बार दिखायी देने और इसी प्रका बहुत सारे अन्य व्यापारोंकी व्याख्या भी यही है।

(3) निम्नतर प्राणिक लोकोंकी कोई सत्ता जो किसी मृत मनुष्यके छोड़े हु प्राणिक कोष या उसके प्राणिक व्यक्तित्वका कोई अंग धारण कर लेती या उस रू प्रकट होती या कार्य करती है और शायद उस व्यक्तिके ऊपरी विचारों और स्मृतियों भी साथ ले लेती है।

(4) निम्नतर प्राणिक लोककी कोई सत्ता जो किसी जीवित मनुष्य माध्यम या किसी अन्य विधि या साधनसे पर्याप्त मूर्त्त आकार धारण कर लेती है औ इस तरह प्रकट होती और कार्य करती है कि लोग देख सकें, इस तरह बोलती है कि लो सुन सकें अथवा इस प्रकार प्रकट हुए बिना वह मेज-कुर्सी आदि जैसी स्थूल चीजों इधर-उधर हटाती है या पदार्थोंको स्थूल रूपमें प्रकट करती या उन्हें एक जगहसे दूस जगह हटा देती है। इससे पेड़ोंपर रहनेवाले भूतों, पत्थर बरसानेकी घटनाओं, परेशा

और शोर करनेवाले शेतानों, और बहुतसे अन्य जाने-सुने व्यापारोंकी बात समझमें आ जाती है।

(5) ऐसी छाया-मूर्तियाँ जो देखनेवालेकी अपनी ही रचनाएँ होती हैं और इंद्रियोंको गोचर रूपमें दिखायी देती हैं।

(6) लोगोंपर कुछ समयके लिये उन प्राणिक सत्ताओंका अधिकार कर लेना जो कभी-कभी उनके मृत संबंधी आदि होनेका बहाना करती हैं।

(7) लोगों द्वारा प्रायः मृत्युके समय प्रक्षिप्त अपने-आपकी ही विचारमूर्तियाँ जो उसी समय या कुछ घंटों बाद उनके मित्रों या संबंधियोंके सामने प्रकट होती हैं।

तुम देखोगे कि इनमेंसे एक ही अवस्थामें, पहलीमें, अंतरात्माका अस्तित्व माना जा सकता है और वहाँ कोई कठिनाई नहीं उठती।

*

* *

संसारमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भाग्यरेखाका अनुसरण करता है जो उसकी अपनी-अपनी प्रकृति और कर्मसे निर्धारित होती है,––किसी एक जीवनमें जो घटना होती है उसके अर्थ और आवश्यकताको बहुतसे जीवनोंके प्रकाशमें ही समझा जा सकता है। किंतु जो व्यक्ति साधारण मन और भावनाओंसे परे जा सकते और वस्तुओंको उनके समग्र रूपमें देख सकते हैं, वे ही यह देख सकते हैं कि गलतियाँ, दुर्भाग्य, विपदाएँ आदि भी इस यात्राकी मंजिलें हैं, जीव अनुभवोंका संचय करता हुआ इन सबके बीचसे गुजरता और इन सबके परे चला जाता है, और फिर वह उस यात्राके लिये तैयार हो जाता है जो उसे उच्चतर चेतना और उच्चतर जीवनमें ले जाती है। जब मनुष्य उस सीमांत-रेखापर पहुँच जाता है तब उसे अपने पुराने मन और भावनाओंको छोड़ना पड़ता है। तब वह साधारण संसारके सुख-दुःखमें फँसे लोगोंको सहानुभूतिकी दृष्टिसे और, जहाँ कहीं संभव होता है, आध्यात्मिक रूपसे सहायक होनेकी भावनाके साथ देखता है, पर उसमें आसक्ति नहीं रह जाती। वह समझ जाता है कि लोगोंको उनकी सारी भूल-भ्राँतियोंके भीतरसे आगे बढ़ाया जा रहा है और उनके लिये जो कुछ उत्तम होता है उसे करनेका भार वह उस विश्वशक्तिपर छोड़ देता है जो उनके जीवनको देख रही और सहारा दे रही है। परन्तु जो एकमात्र वस्तु वास्तवमें महत्त्वपूर्ण है वह है उस महत्तर प्रकाशमें प्रवेश करना और भगवान्‌से संयुक्त हो जाना – एकमात्र भगवान्‌की ओर अभिमुख होना और चाहे अपने लिये हो या दूसरोंके लिये, एकमात्र उन्हींपर

भरोसा रखना।

*

* *

यह प्रश्न बड़ा ही जटिल और कठिन है; थोड़ेसे शब्दोंमें इसका उत्तर सा ही दिया जा सकता है। फिर इस बांतका कोई सामान्य नियम बताना असंभव है कि पहले क्यों तो ऐसे घनिष्ठ आंतरिक संबंध होते हैं और फिर बादमें मृत्यु द्वारा शारीरि विच्छेद; प्रत्येक उदाहरणमें भिन्नता होती है, उनके मिलन और विच्छेदके पी क्या चीज थी उसे जाननेके लिये उन व्यक्तियोंको जानना और उनके अं रात्माओंके इतिहाससे अवगत होना आवश्यक होता है। साधारणतः पार्थि जीवनमें अपने रेखाचक्रको पूरा करनेमें अंतरात्माको कितने ही जीवनोंके बीचसे गुज होता है, कोई एक जीवन तो इस आध्यात्मिक विकासक्रमके लंबे इतिहासमें महज छोटी-सी घटना होता है। यह विकासक्रम होता है भौतिक निश्चेतनासे निकल चेतनामें आनेका, भागवत चेतनाकी ओर जानेका, अज्ञानसे निकलकर दिव्य ज्ञान जानेका, अंधकारसे निकलकर अर्द्ध-प्रकाशमेंसे गुजरते हुए प्रकाशमें जानेका, मृत् अमरत्वमें जानेका, कष्टसे निकलकर दिव्य आनंदमें जानेका। कष्ट आता है प्रथम अज्ञानके कारण, द्वितीयतः दिव्य सत् और चेतनासे वैयक्तिक चेतनाके विच्छे कारण और यह विच्छेद भी अज्ञानकी ही करनी है। जब यह अवस्था समाप्त हो जा है, जब व्यक्ति भगवान्में निवास करने लगता है, जब वह अपने पृथक् तुच्छतर आत्म रहना छोड़ देता है, केवल तभी दुःख-कष्ट सर्वथा समाप्त हो सकता है। प्रत्येक अंतरा अपनी अपनी रेखाका अनुसरण करता है; ये रेखाएँ परस्पर मिलती हैं, एक दूरी साथ-साथ चलती हैं, फिर अलग-अलग हो जाती हैं, शायद बादमें फिरसे मिल लिये,——उनका एक बार फिर, यात्रामें किसी-न-किसी रूपमें परस्पर सहायता दे लिये, मिलना होता है। जहाँतक मृत्युके बादके ममयकी बात है, अंतरात्मा अस्ति अन्य लोकोंमें चला जाता है, वहाँ कुछ समयतक ठहरता है, फिर अपने विश्राम-स्था पहुँच जाता है और जबतक अन्य पार्थिव जीवनके लिये तैयार नहीं हो जाता तब वहीं रहता है। यही सामान्य नियम है। लेकिन देही जीवोंके संबंधकी जो बात वह उन दोनोंके व्यक्तिगत विकासकी चीज है जिसपर कोई सामान्यतया लागू होनेवा बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह उन दोनोंके अंतरात्माओंकी कहानीकी अंत चीज होती है और उसे जाननेके लिये व्यक्तिगत जानकारीकी आवश्यकता होती है

मैं इतना ही कह सकता हूँ, पर मैं नहीं समझता कि इससे उस महिलाको कोई विशेष सहायता मिल सकेगी, क्योंकि सामान्य तौरपर इन चीजोंसे सहायता उसीको मिलती है जो उस चेतनामें प्रवेश कर चुका हो जिसमें ये चीजें महज विचार ही नहीं वरन् वास्तविकताएँ बन जाती हैं। तब व्यक्ति शोक नहीं करता, क्योंकि वह सत्यके अंदर प्रवेश कर चुका है और सत्य ले आता है स्थिरता और शांति।

*
* *

सामान्यतया प्राणिक संबंध ही हुआ करता है, चैत्य संबध अपेक्षाकृत विरल होता है। सामान्यतया विगत जीवनोंकी कोई चीज इस जीवनके इन संबंधोंको निर्धारित करती है, परन्तु इस जीवनका संबंध कदाचित् ही वह संबंध होता है जो विगत जीवनोंमें था और जिसने इसे निर्धारित किया था।

दो

मृत्युपर शोक नहीं

तुम्हारी स्त्रीकी दारुण मृत्युसे तुम्हें जो चोट अवश्य लगी होगी उसे मैं भली-भाँति समझ सकता हूँ। किंतु तुम अब सत्यके खोजी और साधक हो। तुम्हें अ अपने मनको मानवप्राणीकी सामान्य प्रतिक्रियाओंसे ऊपर उठा लेना होगा और चीजों एक महत्तर और विशालतर प्रकाशमें देखना होगा। अपनी मृत स्त्रीको इस रू कि वह एक अंतरात्मा थी जो अज्ञानके जीवनके उलट-फेरोंके बीच प्रगति कर रहा जैसा कि इस पृथ्वीपर अन्य सब कोई कर रहे हैं। उस प्रगतिमें ऐसी घटनाएँ हो हैं जो मनुष्यके मनको दुर्भाग्य प्रतीत होती हैं और हमारी इस लोककी अनुभूतिकी स ही स्वल्प रहती अवधिको, जिसे हम जीवन कहा करते हैं, अकालमें ही समाप्त क देनेवाली आकस्मिक या अस्वाभाविक मृत्यु मनुष्यके मनके लिये विशेषत: दर्दना और दुर्भाग्यपूर्ण होती है। किंतु जो व्यक्ति बाहरी रूपके पीछे पहुँच जाता है वह जान है कि नाना अनुभवोंकी धाराएँ प्रत्येक जीवको उस मोड़की ओर ले जा रही हैं ज वह अज्ञानसे निकलकर प्रकाशकी ओर जा सकता है, और जीवकी प्रगतिमें जो को भी घटना होती है उसका इन अनुभवोंकी श्रृंखलामें अपना एक अर्थ, एक आवश्यक एक स्थान होता है। वह जानता है कि ईश्वरीय विधानमें जो कुछ भी होता है व सबसे अधिक भलेके लिये ही होता है, भले ही मनुष्यके मनको वह चाहे कैसा ही क न लगे।

अपनी स्त्रीको ऐसे अंतरात्माके रूपमें देखो जो जीवनकी दो अवस्थाओंके बी व्यवधानको पार कर गया है। उसे अपने विश्रामस्थानकी ओर यात्रामें सहा दो। उसे यह सहायता तुम अपने शांत-स्थिर विचारोंसे तथा भागवत साहाय आह्वान करके पहुँचा सकते हो। अत्यधिक समयतक किया गया शोक दिवंगत जीव यात्रामें सहायता नहीं देता, बल्कि उसमें रुकावट ही डालता है। अपनी क्षतिकी चि मत करो, बस पत्नीके आध्यात्मिक कल्याणकी ही बात सोचो।

*

* *

जो हुआ है उसे अब स्थिरता और शांतिसे स्वीकार कर लेना है और यह मानना होगा कि दिवंगत अंतरात्माकी जन्म-जन्ममें होनेवाली प्रगतिके लिये वही चीज नियत थी और उत्तम भी, भले ही मानवीय आँखोंके लिये उत्तम न हो क्योंकि ये आँखें केवल वर्तमानको और बाहरी रूपको ही देखती हैं। आध्यात्मिक जिज्ञासुके लिये मृत्यु तो जीवनके एक रूपसे दूसरे रूपमें जाना है, और कोई मरता नहीं, केवल प्रयाण करता है। इस घटनाको इसी रूपमें देखो और प्राणिक शोककी सारी प्रतिक्रियाओंको हटा देते हुए, क्योंकि इन सबसे उसकी यात्रामें सहायता नहीं पहुँच सकती, भगवान्‌के मार्ग पर दृढ़तासे चलते रहो।

*
* *

निस्सन्देह, यही वास्तविक तथ्य है – मृत्यु केवल शरीरका परित्याग है, व्यक्तिगत अस्तित्वका लोप नहीं। जब कोई दूसरे देशमें चला जाता और वहाँकी जलवायुके अनुकूल पोशाक बदल लेता है तो उसे मरना नही कहते।

तीन

मृत्यु और अतिमानसिक सिद्धि

अतिमानसिक सिद्धि हुए बिना शरीरकी अमरता नहीं हो सकती। योग-शक्ति-में यह संभावना निहित है और योगी दो तीन सौ वर्षोंतक या और भी अधिक जीवि रह सकते हैं, किन्तु अतिमानसिक सिद्धिके बिना अमरत्वका सच्चा तत्त्व नहीं प्राप हो सकता।

विज्ञान भी यह विश्वास करता है कि एक दिन मृत्युको स्थूल उपायसे जीत जा सकेगा, और उसकी युक्तियाँ पूरी संगत भी हैं। इसका कोई कारण नहीं कि अति-मानस-शक्ति ऐसा न कर सके। रूप अन्य लोकोंमें स्थायी होते हैं, परन्तु पृथ्वीप नहीं; इसका कारण यह है कि यहाँ वे इतने कठोर होते हैं कि वे अध्यात्म-सत्ताकी प्रगतिको प्रकट करते हुए उसके साथ-साथ विकसित नहीं हो पाते। वे यदि ऐसा कर पानेके लिये पर्याप्त रूपसे नमनीय हो जायँ तो उनके चिरस्थायी न होनेका कोई कार नहीं रह जाता।

*
*   *

तो क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि वृद्धोंको वृद्धावस्थामें कभी कभी नये या ती दाँत आ जाते हैं? और यदि, जैसा कि वोरोनोफने जीवित उदाहरणसे प्रमाणि किया है, वानर-ग्लैन्ड क्रिया और बलको पुनरुज्जीवित कर सकते और गँजे स बाल पैदा कर सकते हैं,——तब? और यह भी ध्यान देनेकी बात है कि विज्ञान परीक्षणोंके आरंभमें ही है। यदि विज्ञानके सामने ये संभावनाएँ खुल रही हैं तो अ (यौगिक) साधनोंसे उनके होनेकी कोरी असंभवताकी घोषणा कैसे की जा सकती है।

*
*   *

मृत्यु आती है और इसका कारण यह है कि शरीरस्थ पुरुष इतने पर्याप्त ह

विकसित नहीं हुआ होता कि वह देह-परिवर्तनकी आवश्यकताके बिना एक ही देहमें निरंतर वर्द्धित होता रहे और स्वयं शरीर भी काफी चेतन नहीं होता। यदि मन, प्राण और शरीर भी अधिक चेतन और नमनीय होते तो मृत्यु आवश्यक नहीं रह जाती।

*
* *

शरीरकी मृत्यु शारीरिक आकारका विघटन है; किन्तु मृत्युसे सारे ही आकार विलीन नहीं हो जाते।

*
* *

केवल अपनी इच्छासे शरीर छोड़नेके सिवा अन्य किसी चीजसे मृत्यु होनेसे बच सकना, रोगसे मुक्त रहना आदि ऐसी चीजें हैं जो केवल चेतनाके संपूर्ण परिवर्तनसे ही प्राप्त की जा सकती हैं और इस परिवर्तनका विकास प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं अपने अंदर करना होगा,——इस उपलब्धिके बिना इन चीजोंकी ओरसे कोई स्वतः रक्षण संभव नहीं।

*
* *

मृत्युका कोई अपना पृथक् अस्तित्व नहीं। शरीरमें ह्रास होनेका नियम है, वह नियम पहलेसे ही विद्यमान है और भौतिक प्रकृतिका अंग है और उसीका परिणाम मृत्यु है। साथ ही, यह अपरिहार्य भी नहीं, यदि आवश्यक चेतना तथा शक्ति तथा शक्ति प्राप्त की जा सके तो फिर ह्रास और मृत्यु अवश्यम्भावी नहीं। किन्तु उस चेतना और शक्तिको संपूर्ण जड़-प्रकृतिके अंदर उतार लाना सबसे कठिन कार्य है,——कम-से-कम ऐसे रूपमें उतारना तो सबसे कठिन ही है कि वह ह्रासके नियमको ही रद्द कर दे।

*
* *

"वस्तुतः मृत्यु पृथ्वीपर जीवन मात्रसे संबद्ध है"।

–श्री

मुझे इसमें अस्पष्टता नहीं दीखती। "वस्तुतः" और "संबद्ध" में अपरिहार्यता अर्थ नहीं व्यक्त होता। "वस्तुतः" का अर्थ यह है कि वास्तवमें, वर्तमान वस्तु-स्थिति-में, (पृथ्वीपर) जीवनके अंतके रूपमें मृत्यु जीवनमात्रसे संबद्ध है; किन्तु इसमें य भाव तनिक भी व्यक्त नहीं होता कि इससे भिन्न कभी भी कुछ नहीं हो सकता या कि यही सारे अस्तित्वका विधान है। वर्तमानमें यह एक वास्तविकता है जिसके कु कारण हैं और वें कारण बताये गये हैं,––ऐसा कुछ मानसिक और भौतिक कारण है – यदि उन्हें बदल दिया जाय तो मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जाती। यह स्पष्ट है कि "यदि" कुछ शर्तें पूरी की जायँ तो ही स्थितिमें परिवर्तन हो सकता है – क्रमविका द्वारा होनेवाली सारी प्रगति और परिवर्तन किसी "यदि" की तुष्टिपर निर्भर क हैं। यदि पशु-मनको वाणी और युक्तिबुद्धिके विकासकी ओर आगे नहीं धकेला जा तो मनोमय मनुष्य कभी अस्तित्वमें नहीं आता, किन्तु उस "यदि" को – एक दु और बृहत् "यदि" को – तुष्ट किया गया। यही बात उन "यदियों" की है जो आगे प्रगतिकी शर्तें हैं।

*

* *

चेतनाका परिवर्तन ही आवश्यक चीज है और उसके बिना शारीरिक सि नहीं हो सकती। परन्तु जबतक शरीर वैसा ही रहता है जैसा कि वह अभी है– मृत्यु, रोग, ह्रास, दुःख, अचेतनता और अज्ञानके अन्य सभी परिणामोंका दास––तब अतिमानसिक परिवर्तनकी परिपूर्णता संभव नहीं। यदि इन चीजोंको बने रहना है अतिमानसके अवतरणकी आवश्यकता शायद ही रहती है, क्योंकि भगवान्‌के सा मानसिक – आध्यात्मिक मिलन प्राप्त करनेके लिये चेतनाके जिस परिवर्तनकी आवश्य होती है उसके लिये अधिमानस ही, यहाँतक कि उच्चतर मन भी पर्याप्त है। अ मानसका अवतरण मन, प्राण और शरीरके अंदर सत्यकी सचल क्रियाके लिये आव है। इसका अर्थ यह होता है कि इसके परिणाममें अंतमें शरीरकी अचेतना विलीन हो जाय, शरीर रोग और ह्रासके नियमकी अधीनतासे मुक्त हो जाय। इस अर्थ यह होगा कि वर्तमानमें मृत्यु जिन सामान्य प्रक्रियाओंसे आती है वह उनके अ नहीं होगा। यदि देहका परिवर्तन करना होगा तो वह परिवर्तन उस देहको धा

करनेवालेकी इच्छासे ही होगा। शरीरकी अमरताका सार यही है, न कि यह कि उसे तीन हजार वर्ष जीना ही पड़े, क्योंकि वह भी बंधन ही होगा। किन्तु हाँ, यदि कोई हजार वर्ष या और भी अधिक जीना चाहे तो यदि उसे संपूर्ण सिद्धि प्राप्त हो तो ऐसा असंभव भी नहीं होना चाहिये।

*

* *

"शरीरके रूपांतरकी क्या आवश्यकता है जव कि यदि किसीको अमरत्वकी चेतना प्राप्त हो चुकी है तो भी उसे स्वेच्छासे, अथवा अन्य दशाओंमें बाध्य होकर,—अंतमें शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा।

यह तर्क मायावादीका है जिसके लिये सारी सृष्टि ही अचिर होनेके कारण व्यर्थ और असत्य है, देवताओंका जीवन भी व्यर्थ है क्योंकि उनका जीवन भी कालके अंतर्गत है, कालातीतमें नहीं। किन्तु सृष्टिका यदि कोई अर्थ हो तो फिर अपूर्ण सृष्टिके बदले पूर्ण सृष्टि ही वांछनीय है। "स्वेच्छासे छोड़ना ही पड़ेगा",—इसमें विरोधाभास है। व्यक्तिकी जवतक इच्छा रहती है,—और यह इच्छा प्रकाशमयी होती है – वह शरीर रखता है और उसी इच्छाके अनुसार शरीरको छोड़ देता या बदल देता है। किन्तु जिस शरीरपर निरंतर कामना और पीड़ाका आक्रमण होता रहता है; रोग और ह्रासके कारण मृत्यु हावी रहती है, उसकी तुलनामें यह स्थिति वहुत ही भिन्न है। हाँ, बशर्ते कि पहले यह मान लिया जाय कि भागवत सृष्टि या कोई भी सृष्टि वांछनीय है।

"जड़वस्तुमें, विशेषत: शरीरके कोषोंमें, क्षण प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, तब भला शरीरके लिये रूपांतरका क्या मूल्य है?"

इस दूसरे तर्कका उत्तर यह है कि अतिमानसिक जीवन परिवर्तन और प्रगतिका बहिष्कार नहीं करता। यदि अतिमानसिक शरीरके कोषोंका भी परिवर्तन होता रहे, और वह परिवर्तन किसी उतनी ही या अधिक सचेतन और प्रकाशमयी अवस्थाके लिये हो, तो मैं नहीं समझता कि इस पविर्तनसे रूपातरका मूल्य कैसे घट जाता है?

*

* *

हम जो रूपातर चाहते हैं वह यह है कि हमारी चेतना भगवान्में लीन हो जाय, चैत्य पुरुष सारी प्रकृतिको नियंत्रित करता रहे, बदलता रहे और भगवान्की ओर अभिमुख किये रखे जिससे अंतिम समूची सत्ता भगवान्में निवास कर सके। इस आगे है अतिमानसीकरण; किन्तु यह रूपांतरको बस उसकी उच्चतम और विशालत संभावनाओंतक ले जाता है, अवश्य ही उसके मूल स्वरूपको नहीं बदल देता।

अतिमानसीकरणके संभाव्य परिणामोंमें एक है अमरत्व; किन्तु अमरता वाञ्छ कर परिणाम नहीं और न इसका अर्थ यह है कि जीवन अभी जैसा है वह वैसा ही चि काल अथवा अनिश्चित अवधितक स्थायी बना रहेगा। बहुतसे लोग समझते हैं कि ऐ ही होगा, यानी वे जैसेके तैसे बने रहेंगे, उनकी मानवीय कामनाएँ बनी रहेंगी, अ केवल यही होगा कि वे उन कामनाओंको अंतहीन रूपसे पूरी करते रहेंगे। लेकि ऐसी अमरता तो प्राप्त करने योग्य नहीं होगी और लोगोंको इससे थक जानेमें ब अधिक समय नहीं लगेगा। भगवान्में निवास और भागवत चेतनाकी प्राप्ति अप आपमें अमरता है और शरीरको भी दिव्य बना सकना और उसे दिव्य कर्म तथा दि जीवनके लिये उपयुक्त यंत्र बना सकना तो इस अमरताका भौतिक प्राकट्य मा होगा।

*

* *

जहाँ तक मृत्यु-विजयकी बात है वह अतिमानसीकरणके अनेक परिणामों केवल एक परिणाम है — और मेरा ऐसा ख्याल नहीं कि मैंने अतिमानसिक अवतर बारेमें अपने विचार सुदृढ़ रूपसे व्यक्त किये हों। किन्तु मैंने कभी भी ऐसा कहा सोचा नहीं है कि अतिमानसिक अवतरण अपने-आप ही हरेकको अमर बना दे वह तो बस हरेकके लिये उत्तम परिस्थितियाँ बना दे सकता है, तब या बादमें ह उसकी ओर उन्मीलित हो सकता और अतिमानसिक चेतना तथा उसके परिणामों पा सकता है। किन्तु इससे साधनाकी आवश्यकता समाप्त नहीं होगी। यदि ऐ होता तो तर्कसंगत परिणाम यह होता कि सारी धरती, सारे मनुष्य, कुत्ते और ब एक सुबह अपनेको अकस्मात् अतिमानसिक हो गया पाते। तब आश्रम या यो आवश्यकता नहीं होती।

प्रधान क्यों? प्रधान बात है चेतनाका अतिमानसिक परिवर्तन; मृत्यु-वि एक गौण वस्तु है और, जैसा कि मैंने सदा कहा है, उसका अंतिम भौतिक परिणाम

न कि सबसे पहला या अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम; वह एक ऐसी वस्तु है जो संपूर्णको पूरा करनेमें जोड़ी जाती है, न कि एकमात्र आवश्यक और मूलभूत वस्तु। उसे प्रथम स्थानमें रखना सारे आध्यात्मिक मूल्योंको उलट देना है,—इसका अर्थ यह होगा कि साधक किसी उच्च आध्यात्मिक लक्ष्यसे नहीं, अपितु जीवनके प्रति किसी प्राणिक आसक्ति या शरीरकी सुरक्षाके लिये किसी स्वार्थी और सीमित खोजसे प्रवृत्त हुआ था,—ऐसा अतंर्भाव अतिमानसिक परिवर्तन न ला सकेगा।

अवश्य ही हरेक चीज मेरी सफलतापर निर्भर करती है।...किन्तु क्या तुमने यह कल्पना की थी कि इसका अर्थ धरतीपर मृत्युका अन्त हो जायगा और साधना किसीके भी लिये आवश्यक न रह जायगी?

*

* *

इस विषयपर तुम्हारी बात विल्कुल ठीक है। साधनाकी तीन स्थितियाँ हैं – चैत्य परिवर्तन, चेतनाके उच्चतर स्तरोंमें गमन और उनकी सचेतन शक्तियोंका अवतरण, और अतिमानस। मृत्युपर अधिकार अतिमानसिक साधनामें भी बादकी स्थिति है, आरंभकी नहीं। इनमेंसे प्रत्येक पर्व बहुत लंबे समय और उच्च तथा दीर्घ प्रयासकी मांग करता है।

*

* *

शरीरके रूपांतरकी अपेक्षा कहीं अधिक आसान रहनेवाली चीजें जबतक पूरी नहीं हो जातीं – यद्यपि इनमेंसे कोई भी वास्तवमें आसान नहीं – तबतक शरीरके रूपांतरकी बात सोचना बिलकुल ही व्यर्थ है। आंतरिक सत्ताको बदलना होगा और उसके बाद ही सबसे बाहरी सत्ता परिवर्त्तित हो सकेगी। अतएव जबतक कोई यह न समझ ले कि बाकी सब कुछ पूर्ण हो चुका है – और ऐसा दावा बल्कि आश्चर्यजनक होगा – तबतक इसपर एकाग्र होनेका क्या उपयोग है? शरीरके बारेमें पहली करणीय चीज है उसे भगवान्की शक्तिके प्रति खोल देना ताकि वह रोग और थकानके विरुद्ध बल-शक्ति पा सके और और जब रोग और थकान आयें तब ऐसी क्षमता होनी चाहिये जिससे उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया की जा सके, उन्हें दूर फेंका जा सके और शरीरके अंदर

शक्तिका अनवरत प्रवाह बहता रहे। यदि इतना कर लिया जाय तो शारीरिक परिवर्तनसंबंधी बाकी चीजें अपने उपयुक्त समयकी प्रतीक्षा कर सकती हैं।

*

* *

यह बिलकुल सच है कि संपूर्ण सत्ताका समर्पण और परिणाममें उसका रूपांतर योगका लक्ष्य है; शरीर इससे बहिष्कृत नहीं है, किंतु साथ ही प्रयत्नका यह भाग सबसे अधिक कठिन और संदिग्ध है, बाकीकी पूर्ति आसान तो नहीं किन्तु अपेक्षाकृत कम कठिन है। आरंभ करना होगा शरीरपर चेतनाके आंतरिक नियंत्रणसे, शरीरको जो इच्छा या शक्ति संचारित की जा रही है शरीरको उसके अनुसार अधिकाधिक चलानेके सामर्थ्यसे। अंतमें जैसे-जैसे अधिकाधिक ऊँची चेतना उतर आती है और शरीरकी नमनीयता बढ़ती है, रूपांतर संभव हो जाता है।

*

* *

जबतक शरीरके प्रति आसक्ति है तबतक अमरता नहीं आ सकती. क्योंकि अमरता तभी आ सकती है जब कि व्यक्ति अपने अमर भागमें (और यह भाग देहके साथ एकात्म नहीं होता) निवास करने लगे और उसकी चेतना तथा शक्तिको देहके कोषोंमें उतार लाये। निस्सन्देह, मैं यहाँ यौगिक साधनोंकी बात कह रहा हूँ। आजकल वैज्ञानिक लोग (कमसे कम, सिद्धान्तरूपमें) मानते हैं कि कोई ऐसा भौतिक साधन खोज निकालना संभव है जिससे मृत्यु जीती जा सके, किन्तु इसका अर्थ वर्तमान चेतनाको वर्तमान शरीरमें बनाये रखना ही होगा। जबतक चेतनाका परिवर्तन और क्रियाओंका परिवर्तन नहीं हो जाता तबतक यह बहुत तुच्छ प्राप्ति होगी।

*

* *

यह बात निर्भर करती है चेतनापर। वर्तमान अवस्थामें अधिकतर मनुष्य जीवनसे थकते नहीं; वे इसलिये मरते हैं कि उन्हें मरना पड़ता है, न कि इसलिये कि

वे मरना चाहते हैं, कम-से-कम उनकी प्राणसत्ता तो मृत्यु नहीं चाहती।कुछ अल्पसंख्यक व्यक्ति ही जीवनसे ऊब जाते हैं और उनमें से भी अधिकतर लोगोंमें यह भाव वृद्धावस्थाकी असुविधाओं, बराबरकी अस्वस्थता या दुर्भाग्यके कारण आता है। प्रश्न तो यह है कि यदि शरीरमें कोई ऐसी चेतना उतर आय जो इन कष्टोंसे छुटकारा दिला दे तो क्या उस अवस्थामें भी लोग जीवनसे महज उसकी लंबाईके कारण उसी तरह थक जायँगे या उन्हें अंदर या बाहर रसका कोई ऐसा शाश्वत स्रोत मिल जायगा जो जीवनमें उनकी रुचि बनाये रखेगा ? निस्सन्देह शारीरिक अमरताका अर्थ यह नहीं होगा कि मनुष्य शरीरमे बंधा रहेगा, वरन् यह होगा कि वह रोग और मृत्युके बंधनमें नहीं होगा. बल्कि अपने इच्छानुसार शरीरको रख सकेगा या छोड़ सकेगा। मैं नहीं जानता कि अश्वत्थामा[1] इसलिये जी रहा है कि वह मर ही नहीं सकता या इसलिये कि वह मरना ही नहीं चाहता, यह उसके लिये श्राप है या वरदान। प्रसंगवश कह दूँ कि ऐसे पशु पाये जाते हैं जो अनेक शताब्दियोंतक जीते हैं किन्तु दार्शनिक मस्तिष्कसे रहित रहनेके कारण उनके लिये यह प्रश्न ही नहीं उठता — संभवत: वें इसे स्वाभाविक चीज समझते हैं।

*

* *

...एडिसनका परिवार बहुत दीर्घ आयुवाला था, किन्तु उसके दादाको एक शताब्दिके बाद जीवन बहुत लंबा लगने लगा और वह इसलिये मर गये कि वह मरना चाहते थे। दूसरी ओर, ऐसे लोग भी होते हैं जिनकी प्राणसत्ता बहुत सबल होती है और वे जीवनसे थकते नहीं। उदाहरणके लिये हम उस तुर्कको ले सकते हैं जो अभी हालमें शायद 150 वर्षकी आयुमें मरा है पर अभी भी जीनेके लिये उत्सुक था।

*

* *

अधिकतर व्यक्तियोंके लिये यह मूलभूत रूपमें सत्य है कि जीवनका सुख, अस्तित्वमात्रका सुख, जीवनके दु:ख-कष्टकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है, अन्यथा अधिकतर

---

[1] कहा जाता है कि नर्मदा नदीके किनारे अश्वत्थामा 36000 वर्षोंसे रहता है।

लोग मरना ही चाहते, जब कि सच यह है प्रत्येक व्यक्ति जीना चाहता है – और तुम यदि उन्हें सदाके लिये मिट जानेका कोई आसान तरीका बतला दो तो वे तुम्हें धन्यवा दिये बिना ही उसे अस्वीकार कर देंगे। यही 'क' का कहना है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी सच है कि इसके मूलमें है अस्तित्वका आनंद और यह आनं प्रत्येक चीजके पीछे विद्यमान है और अस्तित्वके सुखकी सहज भावनामें प्रतिबिम्बि होता है। अवश्य ही यह मूलगत सहज सुख ही वह आनंद नहीं वरन् निम्नतर प्रा चेतनामें उसकी एक फीकी और धुंधली छायामात्र है, किन्तु अपने कार्यके लिये यथेष्ट हैं। स्वयं मैंने यह बात कहींपर कही है और इस युक्तिमें मैं कोई निराधार अतिशयोक्तिपूर्ण बात नहीं देखता।

*
* *

हाँ, कुछ लोगोंको शरीरकी अशुचिताके कारण शरीरसे जुगुप्सा हो जाती किन्तु यह भी कहूं कि ऐसे लोग बहुत ही थोड़े हैं।

पातंजलिका वचन "शौचात्-स्वांग जुगुप्सा" यह मान लेता है कि मन ही कुछ है, अतः यदि हमारा यह भाव हो जाय कि शरीर अस्वच्छ वस्तु है तो हमारी भावनाएँ उसी भावसे समस्वर हो जायँगी। परन्तु ऐसा है नहीं, ऐसे अन्य भाग जो मनोगत भाव या ज्ञानकी परवाह नहीं करते, उससे प्रभावित नहीं होते, अपनी ही सहजवृत्तियों और कामनाओंसे चालित होते हैं। जिनमें वैराग्यकी मोड़ आ चुका है वे लोग ही अपने पहलेके विद्यमान वैराग्यकी सहायताके लिये पातंज की बातका उपयोग कर सकते हैं। उदाहरणके लिये चिकित्मक शरीर-रचनाके ज्ञान विज्ञानके तथ्यके रूपमें रखता है, उसे अपने मनके वैज्ञानिक विभागमें अलग रखत और इस ज्ञानका उसके अन्य भावों, भावनाओं या क्रियाकलापोंपर जरा भी प्र नहीं पड़ता।

*
* *

अतिमानसिक पूर्णताका अर्थ यह होता है कि शरीर चेतन हो जाता है, चेत भर जाता है और चूँकि यह चेतना सत्य-चेतना होती है, उसकी सारी क्रियाएँ, वे

आदि अंतरकी चेतनाकी शक्तिसे सामंजस्यपूर्ण, प्रकाशपूर्ण, ठीक और सच्ची बन जाती हैं, उनमें अज्ञान या अव्यवस्था नहीं रहती।

हठयोगकी पद्धति है शरीरके अंदर प्रवल प्राणशक्तिको उतार लाना, फिर उसके द्वारा और कुछ अन्य प्रक्रियाओंसे शरीरको सबल और स्वस्थ और सुयोग यंत्र बनाये रखना।

*

* *

वेदमें उच्चतर लोकोंकी सत्ताओंके ज्योतिर्मय शरीरकी बात कही गयी है। पूर्व और पश्चिमके कुछ यौगिक सिद्धांतोंमें यह माना गया है कि अंतिम रूपांतरकी स्थिति आनेपर इस पृथ्वीपर भी मनुष्य उन्हीं गुणोंसे युक्त शरीरका विकास करेगा। श्रीमांके प्रथम आध्यात्मिक शिक्षकने इसे 'तेजोमय शरीर' (body of glory) का नाम दिया था।

*

* *

मैंने बाइबल पढ़ी है – एक समय बहुत अध्यवसायसे पढ़ी है।...मैंने उसे जब कभी देखा है उसकी भाषाकी प्रांजलताके बावजूद भी मुझे सदा ही उसकी विचार-वस्तुमें एक अस्पष्टताका भान हुआ है, और इस कारण इन चीजोंके बारेमें निश्चित होना बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरणके लिये शरीरके बारेमें प्रस्तुत उद्धरणको ही लें,––यद्यपि संत पॉलको असाधारण रहस्यानुभूतियाँ हुई थीं और अवश्य ही उन्हें बहुत गभीर (मेरे ख्यालसे विशाल न होकर बल्कि गभीर) आध्यात्मिक ज्ञान था, मैं यह आश्वस्त होकर नहीं कह सकता कि वह अतिमानसधर्मी शरीर (भौतिक शरीर) की बात कह रहे हैं। इसमें शायद अतिमानसिक शरीरकी या किसी ऐसे अन्य तेजोमय शरीरकी बात है जो अपने ही देश और सत्त्वमें हो और जिसे उन्होंने कभी-कभी मानों उन्हें आच्छादित करते और इस मर्त्य शरीरको विनष्ट करते पाया जिसे उन्होंने भौतिक आच्छादनके रूपमें अनुभव किया था। बाइबलके बहुत सारे दूसरे पदोंकी तरह इस पदके भी अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं और इसमें अतिभौतिक अनुभवकी ही बात कही गयी हो सकती है। शरीरके रूपांतरका भाव विभिन्न परम्पराओंमें आता है, किन्तु

मुझे कभी यह पूरा निश्चय नहीं हुआ कि उसका अर्थ इस जड़वस्तुमें ही परिवर्तन होनेसे था। इस इलाकेमें कुछ समय पहले एक योगी थे जिन्होंने इसकी शिक्षा दी थी किन्तु वह भी परिवर्तनके संपूर्ण हो जानेपर ज्योतिमें विलीन हो जानेकी आशा करते थे। वैष्णव दिव्य शरीरकी बात कहते हैं जो संपूर्ण सिद्धिके होनेपर इस शरीरका स्थान ले लेगा। परन्तु, फिर, क्या वह दिव्य भौतिक या अतिभौतिक शरीर है; साथ ही यह अनुमान करनेमें कोई बाधा नहीं है कि ये सारे भाव, संबोधि-स्फुरण, अनुभव यदि ठीक-ठीक शारीरिक रूपांतरकी बात नहीं कहते तो उसकी ओर संकेत तो करते ही हैं।

*

* *

इस विषयपर कल्पना करनेवालोंमें बहुतोंका यह विचार रहा हे कि भावी जातिका शरीर ज्योतिर्मय शरीर होगा और इसका अर्थ रेडिओ-ऐक्टिव शरीर हो सकता है। परन्तु साथ ही इन बातोंको भी विचारमें लेना है कि:–

1) अतिमानसिक शरीरको अवश्य ही ऐसा शरीर होना चाहिए जिसमें शरीरकी क्रियाओं और जड़से जड़ तत्त्वके संबंधमें उसकी प्रतिक्रियाको भी चेतना निर्धारित करती है और फलतः ये अभीके ज्ञात रूपकी जड़ अवस्था या नियमोंपर पूर्ण निर्भर नहीं करतीं, और

2) स्थूल प्रक्रियाकी अपेक्षा सूक्ष्म प्रक्रिया अधिक सबल होगी, अतः अनिर्दे सूक्ष्म क्रिया वह कार्य कर सकेगी जिसके लिए अभी स्थूल परिवर्तनकी, उदाहरण के लिए बढ़े हुए तापकी, आवश्यकता होगी।

*

* *

यदि चेतना शरीरगत स्थूल क्रिया और प्रतिक्रियाको निर्धारित नहीं कर सकती यदि उसे भिन्न आधारकी आवश्यकता हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि इस भिन्न आधार को भिन्न साधनसे तैयार करना होगा। किस साधन से ? स्थूल साधनसे ? पुराने योगियोंने शारीरिक तपस्यामें लगकर, दूसरोंने अमृत आदिकी खोजमें लगकर ऐसा करनेकी चेष्टा की थी। इस योगके अनुसार, उच्चतर शक्ति एवं चेतनाकी क्रियाके

उन्मेष होना है, और इसमें अग्निकी सूक्ष्म क्रिया सम्मिलित है, और इसे शरीरको तैयार करना है और उसे अपनी वर्तमान (नियम कही जानेवाली) आदतोंमें जड़े रहनेके स्थानपर चित्-शक्तिके प्रति अधिक संवेदनशील बनाना है। परन्तु भिन्न आधारकी रचना तो अतिमानसिक क्रियासे ही हो सकती है। अतिमानसके आधारका निर्धारण अतिमानसको छोड़कर कौन कर सकता है?

*

* *

मेरा कोई बात टालनेका इरादा नहीं था। उस प्रश्नका उत्तर मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं दे सकता था कि मैं अभीतक यह नहीं जानता कि परिवर्तित शरीरका रसायनिक संघटन क्या होगा। इसीलिये मैंने कहा था कि इसमें अनुसंधानकी आवश्यकता है।

मैं इस विषयपर बस अपने इस सदाके विचारको व्यक्त कर रहा था कि अतिमानसिक सत्ता ही अपने शारीरिक आधारकी रचना करेगी। यदि तुम्हारा अभिप्राय यह हो कि अतिमानसिक सत्ता अपनी परिपूर्ति वर्तमान प्रक्रियाओंवाले वर्तमान शरीरमें नहीं कर सकती तो यह बात सच है। यह स्पष्ट है कि इन प्रक्रियाओंको बदलना होगा। शरीरका संघटन कहाँ तक और किस दिशामें बदला जायगा यह अलग प्रश्न है। जैसा मैंने कहा था वह तुम्हारी बातके अनुसार रेडिओ-ऐक्टिव हो जा सकता है : थेओं (श्रीमांके गुह्यविद्या शिक्षक) ने इसे तेजोमय शरीर कहा था। किन्तु इन सारी बातोंके कारण अतिमानसिक सत्ताका वर्तमान शरीरमें परिवर्तनके लिए क्रिया करना असंभव नहीं हो जाता। वर्तमानमें मेरी आशा इसी ओर है।

निस्सन्देह एक विशेष आरम्भिक रूपांतर वैसे ही आवश्यक है जैसे कि चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतर अतिमानसिक रूपांतरसे पहले आता है। परन्तु यह तो स्थूल चेतनाका परिवर्तन है जो नीचे, शरीरके कोशाणुओंतककी निमज्जित चेतनामें होगा जिससे कि वे उच्चतर शक्तियोंको प्रत्युत्तर दे सकें और उन्हें प्रवेश दे सकें और प्रक्रियाओंमें भी कुछ परिवर्तन या कमसे कम एक अधिक नमनीयता आय। भोजन आदिके नियम विघ्नोंको कमसे कम कर देकर इसमें सहायता देनेको अभिप्रेत हैं। इसमें शरीरके रसारनिक संघटनके परिवर्तनकी बात कहाँ तक आती है यह मैं नहीं कह सकता। मुझे ऐसा अभी भी लगता है कि जो कोई भी तैयारी-रूपी परिवर्तन क्यों न हों, उन्हें पक्का और सम्पूर्ण तो अतिमानसिक शक्तिकी क्रिया ही कर सकती है।

क्रमविकास

13/15

विषय सूची

1. क्रमविकास (1) 229
2. क्रमविकास (2) 236
3. क्रमविकासकी प्रक्रिया 244
4. निश्चेतन 249
5. भौतिकवाद 257
6. भाग्य और स्वतन्त्र इच्छा 270
7. कर्मकी उलझन 274
8. योग और मानव-विकासक्रम 277
9. मनुष्य एक मध्यवर्तिनी सत्ता 281
10. दिव्य अतिमानव 288

क्रमविकास (1)

क्रमविकासकी शक्तिका तत्त्व क्या है? उसका दायरा क्या है? जगत्‌में उसका क्रियान्वयन कैसे होता है?

क्रमविकासका सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दिकी विचारधाराका प्रधान सुर रहा है। उसने उसके सारे विज्ञान और उसकी विचारवृत्तिको ही स्पर्श नहीं किया, अपितु उसकी नैतिक प्रकृति, उसकी राजनीति और उसके समाजको भी सबल रूपसे प्रभावित किया है। उसके बिना जीवन तथा विश्वके विषयमें भौतिकवादी भावनाकी वह पूरी विजय नहीं हो सकती थी जो अभी प्रयाण कर रहें युगकी सामान्य विशिष्टता रही है और कुछ कालतक सुनिश्चित होनेका दावा करनेवाली विजय रही है, न ही इस महापरिवर्तनके उपपरिणामोंके रूपमें धार्मिक अन्तर्भावके ह्रास और प्राचीन धार्मिक विश्वासोंके विखण्डन जैसी महत्त्वपूर्ण बातें हो सकती थीं। समाज और राजनीतिमें इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिके नैतिक भावके स्थानपर क्रमविकासका भाव आसीन हुआ और फलत: सामाजिक विचार तथा सामाजिक प्रगतिमें भौतिकवाद आ गया, आदर्शवादी मानवके स्थानपर आर्थिक मानवकी विजय हो गयी। आनुवंशिकताका वैज्ञानिक सिद्धान्त, विचारधर्मी मानव-पशुका उद्‌भव हालमें होनेका सिद्धान्त, यह प्रचलित विचार कि जीवनके लिये संघर्ष सर्वव्यापी है, और प्रतियोगिताकी सहजवृत्तिके अतिरंजित विकासको इस विचारसे मिली सहायता, सामाजिक अवयव-संस्थानका विचार और आर्थिक समाजवादके विपरीत विकासको तथा स्वतंत्र व्यक्तिपर संगठित राज्यशासन या जनसमुदायकी बढ़ती विजयको इस विचारसे मिली सहायता,——ये सब उस एक ही स्रोतके निःस्राव हैं।

जगत्-विषयक भौतिकवादी दृष्टिकोण अब तेजीसे धराशायी हो रहा है और उसके साथ-साथ क्रमवैकासिक सिद्धान्तका भौतिकवादी प्रतिपादन भी अवश्य विलुप्त होगा। आधुनिक यूरोपीय विचार चकरानेवाली तेजीसे प्रगति कर रहा है। यदि उसकी प्रेक्षण-निष्ठा और श्रमपूर्ण प्रणालीबद्धकरणकी प्रवृत्तिमें जर्मन गुण है तो उसका एक दूसरा, केल्टिक-यूनानी पहलू भी है, उसका नमनीयता और सचलताका, द्रुत परिवर्तनके लिये तत्परताका, अतोषनीय जिज्ञासाका स्वरूप भी है। उसका यह स्वरूप एक ही विचार, एक ही प्रणालीको बहुत लम्बे समयतक सुरक्षित साम्राज्य नहीं

परिवर्तनके लिये तत्परताका, अतोषनीय जिज्ञासाका स्वरूप भी है। उसका यह स्वरूप एक ही विचार, एक ही प्रणालीको बहुत लम्बे समयतक सुरक्षित साम्राज्य नहीं बनाये रखने देता; उसे प्रश्न करने, चुनौती देने, वर्जन करने, फिरसे घड़ने, नये तथा विरोधी सत्यका आविष्कार करने, अन्य परीक्षणोंमें जा पड़नेकी उतावली रहती है। प्रश्न करनेकी इस मनोवृत्तिने क्रमविकासके सिद्धान्तके केन्द्रपर अभी आक्रमण नहीं किया है, परन्तु उसे नया रूप और अर्थ देनेके लिये उसकी तैयारी दृष्टिगोचर हो रही है।

क्रमविकासके विषयमें सामान्य विचार यह था कि परवर्ती क्रममें आनेवाली वस्तुओंके प्रत्येक रूप या अवस्थाकी उत्पत्ति उसके पूर्ववर्ती रूप या अवस्थासे हुई थी, उसका प्राकट्य पूर्ववर्तिनी अवस्थाओं और पूर्ववर्तिनी प्रवृत्तियों द्वारा तैयार की गयी, यहाँ तक कि आवश्यक कर दी गई सम्भावनाके बहिर्प्राकटच या प्रसारणकी प्रक्रिया द्वारा हुआ। रूपके अन्दर उसी रूपका बीज नहीं जो उसे पुनरुत्पन्न करता है, उस सम्भव नये रूपका बीज भी रहता है जो उससे भिन्न होता है। आनुक्रमिक प्रगतिसे नीहारिकामेंसे एक जगत्-मंडल विकसित होता है, निवासके लिये अयोग्य रहनेवाले मंडलमें निवासयोग्य ग्रह प्रकट होता है, अबतक अज्ञात रहनेवाली प्रक्रिया द्वारा जड़मेंसे जीवद्रव्यवाला प्राण उन्मज्जित होता है, कम विकसित जीव-संस्थानमेंसे अधिक विकसित जीव-संस्थान उपजाता है। मत्स्य कीटका वंशज है, दोपाये और चौपायेका इतिहास मत्स्यतक वापस जाता है, मनुष्य वानरजातिका चौपाया है जिसने दो पैरोंपर खड़े होकर चलना सीख लिया है और अपने-आपको अपनी नयी जीवन-पद्धति तथा प्रगतिके लिये अनुपयुक्त रहनेवाले लक्षणोंसे बरी कर लिया है। जड़में स्थित शक्ति वह अचेतन देवी है जिसने ये चमत्कार अपने अनुकूलनके अन्तर्निहित तत्त्व द्वारा और जीव-संस्थानमें आनुवंशिकताके अतिरिक्त साधन द्वारा कार्यान्वित किये हैं; प्राकृतिक वरणके फलस्वरूप उन वर्गोंकी वंशवृद्धि और अस्तित्वमें बने रहनेकी सम्भावना होती है जो परिवेशके प्रति अनुकूलन द्वारा विकसित और अतिजीविताके अनुकूल नये लक्षणोंकी पुनरुत्पत्ति करते हैं; अन्य वर्ग जीवनकी दौड़में पीछे पड़ जाते और विलुप्त हो जाते हैं।

एक समय ये ही प्रमुख विचार थे, परन्तु अब इनमेंसे कुछपर और ऐसोंपर प्रश्न उठाया जा रहा है जो सबसे कम महत्वपूर्ण नहीं। 'जीवनके लिये संघर्ष' का विचार अब संशोधित और अस्वीकृत तक होनेको है; यह प्रस्थापना की जाती है कि यह विचार डारविनके मतका, कमसे कम, जनसामान्यने डारविन मतको जैसा समझ रखा है उस मतका यथार्थ अंग नहीं है। यह संशोधन जीवनके मूलमें अहंभावके तत्त्वके साथ-साथ प्रेमके तत्त्वकी खोज करनेवाली, पुनरुज्जीवित होती नैतिक तथा आदर्शवादिनी

प्रवृत्तियोंको दी गई रियायत है। आनुवंशिकताके व्यापारमें अनुसन्धान करनेवालोंके ये निष्कर्ष कि अर्जित वैशिष्ट्य भावी वंशजोंमें संचारित नहीं होते और यह सिद्धान्त भी समान रूपसे महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रमुखत: पूर्व-प्रवणताएँ ही विरासतमें मिलती हैं; कारण, इस संशोधनसे विकासक्रमकी प्रक्रियाका रूप कम भौतिक और यांत्रिक होने लगता है, उसका मूल और उसकी चालिका शक्तिका आसन उस तत्त्वमें चले जाते हैं जो जड़के अन्दर कमसे कम भौतिक, अधिकसे अधिक अ-भौतिक है। अन्तमें, आकस्मिक और द्रुत प्रस्फोटनों द्वारा विकास होनेका यह नया सिद्धान्त विकासके धीमे-धीमे और क्रमश: होनेके प्रथम विचारको चुनौती दे रहा है, और हम पुन: एक प्रत्यक्ष उपरितलीय यांत्रिकता और सर्वपर्याप्त भौतिक अनिवार्यताकी भावनामेंसे निकलकर ऐसी गहराइयोंमें पहुँचते हैं जिनका रहस्य मापना अभी भी बाकी है।

ये संशोधन, वस्तुत:, अपने-आपमें मूलगत नहीं होंगे। इनका महत्त्व इसमें है कि ये भौतिकवादिनी लहर द्वारा निमज्जित प्राचीन विचारोंके नये रूपोंमें होनेवाले महापुनरुत्थानके समकालिक हैं। प्राणवादके मत, विचारकी आदर्शात्मिका प्रवृत्तियाँ, जिनके बारेमें यह सोचा गया था कि उनका भौतिक विज्ञानके अभियानमें वध हो चुका है, अब फिर उठ रही हैं, अधिकारका दावा करती हैं और वैज्ञानिक सामान्यीकरणके प्रन्येक परिवर्तनमें अपना विवरण पाती हैं जिससे उनके अपने विस्तरण तथा पुन:प्रतिष्ठापनका ही मार्ग खुलता है। तो, सम्भवतया वे कौन सी बातें हैं जिनमें भविष्यकी विशालतर और जटिलतर विचारणा क्रमविकासके सिद्धान्तको अपर्याप्त पायगी और वह सिद्धान्त तत्त्वभूत परिवर्तन स्वीकार करनेको बाध्य होगा?

पहली बात यह है क्रमविकासका भौतिकवादी सिद्धान्त इस सांख्य प्रतिष्ठापनसे प्रारम्भ करता है कि सारा जगत् अनिर्दिष्ट जड़मेंसे प्रकृति-शक्ति द्वारा होता विकास है, परन्तु वह साख्यके निष्क्रिय पुरुषका बहिष्कार करता है। अतएव उसकी कल्पनामें जगत् एक प्रकारका स्वचलित यत्र है जो किसी प्रकार घटित हो गया है। कोई बुद्धिशाली कारण नहीं है, कोई लक्ष्य नहीं है, अस्तित्वका कोई हेतु नहीं है, वरन् केवल एक स्वचलित फैलाव और सम्मिलन है, लक्ष्यकी ओर साधनके ज्ञान या अभिप्रायसे विहीन आत्म-अनुकूलन है। यह इस सिद्धान्तका पहला विरोधाभास है और इसे यदि मानव-मन द्वारा अन्तिम रूपसे स्वीकार्य होना है तो इसके औचित्यको अभिभावक और निर्णायक होना होगा।

फिर, यदि अनिर्दिष्ट जड़में स्थित शक्ति ही विश्वका सारा आरम्भ और सारी सामग्री हो, वह शक्ति पुरुषके बिना हो, तो मन, प्राण तथा चेतना जड़मेंसे ही उत्पन्न विकास, यहाँ तक कि जड़के व्यापार ही हो सकते हैं। वे अपने-आपमें वस्तुएँ बिलकुल

नहीं हो सकते, जड़से भिन्न नहीं हो सकते, उससे स्वतंत्र होनेकी सम्भावना तो बिलकुल नहीं हो सकती। यह दूसरा विरोधाभास है और वह स्थल है जहाँ यह सिद्धान्त अपनी स्थापना करनेमें अन्ततः विफल हो गया है। ज्ञानकी प्रगति इस दृष्टिकी ओर अधिकाधिक लिये जा रही है कि ये तीनों शक्तिके विभिन्न रूप हैं, प्रत्येककी अपनी विशिष्टताएँ औंर अपनी कार्य-पद्धति है, प्रत्येककी अन्यपर प्रतिक्रिया होती है और इस संम्पर्कसे उसके रूपोंकी समृद्धि होती है।

एक इस विचारका उदय भी होने लगा है कि सृष्टि एकी नहीं, त्रिधा है,—अन्नमयी, प्राणमयी और मनोमयी; उसे मानों तीन लोकोंका मिश्रण कहा जा सकता है जो परस्पर अन्तर्विद्ध हैं। हम वापस अपने निवासके त्रिलोकके प्राचीन वैदिक विचारपर पहुँचते हैं। और हम न्यायतः यह पूर्वानुमान कर सकते हैं कि उसके चालनका इस नये दृष्टिकोणसे परीक्षण कर चुकनेपर यह प्राचीन वैदिक ज्ञान समर्थन पायगा कि सबके अन्दर एक ही 'विधान' और 'सत्य' कार्य कर रहा है, परन्तु जिस माध्यममें कार्य चल रहा है उस माध्यम और उसके प्रधान तत्त्वके अनुसार बहुत भिन्नतया निरूपित होता है। सारे लोकोंमें देवगण वे ही हैं, और वे अभिन्न तत्त्वभूत नियमोंको बनाए रखते हैं, परन्तु उनके कार्यके रूप और रीतियाँ भिन्न होती हैं और नित्य विशालतर परिणामोंकी ओर नियोजित होती हैं।

यदि सत्य यह है तो विकासक्रमकी क्रिया जैसी मानी जाती है उससे वह भि ही होगी। उदाहरणके लिये, जड़में प्राणका विकास जड़तत्त्व द्वारा नहीं, प्रत्युत ए ऐसे प्राणतत्त्व द्वारा उत्पन्न और शासित हुआ होगा जो जड़की अवस्थाओंमें और उन कार्य कर रहा होगा और उनपर स्वकीय नियमों, अन्तर्वेगों, आवश्यकताओं आरोपित कर रहा होगा। जड़तत्त्वसे भिन्न एक शक्तिमान् प्राण है जो जड़में औ उसपर कार्य करता है, इस विचारका यूरोपकी आगे बढ़ी विचारणामें प्रमुख हो आरम्भ हो गया है। एक उससे भी अधिक शक्तिमान् मन है जो प्राणमें और उन कार्य करता है; यह दूसरा विचार अभी तक पर्याप्त मार्ग नहीं बना पायां है, क्यों मनके नियमोंका अनुसन्धान अभी भी टटोलती शैशवावस्थामें है।

फिर, भौतिकवादी सिद्धान्तमें भौतिक अनिवार्यताकी एक कठोर शृंखला मा होती है; प्रत्येक पूर्वगामिनी अवस्था इतनी सारी व्यक्त शक्तियों और अवस्थाओं सहयोजन होती है; प्रत्येक परिणामिनी अवस्था उसका व्यक्त परिणाम होती है सारा रहस्य, अननुमेयका सारा तत्त्व, विलुप्त हो जाता है। यदि हम पूर्वगामि अवस्थाओंका पूरा विश्लेषण कर सकें और उनका सामान्य नियम खोज ले सकें हम परवर्ती परिणामके विषयमें वैसे ही निश्चित हो सकते हैं जैसे ग्रहण या भूकम्प

बातोंमें। कारण, सबकुछ अभिव्यक्ति ही है जो पूर्वगामिनी अभिव्यक्तिका तर्कसंगत परिणाम होती है।

एक बार फिर हम देखते हैं कि निष्कर्ष अति सरल तथा पैना है, जब कि जगत् अधिक संश्लिष्ट है। प्रत्यक्ष कारणोंके अतिरिक्त वे कारण भी हैं जो अव्यक्त या प्रच्छन्न हैं और हमारे विश्लेषणके अन्तर्गत नहीं आते। हम ज्यों-ज्यों अस्तित्वके सोपानपर चढ़ते हैं यह तत्त्व बढ़ता जाता है; इसकी व्याप्ति जड़की अपेक्षा प्राणमें अधिक फैली हुई है, प्राणकी अपेक्षा मनमें अधिक स्वतंत्र है। यूरोपीय विचारणामें सारी व्यक्त क्रियाशीलताके पीछे एक अव्यक्तकी स्थापनाकी प्रवृत्ति आ चुकी है, उस अव्यक्तको बौद्धिक अभिरुचिके अनुसार निश्चेतन या अवचेतन कहा जाता है जो उपरितलीय अस्तित्वकी तुलनामें अधिक चीजें समाए रखता है और, हमारे लिये अधिक अग्राह्य रहनेवाली विधिसे, अधिक जानता और अधिक देख सकता है। इस अव्यक्तमेंसे व्यक्तका सतत उन्मज्जन होता है।

हम पुनः एक प्राचीन सत्यकी ओर वापस जाते हैं जो वैदिक मुनियोंको ज्ञात ही था,—वह उनका यह प्रत्यय है कि सत्ताका एक निश्चेतन या अवचेतन समुद्र है, वस्तुओं-का हृदय-समुद्र है जिसमेंसे लोक अपनी रचना करते हैं। परन्तु वेद एक शासक और स्रष्टा अतिचेतनको भी मानता है; विकासक्रमके व्यापारोंमें व्याप्त एक प्रच्छन्न चेतना तथा ज्ञानके आभासकी व्याख्या इस अतिचेतनसे हो जाती है और वह अतिचेतन ही उन व्यापारोंके पीछे रहनेवाला स्वयं-क्रियमाण 'विधान' और 'सत्य' है।

भौतिकवादी विकासक्रमका सिद्धान्त स्वभावतः इस विचारकी ओर ले गया कि प्रगति धीमे-धीमे और क्रमशः सीधी रेखामें हुई है। प्रत्यगमन, पुनर्जानुरूपता, और प्रतिक्रियाके चक्कर और टेढ़े मेढ़े घुमाव जिनसे सीधी रेखा मुड़ जाती है,—इन सबको यह सिद्धान्त मानता है, परन्तु यदि हम कालकी छोटी अवधियोंको छोड़कर युगावधियोंके सहारे देखें तो ये चीजें अवश्य ही गौण होंगी, शायद ही दृश्यमान् होंगी। यहाँ भी अधिक पूरा ज्ञान पहलेसे प्राप्त धारणाओंमें उलट-पुलट करता है। मनुष्यके इतिहासमें हर चीज अब इस ओर इंगित करती लगती है कि गम्भीर रूपके प्रत्यावर्तन होते रहे हैं, प्रगतिके युग आये हैं, पीछे हटनेके युग आये हैं, इन सबसे मिलकर क्रम-विकासका निर्माण होता है जो एक ही सीधी रेखामें न होकर बल्कि चक्रीय होता है। मानव-सभ्यताके चक्रोंका मत प्रतिपादित किया गया है, हम अब भी मानव-क्रमविकासके चक्रों, हिन्दू मतके कल्पों तथा मन्वन्तरोंके सिद्धान्तपर पहुँच सकते हैं। उसका जगत्-अस्तित्वके चक्रोंका मत यदि मान्य होनेसे और भी दूर है तो इसका कारण यह है कि उनकी अवधियाँ इतनी विस्तृत होंगी कि वे चक्र केवल हमारे अवलोकन-साधनसे ही परे नहीं,

वरन् हमारे निगमन या निश्चित अनुमानके सारे साधनोंसे परे होंगे।

एक धीमें, अटूट और ब्यौरेवार श्रेणीक्रमके स्थानपर अब यह प्रस्तावित किया जा रहा है कि क्रमविकासके नये डग बल्कि द्रुत और आकस्मिक प्रस्फोटनों द्वारा, मानों अव्यक्तमेंसे अभिव्यक्तिके फूट निकलने द्वारा भरे गए हैं। क्या हम कहेंगे कि प्रकृति पर्देके पीछेसे धीमे-धीमे तैयारी करती हुई, कुछ पीछेकी ओर कार्य करती हुई, कुछ आगेकी ओर करती हुई, एक दिन बाह्य वस्तुओंके ऐसे सम्मिलनपर पहुँचती है जो उसके लिए यह सम्भव करता है कि वह अपने नये भावको आकस्मिक रूपसे, उग्रतामें, एक भव्य डग भरकर, एक महिम अरुणोदयको लाकर संसिद्ध रूप देदे? और इसमें प्रकृतिकी बार-बारके पतनकी, लम्बे समयसे मृत वस्तुओंको पुनः प्रगट करनेकी क्रिया-रीतिकी व्याख्या भी हो जाती है। वह एक अमुक तात्कालिक परिणामका लक्ष्य रखती है और वहाँतक अधिक शीघ्रतासे और पूरी तरह पहुँचनेके लिये वह अपनी अभिव्यक्तियोंमेंसे बहुतोंका बलिदान करती है और उन्हें प्रच्छन्नमें, अव्यक्तमें, अवचेतनमें वापस फेंक देती है। परन्तु उसने उनके साथ अन्तिम रूपसे नहीं बरत लिया है; उसे किसी अन्य भूमिकामें किसी आगेके परिणामके लिए उनकी आवश्यकता होगी। अतएव वह उन्हें फिर आगे लाती है और वे चीजें नए रूपोंमें और अन्य सम्मिलनोंमें पुनः प्रकट होती और नये लक्ष्योंकी ओर कार्य करती हैं। क्रमविकास ऐसे ही आगे बढ़ता है।

और प्रकृतिका भौतिक साधन? वह केवल जीवनके लिए संघर्ष ही नहीं है। बल्कि वास्तविक विधान, अब यह कहा जाता है, पारस्परिक सहायता या, कमसे कम, पारस्परिक समायोजन है। यह सच है कि संघर्ष होता है, पारस्परिक विनाश भी होता है, किन्तु एक गौण गतिधारा, एक लाल चिह्नित अप्रधान तंत्रीके रूपमें, और उसमें तीक्ष्णता केवल तब आती है जब पारस्परिक समायोजनकी गतिधारा विफल हो जाती है और एक नये प्रयत्न, एक नये सम्मिलनके लिये पर्याप्त स्थान बनाना होता है।

अर्जित विशिष्टताएँ आनुवंशिकता द्वारा संचारित होती हैं, यह स्थापना अतीव उतावली और पूरेपनके भावसे की गयी थी; अब वह शायद अति संक्षिप्त रूपमे वर्जित किए जानेके संकटमें है। केवल जड़तत्त्व ही नहीं, वरन् जड़पर कार्य करते प्राण और मन भी क्रमविकासके निर्धारणमें सहायता करते हैं। आनुवंशिकता आन्तरात्मिक पुनरुत्पत्तिकी, नये रूपोंमें प्राण एवं मनके पुनर्जन्मकी भौतिक छाया मात्र है। सतत तत्त्व अथवा आधारके रूपमें, साधारणतया पुनरुत्पत्ति उसकी होती है जो विकसित हो चुका था; नई विशिष्टताएँ जातिमें संचरित हों इसके लिये आवश्यक है कि प्राणलोक और मनोलोकमें उन्हें स्वीकार किया गया हो, ग्रहण किया गया हो, अनुमोदन दिया

गया हो; केवल तभी वे भौतिक बीजमें स्वचलित रूपसे स्वतः पुनरुत्पन्न हो सकती हैं। अन्यथा वे निजी और व्यक्तिगत अर्जन होती हैं, राजकोषमें, अवचेतनके कोषमें वापस कर दी जाती हैं और परिवारकी सम्पत्तिमें नहीं जुड़तीं। जब मनोलोक और प्राणलोक तैयार होते हैं, ये चीजें योग्य पात्रोंपर मुक्त रूपसे उँड़ेली जाती हैं। यही कारण है कि विरासतमें प्रमुखतः पूर्वप्रवणता ही मिलती है। पहले भौतिक तत्त्वमें स्थित चैत्यिक और प्राणिक शक्ति इसकी छाप पाती है; जब ऐसा पर्याप्त पैमानेपर हो चुकता है तब वह एक सर्वसामान्य नवप्रस्थानके लिये प्रस्तुत होती है और एक परिवर्तित आनुवंशिकता प्रकट होती है।

इस प्रकार विकासक्रमका सारा दृश्य बदलने लगता है। अनिदिष्ट जड़तत्त्वमेंसे प्रकृति-शक्ति द्वारा यांत्रिक, क्रमिक और अनम्य विकासक्रमके स्थानपर हम अतिचेतन ज्ञान द्वारा होते एक चेतन, नमनीय, लचीले, तीव्र-विस्मयकारी और सतत-नाटकीय विकासक्रमके बोधकी ओर बढ़ते हैं जो वस्तुओंको जड़, प्राण तथा मनमें अगाध निश्चेतनमेंसे प्रकट करता है जिसमेंसे उनका उदय होता है।

"आर्य," अगस्त 1915

क्रमविकास (2)

आत्माके दृश्य और अदृश्य उपकरणोंका क्रमिक विकास ही पार्थिव प्रकृतिक समूचा विधान है; वही पार्थिव प्रकृतिकी सत्ता और प्रक्रियाके अन्य सारे मूल्यों अंतर्निहित मूलभूत सारतत्त्व भी है और उन्हें उनका सच्चा अर्थ देता है।

आत्माने अपने-आपको अचेतन जड़तत्त्वमें छिपा रखा है। वह अपने लि सर्वप्रथम, और ऐसा लगता है कि यही उसकी एकमात्र धुन है, भौतिक शक्तियों क्रियासे जड़तत्त्वके आकारोंको विकसित करता है। जब यह कार्य पर्याप्त मात्रा हो चुकता है, केवल तभी वह प्राणमय जीवनकी बात सोचता है।

और, फिर भी, जड़तत्त्वमें और उसकी शक्तियोंमें अवचेतन प्राण तथा उसक अवरुद्ध शक्तियाँ बराबर ही मौजूद थीं और जड़तत्त्वके उन रूपोंमें भी वे विद्यमान हैं जो ऊपरसे अत्यंत निर्जीव प्रतीत होते हैं।...

तत्पश्चात् आरम्भ हुआ मुक्त मन:शक्तियोंकी क्रिया द्वारा अनेक रूपोंमें मनक विकास। जड़तत्त्वमें निहित उन प्राणशक्तियोंमें और स्वयं जड़तत्त्वमें भी मन प्रसु था। मुक्त मन:शक्तियोंकी क्रिया द्वारा जीवंत आकारमें मनका विकास ही इस कहान का तीसरा अध्याय था। यह तीसरा अध्याय अभी पूरा नहीं हुआ है, और वह कथाक अंत भी नहीं होगा।

*

* *

पार्थिव प्रकृतिका क्रमविकास समाप्त नहीं हुआ है क्योंकि उसने अभिव्य प्रकृतिमें निहित चेतनाके सात स्तरोंमेंसे केवल तीनकी शक्तियोंको ही प्रकट कि है। उसने अपनी प्रतीयमान निश्चेतनामेंसे केवल मन, प्राण और जड़तत्त्वकी तं शक्तियोंको ही व्यक्त किया है।

जड़तत्त्वमें स्थित प्राणमेंसे मन प्रकट होता है; वह सीधे भौतिक आकार प्रकट होनेमें असमर्थ है। वह उसमें विद्यमान अवश्य है किन्तु वहाँ निश्चेतना औ जड़ताकी एक मौलिक शक्तिकी निद्रावस्थामें यांत्रिक ढंगसे कार्य करता है। ज

तत्त्वकी निश्चेतनासे हमारा मतलब बस यही होता है, इससे अधिक कुछ भी नहीं; कारण, यद्यपि चेतना वहाँ होती है किन्तु वह होती है संवृत, निर्जीव, अपनी क्रियामें यांत्रिक, और वह शक्तिकी क्रियाओंको अपनी आन्तरिक उपस्थितिसे सहारा देती है, अपनी सक्रिय बुद्धिकी ज्योति द्वारा नहीं। यही कारण है कि जड़ प्रकृति अत्यंत ऊँची और आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ताके कार्य तो करती है किन्तु फिर भी वहाँ किसी अंतःस्थ द्रष्टा या विचारकका हस्तक्षेप दृष्टिगोचर नहीं होता।

आकाश और भौतिक देश एक ही चीजके भिन्न-भिन्न नाम हैं। देश, यदि अपने विश्वगत स्वरूपमें नहीं तो अन्ततः अपने मूलमें, चेतनाके सत्तत्त्वका एक ऐसा विस्तार है जिसमें ऊर्जा सत्ताके साथ सत्ताके या शक्तिके साथ शक्तिके संबंधोंके लिये और ऐसे प्रतीकात्मक आकारोंके निर्माणके लिये गतिशील हो सकती है जो इस आदान-प्रदानके आधार बन सकें। आकाश वह देश है जो भौतिक शक्तिके कार्यों और उसके द्वारा सृष्ट प्रतीकात्मक आकारोंको धारण करता है; विरोधभासमयी किन्तु उपयुक्त उक्तिमें कहा जा सकता है कि आकाश अभौतिक या सार भौतिक वस्तु है।

(1)

क्रमविकास पृथ्वी-प्रकृतिका अद्वितीय और शाश्वत सक्रिय नियम और उसकी गुप्त प्रक्रिया है।

जड़तत्त्वके माध्यममें आत्माके उपकरणोंका क्रमिक विकास ही पार्थिव सत्ताके मूल्योंका सारा मूलभूत तात्पर्य है। पार्थिव अस्तित्वके अन्य सारे नियम-विधान उसकी क्रिया और प्रक्रियाके मूल्य हैं; यह आध्यात्मिक क्रमविकास ही उसका अपना व्यापक निगूढ़ अर्थ है।

पृथ्वीका इतिहास सबसे पहले जड़ शक्तियोंकी क्रियाके फलस्वरूप सुसंगठित आकारोंका विकास है।

इस प्रारंभिक अवस्थाके बाद आता है आकारके भीतर प्राणका विकास और विमुक्त प्राण-शक्तियोंकी क्रियाके फलस्वरूप जीवंत आकारोंके एक क्रम-सोपानकी रचना। उसके बादका चरण है जीवंत शरीरोंमें मनका विकास और विकसित होती मनःशक्तियोंकी प्रक्रिया द्वारा अधिकाधिक चेतन जीवनोंका संगठन। पर यही अंत नहीं है; कारण, मनके परे भी चेतनाकी उच्चतर शक्तियाँ हैं जो अपनी पारीकी प्रतिक्षा कर रही हैं और इस महान् लीलामें उनका अपना भाग होगा ही, इस सृजनात्मक लीलामें उनका हिस्सा होगा ही।

जड़तत्त्व इस सारे क्रमविकास माध्यम है और वह ऊपरसे देखनेमें निश्चेतन और निष्प्राण है; परन्तु वह हमें ऐसा केवल इस कारणसे लगता है कि हम अपनी

पहुँचके अन्दर आनेवाले एक विशिष्ट सीमित क्षेत्र, एक सुनिश्चित पैमाने या स्वरग्रामके बाहरकी चेतनाका बोध पानेमें असमर्थ होते हैं। हमारे नीचे निम्नतर प्रदेश हैं जिनका बोध हमें नहीं होता और इन्हें हम अवचेतन या निश्चेतन कहते हैं। हमारे ऊपर हैं उच्चतर क्षेत्र जो हमारी निम्नतर प्रकृतिके लिये अग्राह्य, अतिचेतन हैं।

जडतत्त्वकी कठिनाई संपूर्ण निश्चेतना नहीं, बल्कि तमसाच्छन्न चेतना है जो उसकी अपनी ही क्रियाओंसे सीमित है,—वह अस्पष्ट रूपमें, मूल रूपमें, अंधतामें आत्म-अभिज्ञ है, अपने स्व-आकार और स्व-शक्तियोंसे बाहरकी किसी भी चीजके प्रति वास्तवमें संवेदनशील नहीं है। उसकी बुरीसे बुरी अवस्थामें भी हम उसे जितना निर्ज्ञानकी स्थिति कह सकते हैं उतना निश्चेतनाकी नहीं। इस निर्ज्ञानत्वके भीतर एक महत्तर और फिर उससे भी महत्तर चेतनाका जागरण ही जड़तत्त्वके विश्वव चमत्कार है।

जड़तत्त्वकी यह निर्ज्ञानावस्था एक अवगुंठित, संवृत या निद्राचारिणी चेतना है जिसके भीतर आत्माकी सारी शक्तियाँ बीजरूपमें विद्यमान हैं। जडतत्त्वके प्रत्येक कण, अणु-परमाणु, कोषके भीतर शाश्वत ब्रह्मकी सारी सर्वज्ञता और अनंत ब्रह्मकी सारी सर्वशक्तिमत्ता गुप्त रूपसे रहती और अज्ञात रूपसे कार्य करती है।

आकारों और शक्तियोंका क्रमविकास, जिसके द्वारा जड़तत्त्व तबतक अधिकाधिक सचेतन होता जायगा ज़बतक कि वह आकार प्राण और मनके परे जाकर, दिव्य संवित् के द्वारा, शाश्वत और अनंत आत्माको उसके उच्चतम स्वलोकमें नहीं जान ले, यही पार्थिव अस्तित्वका तात्पर्य है। जड़तत्त्वमें ईश्वरका मंथर स्वाभिव्यक्तिशील जन ही पार्थिव लीलाका अभिप्राय है।

जड़तत्त्व एक साथ ही शक्ति है और द्रव्य भी। जड़तत्त्व परमाणविक विभाजनमें मूर्त्त मूल सत्ता अथवा ब्रह्म है। जड़तत्त्व आत्म-विस्मृततिपूर्ण निर्ज्ञानतामें अध्यात्मतत्त्वकी शक्तियोंकी अंधकारपूर्ण संवृत स्थितिमें क्रियाशील की गई मूल द्रव्य शक्ति ब्रह्मशक्ति है। जड़-शक्ति जड़ द्रव्यको, भौतिक शक्ति भौतिक ब्रह्मको ऐसे ऐसे आकार में ढालती है जो उसकी अपनी ही अत्यन्त विशिष्ट शक्तियोंको अभिव्यक्त करनेवाला होता है। जब यह कार्य पूरा हो जाता है तब भौतिक जगत् जड़द्रव्यकी शक्तिचालित तामसिकताके अन्दर सचेतन प्राणके वैभवपूर्ण आगमनके लिये तैयार हो जाता है।

जड़तत्त्व एकमात्र शक्ति नहीं, एकमात्र द्रव्य भी नहीं। कारण, प्राण, मन और जो मनके परे है, वे भी शक्तियाँ हैं और द्रव्य भी, परन्तु हैं दूसरे प्रकार और दूसरी श्रेणीके। अध्यात्मतत्त्व ही मूल शक्ति-द्रव्य है; ये दूसरे सबके सब अध्यात्म-तत्त्वकी शक्तिके ही विभिन्न प्रकार और व्युत्पत्तियाँ हैं, अध्यात्मतत्त्वकी विभिन्न मात्राएँ और परिवर्तन

रूप हैं। जड़तत्त्व भी अध्यात्मतत्त्वकी ही शक्ति और मात्राके अलावा और कुछ नहीं। जड़तत्त्व भी ब्रह्मका द्रव्य है।

जिस जड़तत्त्वको हम देखते और अनुभव करते हैं वह केवल अत्यंत बाह्य कोष और आवेष्टन है; उसके पीछे भौतिक द्रव्यकी अन्य सूक्ष्मतर श्रेणियाँ हैं जो आणविक निर्ज्ञानत्वसे कम घनीभूत हैं और जिनमें प्राण, मन और अन्य शक्तियोंके लिये प्रवेश करना और कार्य करना अधिक आसान है। यदि इस स्थूल दृश्यमान् भौतिक जगत्‌को सहारा देने वाले सूक्ष्मतर अदृश्य भौतिक स्तर या परतें न हों तो यह जगत् रह ही नहीं सकता, क्योंकि तब अध्यात्मतत्त्व और जड़तत्त्वके बीच होनेवाले आदानप्रदानकी बारीक क्रियाएँ बिलकुल नहीं चल सकती थी जब कि इन क्रियाओंके कारण ही स्थूलतर दृश्यमान् क्रियाओंका होना संभव होता है। तब क्रमविकास असंभव हो जाता; प्राण, मन और मनसे आगेके तत्त्व भौतिक जगत्‌में प्रकट होनेमें असमर्थ होते।

सत्ताका एकमात्र यह भौतिक लोक ही नहीं है जिसे कि हम देखते हैं, बल्कि एक भौतिक प्राणलोक भी है जो प्रकृतिकी भौतिक क्रियाका अपना है। फिर एक भौतिक मनोलोक है जो प्रकृतिकी मनोमयी भौतिक क्रियाका अपना है। फिर एक भौतिक अतिमानसलोक भी है जो प्रकृतिकी अतिमानसिक भौतिक क्रियाका अपना है। इनके अतिरिक्त भौतिक अध्यात्मशक्ति या अनंत भौतिक सत्-चित्शक्ति-आनन्दका भी एक लोक है जो प्रकृतिकी आध्यात्मिक-भौतिक क्रियाओंका अपना है। जब हम प्रकृतिके तथा अपनी भौतिक सत्ताके इन सारे लोकोंको ढूँढ़ निकालेंगे और उन्हें एक-दूसरेसे अलग कर सकेंगे और लीलामें उनका जो कुछ योगदान है उसके समन्वित रूपका विश्लेषण कर सकेंगे, केवल तभी हम इस बातका पता पा सकेंगे कि निश्चेतन जड़तत्त्वमें प्राणमयी, मनोमयी और अध्यात्ममयी चेतनाका क्रमविकास किस तरह संभव हो सका।

पर इससे भी अधिक कुछ और है; भौतिक सत्ताकी इन अनेक परतोंके परे दूसरी अतिभौतिक कोटियाँ हैं, प्राणके बहुतसे स्तर, मनके अनेक स्तर, अतिमानस, आनन्द, चित्शक्ति और असीम सत्ताके लोक हैं जिनपर भौतिक सत्ता अपनी उत्पत्ति और निर्वाहके लिये निर्भर करती है। ये उच्चतर लोक ही उन अदृश्य ऊर्जाओंको निरंतर प्रकट करते रहते हैं जिन्होंने भौतिक सत्ताके क्रमविकासको उस अंधकारसे जहाँ यह विकास शुरू हुआ था, चेतनाकी उस ज्योतिकी जगमगाहटकी ओर ऊपर उठाया है जिसके सामने उच्चतम मानव-मन बस एक वैसा ही क्षीण प्रकाश मालूम होगा जैसा कि पूर्ण जाज्वल्यमान सूर्यके सामने जुगनूका प्रकाश मालूम होता है।

अंधतम जड़तत्त्व और अत्यंत ज्योतिर्मय ब्रह्मके बीच चेतनाके स्तरोंका यही

विपुल क्रमसोपान है। जड़तत्त्वमें विद्यमान चेतनाको इस क्रमके बिल्कुल अंति सिरेपर चढ़ जाना होगा और वह उच्चतम शिखर हमें जो कुछ देना चाहता है उ सबको लेकर उसे वापस आना होगा, तभी यह क्रमविकास अपने उद्देश्यको पूर्ण चरितार्थ कर सकेगा।

जड़, प्राण, अतिमानस या विज्ञान, और इन सबके परे परम सत्-चित-श आनन्दकी चतुर्विध शक्ति,——ये ही हैं निश्चेतनासे अतिचेतनामें होनेवाले क्रमविका आरोहणकी सीढ़ियाँ।

पृथ्वीमें प्राण सरासर कहीं बाहरसे नहीं आता; उसका मूल तत्त्व भौतिक वस्तु में बराबर ही विद्यमान रहता है। परन्तु जड़तत्त्वकी आपातदृश्य निष्प्राण तामसि में बंदी रहनेके कारण वह उनकी क्रियाओंसे सीमित होता और अपना स्वतंत्र या प्रभा अस्तित्व अभिव्यक्त करनेमें असमर्थ होता है।

प्राण मिट्टीमें, पत्थर, धातु और हवामें, अणुपरमाणु और विद्युतकणमें, भौ शक्ति और आकारके उपादान होनेवाले अन्य अधिक सूक्ष्म और अभी तक अ रहती शक्तियों और कणोंमें विद्यमान है, वह प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान है, पर आ उसकी उपस्थितिका पता मुश्किलसे ही चलता है; उसका संगठन बस भौतिक शक्ति प्रक्रियाओं, रचनाओं और रूपान्तरोंको गुप्त रूपसे सहारा देनेके लिये हुआ होता है वह जड़ पदार्थके आकारको तैयार करने और प्रकट करनेके लिये, न कि प्राणकी अ व्यक्तिके लिये, संवृत शक्तिके रूपमें वहाँ विद्यमान रहता है। उसका अपने-आ अधिकार नहीं होता, वह आकारके अन्दर आत्मचेतन नहीं होता, स्वाभिव्य ओर प्रेरित नहीं होता; स्वतंत्र कार्यकर्त्ता नहीं अपितु निःसहाय औजार और यंत्र हो कारण वह जड़-तत्त्वका सेवक और आकारका दास होता है, गृहस्वामी नहीं।

परन्तु इस भौतिक जगत्के ऊपर एक प्राणप्रधान लोक है जो इस भौतिक ज पर दबाव डालता है और अपने प्ररूपों, सामर्थ्यों, शक्तियों और प्रेरणाओंमेंसे जि ढालना सम्भव होता है उन सबको इस स्थूल जगत्में ढालता है, सर्जनशील दे अभिव्यक्ति करता है। जब भौतिक जगत्में आकार तैयार हो जाता है तब इस उ लोकके देवता और जीवन-दानव जड़तत्त्वको अपना सृजनात्मक स्पर्श देनेके आकर्षित होते हैं। तब आता है प्राणके द्रुत गतिसे और एकाएक खिल उठनेका और पेड़-पौधे, कीटाणु, कीड़े-मकोडे और पशु प्रकट होते हैं। एक समय जो जड़ निष्प्राण द्रव्य प्रतीत होता था उसीके अन्दर प्राकट्य होता है प्राणात्मा, प्राण और प्राणशक्तिकी अनेक तथा निरन्तर अधिक जटिल होती जाती क्रियाओं प्राणात्मा, प्राण-मन और पशु-अस्तित्वकी उत्पत्ति होती है और उनका विकास हो

हैं; एक नया जगत् प्रकट होता है जो जड़तत्त्वके इस जगत्में पैदा होता और इसीमें समाया रहता है और फिर भी अपने सच्चे सक्रिय स्वभावमें इसका अतिक्रमण करता है।

(2)

इस दृश्यमान् और व्यक्त जगत्का रहस्य है निश्चेतन जड़तत्त्वमें अतिचेतन आत्माकी संवृति और इस पृथ्वीकी पहेलीकी कुँजी है निश्चेतन प्रकृतिके भीतरसे इस अतिचेतनका क्रमविकास। पार्थिव जीवन एक महान् ईश्वरका स्वय-निर्वाचित निवास-स्थान है और उन ईश्वरकी युग-युगकी इच्छा है इसे अंध कारागारसे अपने भव्य प्रासाद और उच्च स्वर्ग-स्पर्शी मंदिरमें रूपांतरित करनेकी।

इस जगत्में स्थित परमात्माका स्वरूप है एक अक्षर स्थिरता, एक शाश्वत अस्तित्व जो बाहरी क्षर रूपोंको ओढ़ लेता है, एक असीम चेतनाकी अविभाज्य ज्योति जो अनन्तविध ब्योरों और टटोलते ज्ञानमें खंडित हो जाती है, एक सर्वशक्तिमान् शक्तिकी असीम्य गतिविधि जो स्वयं-आरोपित सीमाओंमें अपने आश्चर्योंको कार्यान्वित करती है, एक अपरिमेय आनन्दकी शांति और आह्लाद जो अपने ही सर्वग्राही और आत्मग्राही उल्लासके वहिर्मुख और अंतर्मुख तीव्र भावोंके हिल्लोरों और लय-तालोंको उत्पन्न करता है। यही हमारे चतुर्विध अनुभवका भी स्वरूप तब होगा जब वह हमारे अन्दर अपने शुद्ध, अनावृत स्वरूपमें कार्य करेगा, और यदि आरम्भसे ही वह अभिव्यक्ति इस प्रकार हो गई होती तो फिर पार्थिव जीवनकी कोई समस्या ही नहीं रही होती।

परन्तु यहाँ जो यह नारायण हैं, हमारे भीतर या हमसे बाहर सारी वस्तुओं, शक्तियों और प्राणियोंमें विद्यमान, यह नारायण रवाना हुए निश्चेतन प्रकृतिमें संवृतिसे और उन्होंने आरम्भ किया अपने प्रतीयमान विरोधी तत्त्वोंसे। असत्, विच्छिन्नता और शून्यतामें एक अंधी निश्चेतन शक्तिका प्राकट्य, उस शक्तिकी सृष्टियोंमें कठोर श्रम, दुःख-कष्ट और वेदनाका तत्त्व : इन्हीं विरोधी तत्त्वोंमेंसे अपने पराक्रम, प्रकाश, आनंत्य और आनन्दको क्रमशः विकसित करनेका कार्य जड़तत्त्वमें विराजमान अध्यात्म-सत्ताने चुना है।

(3)

कोई भी क्रमविकास होनेसे पहले भगवान्की संवृतिका हुआ होना अति आवश्यक है। नहीं तो कोई क्रमविकास नहीं होगा, बल्कि ऐसी नयी-नयी चीजोंकी क्रमवर्तिनी सृष्टि होगी जो अपनी पूर्ववर्तिनी वस्तुओंमें विद्यमान नहीं होंगी, न उनके किसी धारा-क्रममें होनेवाले अनिवार्य परिणाम या प्रक्रियाएँ होंगी, बल्कि किसी अव्याख्येय दैव-योग, किसी ठोकर खाती शुभ शक्ति या किसी बाहरी स्रष्टाकी मनमाने ढंगसे इच्छित या अद्भुत ढंगसे कल्पित चीजें होंगी। इस सबको बदलना है।

पार्थिव रूपायण और सृजनकी दीर्घ प्रक्रिया, प्राणका अस्पष्ट चमत्कार, एक प्रतीयमान विशाल अज्ञानके भीतर प्रकट और वर्द्धित होने और वहाँ व्याख्याता, स्रष्टा और स्वामीके रूपमें राज्य करनेके लिये मनका संघर्ष, एक ऐसी महत्तर वस्तुके संकेत जो मनके ससीम चमत्कारको पार कर आत्माकी असीम अद्‌भुतताओंमें चली जाती है- ये दैवयोगके अर्थहीन और आकस्मिक क्षण - स्थायी परिणाम नहीं, ये किसी अंधी जड़शक्तिकी सौभाग्य-लीला भी नहीं। ये बातें केवल किसी ऐसी शाश्वत और दिव्य वस्तुके कारण ही हैं और हो सकती हैं जो जड़तत्त्वकी शक्ति और रूपके अन्दर छिप गई है।

पार्थिव क्रमविकासका गुप्त रहस्य है इस अंतर्हित और अंतर्वर्ती आत्माकी मंथर और प्रगतिशील मुक्ति, किसी ऐसी वस्तु या ऐसे व्यक्तिका दुष्कर आविर्भाव जो आधार-दायी द्रव्यकी पहली साकार नींवमें संवृत होकर विद्यमान है और जिसकी क्रमशः उन्मज्जित होनेवाली महत्तर गतियाँ जड़तत्त्वकी प्राथमिक अभिव्यंजना - शक्तिके भीतर बंदी हैं।

चिंतनशील और विज्ञासु मनुष्य यहाँ हो नहीं सकता था यदि वह किसी ऐसे सर्वचेतन अनंतका मूर्तिमान अंश न होता जो उससे ऊपर अतिचेतन है परन्तु जड़ विश्वकी निश्चेतनामें भी छिपा पड़ा है।

जड़तत्त्व क्रमविकासका दृश्यमान् प्रारंभ तो है किन्तु उसका अंत नहीं। आकार-का विकास क्रमविकासकी प्रक्रियाका सबसे महत्त्वपूर्ण या सबसे अर्थपूर्ण अंग नहीं वह उस चीजका चिह्न तो है जो की जा रही है पर वह उसका सारतत्त्व नहीं। भौतिक आकार अध्यात्मा-सत्ताकी प्रगतिशील अभिव्यक्तिका आधार और साधन मात्र है।

यदि सब कुछ संयोग हो या निश्चेतन अथवा परिणामहीन शक्तिका खेल, तो फिर कोई कारण नहीं कि अपनी सारी अपूर्णताओंसे युक्त मनुष्य अचेतन बुद्धिके इस करामातका या इस बेतरतीब चमत्कारका अंतिम शब्द क्यों न हो। चूँकि दिव्यात्मा यहाँ अपनी अभिव्यक्तिमें विद्यमान हैं, अतः सृष्टिस्पंद का अर्थ यह है कि जड़तत्त्वसे रवाना होनेवाली इस क्रमधारामें एक नयी शक्ति अवश्य प्रकट होगी।

यदि किसी अपूर्व उपयोगिता और चरम गभीर और प्रेरक तात्पर्यके प्रथम चिह्नके रूपमें प्राणतत्त्व प्रकट नहीं हुआ होता तो भौतिक जगत् अद्‌भुत मरुभूमिका उजाड़ विस्तार ही होता। परन्तु यदि प्राणमें चेतनाकी व्याख्या करनेवाली या, कमसे कम, खोज करनेवाली कोई ऐसी शक्ति नहीं छिपी होती जो प्राणकी शक्तियों और विधाको अधिकृत करने और उन्हें उनके अपने संसिद्ध परिणामकी ओर ले जानेके लिये उनकी ओर मुड़ सकती है, तो अकेला प्राण भी ऐसी गतिधारा होता जिसका उसके

उद्देश्यपूर्ण प्रारंभके साथ कोई सिलसिला नहीं होता अथवा जिसमें उसके अपने रहस्यको प्रकट करनेके लिये प्रकाश नहीं होता।

चूँकि यह अनंत आत्मा और शाश्वत देवत्व यहाँ जड़ प्रकृतिकी क्रियामें प्रच्छन्न है, इसलिये मनसे परेकी शक्तिका विकास केवल संभव ही नहीं, अनिवार्य है। यदि सब कुछ वैश्व दैवयोगका परिणाम होता तो उस शक्तिका आविर्भाव वैसे ही आवश्यक न होता जैसे कि जड़तत्त्वके यांत्रिक भँवरमें लड़खड़ानेवाली और प्रयास करनेवाली प्राणचेतनाको किसी भी आकुलकारी आविर्भावकी आवश्यकता नहीं होती। और यदि सब कुछ यांत्रिक शक्तिका कार्य होता तब भी प्रकृतिके स्थूलतर प्रथम यंत्रके साथ व्यवहार करनेका प्रयास करनेवाले उच्चतर यंत्रके रूपमें मनके भी अप्रत्याशित रूपमें प्रकट होनेकी आवश्यकता नहीं होती और अतिमानस तो एक और भी अधिक अनावश्यक वस्तु और दीप्त औद्धत्य होता। अथवा, यदि कोई ससीम, प्रयोगकर्त्ता और बाहरी स्रष्टा इस विश्वका आविष्कारक होता तो फिर कोई कारण न होता कि वह मनतक आकर ही अपने प्रयासकी निपुणतासे संतुष्ट होकर रुक न जाय। किन्तु चूँकि भगवान् यहाँ संवृत हैं और उन्मज्जित हो रहे हैं,अत: यह अनिवार्य है कि उनकी सारी शक्तियाँ या उनकी शक्तिकी सारी कोटियाँ एक-एक करके तबतक प्रकट होती जायँ जबतक कि उनका सारा गौरव मूर्तिमान् और दृष्टिगोचर न हो जाय।

क्रमविकासकी प्रक्रिया

क्रमविकासके किसी भी पर्वके अन्तमें सामान्यत: यह होता है कि जिन चीजोंको विकासके क्षेत्रसे बाहर निकल जाना है वे सब एकबार फिर प्रबलतासे होती हैं। यह प्रकृतिका नियम है कि मानवतामें विद्यमान किसी प्रबल प्रवृत्ति गहरे जमे संस्कारसे छुटकारा पानेके लिये, वह प्रवृत्ति और संस्कार चाहे हो या व्यष्टिमें, पहले उसे भोगसे थकाना होता है और, अन्तमें जब वह दुर्बल हो तो, संयम अर्थात् निराकरण या सम्बन्ध-विच्छेद द्वारा उससे छुटकारा पाना होता निग्रह और संयममें भेद यह है कि पहली प्रक्रियामें उस प्रवृत्तिकी सत्यताकी कोई तक नहीं पूछी जाती, उसे दबा देने, बलात् नियन्त्रित करने और, यदि सम्भव हो कुचल देनेके लिये उग्र संघर्ष किया जाता है, परन्तु दूसरी प्रक्रियामें उसे मर चुकी मर रही शक्तिके रूपमें अनुभव किया जाता है, उसके यदाकदा लौट आनेको घृणासे, फिर अधीरतासे देखा जाता है, अन्तमें, उसे उदासीनतासे उस कभी रहनेवाली परन्तु अब महत्त्वशून्य हो गई प्रवृत्तिकी प्रेतछाया, अवशेष या हल्की नाई देखा जाता है। इस प्रकारका लौट आना उस अवांछनीय और लुप्त हो राशिसे छुटकारा पानेके लिये प्रकृतिकी पद्धतिका अंग है।

जब तक कोई शक्ति, गुण या प्रवृत्ति अपने शैशवमें हो या जोर पर हो, और जब उसे उस भोग और पूरी सक्रियताकी प्राप्ति न हो चुकी हो जो उसका उचित ग्राह्य है, तब तक संयम असामयिक और निष्फल होगा। यदि कोई वस्तु उत्पन्न हुई उसकी जवानी, वृद्धि, भोग, जीवन और अन्तिम क्षीणता तथा मृत्यु अवश्य यदि प्रकृति अपनी सृष्टिको कोई संवेग देती है तो वह आग्रह करती है कि वह वेग होनेसे पहले प्राकृतिक परिक्लान्तिकी विधिसे अपने-आपको खर्च करे। वृद्धि वेगको असमय बलपूर्वक रोक देना निग्रह है; यह कुछ समयके लिये सफल हो है किन्तु सदाके लिये नहीं। गीतामें कहा है कि सब वस्तुएँ अपनी प्रकृतिसे होती हैं, अपनी प्रकृतिमें ही लौट जाती हैं, निग्रह निरर्थक है। निग्रहसे होता कि असमय बलप्रयोगसे मार दी गयी चीज वस्तुत: मरती नहीं, बल्कि कुछ लिये उस प्रकृतिमें पीछे लौट जाती है जिसने उसे आगे भेजा था, वहाँ अत्यधिक संचित कर लेती है और जिस वैध भोगसे उसे वंचित कर दिया गया था उसके

क्षुधातुर होकर असाधारण उग्रता लेकर वापस आती है। जब हम योगके मार्गपर पहले-पहल पग रखते हैं तो अपने वुरे संस्कारोंसे छुटकारा पानेके प्रयत्नोंमें हमें यही बात मिलती है। यदि हमारी प्रकृतिमें क्रोध प्रवल तत्त्व है, तो हम उसे थोड़े समयके लिये कोरे बल-प्रयोगसे दबा सकते हैं और इसे आत्मनियंत्रण तो कह सकते हैं, परन्तु अन्तमें अतृप्त प्रकृति हमें हरा देगी और उस आवेगका विकार आश्चर्यजनक शक्तिके साथ अप्रत्याशित क्षणमें हमपर लौट आयगा। केवल दो तरीके हैं जिनसे हम हमें दास बनानेकी चेष्टा करते विकारको प्रभावी रूपसे जीत सकते हैं। एक है प्रतिस्थापन-की रीति; जब कभी विकार उठे तब उसके वदले विरोधी गुणका स्थापन,——क्रोधके स्थानपर क्षमा, प्रेम या सहिष्णुताके विचारोंको, लालसाके स्थानपर पवित्रताके मननको, अभिमानके स्थानपर नम्रता और अपने अवगुणों या अपनी नगण्यताके विचारोंको ले आना। यह राजयोगकी विधि है परन्तु यह कठिन, धीमी और अनिश्चित विधि है; प्राचीन परम्पराएँ और योगका आधुनिक अनुभव दोनों ही यह दिखाते हैं कि जिन लोगोंने लम्बे वरसोंतक उच्चतम आत्म-प्रभुता प्राप्त कर रखी थी वें उस चीजकी उग्रतापूर्ण वापसीसे सहसा आश्चर्यचकित रह गये जिसे उन्होंने मृत या सदाके लिये वशवर्ती समझ लिया था। परन्तु यह प्रतिस्थापन-रीति यद्यपि धीमी है, तथापि वह प्रकृतिकी सर्वसामान्यतम विधियोंमेंसे है और अधिकतर इस उपायसे ही,—— और इसे वहुधा अनजानमें या जान-अनजानमें प्रयुक्त किया जाता है,——मनुष्यका चरित्र जीवन-जीवनांतरमें या एक ही जीवन-अवधिमें भी वदलता और विकसित होता है। यह विधि चीजोंको उनके वीजतक नष्ट नहीं करती, और जिस बीजको योगसे जलाकर राख नहीं कर दिया जाता, वह फिर फूट निकलने और संपूर्ण तथा सबल वृक्षके रूपमें पनप उठनेमें सदा समर्थ रहता है। दूसरी रीति है विकार-का भोग करने देनेंकी, ताकि उससे जल्दी छुटकारा हो जाय। जब वह अति भोगसे तृप्त और श्रान्त हो जाता है, तो वह दुर्वल और भुक्तशेष हो जाता है और उसके वाद एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो कुछ समयके लिये विरोधी शक्ति, प्रवृत्ति या गुणको स्थापित कर देती है। यदि योगी उस अवसरको निग्रहके लिये ले लेता है तो प्रत्येक उपयुक्त अवसरपर उस प्रकार दुहराया हुआ निग्रह इतना प्रभावी हो जाता है कि वह उस वृत्तिके बल और प्राणशक्तिको अंतिम संयमके प्रयोगके लिये पर्याप्त मात्रामें न्यून कर देता है। भोग और प्रतिक्रियाकी यह रीति भी प्रकृतिकी प्रिय और सार्वभौम विधि है, परन्तु वह कभी भी अपने-आपमें सम्पूर्ण नहीं होती और यदि उसे चिरस्थायी शक्तियों और गुणोंपर प्रयुक्त किया जाय तो इससे विरोधी प्रवृत्तियोंके उतार-चढ़ावके ऐसे क्रमकी स्थापनाकी सम्भावना होती है जो प्रकृतिकी क्रियाओंके लिये अत्यधिक

उपयोगी, परन्तु आत्म-प्रभुताकी दृष्टिसे व्यर्थ और अनिर्णायक होता है। यह रीति तभी प्रभाविणी होती है जब कि इसके बाद संयमका प्रयोग किया जाय। योगी वृत्ति-को केवल प्रकृतिके खेलके रूपमें देखता है जिससे उसका कोई, सम्बन्ध नहीं, जिसका वह द्रष्टा मात्र है; क्रोध, काम या मद उसका नहीं, विश्वजननीका है जो अपने ही प्रयोजनोंके लिये उसे क्रियमाण करती है और निष्क्रिय भी। तथापि, जब वृत्ति प्रबल, अधिकारशालिनी और अव्ययित होती है, तब इस मनोभावको सच्चे हृदयसे धार नहीं किया जा सकता और इसे सच्चाईसे अनुभव किये बिना बौद्धिक तौरपर ही धार करनेका प्रयत्न मिथ्याचार, मिथ्या अनुशासन या पाखंड होता है; यह तो जब वृत्ति बारबारके भोग और निग्रहसे कुछ निःसत्त्व हो चुकती है, तभी पुरुषकी आज्ञाको मानती प्रकृति अपनी स्व-सृष्टिके साथ वस्तुतः बर्ताव कर सकती है। वह उसके मा पहले वैराग्य द्वारा, वैरांग्यका घृणा-भावका जो सबसे अपरिष्कृत रूप है उसके द्वारा आती है, परन्तु यह भाव इतना उग्र होता है कि वह स्थायी नहीं हो सकता; तो भी वह वृत्तिके मूल कारणसे छुटकारा पानेकी गहरी जमी इच्छाके रूपमें अपना एक संस्कार पीछे छोड़ जाता है जो विकारके प्रत्यागमन और अल्पकालिक राज्यके बाद भी जीवित बचा रहता है। तदनंतर उसके प्रत्यागमनको अधीरतापूर्वक, किन्तु असहिष्णुताकी किसी तीव्र भावनाके बिना देखा जाता है। अन्तमें परम उदासीनता प्राप्त हो जाती है और प्रकृतिकी साधारण प्रक्रियासे प्रवृत्तिके अन्तिम निष्क्रमणका उस संयमीकी सच्ची भावनासे निरीक्षण किया जाता है जिसे यह ज्ञान रहता है कि वह साक्षी पुरु है और उसे किसी व्यापारके समापनके लिये उससे केवल अपना विच्छेद कर लेना है। उच्चतम अवस्था मुक्तिकी ओर ले जाती है, या तो लयके रूपमें जब कि वृत्ति पूरी ह और सदाके लिये विलुप्त हो जाती है, या फिर एक अन्य प्रकारके स्वातंत्र्यके रूप जब कि जीव जानता है कि यह ईश्वरकी लीला है और वह इस बातको ईश्वरपर छो देता है कि ईश्वर वृत्तिको बाहर निकाल फेंके या उसे अपने उद्देश्योंके लिये व्यवह करे। यह कर्मयोगीका मनोभाव है, उस कर्मयोगीका जो अपने-आपको परमेश्वरके हाथोंमें सौंप देता है और केवल उसीके लिये कर्म करता है, यह जानते हुए करता है कि उसमें ईश्वरकी ही शक्ति क्रियाशील है। आत्म-समर्पणके इस मनोभावका परिणाम यह होता है कि सर्वेश्वर सारा भार स्वयं ले लेते हैं और गीताके वचनके अनुसार अपने सेवक और प्रेमीको सारे पाप और बुराईसे मुक्त कर देते हैं। इस अवस्थामें वृत्तियां पुरूषपर प्रभाव डाले बिना शारीरिक यंत्रमें काम करती रहती हैं और केवल तब काम करती हैं जब कि ईश्वर उन्हें अपने प्रयोजनके लिये उभारते हैं। यह है निर्लिप्तता.

लीलाके अन्दर पूर्ण स्वतन्त्रताकी स्थिति।

समष्टिके लिये भी वही नियम है जो कि व्यष्टिके लिये। प्रेरित दृष्टिवाले चक्षुने यह देखा हे कि मानव-समाजमें क्रमविकासकी प्रक्रिया है मनुष्यमेंसे हिंस्र जीव तथा वनमानुषकी प्रकृतिको निवृत्त करनेकी । कभी मनुष्य-जातिमें क्रूरता, कामवासना, दुष्टतापूर्ण विनाश, उत्पीड़न, मूर्खता, पाशविकता और अज्ञानकी शक्तियाँ उच्छृंखल थीं, उन्होंने पूर्ण भोग प्राप्त किया; फिर धर्म और दर्शनकी उन्नतिके कारण, तृप्तिके कालोंमें, जैसा कि यूरोपमें ईसाई-युगके प्रारम्भमें था, उनका स्थान कुछ तो दूसरी चीजोंने लेना शुरू कर दिया और कुछ उन्हें नियंत्रणमें लाया जाने लगा। जैसा ऐसी चीजोंका नियम है, वे सदा ही न्यूनाधिक उग्रताके साथ फिर लौटती रही हैं और उन्होंने अपने-आपको पुन: प्रतिष्ठित करनेके लिये कम या अधिक सफलतासे चेष्टा की है। अन्तमें उन्नीसवीं सदीमें कुछ समयतक ऐसा मालूम हुआ मानों उनमेंसे कुछ शक्तियाँ, कमसे कम उस समयके लिये, नि:सत्त्व हो चुकी हों और उनके संयमका तथा विकासमेंसे क्रमश: विसर्जित हो जानेका समय वास्तवमें आ पहुँचा हो। ऐसी आशाएँ सदा ही फिर फिर बँधा करती हैं और अन्तमें उन आशाओंका चरितार्थ हो जाना भी सम्भव रहता है, परन्तु ऐसा होनेसे पहले उन वृत्तियोंका एकबार फिर लौट आना अपरिहार्य होता है। भौतिक विज्ञान, प्रगति, सभ्यता और मानवहितवादके सुन्दर बाह्य रूपकी आड़में यूरोप और अमेरीकामें पशुत्वकी ओर लौटनेकी जो प्रवृत्ति बढ़ रही है उसमें हमें इस पुनरागमनके प्रचुर चिह्न मिलते हैं; और हमारे आनेवाले युगमें सम्भवत: इसके और अधिक चिह्न मिलेंगे। राजनीति और समाजमें भी ऐसा ही नियम लागू होता है। मानवजातिका राजनीतिक विकास कुछ विशेष दिशाओंका अनुसरण करता है जिनका एक बिल्कुल नया सूत्र फ्रांसकी राजक्रांतिके आदर्शवचन "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव" ने दिया है। परन्तु पुरानी दुनियाकी शक्तियाँ, स्वेच्छाचारी शासनकी शक्तियाँ, परम्परागत विशेषाधिकार और स्वार्थपूर्ण शोषणकी शक्तियाँ, भ्रातृभाव-विहीन संघर्ष और आवेशयुक्त आत्मस्वार्थी प्रतियोगिताकी शक्तियाँ, पृथ्वीके सिंहासनपर पुन: प्रतिष्ठित होनेके लिये सदा संघर्ष कर रही हैं। एक दृढ़ प्रतिक्रियात्मक गतिधारा संसारके अनेक भागोंमें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है और ऐसा शायद उस इंगलैंडसे अधिक और कहीं नहीं हो रहा है जो कभी अपनेको प्रगति और स्वाधीनताका अगुआ समझता था। पुरानी वृत्तिकी ओर लौट जानेका प्रयत्न उन आवश्यक प्रत्यावर्तनोंमेंसे है जिनके बिना उस वृत्तिका इतनी पूरी तरहसे क्षय नहीं किया जा सकता कि वह विकासमेंसे मिट जाय। किन्तु यह वृत्ति केवल पराजित की जाने और फिर कुचली जानेके लिये ही उठ रही है। दूसरी तरफ,

जनतंत्रीय प्रवृत्तिकी शक्ति खर्च हो चुकी शक्ति नहीं, अपितु एक ऐसी शक्ति है जो अभी पूरी तरहसे प्रकट भी नहीं हुई है; वह कोई ऐसी शक्ति नहीं जो अपने भोगका अधिकांश पा चुकी हो, अपितु एक ऐसी शक्ति है जो अभी भी तेजसम्पन्न है, अतृप्त है, परिपूर्तिके लिये उत्कण्ठित है। भूतकालमें उसे दवा देनेके प्रत्येक प्रयासने आखिरकार दवानेवाली शक्तिपर प्रतिघात किया और जनतंत्रीय भावनाको नये सिरेसे भयानक, क्षुधार्त्त और अतृप्त रूप दे दिया, उसके "स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव" के सौम्य आदर्शमें "अथवा मृत्यु" का भयानक जोड़ लगा दिया। स्वाधीनताका प्रेमी जो कि अराजकताकी स्वतन्त्रता चाहता है, समानताका प्रेमी जो कि साम्यवादकी मृतप्राय समस्वरता स्थापित करनेकी कोशिश करता है, भ्रातृभावका प्रेमी जो कि विश्वव्यापी कम्युनिज्मकी कल्पना करता है – इनमेंसे किसीके भी चरम स्वप्नोंको पूरा करनेकी सम्भावना जनतंत्रीय भावनाके निकटवर्त्ती भविष्यमें नहीं है। परन्तु इस महान् आदर्शका कोई न कोई सामंजस्यीकरण अवश्य ही मानवजातिका निकटका भविष्य है। स्वेच्छाचारी शासन, असमानता और उद्दाम प्रतियोगिताकी पुरानी शक्तियोंको जब एकबार फिर उखाड़ फेंका जा चुकेगा तब उसके बाद उनपर क्रमिक संयमकी रीति बरती जायगी जिससे कि उसका जो भी अंश बचा होगा उसे मृत वस्तुके मिटते अवशेषोंकी तरह माना जायगा और किसीभावी उग्र दमनके बिना धीमे-धीमे और स्थिरतासे अस्तित्वमेंसे हटाकर रूपांतरित कर दिया जायगा।

"कर्मयोगी" 18.9.1909

निश्चेतन

ज्ञानके किसी भी विषयको देखनेमें मनकी जो पहली या उपरितलीय दृष्टि होती है वह सदा ही भ्रमपूर्ण होती है; सारा विज्ञान, सारा सच्चा ज्ञान, सतहके पीछे जाने और आन्तरिक सत्य तथा निगूढ़ नियमका सन्धान पानेसे आता है। यह बात नहीं है कि स्वयं वह वस्तु भ्रम हो अपितु यह है कि वह वैसी नहीं है जैसी वह सतहपर दीखती है। न ऐसा ही है कि हमें सतहपर दीखनेवाले क्रियाकलाप और व्यापार घटित नहीं होते, अपितु बात यह है कि वे हमारी देखनेवाली इन्द्रियोंके सामने जिस रूपमें उपस्थित होते हैं केवल उन्हींके अध्ययनसे हमें उनकी सच्ची चालकशक्ति और सम्बन्धोंका पता नहीं लग सकता।

भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें यह बात काफी साफ है और सर्वत्र स्वीकृत है। पृथ्वी चिपटी नहीं, गोल है, स्थिर नहीं, अपितु द्विविध गतिमें अटल है; सूर्य घूमता है, किन्तु पृथ्वीके चारों ओर नहीं; हमें ज्योतिर्मय लगनेवाले पिण्ड अपने-आपमें अ-ज्योतिर्मय हैं; हमारे दैनिक अनुभवकी वस्तुओं, रंग, ध्वनि, प्रकाश, वायु आदिका सच्चा स्वरूप उनके प्रतीयमान रूपसे बिल्कुल भिन्न है। हमारी इन्द्रियाँ हमें दूरी, आकार, आकृति और सम्बन्धके मिथ्या रूप दर्शाती हैं। जो पदार्थ उन्हें स्वयम्भू लगते हैं वें समुच्चय होते हैं और ऐसे सूक्ष्मतर घटकोंसे निर्मित होते हैं जिन्हें हमारी सामान्य क्षमताएँ देख नहीं सकतीं। फिर, ये भौतिक घटक एक ऐसी शक्तिके रूपायण मात्र हैं जिसे हम भौतिक नही कह सकते और जिसकी साक्षी इँद्रियोंको नहीं मिलती। तथापि, मन और इन्द्रियाँ भ्रमोंके इस लोकमें तुष्ट तथा विश्वस्त रह सकते और उन्हें व्यावहारिक सत्यके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं,––क्योंकि अमुक दूरीतक वे ही व्यावहारिक सत्य हैं और एक आरम्भिक, साधारण तथा सीमित क्रियाशीलताके लिये पर्याप्त भी।

परन्तु अमुक दूरीतक ही, क्योंकि एक विशालतर जीवन, एक अधिक प्रभुत्वशालिनी क्रिया और एक महत्तर व्यावहारिकताकी सम्भावनाएँ है जिनकी संसिद्धि इन सतहोंके पीछे जाने और पदार्थों तथा शक्तियोंके एक अधिक सच्चे ज्ञानका उपयोग करनेसे ही हो सकती है। प्रकृतिकी गुप्त क्रियाओंका आविष्कार एक सम्भाव्य आविष्कारकी ओर ले जाता है, यह सम्भावना होती है कि प्रकृतिकी शक्तियोंका और भी आगेका वैसा उपयोग किया जाय जिसतक स्वयं वह आगे नहीं बढ़ी थी, क्योंकि

उसने उन्हें जीवन-संरक्षण मात्र और उसकी सामान्य क्रियाओंके लिये आवश्यक नहीं पाया और जीवनको उन्नीत करने और जीवनकी सम्भावनाओंको विकसित करनेके लिये उन्हें खोजने और उपयोगमें लानेका काम अपने मनोमय प्राणी मनुष्यके लिये छोड़ दिया।

जड़तत्त्वके प्रदेशमें यह सब देखना आसान है परन्तु मनुष्यजाति अभी तक उसी सत्यको मनके प्रदेशमें मानने और वहाँ उसी सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिये तैयार नहीं है। यह सच है कि मनोविज्ञान आगे बढ़ा है और उसने अपनी पद्धति सुधारनी शुरू की है। पहले वह मनुष्यके अपने बारेके अज्ञानका अशोधित, पण्डिताऊ और उपरितलीय क्रमस्थापन था। उसमें सतहके मानसिक क्रियाकलापों, संकल्प, मन, इन्द्रियों, बुद्धि, विवेक आदिको शुष्क और बंजर वर्गीकरणमें जचाया गया, किन्तु उनके वास्तविक स्वभाव और पारस्परिक सम्बन्धको नहीं मापा गया, न उनका कोई ऐसा उपयोग ही किया गया जो उस सीमित क्रियाके परे जाता हो जिसे प्रकृतिने एक बहुत ही सतही मानसिक और चैत्यिक जीवनके लिये और बहुत ही सतही तथा सामान्य क्रियाओंके लिए पर्याप्त पाया था। क्योंकि हम अपने-आपको नहीं जानते, इसलिए हम अपने आत्मपरक जीवनका उन्नयन मूलतः नहीं कर सकते, हम अपने मानसिक सामर्थ्य और अपनी नैतिक प्रकृतिकी प्रच्छन्न सम्भावनाओंको प्रभुतासे, द्रुत वेगसे, सुनिश्चित विज्ञानसे विकसित करनेमें असमर्थ होते हैं। नया मनोविज्ञान वस्तुतः उपरितलीय प्रतीतियोंके पीछे बेधन करना चाहता है, परन्तु गभीरतर ज्ञानको रोकनेवाली आरम्भिक भूलोंका भार उसपर लदा होता है। ये भूलें हैं—भौतिकधर्मी भूल जो कि मनके अध्ययनको शरीरके अध्ययनपर आश्रित करती है; संशयधर्मी भूल जो कि हमारे आन्तरिक जीवनकी गुप्त गभीरताओंका कोई भी साहसी और स्पष्ट-दृष्टिशाली अनुसन्धान नहीं करने देती; रूढ़िधर्मी अविश्वास-भावना और ठिठक जो कि हमारी मानसिक और आन्तरिक प्रकृतिके सामान्य क्रियाकलापोंसे भिन्न किसी भी आन्तरिक अवस्था या अनुभवको उसी तरह अस्वस्थता या विभ्रमके रूपमें देखती है जिस तरह मध्य-युगने नव विज्ञानको जादूके रूपमें और मानवीय सामर्थ्यकी स्वस्थ और सही सीमाओंके आसुरी उल्लंघनके रूपमें देखा था; अन्तमें बहिर्वृत्तिकी भूल जिसके कारण मनोवैज्ञानिक अपने उच्चे ज्ञानक्षेत्र और अपनी प्रयोगशालाको अपने ही अन्दर पानेके बदले दूसरोंका बाहरसे अध्ययन करता है। मनोविज्ञान अवश्य ही आत्मपरक विज्ञान है और उसमें हमें आत्म-विषयक ज्ञानसे पर-विषयक ज्ञानकी ओर बढ़ना होगा।

परन्तु नए विज्ञानका जो कोई भी अनगढ़पन हो, उसने वह पहला महत्त्वपूर्ण

डग तो लिया ही है जिसके विना कोई भी सच्चा मनोवैज्ञानिक ज्ञान नहीं हो सकता; उसने वह आविष्कार किया है जो कि आत्म-ज्ञानका आरम्भ है और चेतनाके तथ्योंके सभी गभीर अध्ययन करनेवालोंको मिलेगा; और वह बात यह है कि हमारा जाग्रतावस्थाका और उपरितलीय जीवन हमारी सत्ताका अल्पांश मात्र है और इससे हमें हमारे स्वभाव, हमारी मनोवृत्ति या हमारे कर्मका मूल और रहस्य हाथ नहीं लगता। हमारे उद्‌गम और भी गहराईमें रहते हैं। उन्हें खोजना, निश्चेतन अथवा अवचेतन आत्माके स्वरूप और प्रक्रियाओंको जानना और यथासम्भव उन्हें भी वैसे ही अधिकृत तथा व्यवहृत करना जैसे कि भौतिक विज्ञान प्रकृतिकी शक्तियोंके रहस्यको अधिकृत और व्यवहृत करता है, इसे ही वैज्ञानिक मनोविज्ञानका लक्ष्य होना चाहिये।

परन्तु यहाँ हमारे सामने पहली कठिनाईके रूपमें यह समस्या आती है कि यह अन्य और महत्तर आत्मा जिसकी एक सतह और एक व्यापार ही हमारा जागृत जीवन है, अवचेतन है या निश्चेतन। और इसी बातपर मानवप्रेरणाकी सारी नियति झूलती है। क्योंकि यदि वह स्वरूपत: ही निश्चेतन है तो हम अपने-आपको उसकी गहराइयोंके प्रच्छन्न प्रकाशसे आलोकित करनेकी आशा नहीं कर सकते – क्योंकि वहाँ प्रकाश है ही नहीं,——न ही हम उसके बलका रहस्य पाने और उसे स्वाधिकारमें रखनेकी आशा कर सकते हैं। दूसरी ओर यदि वह अवचेतन है, अर्थात यदि वह एक प्रच्छन्न चेतना है जो हमारे उपरितलीय आत्माकी अपेक्षा गभीरतर, महत्तर, सबलतर है, तो स्वाभिवर्द्धनका अन्तहीन क्षितिज हमारे सामने खुल पड़ता है और मानवजाति अनन्त सम्भावनाओंकी ओर आगे बढ़ती है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण तथा अवलोकन दो भिन्न-भिन्न रेखाओंपर आगे बढ़े हैं, उन रेखाओंका मिलन-स्थल अभी तक नहीं मिला है। एक ओर मनोविज्ञानने भौतिक विज्ञानके आविष्कारों और मूलभूत सिद्धान्तको अपने आरम्भबिन्दुके रूपमें लिया है और शरीर-विज्ञानकी धाराके रूपमें कार्य किया है। नाना भौतिक विज्ञान निश्चेतन जड़में कार्य करती निश्चेतन शक्तिके अध्ययन हैं : इस सूत्रको सारे अस्तित्वका आधार माननेवाला मनोविज्ञान चेतनाको निश्चेतनपर क्रिया करते निश्चेतनका गोचर परिणाम ही मानेगा। मन केवल स्नायविक प्रतिक्रियाओंका परिणाम और मानों उनका प्रतिलेख है। सच्चा आत्मा निश्चेतन है; मन:क्रिया उसके गौण व्यापारोंमें एक है। निश्चेतन चेतनसे महत्तर है; वही वह देव, वह जादूगर, वह स्रष्टा है जिसकी क्रिया चेतन मनोवृत्तिकी आकांक्षापूर्ण परन्तु बड़ी भूल करती क्रियाकी अपेक्षा कहीं अधिक निर्भूल है। वृक्ष अपनी अधिक सीमित क्रियामें मनुष्यकी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूपसे निर्देशित होता है; इसका कारण ठीक यह है कि वह आकांक्षा-

रहित होकर प्रकृतिके अनुसार रहता है और निश्चेतनके हाथमें निष्क्रिय है। मन प्रवेश करता है क्रियाशीलताका क्षेत्र विस्तृत करनेके लिये, परन्तु भूलों और विकृतियोंको, प्रकृतिके विरुद्ध विद्रोहको, निश्चेतन आत्माके सहजवृत्तिधर्मी निर्देशनके परित्यागको बहुगुणित करनेके लिये भी, जिनके फल-स्वरूप मानव-जीवनमें अज्ञान, मिथ्यात्व तथा दु:ख-कष्टका वह महा तत्त्व उत्पन्न होता है जिसका उपालम्भ वैदिक कविने अनृतस्य भूरे: कहकर दिया है।

तो यह आशा किसमें है कि मन अपनी भूलोंको ठीक करेगा और अपनेको वस्तुओंके सत्यानुसार निर्देशित करेगा ? आशा है विज्ञानमें निश्चेतनकी शक्तियों तथा क्रियाओंके बुद्धियुक्त अवलोकन, व्यवहार और प्रवर्त्तनमें। केवल एक ही उदाहरण लें,—निश्चेतन आनुवंशिकताके नियमसे कार्य करता है और यदि उसे अपने ऊपर छोड़ दिया जाय तो वह अच्छे तथा स्वस्थ प्ररूपोंकी उत्तरजीविता सुनिश्चित करनेके लिये त्रुटिहीन रूपसे कार्य करता है। अपने सामाजिक जीवनकी मिथ्या अवस्थाओंमें अवनतिके संचरण और स्थायीकरणके लिये मनुष्य आनुवंशिकताका अपव्यवहार करता है। हमें आनुवंशिकताके नियमका अध्ययन करना होगा, एक सुजननिकी विज्ञान विकसित करना होगा और उसे बुद्धिमत्ता तथा कठोरतासे काममें लेना होगा – जिससे वह बुद्धि द्वारा उस परिणामको सुनिश्चित करे जो निश्चेतनके सहजवृत्तिमूलक अनुकूलन द्वारा निश्चित रहता है। हम देख सकते हैं कि यह विचार और यह भाव हमें कहाँ ले जायँगे, —— अर्थात, मानव-मन द्वारा विकसित भावावेगयुक्त तथा आध्यात्मिक आदर्शवादके स्थानपर एक शुष्क, बृद्धियुक्त, जड़वादी आदर्शवादकी प्रतिष्ठाकी ओर, और मनुष्यजातिके सुधारका प्रयत्न प्रतिभाकी गभीर प्रेरणा और सबल चरित्र तथा व्यक्तित्वकी सुनम्य अभीप्साको छोड़कर वैज्ञानिक विशेषज्ञकी कठोर यांत्रिकता द्वारा करनेकी ओर। किन्तु, यदि यह चेतन मनकी एक दूसरी भूल ही हो, तो क्या होगा? यदि वह भूल और रोग, प्रकृति-द्रोह और प्रकृति-व्यतिक्रम, स्वयं ही गभीर निश्चेतनकी बुद्धियुक्त और निर्भूल योजनाका अंग, आवश्यक अंग हों, और यह इतना सारा मिथ्यात्व एक महत्तर सत्य और अधिक उन्नत सामर्थ्यतक पहुँनेका साधन ही हो, तो क्या होगा? यह तथ्य कि स्वयं प्रतिभा जो कि हमारी विकसित होती चेतनाका सर्वोच्च परिणाम है इतनी बार किसी रोगग्रस्त शाखामें पुष्पित होती है, एक ऐसा व्यापार है जिससे अशान्तिकर संकेत उठते हैं। सुनिश्चित विज्ञानका स्पष्ट मार्ग उत्तम मार्ग हो, यह आवश्यक नहीं; वह प्राय: आगेके महत्तर तथा गभीरतर ज्ञानके विकासमार्गमें बाधा बनकर खड़ा हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानकी दूसरी रेखापर परम्परागत विज्ञान अभी भी भौं सिकोड़ता हैं, परन्तु डाक्टरोंके अभिशापके बावजूद भी वह समृद्ध हो रही है और अपने परिणाम दे रही है। वह हमें मनके अनुसन्धानकी उप-राहोंमें, संमोहन (हिप्नोटिज्म), मेस्मरिज्म, गुह्यविद्या और हर प्रकारकी विचित्र मनोवैज्ञानिक टोहकी ओर ले जाती है। अवश्य ही उनमें स्थूल-भौतिक पद्धतिकी सुनिश्चित स्पष्टता और दृढ़ आधार-वाली प्रत्यक्षवादिताकी कोई चीज नहीं है। फिर भी तथ्य प्रकट हो रहे हैं और तथ्यों के साथ एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल रहा है,——यह निष्कर्ष कि हमारे सतही जाग्रत् मनके पीछे एक अवगूढ आत्मा है जो निश्चेतन नहीं, चेतन है, जाग्रत मनसे महत्तर है, विस्मयकारी क्षमताओंसे सम्पन्न है और एक बहुत अधिक निश्चित क्रिया और अनुभवके लिये समर्थ है, सतही मनके प्रति चेतन है, यद्यपि सतही मन उसके प्रति निश्चेतन है। और तब एक प्रश्न उठता है। यदि वस्तुतः कोई निश्चेतन हो ही नहीं, अपितु सर्वत्र एक प्रच्छन्न चेतना हो जो बल और बुद्धिमत्तामें पूर्ण हो और जिसका पहला धीमा, झिझकता और अपूर्ण प्रदर्शन मन हो और जिसका प्रतिरूप हो उठना मानव-मनके प्रगतिशील विकासकी नियति हो तो? कमसे कम यह सामान्यीकरण कोई कम प्रमाण्य नहीं होगा और हम जितने भी तथ्य अभी जानते हैं उनकी व्याख्या इसके द्वारा जड़वादी सिद्धान्तके अन्धे और निरुद्देश्य नियतिवादकी अपेक्षा बहुत अच्छी तरह होगी।

इस रेखापर मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानको आगे बढ़ानेमें हम केवल उसीका पुनरारम्भ कर रहे होंगे जिसे हमारे सुदूर पितामह कर चुके हैं। कारण, वे पितामह भी अवलोकन करना, परीक्षण करना, वस्तुओंकी सतहसे नीचे देखना आरम्भ करते ही यह देखनेको बाध्य हुए थे कि सतहका मनुष्य केवल एक रूप और एक प्रतीति है और सच्चा आत्मा अत्यन्त महत्तर और अधिक गभीर वस्तु है। वे भी विज्ञान तथा दर्शनके पहले जड़वादी पर्वोंमेंसे गुजरे होंगे; कारण, ऐत्तरेय उपनिषदमें हम पढ़ते हैं कि भौतिक जगत् तथा शरीरकी प्राप्ति करनेपर पुरुष अपने-आपको पूछता है, "यदि वचन वाणीसे है और जीवन श्वाससे, यदि दृष्टि चक्षुसे है, श्रवण कानोंसे और विचार मनसे, यदि संक्षेप-में सत्ताके सारे प्रतीयमान क्रियाकलापोंकी व्याख्या प्रकृतिके स्वयंक्रिय व्यापारोंसे हो सकती है, "तो मैं क्या हूँ?" और उपनिषद् आगे कहती है "उसनें जन्म पाकर केवल भौतिक तत्त्वोंकी क्रियाको पहचाना, क्योंकि उसके सामने विवाद तथा निर्णयके लिये उसके अतिरिक्त था ही क्या?" तथापि, अन्तमें "उसने इस चित्-पुरुषको देखा जो निरा विस्तृत होता ब्रह्म है और उसने अपने-आपको कहा, "अब मैंने वस्तुतः देख लिया है।" इसी तैत्तिरीय उपनिषद्में भृगु वारुणि ब्रह्मपर ध्यान करते हुए पहले इस निष्कर्षपर

आते हैं, "अन्नं ब्रह्मम्," जड़ ब्रह्म है, और उसके उपरान्त ही यह आविष्कार करते हैं कि प्राण ब्रह्म है,–इस प्रकार अस्तित्वके जड़वादी सिद्धान्तसे उठकर प्राणवादी सिद्धान्तपर आते हैं जिसकी ओर अभी यूरोपीय विचारधारा उठ रही है,—उसके बाद यह आविष्कार करते हैं कि मन ब्रह्म है, तदनन्तर यह कि ज्ञान ब्रह्म है – इस तरह सत्य-की संवेदनात्मिका तथा आदर्शात्मिका उपलब्धिकी ओर उठते हैं,—और अन्तमें अस्तित्वके आनन्दको ब्रह्मवत् देखते हैं। वहाँ वह अन्तिम आध्यात्मिक उपलब्धिमें मनुष्य द्वारा प्राप्त ज्ञानके सर्वोच्च निरूपणमें ठहर जाते हैं।

अतएव चेतन, न कि निश्चेतन, वह सत्य था, जिसतक प्राचीन मनोविज्ञान पहुँचा था; और उसने चेतन आत्माके तीन स्तरों, मनुष्यके जाग्रत्. स्वप्न तथा सुषुप्ति आत्माओंका विभेद किया – अन्य शब्दोंमें ये तीन हैं सतही अस्तित्व, अवचेतन या अवगूढ़ और अतिचेतन जो हमें निश्चेतन लगता है क्योंकि उसकी चेतना-स्थिति हमारीसे उलटी है : कारण, हमारी चेतना है सीमित, विभाजन तथा बहुत्वाश्रित, परन्तु वह "वह है जो एकत्व हो जाती है"; हमारी चेतना द्वैत अनुभवोंके बीच सन्तुलित है, परन्तु वह आत्मा सर्वानन्दमय है, वह वह है जो हमारी सत्ताके मर्ममें प्रत्येक वस्तुका सामना शुद्ध सर्वग्राहिणी चेतनासे करता और अस्तित्वके आनन्दका भोग करता है। अतएव, यद्यपि उसका स्थान चेतनाका वह स्तर है जो हमारे लिये गहरी निद्रा है,—क्योंकि मन वहाँ अपनी अभ्यस्त क्रियाशीलताको नहीं रख सकता और निश्चेतन हो जाता है,—तथापि उसका नाम है चेतोमुख: प्राज्ञ। "वह," माण्डूक्योपनिषद् कहती है, "है सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अन्तर्यामी, योनि: सर्वस्य; वह वह है जिसमेंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिसमें वे प्रयाण कर जाते हैं।" अत: यह बात अवगूढ़ आत्मा विषयक अन्य आधुनिक विचार द्वारा शोधित निश्चेतन-विषयक आधुनिक विचारके बहुत अनुरूप है, क्योंकि वह केवल जाग्रत् मनके लिये ही निश्चेतन है, और ऐसा ठीक इस कारण है कि यह उसके लिये अतिचेतन है और फलत: मन उसे उसके स्वरूपमें न पकड़ पाकर केवल उसके परिणामों द्वारा ही उसे पकड़ पाता है। और, प्राचीन मनोविज्ञानकी गहराई और सत्यताका इस तथ्यसे अधिक अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है कि आधुनिक चिन्तन अपने यथातथ्य और सतर्क ज्ञानके सारे अभिमानमें जब इन गहराइयोंकी थाह लेना शुरू करता है तो उसे अन्य भाषामें वही दुहराना पड़ता है जो लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व लिखा जा चुका था।

इस अन्तर्यामीकी इसी धारणाको हम गीतामें दुहराया गया पाते हैं; ईश्वर ही "सकल प्राणियोंके हृदयमें आसीन हैं और सकल प्राणियोंको अपनी मायासे यंत्रपर आरूढ़ करके घुमा रहे हैं।" कभी-कभी उपनिषद् इस आत्माका वर्णन "मनोमय

प्राण-शरीर-नेता" कह कर करती लगती है; वह वस्तुतः चैत्यिक अनुसन्धान-कर्त्ताओंका अवगूढ़ मन है, परन्तु यह केवल एक सापेक्ष वर्णन है। वेदान्ती मनोविज्ञान अन्य गहराइयोंसे अवगत था जो हमें इस सूत्रसे परे ले जाती हैं और जिनके सम्बन्धमें देखनेपर मनोमयी सत्ता, अपनी पारीमें, उतनी ही छिछली हो जाती है जितना छिछला हमारे अवगूढ़ मनके लिये जाग्रत् मन है। और मानव-चिंतनके परिभ्रमणमें एक बार पुनः इन गहराइयोंकी परखना है; आधुनिक मनोविज्ञान जिस सत्यकी खोज कर रहा है उसकी बाध्यकारिताके कारण वह बलात् उस मार्गपर जायगा जिसपर पुराकालके ज्ञानी चले थे। नव ऊषा, सत्यके शाश्वत पथ पर चलती हुई, अपनी पूर्वगामिनी ऊषाओंका अनुसरण करती है,——वे कितनी होंगी, कौन कहे?

वस्तुतः इस ज्ञानका प्रथमाविष्कार हमें अभी प्राप्य रहनेवाली उपनिषदोंकी रचनाके अपेक्षाकृत बादके पुराकालमें नहीं हुआ था। यह ज्ञान तो ऋग्वेदकी अज्ञात तिथियोकी ऋचाओंमें विद्यमान है, और वैदिक मुनि इसकी चर्चा इस प्रकार करते हैं कि यह और भी अधिक प्राचीन द्रष्टाओंका आविष्कृत ज्ञान था जिनके सामने स्वयं वे नये और आधुनिक हैं। मानवजातिपर छानेवाली अज्ञान-रात्रियों या अन्धकारमय कालोंसे उन्मज्जित होते हुए हम सदा यह मान लिया करते हैं कि हम एक नये ज्ञानका श्रीगणेष कर रहे हैं; किन्तु वस्तुतः हम सदा अपने पूर्व युगोंके ज्ञानका पुनराविष्कार और उनकी प्राप्तिकी आवृत्ति ही किया करते हैं,——"निश्चेतन" मेंसे उस प्रकाशको पुनः पाते हैं जिसे उसने अपनी निगूढ़ तहोंमें वापस खींच लिया था और जिसे अब वह एक बार फिर उस महान् यात्राके एक नये दिवस और अन्य अभियानके लिये विमुक्त कर रहा है।

और उस यात्राका लक्ष्य अन्तरात्माके जीवन तथा विकासके सामने पुराकालके मनोवैज्ञानिकों द्वारा उपस्थित वह "सर्वोच्च शुभ" ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। मनोमय प्राणी मनुष्यको जब एक बार यह बोध हो जाता है कि यह गभीर, महान् और प्रच्छन्न आत्मा विद्यमान है, और यही उसकी सत्ताकी यथार्थ सत्यता है, तो वह अवश्यमेव उसमें प्रवेश करना, उसके अन्दर चेतन होना, बाह्य तलपर निवास करनेके बदले वहीं अपना केन्द्र बनाना, उसके दिव्यतर धर्म और पराप्रकृति और सामर्थ्यको जीतता और प्रयुक्त करना, अपने-आपको उसके साथ एक करना चाहेगा जिससे वह प्रतीयमान मानवके स्थानपर सत्-मानव हो जाय। और जो एकमात्र विवाद रह जाता है वह यह है कि क्या यह महान् विजय इस मानव-जीवन या पार्थिव शरीरमें प्राप्त की जा सकती है, उसका भोग किया जा सकता है, या कि वह केवल परलोकमें ही सम्भव है,——यह कि क्या मानव-चेतना वस्तुतः इस निश्चेतनके, हमारे अन्दरके

इस सच्चे आत्माके प्रगतिशील आत्म-प्राकटचके लिये वरण किया गया उपकरण है, या कि वह केवल एक अभिशप्त प्रयास है जिसका यहाँ कोई फल नहीं हो सकता अथवा वह केवल एक असम्बद्ध और अधूरा रेखांकन है जिसे कभी भी दिव्य चित्रका पूर्ण रूप नहीं दिया जा सकता।

"आर्य," सितम्बर 1915

भौतिकवाद

भौतिकवादके लिये बहुत सारी कड़ी बातें कही गयी हैं; ये बातें उन लोगोंने कही हैं जिन्होंने जीवनको नीचेकी अपेक्षा बल्कि ऊपरसे देखना पसन्द किया था या जो भाववादात्मक मनके अधिक प्रकाशमय वातावरणमें अथवा आध्यात्मिक अस्तित्वके आकाशमें रहनेका दावा करते हैं। भौतिकवादपर महाबुराइयोंकी सृष्टिका आरोप किया गया है; उसे इस रूपमें भी देखा गया है कि वह एक घृण्य रूपांतरकी प्रधान मूर्त्ति है या मानव-जातिको भयकारी विनाशकी ओर ले जानेवाला विपथकारी है। जिनकी प्रवृत्ति और कल्पना अतीतको आदर्श मानकर उसके साथ प्रेमसे खेलती है, वे लोग भौतिकवादको उन सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्त्तनोंका दोषी ठहराते हैं जिनसे वे घृणा करते हैं और जिन्हें वे सनातन नैतिक आदर्शोंमें और दिव्य रूपसे आयोजित वर्गक्रममें खलल डालना समझते हैं,——यद्यपि वे यह माननेमें सुख पाते हैं कि ये परिवर्त्तन अस्थायी हैं। जो लोग आगे विशालतर आदर्शवाद और उच्चतर आध्यात्मिकताकी आशा देखते हैं, और ऐसे लोगोंकी संख्या अधिक है, वे यह घोषणा करते हैं कि भौतिकवादके ह्रसित होने और चले जानेसे मानव-आत्माको भाग्यमयी मुक्ति मिलेगी। जगत्-व्यापी संघर्ष तथा प्रतियोगिता भौतिकवादके ही फल कहे जाते हैं; युद्ध और कराल बलिदानका होम जिसमें मानवजाति अपना बल, रक्त और वैभव लुटाती रही है,——यद्यपि वे नई विपदाएँ नहीं हैं, न यही आशा करना निरापद है कि वे अपने प्रकारकी अन्तिम चीजें हैं,——भौतिकवादको प्राप्त होनेवाला दण्ड या वह चिता कहे जाते हैं जिसे उसने अपने लिये जलायी है और जिसकी निष्ठुर ज्वालामें उसके द्वारा अस्तित्वमें लायी गयी भूलें और अपवित्रताएँ जलाकर राख की जा रही हैं। विज्ञानके बारेमें यह घोषित किया गया है कि उसका मानवजातिका पथप्रदर्शक या शिक्षक होना सन्दिग्ध है और उसे अपनी उपयुक्त सीमाओंके अन्तर्गत रहनेका आदेश दिया जा रहा है; कारण यह है कि विज्ञान लम्बे समयतक अस्तित्व-विषयक भौतिक दृष्टिकोणका मित्र था, नास्तिकता और अज्ञेयवादका प्रस्तावक था. भौतिकवाद तथा संशयवादकी विजय लानेवाला था, उनके राज्यका सिंहासन या उनके स्थायित्वका स्तम्भ था। तर्कबुद्धिपर भी आपत्ति उठायी गयी है क्योंकि तर्कबुद्धिवाद और विचार-स्वातंत्र्यको भौतिकवादी विचारणाका पर्यायवाची मान लिया गया।

दोषारोपणकी इतनी बड़ी राशिका अपना सत्य हो सकता है और उसमेंसे बहुत कुछका है भी। परन्तु मानव-मन इस भाँति जिन चीजोंका बारी बारीसे डंका पीटता और निषेध करता है उनमेंसे अधिकांशका दुहरा लच्छा है। वे हमारे सामने विपरीत चेहरे लेकर आती हैं, उनका भला पहलू रहता है और बुरा पहलू, उनका एक अँधियाला रूप भूलका रहता है और एक उंजियाला रूप सत्यका; और इनमेंसे उनके जिस चेहरेको हम देखते हैं उसीके अनुसार हम अपनी सम्मतिके चरम छोरकी ओर भूल जाते या उनके बीच भूलते रहते हैं। भौतिकवादको अधिकांश लोग जैसा मृत घोषित करते हैं हो सकता है कि वह बिल्कुल वैसा मृत न हो; भौतिकवाद वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओंकी एक बड़ी संख्या द्वारा, शायद उनके अधिकांश, द्वारा अभी भी गृहीत है, और वैज्ञानिक सम्मति अपने सुनिर्दिष्ट सत्यके बलके कारण और मानवजातिको अपनी अनवरत सेवा देते रहनेके कारण सर्वदा एक शक्ति रहती है,——अत: भौतिकवादको अभी भी और जहाँ स्थिरबद्ध सम्मति मानकर उसका निराकरण किया जाता है वहाँ भी वह कर्म तथा जीवनकी वास्तविक प्रकृतिके अधिकांशकी रचना करता है। कारण, भूतकालके सबल संस्कार हमारी मानवीय मनोवृत्तिमेंसे इतनी आसानीसे नहीं मिटाए जा सकते हैं। परन्तु यह एक तेजीसे पीछे हटती शक्ति है; अन्य विचार तथा दृष्टिकोण अन्दर भीड़ करते आ रहे हैं और उसे उसकी श्रेष्ठताके बाकी स्थलोंसे खदेड़ रहे हैं। हम उसे विदाके शब्द कहें उसके पहले यह लाभदायक होगा, और अब निरापदतासे ऐसा किया भी जा सकता है, कि हम यह देखें कि उसे बल देनेवाली चीज क्या थी, उसने अपने पीछे स्थायी रूपसे क्या छोड़ा है, और सत्यका जो कोई भी तत्त्व उसके अन्दर रहा हो जिससे उसे अपनी व्यावहारिकता बल मिला था, हम अपने नये दृष्टिकोणोंको उमके प्रति समंजित करें। हम उसे निष्पक्ष सहानुभूतिसे भी देख सकते हैं, परन्तु हमारी वास्तविक सत्ताके एक प्राथमिक किन्तु न्यूनतर सत्यके रूपमें ही,——क्योंकि वह यह सब तो है, परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं,——और उसके उचित दावों और मूल्योंको स्वीकार और निर्धारित करनेका प्रयत्न कर सकते हैं। हम अब यह भी देख सकते हैं कि उसने ज्ञानका जो ढाँचा स्वयं प्रस्तुत किया है उसीके वर्द्धित होनेसे वह अपने-आपसे परित्राण पानेको किस प्रकार बाध्य था।

स्वीकार करें,——क्योंकि यह सच है,——कि यह युग, जिसकी विलक्षण सन्तान भौतिकवाद था और जिसमें वह पहले बदमिजाज विद्रोही और आक्रामक विचारके रूपमें प्रकट हुआ, बादमें मानवजातिके गम्भीर तथा उद्यमशील शिक्षकके रूपमें, किसी भी तरह महज भूल, विपदा तथा अवनतिका काल नहीं, बल्कि मानवजातिका एक सबल युग रहा है। उसके परिणामोंका अध्ययन निष्पक्षतासे करें। उसने जातिके

ज्ञानको केवल विशाल रूपसे विस्तृत ही नहीं किया है, उसकी रिक्तताओंकी पूर्ति ही नहीं की है, उसे अनुसन्धान, सावधानी और शुद्धताके धैर्यका अभ्यास ही नहीं दिया है,—ऐसा उसने यदि गवेषणाके एक ही विशाल क्षेत्रमें किया है तो भी अन्य तथा उच्चतर क्षेत्रोंमें उसी जिज्ञासा, बौद्धिक ईमानदारी और ज्ञानबलके विस्तारकी तैयारी की है, —उसने आविष्कारकी अनुपम शक्ति तथा समृद्धिसे हमारे हाथोंमें केवल आविष्कार, यंत्र, व्यावहारिक शक्तियाँ, विजयें और सुविधाएँ ही नहीं रखी हैं,—जिनसे यदि बहुत बुराई हुई है तो बहुत अच्छाई भी, और हमारे उच्चतर हितके लिये जिनकी अपर्याप्तताकी हम चाहे कितनी ही घोषणा करें, उन्हें छोड़ना भी हममेंसे बहुत थोड़े ही चाहेंगे,—वरन् उसने, भलेही यह बात आरम्भमें विरोधाभासिनी लग सकती है, मनुष्यकी आदर्शवादिताको सबल भी किया है। कुल मिलाकर देखें तो उससे मनुष्यको एक अधिक सुखद आशा मिली है और उसकी प्रकृति मानवीय हुई है। सहिष्णुता अधिक हुई है, स्वतन्त्रता वर्द्धित हुई है, उदारता अधिक सामान्य वस्तु हुई है; शान्ति अभी व्यवहारमें सम्भव न होनेपर भी, कमसे कम, कल्पनीय हो रही है। हालमें, अठारहवीं शताब्दिके इहलोकवादका प्रचार करनेवाली विचारधाराको बहुत तिरस्कृत किया गया और हेय माना गया है, उसे विकसित करनेवाली उन्नीसवीं शताब्दिकी विचारधारा बहुत प्रतिकूल आलोचनासे छलनी हो गई है और पीछे छोड़ दी गई है। तथापि उन्होंने जिन देवताओंकी पूजा की है वे हीन देवता नहीं थे। तर्क-बुद्धि, विज्ञान, प्रगति, स्वतन्त्रता, मानवता,—ये ही उनकी देव-प्रतिमाएँ थीं, और ये यदि प्रतिमाएँ ही हों तो भी इनमेंसे कौनसी प्रतिमाएँ ऐसी हैं जिन्हें हम कीचमें फेंक डालना या राहपर पड़े हीन अपूजित भग्नावशेषोंके रूपमें छोड़ डालना चाहेंगे, या यदि हम बुद्धिमान हैं तो इनमें किनके साथ हमें ऐसा बर्त्ताव करना चाहिये? यदि अन्य और श्रेष्ठतर देवता हैं, या जिन दृश्य आकृतियोंकी पूजा की गयी थी वे केवल मिट्टी या पत्थरकी मूर्तियाँ ही थीं या उनके अनुष्ठान यदि अन्तरतम ज्ञानसे रिक्त थे, तो भी उनकी उपासना हमारे लिये आरम्भिक दीक्षा रही है और लम्बे भौतिक यज्ञने हमें एक श्रेष्ठतर धर्मके लिये तैयार किया है।

तर्कबुद्धि परम ज्योति नहीं है, परन्तु फिर भी वह एक आवश्यक प्रकाशदायिनी है और जबतक उसे उसके अधिकार नहीं दे दिये जाते, उसे हमारी प्रथम अवयौक्तिक सहजवृत्तियों, अन्तर्वेगों, दुस्साहसी उत्साहों, अमार्जित विश्वासों और अन्धे पूर्वनिर्णयोंका निर्णय और उनकी शुद्धि नहीं करने दिया जाता, तब तक हम किसी महत्तर आन्तरिक प्रकाशपुंजके निःशेष निरावरणके लिये सर्वथा तैयार नहीं होते। विज्ञान एक सही ज्ञान,

अन्ततया केवल प्रक्रियाओंका ज्ञान है, परन्तु प्रक्रियाओंका ज्ञान भी समग्र बुद्धिमत्ताका अंग ही है और पीछे स्थित गभीरतर सत्यकी ओर एक चौड़े और स्पष्ट मार्गके लिये आवश्यक है। यदि उसने प्रमुखतः भौतिक क्षेत्रमें श्रम किया है, यदि उसने अपने-आपको सीमित कर लिया है और अपने प्रकाशको जान बूझकर अज्ञानके किसी मेघसे घेर लिया या आच्छादित कर लिया है, फिर भी इस पद्धतिका आरम्भ कहीं न कहीं करना था और जिस प्रकार तथा रीतिका अन्वेषण हाथमें लिया गया उसके लिये वह क्षेत्र प्रथम, निकटतम, सहजतम था। सत्यके किसी पहलूके प्रति अज्ञ रहना या आंशिक अज्ञान अथवा उपेक्षाका वरण करना ताकि दूसरे पहलूपर अधिक अच्छी तरह एकाग्र हुआ जा सके, प्रायः हमारी अपूर्ण मनःप्रकृतिके लिये आवश्यक रहता है। परन्तु अज्ञान यदि कट्टर मत बन जाता है और उसने जिसकी परीक्षा करनेसे इन्कार किया है उसे यदि अस्वीकार करता है तो यह दुर्भाग्य है, किन्तु फिर भी यदि इस जानबूझकर किये गये आत्म-परिसीमनको उसकी उपादेयताके अवसरके समाप्त हो चुकनेपर विलुप्त हो जानेको बाध्य कर दिया जाता तो किसी स्थायी हानिका होना आवश्यक नहीं था। चूँकि अब हमने भौतिक क्षेत्रके विषयमें अपने ज्ञानको दृढ भित्ति दे डाली है, अतः अब हम मानसिक तथा आन्तरिक ज्ञानको अधिक खुले, निरापद तथा प्रकाशमय रूपमें पुनः अधिकृत करनेकी ओर बहुत दृढ़तर पग भरते हुए बढ़ सकते हैं। इससे आध्यात्मिक सत्योंको भी उच्चतर या अधिक वेधक प्रकाश और स्वाभिव्यक्ति तो नहीं,—यह सम्भावना दुष्कर रहती है,—अपितु अधिक प्रचुर ज्योति और अधिक परिपूर्ण स्वाभिव्यक्ति प्राप्त होनेकी सम्भावना रहती है।

प्रगति मानव-जीवनके सार्थक्यका मर्म ही है क्योंकि उसका अर्थ होता है हमारा महत्तर तथा समृद्धतर सत्ताकी ओर क्रमविकास; और इन युगोंने इस चीजका आग्रह करके, हमें इसे अपना लक्ष्य और अपनी आवश्यकता माननेके लिये बाध्य करके निश्चल आत्म-तृप्तिकी निष्प्रभता या स्थूल आनन्दमें रहनेके प्रयासको हमारे लिये अबसे असम्भव कर दे करके पृथ्वी-जीवनकी अमोल सेवा की है और स्वर्गके मार्ग साफ कर दिये हैं। बाह्य प्रगति उसके लक्ष्यका अधिकतर भाग थी और आन्तरिक प्रगति अधिक सारभूत प्रगति होती है, परन्तु यदि बाह्य प्रगतिका समावेश न किया जाय तो आन्तरिक भी सम्पूर्ण नहीं होती। हमारी प्रगतिका आग्रह यदि कुछ समयतक किसी एक ही क्षेत्रमें बढ़नेपर अति एकान्तिक रूपसे जा पड़े, तो भी आगेकी ओर सारी गति सहायक होती है और अन्तमें वह हमारी सत्ताके गभीरतर तथा उच्चतर प्रदेशोंमें हमारे विकासकी आवश्यकताको श्रेष्ठतर शक्ति और विशालतर अर्थ देगी। स्वतंत्रता वह देवी है जिसकी महत्ताको अब संकीर्ण रूपसे सीमित मन, राष्ट्र-शासनका उपासक या प्रतिक्रिया-

का सनकी ही इनकार कर सकता है। अवश्य ही फिर कहें कि सारभूत स्वतंत्रता आन्तरिक है; परन्तु यदि आन्तरिक उपलब्धिके विना स्वतन्त्रंताके लिये वाहरी प्रयास अन्तमें व्यर्थ प्रमाणित हो सकता है, फिर भी आन्तरिक स्वतंत्रताका अनुसरण करना और एक बाह्य दासताको चिरस्थायी वनाना या एकाकी मुक्तिमें आनन्द लेना और मानवजातिको उसकी बेड़ियोंमें छोड़ देना एक ऐसी असंगति था जिसे अवश्यमेव विस्फोटित होना था; यह एक सीमित और अति स्व-केन्द्रित आदर्श था। मानवता सर्वोच्च देवता नहीं, ईश्वर मानवतासे अधिक है, परन्तु हमें मानवजातिमें ईश्वरकी प्राप्ति और सेवा करनी है। मानवताकी उपासनाका अर्थ है वर्द्धमान दयालुता, सहिष्णुता, उदारता, सहायता, संहति, विश्वभाव, एकता, व्यष्टि तथा समष्टिमें विकासकी परिपूर्णता, और किसी भी पूर्वयुगमें जैसा सम्भव था उससे वहुत अधिक तेजीसे हम इन चीजोंकी ओर बढ़ रहे हैं, भले ही अवतक हमारे पग बुरी तरह लडखडाते रहे हों और कुछ उत्कट पुनःपतन घटित हुए हों। भगवान्की उपासनाके अन्तर्गत अपने अन्य मानवात्माओंकी उपासना हमारा विशाल आदर्श होकर हमारे अधिक निकट आती है। इन वस्तुओंमेंसे किसी एकको भी एक पग अधिक निकट ले आना, उन्हें चाहे कितनी ही अपूर्ण अभिव्यंजना तथा सूत्र द्वारा क्यों न हो, हमारे मनमें प्रतिष्ठित करनेमें सहायता करना, उनकी और हमारी चालको तेज करना, ये प्रवल उपलब्धियाँ हैं, उदात्त सेवाएँ हैं।

तुरन्त ही यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि इन सारी महान् वस्तुओंका भौतिकवादसे कोई सम्बन्ध नहीं। उनकी ओरकी प्रेरणा मानव-मनमें दीर्घकालीन और लम्बे समयसे सक्रिय रही है; स्वयं मानवतावादके तत्त्वको, जो कि आधुनिक भावनाके प्रभावशाली विकासोंमें एक रहा है, प्रथमतः धर्म, करुणा और मानव-प्रेमने हमारे स्वभावमेंसे व्यक्त किया और प्रमुख बनाया, मानव-प्रेमको पहले ईसाई और बौद्ध धर्मोंने अन्तरंग और सबल रूपसे प्रयुक्त किया; यदि अब उनका कुछ विकास हुआ हे तो यह बहुत पहले बोए बीजोंका प्राकृतिक विस्तरण है। भौतिकवादके बारेमें वल्कि यह अनुमान किया गया था कि वह विरोधी सहजवृत्तियोंको प्रोत्साहित करेगा; और उसने जिस अच्छाईका पक्ष लिया उसे उसने सीमित, शुष्क और यांत्रिक बना दिया। यदि ये सारी अधिक उदात्त वस्तुएँ बढ़ी हैं और अपने-आपपर लगायी गयी सीमाओंको तोड़ रही हैं तो इसका कारण यह है कि सौभाग्यसे मनुष्य संगतिविहीन है और हमारे विकासके अमुक पर्वके बाद यथार्थतया और संपूर्णतया भौतिकवादी नहीं हो सकता; उसे आदर्शोंकी, नैतिक विस्तरणकी, एक अधिक घनिष्ठ भावुक परिपूर्तिकी आवश्यकता होती है, और इन आवश्यकताओंको उसने अपनी भौतिकवृत्त

सम्मतिके विकासके साथ जोड़ दिया है और उसके स्वाभाविक परिणामोंको उनके द्वारा संशोधित किया है। परन्तु स्वयं वे आदर्श एक पहलेकी सम्मति तथा संस्कृतिसे लिये गये थे।

यह सत्य तो है परन्तु समूचा सत्य नहीं। प्राचीन धार्मिक संस्कृतियाँ अपने समष्टि-रूपमें प्राय: और अपने कुछ अंगोंमें सदा ही प्रशंसनीय थीं, परन्तु वे यदि त्रुटिपूर्ण नहीं होतीं, तो न तो कभी भी इतनी आसानीसे उन्हें भंग किया जा सकता था, न धर्मके बोये परिणामोंको बाहर लानेके लिये धर्महीन युगकी आवश्यकता होती। उनके दोष एक विशेष संकीर्णता और एकान्तिक दृष्टिके थे। अपने आदर्शमें समाहित और तीव्र और अपने प्रभावमें प्रगाढ़ रहनेवाली इन संस्कृतियोंका विस्तरणशील प्रभाव मानव-मनपर अल्प था। उन्होंने अपनी क्रिया व्यक्तिके अन्दर अत्यधिक विलग कर दी, सामाजिक व्यवस्थामें अपने आदर्शोंकी क्रियाशीलता अति संकीर्ण रूपसे सीमित कर दी; उदाहरणके लिये, गिरजाघर और धर्ममतके हेतुओंके लिये निर्दयता और बर्बरताका विपुल परिमाण सहन किया, उसे व्यवहृत तक भी किया, जब कि वे उस भावना और सत्यके प्रतिकूल थे जिनसे उनका आरम्भ हुआ था। जिसे उन्होंने व्यक्तिके अन्तरात्मामें निरुत्साहित किया, उसे उन्होंने समाजके कार्य और ढाँचेमें फिर भी बनाये रखा, इन धब्बोंसे मुक्त मानव-व्यवस्थाकी कल्पना उन्होंने शायद ही की हो। उनकी अभीप्साकी गहराई और उत्साहके साथ एक काली छाया थी, बौद्धिक स्पष्टताका अभाव था, एक ऐसा अन्धकार था जिसने उनकी क्रियाको भ्रमित कर दिया और उनके आध्यात्मिक तत्त्वोंके विस्तरणको प्रतिहत कर दिया। उन्होंने संन्यासवृत्तिके बीजकोषका पोषण भी किया और पृथ्वी-जीवनके निश्चित उन्नयनमें विश्वास करनेकी ओर शायद ही ध्यान दिया, पृथ्वी-जीवनको उन्होंने मानव-आत्माका पतन या दु:खपूर्ण उतार या अपूर्णता मानकर उससे घृणा की; या जो कोई पार्थिव आशा उन्होंने स्वीकार की थी उसने अपने-आपको सृष्टिके सहस्राब्दिक अन्ततकके लिये स्थगित हो जाते देखा। मानव-जीवनकी या अस्तित्व मात्रकी व्यर्थतामें विश्वास रखना पृथ्वीसे परेके लक्ष्यकी ओरकी पूर्वव्यस्तताके अधिक अनुकूल था। पूर्णता, नैतिक विकास और मुक्ति वैयक्तिक आदर्श हो गयीं और परलोकके लिये अन्तरात्माकी विलग तैयारीके रूपमें अत्यधिक साकार हुईं। धार्मिक प्रकृतिका सामाजिक प्रभाव सम्भावनाके रूपमें कितना ही अधिक क्यों न रहा हो, वह अत्यधिक परलोक-भावनासे और बुद्धिके प्रति उस अविश्वास-भावनासे निरुद्ध हो गया जो बढ़कर ज्ञानोन्नतिविरोध हो गयी।

धर्मनिरपेक्षतावादी शताब्दियोंने पलड़ेको उल्टी दिशामें बहुत अधिक झुका दिया। उन्होंने जाति-मानसको पूरा ही पृथ्वी तथा मनुष्यकी ओर मोड़ दिया, परन्तु

बौद्धिक स्पष्टता, युक्तिवृत्ति, न्याय, स्वतन्त्रता, सहिष्णुता, मानवतापर आग्रह करके, इन चीजोंको आगे रखके और जातिकी प्रगति तथा उसकी पूर्णता-प्राप्तिकी संभावनाको पार्थिव जीवनके ऐसे तात्कालिक नियमके रूपमें रखके जिसकी ओर हमेशा आगे जोर लगाते रहना है, सामाजिक आदर्शको कयामतके किसी ऐसे दिनतकके लिये न टरकाते हुए जब कि कोई अन्तिम दिव्य हस्तक्षेप और फैसला उन्हें चमात्कारिक रूपसे चरितार्थ कर देगा, उन्होंने सामूहिक प्रगतिकी राह साफ कर दी। कारण, उन्होंने मानवजातिकी इन उदात्ततर सम्भावनाओंको व्यावहारिक बुद्धिके लिये अधिक मान्य कर दिया। यदि स्वर्ग उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये या पूर्वयुगोंसे मिले हुए आदर्शोंका आध्यात्मिक भाव उनसे छूट गया, तदपि उनपर इस तर्कबुद्धिपरक और व्यावहारिक आग्रहसे उन्होंने विचारशील मनमें ये चीजें बैठा दी। उनकी अति यांत्रिक वृत्ति भी इन आदर्शोंकी प्रभाविणी क्रियाको समाजकी संरचनाकी शर्त्त ही बना देनेके लिये साधन ढूँढ़नेकी वैध कामनासे विकसित हुई। भौतिकवाद पृथ्वी और मनुष्यकी ओर जाति-मानसके इस झुकावका चरम बौद्धिक परिणाम था। यह एक बौद्धिक यंत्र था जिसे कालात्माने विचार और प्रयत्नके उस एकान्तिक मोड़को पर्याप्त दूरीतक दृढ़तासे जमानेके लिये, आवश्यक अवधितक मानव-मनको धृत रखनेके लिये सम्मतिके मजबूत कीलककी तरह काममें लिया। मनुष्यके लिये यह आवश्यक होता ही है कि वह अपने सारे पार्थिव अंगोंमें दृढ़तासे विकसित हो, अपने शरीर, अपने प्राण, अपने बहिर्गामी मनको सुदृढ़ तथा पूर्ण करे, अपनी निवास-स्थली धरतीको पूरा अधिकृत करे, भौतिक प्रकृतिको जाने और काममें ले, अपने परिवेशको समृद्ध करे और व्यापकीकृत मेधाकी सहायतासे अपनी विकसित होती मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताको संतुष्ट करे। यह उसकी समूची आवश्यकता तो नहीं, किन्तु उसका और मानवीय पूर्णताका एक बड़ा और आरम्भिक भाग है। इसका पूरा अर्थ बादमें प्रकट होता है, क्योंकि केवल आरम्भमें और प्रतीयमान रूपमें ही वह उसके प्राणके आवेगकी तरह दिखाई देगा, अन्तमें और वस्तुतः वह इस रूपमें दिखाई देगा कि वह उसके अन्तरात्माकी आवश्यकता रहा है, दिव्यतर जीवनके लिये उपयुक्त उपकरणोंकी तैयारी और उपयुक्त परिवेशकी रचना रहा है। पृथ्वीपर ईश्वरकी विधाओंका अनुचर होने और अपने अन्दर ईश्वरकी परिपूर्त्तिके लिये ही वह यहाँ नियुक्त किया गया है और अवश्य ही उसे न तो पृथ्वीका तिरस्कार करना चाहिये, न ईश्वरकी प्रथम शक्तियों और शक्यताओंके लिये दिये गये आधारका वर्जन। उसके विचार और लक्ष्य जब उस दिशामें अति डट जाते हैं,तब यदि उसे कुछ समयके लिये दूसरी चरमताकी ओर, निषेधात्मक या भावात्मक,

अप्रकट या प्रकट भौतिकवादकी ओर वापस झकोर दिया जाता है तो उसे शिकायत नहीं करनी चाहिये। यह प्रकृतिकी उग्र रीति है जिससे वह मनुष्यमें अपने स्वातिरेकको ठीक करती है।

परन्तु भौतिकवाद अस्तित्वके एक विश्वव्यापी सत्यको जो उत्तर देता है उसीमें उसे बौद्धिक बल मिलता है। हमारी प्रबल सम्मतियोंके पीछे सदा दो शक्तियाँ रहती हैं, एक तो हमारी प्रकृतिकी आवश्यकता और एक विश्वास्तित्वका सत्य जिससे वह आवश्यकता उद्‌गत होती है। हमारी भौतिक और प्राणिक आवश्यकता होती है क्योंकि जड़गत जीवन हमारा वास्तविक आधार है, हमारे मनका पृथ्वीकी ओर मोड़ होता है क्योंकि पृथ्वी अध्यात्म-पुरुषकी क्रियाओंके लिये यहाँकी भित्ति होनेके रूपमें अभिप्रेत थी और है। वास्तवमें जब हम सावधान बुद्धिसे अपने सामने उपस्थित होते विश्व-सत्ताके रूपका पर्यावलोकन करते या यह अध्ययन करते हैं कि हम उसके साथ कहाँपर एक हैं या इस सबमें वह क्या है जो सबसे अधिक वैश्व और चिरस्थायी लगता है, तो हमें जो पहला उत्तर मिलता है वह आध्यात्मिक नहीं, भौतिक होता है। उपनिषदोंके ऋषियोंने इसे अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टिसे देखा था और जब उन्होंने 'सत्ता' के विषयमें हमारे प्रथम और प्रतीयमानतः सम्पूर्ण, परन्तु अन्तमें अपर्याप्त रहते दर्शनको इस भाँति व्यक्त किया, "अन्न ही ब्रह्म है, अन्नसे ही सारी वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है, अन्नसे ही उनका अस्तित्व है, अन्नमें ही वें वापस जाती हैं, " तो उन्होंने सार्वभौमिक सत्यका ऐसा सूत्र निर्धारित किया जो सारे भौतिकवादी चिन्तन और भौतिक विज्ञानके लिये मान्य है और वह चिन्तन और वह विज्ञान इसीमें किया गया अनुसंधान हैं, इसीके सार्थक व्योरों, स्पष्टीकरणों, समर्थक व्यापारों और अभिव्यंजिका प्रक्रियाओंका भरा जाना हैं, एक ही मूल पाठपर प्रकृतिकी विश्वव्यापिनी टीका है।

ध्यान देनेकी बात यह है कि यह अनुभवका प्रथम तथ्य है जिससे हम आरम्भ करते हैं और जो एक अमुक बिन्दुतक सत्ताका निर्विवाद और सार्वभौमिक सत्य है। यहाँ अवश्य ही जड़तत्त्व हमारा आधार है, वह अद्वितीय वस्तु है जो है और टिकी रहती है, जब कि प्राण, मन, अन्तरात्मा और अन्य सब कुछ उसमें गौण व्यापार लगते हैं, किसी तरह उससे उद्‌गत होते, उसका आहार करते लगते हैं —— अतएव उपनिषदोंमें जड़तत्त्वके लिये अन्न (आहार) शब्दका उपयोग किया गया है,——और जब जड़का विलोप हो जाता है तो वे भी ध्वंस होकर हमारी दृष्टिसे बाहर हो जाते हैं। प्रतीयमान रूपमें जड़का अस्तित्व उनके लिये आवश्यक है, जब कि उनका अस्तित्व जड़के लिये तिल मात्र भी आवश्यक नहीं प्रतीत होता। 'सत्-पुरुष' सर्वप्रथम अपने इसी रूपमें अटल भावसे प्रकट होता है मानों वह यह दावा करता हो कि वह वही है, अन्य कुछ भी नहीं;

वह यह आग्रह करता है कि उसके जड़ आधारकी और उसकी आवश्यकताकी तुष्टि सबसे पहले की जायगी और, जबतक ऐसा नहीं कर दिया जाता वह हमारी आदर्शात्मिका भावुकताकी ओर अत्यल्प ध्यान देता हुआ या कुछ भी ध्यान नहीं देता हुआ दृढ़तासे अड़ा रहता है और उससे यदि हमारे नैतिक, हमारे सौन्दर्यरसिक और हमारे अन्य अधिक उत्कृष्ट बोधोंका सुकुमार जाल टूट जाता है तो उसे इसकी परवाह नहीं रहती। उन्हें अपने राज्यकी आशा रहती है, परन्तु फिर भी विश्वास्तित्वका पहला रूप यही होता है और हमें अपना चेहरा इसकी ओरसे छिपा नहीं लेना है, अर्जुन भी तो कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें भगवान्‌के कराल मुखड़ेसे नही छिपा पाया था; न ही हम उससे वैसे पलायन करने और बचनेका प्रयत्न कर सकते हैं जैसे शिव अपने चारों ओर आद्या शक्तिके बहुतेरे विकराल रूपोंके उद्‌भूत होनेपर अपने देवत्वको भूलकर उस दृश्यसे इधर-उधर भागते फिरे थे। हमें जीवनको अवश्य ही सीधी नजरसे देखना चाहिये, चाहे उसका जो कोई भी रूप हमारे सामने आय, और भगवान्‌को उसके अन्दर भी और पीछे भी पानेके लिये सबल होना चाहिये।

जड़वादी विज्ञानमें यह साहस था कि वह इस सार्वभौमिक सत्यको सन्तुलित आँखोंसे देखे, उसे आरम्भ-विन्दुके रूपमें शान्तिसे स्वीकार करे और यह पूछे कि क्या आखिरकार वह विश्वसत्ताका समूचा सूत्र नहीं। भौतिक विज्ञानको अपनी पहली दृष्टिमें अवश्य ही जड़वादी होना होगा क्योंकि जबतक वह भौतिकसे व्यवहार करता है, उसे अपने दृष्टिकोण और पद्धति दोनोंमें अपने स्व-सत्यके लिये भौतिक होना होगा; उसे भौतिक विश्वकी व्याख्या प्रथमतः अन्नमय ब्रह्मकी भाषा और प्रतीकोंमें करनी होगी; कारण,ये उसके प्राथमिक और सर्वसामान्य पद हैं और अन्य सब द्वितीय स्थानमें आते हैं, उत्तरवर्त्ती हैं, एक विशेष अक्षर-मांला हैं। आरम्भसे ही एक स्वेच्छाचारिताकी राहको अपनाना तुरंत ही कल्पनाओं और मिथ्यात्वोंकी ओर ले जायगा। विज्ञानको किसी अन्य प्रकारकी कल्पना और संबोधिमें प्रश्रय लेनेकी पुकारका अच्छा न लगना आरम्भमें उचित होता है। पदार्थोंके व्यापार इन्द्रियों और उनके उपकरणात्मक प्रवर्द्धनके सामने जिन रूपोंमें उपस्थित होते हैं उनके वृत्तसे भौतिक विज्ञानको जो भी चीज बाहर खींचती है और बुद्धिकी अनुभव तथा परीक्षणकी कठोर जाँच द्वारा उनसे व्यवहार करनेसे उसे अलग हटाती है, वह अवश्य ही विज्ञानको उसके कार्यसे विरक्त करेगी और स्वीकार्य नहीं होगी। वह वस्तुके विषयमें मानवीय दृष्टिको लानेकी अनुमति नहीं दे सकता; उसे मनुष्यकी व्याख्या विश्वके शब्दोंमें करनी है, न कि विश्वकी व्याख्या मनुष्यके शब्दोंमें। भाववादीका जो यह अति सुगम निष्कर्ष है कि चूँकि वस्तुओंका अस्तित्व केवल वैसा होता है जिस रूपमें वे चेतनाको ज्ञात होते

हैं, अतः उनका अस्तित्व केवल चेतना द्वारा हो सकता है और उन्हें अवश्य ही मनकी रचनाएँ होना चाहिये, इसका विज्ञानके लिये कोई अर्थ नहीं होता; प्रथमतः उसे यह पूछना होता है कि चेतना क्या है, क्या वह जड़का कारण न होकर बल्कि उसका परिणाम नहीं, क्योंकि जैसा कि लगता है, वह जड़ और निश्चेतन विश्वके ढाँचेमें ही अस्तित्वमें आती है और, प्रतीयमानतः वह अस्तित्व रखनेमें केवल इसी शर्त्तपर समर्थ रहती है कि वह ढाँचा पहलेसे स्थापित हो चुका हो। जड़से आरम्भ करनेके कारण विज्ञानको, कमसे कम प्राक्कल्पित रूपसे, जड़वादी होना होगा।

जड़तत्त्वकी क्रिया संगठित होनेमें सर्वप्रथम है, उसे कुछ दूरीतक अच्छी तरह समझ लेनेके बाद ही यह विज्ञान प्राण और मनपर विचार करनेकी ओर आगे बढ़ सकता है जो कि हमारी सत्ताके बिल्कुल अन्य तत्त्व होनेका दावा करते हैं। परन्तु पहले वह अपनेसे यह पूछनेको बाध्य होता है कि क्या मन और प्राण, दोनों ही, जैसा कि लगता है, भौतिक विकासक्रमके विशेष परिणाम नहीं, जड़की शक्तियाँ तथा गतिविधि ही नहीं? यदि और जब यह व्याख्या तथ्योंको अपने दायरेमें लेने और स्पष्ट करनेमें विफल हो चुकती है उसके बाद अधिक स्वतंत्रतासे यह अनुसन्धान किया जा सकता है कि क्या वे सत्ताके बिल्कुल ही भिन्न तत्त्व नहीं। नाना दार्शनिक प्रश्न उठते हैं, जैसे, क्या उन्होंने जड़में प्रवेश किया है और कहाँसे, और क्या वे सदा ही उसके अन्दर थे, और यदि ऐसा है, तो क्या उनकी क्रिया सर्वदा न्यून और गौण है या कि उनकी सारभूत शक्ति महत्तर है, क्या वे उसके अन्दर समाये हुए हैं या वस्तुतः उन्होंने ही उसे धारण कर रखा है, क्या वे उसके बाद आये हैं और उसके पूर्वप्राकटचपर निर्भर करते हैं या कि यह उनका यहाँका संगठित प्रतीयमान रूप ही है परन्तु वस्तुतः उनकी सत्ता और शक्ति जड़से पहलेकी है और स्वयं जड़ प्राण तथा मनके मूलभूत पूर्वास्तित्वपर निर्भर करता है? अब एक महत्तर प्रश्न उठता है, क्या मन ही अन्तिम पद है, या कि उसके परे भी कुछ है? क्या अन्तरात्मा केवल मन, प्राण तथा शरीरकी पारस्परिक क्रियाका प्रतीयमान परिणाम तथा व्यापार है या कि उसमें हमें हमारी सत्ता और सारी सत्ताका एक स्वतन्त्र तत्त्व मिलता है जो कि महत्तर, पूर्ववर्त्ती और अन्तिम है, सारी जड़सत्ता निगूढ़ आध्यात्मिक चेतनाका एक साथ ही आधार और आधेय है, अध्यात्मसत्ता ही प्रथम, अन्तिम और सनातन है, आदि और अन्त है, ओऽम है। अनुभवमूलक दर्शन-सिद्धान्तके लिये जड़, मन, प्राण या अध्यात्म-तत्त्वमेंसे कोई भी परम सत् हो सकता है, परन्तु इन उच्चतर तत्त्वोंमेंसे किसीको भी हमारे विचारका समस्त बौद्धिक प्रश्नशीलताकी ओर से निरापद रहनेवाला आधार तबतक नहीं बनाया जा सकता जबतक कि भौतिकवादी प्राक्कल्पनाको पहले उसका अवसर न दे दिया गया हो और वह जाँच

न ली गई हो। हो सकता है कि विश्वके भौतिकवादी अनुसन्धानका उपयोग अन्तमें यही प्रमाणित हो और उसकी गवेषणा अस्तित्वकी आध्यात्मिक व्याख्याकी अन्तिमताके लिये महत्तम सम्भव सेवा रही हो। जो कुछ भी हो, भौतिकवादी विज्ञान और दर्शन आखिरकार निष्पक्ष रूपसे जानने और निर्व्यक्तिक रूपसे देखनेका महान् और कठोर प्रयत्न रहे हैं। उन्होंने ऐसी बहुतसी चीजोंको अस्वीकार किया है जो अब पुनः प्रतिष्ठित हो रही हैं, परन्तु वह अस्वीकृति ज्ञानके कठोरतर प्रयत्नकी शर्त्त थी और उनके लिये वही बात कही जा सकती है जो वरुणपुत्र भृगुके बारेमें उपनिषद्में है, "स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्." उसने तप करके जाना कि अन्न ही ब्रह्म है।

जड़वादसे आरम्भ करनेवाला ज्ञान अपने-आपको जिन सीमाओंमें बन्दी बना लेता है उनमेंसे बच निकलनेके द्वारोंका संकेत यहाँ प्रसंग-रूपमें ही किया जा सकता है। यह सम्भावना वस्तुतः अन्तमें कैसे अनिवार्य बन जायगी यह दिखलानेके लिये मुझे दूसरा अवसर चाहिये। भौतिक विज्ञानकी आँखोंके सामने अस्तित्वके दो शाश्वत तत्त्व हैं, जड़ तथा ऊर्जा, और उसके क्रियाकलापके विवरणमें किन्हीं अन्य तत्त्वोंकी कतई आवश्यकता नहीं होती। जड़ और ऊर्जाके तथ्य और सम्बन्ध अनुभव और अनुवर्त्ती परीक्षणमें जिस प्रकार आयोजित किये जाते और बुद्धिके द्वारा विश्लेषित किये जाते हैं उनसे व्यवहार करता हुआ मन,——इसे भौतिक विज्ञानकी पर्याप्त परिभाषा होना चाहिए। उसकी पहली दृष्टिमें सत्ताका अद्वय तत्त्व है जड़, ऊर्जा जड़का व्यापार मात्र है; परन्तु अन्तमें यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तविकता इससे उल्टी नहीं, क्या ऐसा नही कि सारी वस्तुएँ ऊर्जाकी क्रिया हैं, और जड़ उसकी क्रियाओंका क्षेत्र, शरीर और उपकरण ही? पहली दृष्टि परिमाणात्मक और निरी यांत्रिक है, दूसरी एक गुणात्मक और अधिक आध्यात्मिक तत्त्वको प्रवेश देती है। इससे हम तुरन्त ही जड़वादी वृत्तमेंसे बाहर नहीं हो जाते, प्रत्युत हम उसमें एक छिद्र देख लेते हैं जो चौड़ा होकर बाहर निकलनेकी राह तब हो जा सकता है जब कि हम इस संकेतसे चालित होकर, प्राण तथा मनको जड़गत व्यापार मात्रके रूपमें नहीं, वरन् ऊर्जाओंके रूपमें देखते हैं और यह देखते हैं कि वे जड़ ऊर्जासे बिल्कुल भिन्न ऊर्जाएँ हैं, उनके अपने ही विशिष्ट गुण, शक्तियाँ और क्रियाएँ हैं। यदि वस्तुतः प्राण तथा मनकी सारी क्रियाको, जैसे एक समय आशा की जाती थी, केवल भौतिक परिमाणात्मक और यांत्रिक, गणितिक, शारीरिक और रसायनिक पदोंमें ही निर्धारित कर दिया जा सके तो वह छिद्र बाहर निकलनेकी राह नहीं रह जायगा, वह रुद्ध हो जायगा। वह प्रयत्न हार चुका है और वह कभी भी सफल हो सकेगा इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। निरी जैव-शारीरिक, मानसिक-शारीरिक या जैव-मानसिक व्याख्या प्राण तथा मनके व्यापारोंके एक सीमित

प्रदेशकी ही व्याख्या कर सकती है, और वे तथ्य यदि अधिक चीजोंके साथ भी व्यवहार कर सकें तो भी उनके रहस्यके किसी एक ही पहलूका, उनके निम्नतर भागका ही विवरण मिल सकेगा। वैदिक अग्निकी तरह प्राण तथा मनके दोनों छोर एक निगूढ़तामें छिपे हैं, और इस विधिसे हम उसकी पूँछका सिरा ही पकड़ सकेंगे, मस्तक फिर भी रहस्यमय और प्रच्छन्न रहेगा। अधिक जाननेके लिये हमें केवल मन तथा प्राणपर शरीर तथा जड़की सम्भव या वास्तिविक क्रियाका ही अध्ययन नहीं कर लेना होगा, वरन् प्राण तथा शरीरपर मनकी जो क्रिया सम्भव है उस सबका अन्वेषण कर लेना होगा; इससे अकल्पित दृश्य खुलते हैं। और फिर सदा वह विशाल क्षेत्र भी रहता ही है, मनकी अपने-आपमें और अपने-आपपर क्रियाका क्षेत्र, जिसके स्पष्टीकरणके लिये एक अन्य विज्ञान, मानसिक विज्ञान, चैत्यिक विज्ञानकी आवश्यकता होती है।

जड़की परीक्षा तथा व्याख्या भौतिक पद्धतियोंसे और अन्नमय ब्रह्मकी भाषामें कह चुकनेपर,—सत्यतः इसकी व्याख्या नहीं हुई होती, परन्तु इसे चलने दें,—ज्ञानकी उस विधिको अन्य क्षेत्रोंमें एक संकीर्ण सीमासे आगे ले जानेमें विफल होकर, हमें अवश्य ही कमसे कम इसके लिये राजी होना चाहिये कि प्राण तथा मनकी संवीक्षा उनकी उपयुक्त पद्धतियों द्वारा की जाय और उनके तथ्योंकी व्याख्या प्राणब्रह्म तथा मनःब्रह्मकी भाषा और प्रतीकोंमें की जाय। तब हम यह आविष्कार कर सकते हैं कि उस एक ही अस्तित्वकी ये भाषाएँ उस एक ही सत्यको कहाँ और कैसे व्यक्त करती और एक दूसरीके वचनोंपर प्रकाश डालती हैं, और हम शायद एक अन्य, उच्च, दीप्तिमयी और उद्भासिका वाणीका भी आविष्कार कर सकते हैं जो निश्चयात्मक और सर्वव्याख्याता शब्दके रूपमें चमक उठे। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब कि हम इन विज्ञानोंमें भी उसी भावसे जुटें जिस भावसे हम भौतिक विज्ञानमें जुटे थे, उनके केवल प्रत्यक्ष और प्रथम वास्तविक व्यापारोंकी ही नहीं, प्रत्युत मानसिक ऊर्जा और अतिभौतिक ऊर्जाकी सारी असंख्य अपरीक्षित शक्यताओंकी संवीक्षा करें, और निर्बन्ध तथा असीम परीक्षणसे करें। हमें पता चलेगा कि उनके अज्ञात प्रदेश बृहत् हैं। हमें यह प्रत्यक्ष होगा कि जब तक मन तथा अध्यात्मकी सम्भावनाओंकी खोज अच्छी तरह नहीं हो जाती और उनके सत्य अधिक अच्छी तरह नहीं जान लिये जाते, तबतक हम विश्वास्तित्वका अन्तिम सर्वग्राही सूत्र उच्चारित नहीं कर सकते। इस प्रक्रियामें बहुत आरम्भमें ही देखनेमें आयगा कि जड़वादी वृत्त अपने सारे पार्श्वोंमें खुलता जायगा और अन्तमें वह तेजीसे भंग और विलुप्त हो जायगा। विज्ञानकी तात्त्विक कठोर पद्धतिसे फिर भी संसक्त रहते हुए,—किन्तु उसके निरे भौतिक उपकरण-विन्यास से नहीं-संवीक्षा करते हुए, परीक्षण करते हुए, किसीको भी तब तक स्थापित न मानते हुए

जब तक कि उसका सत्य कड़ाईसे और सार्वभौमिक रूपसे परीक्षित न हो जाय, हम फिर भी अतिभौतिक निश्चितियोंपर पहुँचेंगे। अन्य साधन हैं, श्रेष्ठतर मार्ग हैं, परन्तु इस धाराकी राह भी उसे अद्वय सार्वभौमिक सत्यतक ले जा सकती है।

जड़वादी शताब्दियोंके परिश्रमकी तीन चीजें बची रहेंगी; भौतिक जगत्का सत्य और उसका महत्त्व, ज्ञानकी वैज्ञानिक पद्धति,––जो यह है कि प्रकृति और पुरुषको अपनी सत्ता और आचरणकी स्वविधि प्रकट करनेके लिये राजी किया जाय, उनपर अध्यारोपकी उतावली न की जाय,––और अन्तमें, किन्तु यह बात महत्त्वमें न्यूनतम होनेसे बहुत दूर है, पार्थिव जीवन और मानव-प्रयासका सत्य और महत्त्व, उसका क्रमवैकासिक अर्थ। ये चीजें रहेंगी तो सही परन्तु अन्य अर्थकी ओर मुड़ जायँगी और महत्तर परिणाम प्रकट करेंगी। अपनी आशा और अपने श्रमके विषयमें अधिक निश्चित होकर हम इन सबको एक अधिक विशालतर तथा अधिक अन्तरंग जगत्-ज्ञान तथा आत्म-ज्ञानके प्रकाशमें रूपान्तरित होता देखेंगे।

"आर्य," अक्तूबर 1918

भाग्य और स्वतंत्र इच्छा

जगत्‌पर शासन करनेवाली शक्ति सज्ञान हो या ज्ञानहीन, उसके साथ अपने सम्बन्धमें मनुष्य स्वतंत्र है या नहीं, इस प्रश्नपर मानव-विचारधाराओंमें मतभेद रहा है और इसका कोई अन्तिम समाधान नहीं मिला है। हम अपने मानवीय सम्बन्धोंमें स्वतंत्रताके लिये चेष्टा करते हैं, स्वतंत्रताको अपना लक्ष्य मानकर आगे बढ़ते हैं, अपनी मानवीय प्रगतिमें हम जो भी नया पग उठाते हैं वह हमें अपने आदर्शकी ओर आगे बढ़ा देता है। पर क्या हम अपने-आपमें स्वतंत्र हैं? हमें लगता है कि हम स्वतंत्र हैं और हम वह करते हैं जिसे हमने चुना है, न कि वह जो हमारे लिये चुना जाता हो। परन्तु यह भी सम्भव है कि हमारी स्वतंत्रता भ्रम हो और हमारी प्रतीयमान स्वतंत्रता वास्तविक और लौह दासता ही। हो सकता है कि हम प्रारब्धसे, एक सर्वोच्च सज्ञान शक्तिकी इच्छासे, या अन्धी और अटल प्रकृतिकी इच्छासे, या अपने ही पूर्वकालिक विकासकी आवश्यकतासे बँधे हों।

पहला उत्तर ईश्वरपर निर्भर श्रद्धालु और विनम्र मनका है, परन्तु हम यदि कालविनके नियतिवादको ही स्वीकार न कर लें तो ईश्वरकी पथप्रदर्शिका और सर्वोपरि इच्छाको स्वीकार करनेका अर्थ व्यक्तिकी स्वतंत्रताका वर्जन नहीं होता। दूसरा उत्तर वैज्ञानिकका है; वंशपरम्परा ही हमारी प्रकृतिको निर्धारित करती है, प्रकृतिके विधान हमारे कर्मको सीमित करते हैं, कारण और परिणाम हमारे विकासकी धाराको प्रवृत्त करते हैं, और यदि यह कहा जाय कि हम कारणोंको उत्पन्न करके परिणामोंका निर्धारण कर सकते हैं तो उसका यह उत्तर होता है कि हमारे अपने कार्य तो पहलेके कारणोंसे निर्धारित होते हैं जिनपर हमारा कोई वश नहीं और हमारा कर्म भी बाहरसे आनेवाले किसी उद्दीपकको दिया गया अनिवार्य प्रत्युत्तर ही होता है। तीसरा उत्तर है बौद्धोंका और बौद्धोत्तर हिन्दू धर्मका। "यह तो हमारा भाग्य है, यह हमारे ललाटपर लिखा हुआ है, जब हमारे कर्मका क्षय होता है केवल तभी हमारी विपदाएँ दूर होती हैं",—यह तामसिक निष्क्रियताकी भावना है जो कर्मके सिद्धान्तका गलत अर्थ लगाकर अपना औचित्य प्रतिष्ठित करती है।

यदि हम बौद्ध प्रभावसे अछूती सच्ची हिन्दू शिक्षाकी ओर वापस जायँ तो देखेंगे कि वह इस झगड़ेका समाधान हमें मानव-मनोविज्ञानकी एक ऐसी दृष्टिमें देती है

जो भाग्य और स्वतंत्र इच्छा दोनोंको स्वीकार करती है। बौद्ध और हिन्दू धर्मोंमें भेद यह है कि बौद्धधर्मके लिये मानव-अन्तरात्मा कुछ भी नहीं, किन्तु हिन्दू धर्मके लिये वह सब कुछ है। समूचे विश्वका अस्तित्व आत्मामें, आत्माके द्वारा, आत्माके लिये है; हम जो कुछ करते, सोचते और अनुभव करते हैं, आत्माके लिये; प्रकृति आत्मापर निर्भर है, उसकी सारी गतिविधि, क्रीड़ा, क्रियाकलाप आत्माके लिये है।

भाग्य और कुछ नहीं एक अटूट कार्यकारण सम्बन्ध है जो विधि या विधानका ही दूसरा नाम है, और यह विधान आत्माकी तुष्टिके लिये प्रकृतिके हाथमें यंत्र मात्र है। विधान और कुछ नहीं, बस क्रियाकी प्रणाली या नियम है; उसे हमारे दर्शनमें विधान नहीं बल्कि धर्म, एक साथ धारण किये रखना कहा गया है; यह वह तत्त्व है जिससे विश्वका कार्य, उसके अंगोंका कार्य और व्यक्तिका कार्य एक साथ धृत रहते हैं। विश्वमें, अंगों और व्यक्तियोंमें इस कार्यको कर्म, क्रिया, क्रीड़ारत ऊर्जा कहा जाता है, और जिस वस्तुमें कर्म घटित होता है उसकी प्रकृति द्वारा नियत कर्म, “स्वभावनियतम् कर्मः,” धर्म या विधानकी परिभाषा है। प्रत्येक पृथक् सत्ताका, प्रत्येक व्यक्तिका एक स्वभाव है और वह उसीके अनुसार कार्य करता है; व्यक्तियोंके प्रत्येक दल, जाति या समष्टिका एक स्वभाव है और वह दल, जाति या समष्टि उसीके अनुसार कार्य करती है, और फिर विश्वका भी अपना स्वभाव है और वह उसीके अनुसार कार्य करता है, वही उसकी पशुओं, वृक्षों या अन्य व्यक्ति-समूहोंसे भिन्न सत्ताका धर्म है। प्रत्येक मनुष्यका एक अपना विविक्त स्वभाव है और वही उसकी सत्ताका धर्म है और उसे ही उसके व्यक्ति-रूपमें उसका पथप्रदर्शन करना चाहिये। परन्तु उन छोटे-छोटे धर्मोंसे ऊपर और परे विश्वका महान् धर्म है जो यह कहता है कि अमुक पूर्वकर्म अवश्य ही अमुक नवीन कर्म या फल उत्पन्न करेगा।

कार्यकारण-सम्बन्धके सारे नियमकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि पूर्वकर्म बादके कर्मको, कर्मफलको ले आता है। हिन्दू मत यह है कि वास्तविक वाणी या कार्यके साथ-साथ विचार और भावनाएँ भी कर्मका अंग हैं और परिणाम उत्पन्न करती हैं, और हम इस यूरोपीय भावनाको स्वीकार नहीं करते कि वाणी और कार्यके रूपमें विचार और भावनाकी बाहरी अभिव्यक्ति स्वयं विचार या भावनासे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह बाहरी अभिव्यक्ति अभिव्यक्त वस्तुका अंश मात्र और उसके परिणाम भी कर्मफलका अंश मात्र हैं। पूर्वकर्मके फल या परिणाम एक प्रकारके नहीं, अनेक प्रकारके होते हैं। प्रथमतः विचार या भावनाका एक विशेष प्रकारका अभ्यास इस जीवनमें विशेष प्रकारका कर्म और वचन या कर्म और वचनके विशेष प्रकारके अभ्यास उत्पन्न करता है जो दूसरे जन्ममें सौभाग्य या दुर्भाग्यके रूपमें आकार

धारण करते हैं। फिर, वह दूसरोंकी भलाई या बुराईके लिये किये गये अपने कर्मोंसे दूसरे जन्ममें हमारे लिये सुख या दुःखकी अवश्यम्भाविता उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, वह भावी जीवनोंमें विचार या भावनाके उस अभ्यासके बने रहनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करता है जिसमें सौभाग्य-दुर्भाग्यका सुख-दुःखका बना रहना अन्तर्निहित रहता है। अथवा, अन्य रेखाओंपर काम करता हुआ, वह एक विद्रोह या प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, वर्तमानके स्थानपर विपरीत अभ्यासोंको ला बिठाता है जो अच्छाई और बुराईके लिये उलटे परिणाम पैदा करते हैं। यही कर्म-शृँखला है. कर्म-बन्धन है जिसे हिन्दू भाग्य कहते और जिससे वे छुटकारा चाहते हैं।

परन्तु, यदि विधानसे बचना सम्भव न हो, प्रकृति यदि परम और अप्रशाम्य हो, तो फिर छुटकारा नहीं हो सकता; तब स्वतंत्रता हो जाता है कपोलकल्पना, बन्धन हो जाता है चिरबन्धन। निस्तार तब तक नहीं मिल सकता जब तक हमारे अन्दर ऐसा कुछ न हो जो स्वतन्त्र और स्वामी हो, प्रकृतिसे श्रेष्ठतर हो। यह हस्ती हिन्दू ज्ञानको चिरस्वतंत्र तथा चिरानन्दमय आत्मामें मिलती है जो विश्वके परमात्माके साथ तत्त्वतः और यथार्थतः एक है। आत्मा कार्य नहीं करता, प्रकृति ही अपने अन्दर कार्यको धारण किये रहती है। यदि आत्मा कार्य करता तो वह अपने कार्यसे बद्ध हो जाता। जो वस्तु कार्य करती है वह है प्रकृति जो कि वस्तुओंके स्वभावको नियत करती है और धर्म या विधानका स्रोत और परिस्थिति है। अन्तरात्मा या पुरुष स्वभावका धारक है, सारे कर्म और कर्म-फलका उपद्रष्टा और भोक्ता है, धर्म और विधानका अनुमन्ता है। वह राजा, प्रभु या ईश्वर है और उसकी अनुमतिके बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। परन्तु राजा विधानसे ऊपर और स्वतंत्र है।

अनुमति देनेकी यह शक्ति ही हमारे जीवनोंमें स्वतंत्र इच्छाका तत्त्व होती है। आत्मा अपने-आपके बद्ध होनेकी अनुमति नहीं देता, बल्कि यह अनुमति देता है कि उसका भोग काल, देश और कार्यकारण-परम्परासे तथा स्वभाव और धर्मसे आबद्ध हो। वह पुण्य या पाप, सौभाग्य या दुर्भाग्य, स्वस्थता या रुग्णता, सुख या दुःखके लिये अनुमति देता या उन्हें अस्वीकार कर देता है। जिस चीजसे वह आसक्त होता है उसे प्रकृति उसके लिये बहुल करती है; जिससे वह थक जाता है, जिसके लिये उसमें वैराग्य होता है उसे प्रकृति उससे अलग हटा लेती है। बस, होना यह है कि चूँकि भोग देश और कालमें होता है, अतः अनुमतिके वापस ले लेनेके बाद भी अभ्यासगत क्रिया कुछ समयतक होती रहती है; ऐसा वैसे ही होता है जैसे भाप बन्द कर देनेके बाद भी इंजन चलता रहता है, पर कुछ देरके बाद वह धीमा हो जाता है और उन्तमें एकदम रुक जाता है। और चूँकि भोग कार्यकारण-परम्परामें होता है अतः कर्मका अभ्यास स्वयमेव और

स्वतंत्रतासे नहीं, बल्कि एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया या बहुत-सी सुव्यवस्थित प्रक्रियाओं-मेंसे किसी एकके द्वारा छूटता है। अब संसारके सामने यह महान् सत्य प्रकट हो रहा है कि 'इच्छा' ही वह चीज है जो संसारको चला रही है और भाग्य तो प्रक्रिया मात्र है जिसके द्वारा 'इच्छा' अपने-आपको चरितार्थ करती है।

परन्तु प्रकृतिके ऊपर अपने प्रभुत्वका अनुभव करनेके लिये मानव-अन्तरात्माको अनन्तके साथ, विश्वात्माके साथ योग स्थापित करना होगा। उसकी इच्छाको विश्व-व्यापिनी इच्छाके साथ एक हो जाना होगा। मानव-अन्तरात्मा विश्वात्माके साथ एक है, परन्तु शरीरमें वह पृथक् और असंबद्ध वस्तुकी तरह स्थित होता है क्योंकि उसे एक अमुक स्वतंत्रता दी गई है ताकि वस्तुओंका स्वभाव विभिन्न शरीरमें विभिन्न रूपोंमें विकसित हो सके। इस स्वतंत्रताका उपयोग मानव-जीव अज्ञानपूर्वक कर सकता है या ज्ञानपूर्वक। यदि वह इसका उपयोग अज्ञानपूर्वक करता है तो वह वास्तव-में स्वतंत्र नहीं,क्योंकि अज्ञान प्रकृतिके हाथमें होनेका भ्रम अपने साथ ले आता है। ज्ञानपूर्वक उपयोग करनेपर जीवकी स्वतंत्रता वैश्व इच्छाके प्रति समर्पण हो जाती है। मानव-जीवके सामने यह चुनाव रखा गया है कि या तो वह प्रकृतिके अन्दर भाग्यका प्रतीयमान वन्धन स्वीकार करे या परमात्मा और परमेश्वरकी विश्वव्यापिनी स्वतंत्रता एवं प्रभुतामें प्रकृतिमेंसे संसिद्ध स्वतंत्रता प्राप्त करे। अपने-आपको प्रकृति-के बन्धनमेंसे धीरे-धीरे मुक्त करना ही मनुष्यजातिकी सच्ची प्रगति है। जड़ पत्थर या कुन्दा प्राकृतिक नियमोंकी निष्क्रिय क्रीड़ा है, ईश्वर उनका स्वामी। मनुष्य इन दो चरम छोरोंके बीच खड़ा है और एकसे दूसरेकी ओर ऊपर उठ रहा है।

"कर्मयोगी," 29.1.1910

कर्मकी उलझन

यह स्पष्ट है कि कर्मके प्रचलित सिद्धान्तको और विश्वात्माकी कार्यविधियोंका औचित्य सिद्ध करनेके उसके छिछले प्रयत्नको हमें वहुत पीछे छोड़ देना चाहिये, क्योंकि वह विश्वात्माकी कार्यविधियोंका नियम-विधान और न्यायकी संक्षिप्त धारणाओंके साथ जबरदस्ती और भद्देपनसे एकसाम्य करनेका प्रयत्न करता है, मनुष्यके बाह्य मनको प्रिय रहनेवाली पुरस्कार और दंड, लोभ और भयकी भद्दी और प्रायः वर्वरतापूर्ण आदिम पद्धतियोंको विश्वात्माकी कार्य-पद्धतियोंपर जवरदस्ती लादनेकी कोशिश करता है। यहाँ, प्रकृतिकी क्रियाके मूलमें, एक अधिक वास्तविक और आध्यात्मिक सत्य है और ऐसी यांत्रिक क्रिया बहुत ही कम होती है जिसका हिसाब लगाया जा सके। यहाँ तुच्छ मानवीय महत्वसे बँधा हुआ कठोर और संकीर्ण नैतिक नियम नहीं है, पिटाई और मिठाईकी मिश्रित प्रणालीसे शिशु-आत्माको दी जानेवाली शिक्षा नहीं है, वर्वर क्रूरता युक्त वैश्व न्यायका निरर्थक चक्र नहीं है जो मनुष्यके अज्ञानपूर्ण निर्णयों तथा सांसारिक इच्छाओं और प्रवृत्तियोंके रास्तेपर स्वचालित यंत्रकी भाँति चलता हो। जीवन और पुनर्जन्म इन कृत्रिम रचनाओंका नहीं, अपितु किसी आत्मिक गतिधाराका अनुसरण करते हैं जिसका प्रकृतिके गम्भीरतम प्रयोजनसे अंतरंग संबंध होता है। अवचेतन जड़तत्वमेंसे निकलते और अपनी ज्योतिर्मय दिव्यताकी ओर आरोहण करते अंतरात्माकी चेतना और अनुभूतिके ऊर्ध्वारोहणपर दृष्टि रखनेवाली एक वैश्व इच्छा एवं प्रज्ञा कर्मके मानदंडको स्थिर करती है और कर्मकी रेखाओंको, या यों कहें कि कर्मके सत्यको – क्योंकि नियमकी धारणा तो अत्यधिक यांत्रिक वस्तु है – निरन्तर विस्तारित करती है।

कारण, नियमसे हम जो समझते हैं वह है प्रकृतिमें होनेवाली कोई एक ही अपरिवर्तनशील और अभ्यासगत गतिधारा या पुनरावृत्ति जिसके फलस्वरूप वस्तुओंकी एक सुनिश्चित क्रम-परंपरा उत्पन्न होती है और वह क्रम होना चाहिये सुस्पष्ट, सुनिश्चित, अपने नियम-विधानसे बँधा हुआ, अपरिवर्तनशील। यदि ऐसा नहीं है, यदि गतिधारा बहुत अधिक परिवर्तनशील है, यदि क्रिया और प्रतिक्रियाकी अत्यधिक घबड़ा देनेवाली विविधता या व्यतिक्रम, शक्तियोंकी अत्यन्त प्रचुर जटिलता बीचमें आ पड़ती है, तो हमारी तर्कबुद्धिकी संकीर्ण और हठी अक्षमताको वहाँ कोई नियम

नहीं, एक अनिश्चितता और अस्तव्यस्तता ही दीखती है। हमारी तर्कबुद्धिको अपनी उपयुक्त परिस्थितियोंको काटने-छाँटने तथा स्वच्छन्दतापूर्वक चुनने, अपनी अपरिवर्तनशील तथ्य-सामग्रीको पृथक् करने, जीवनका एक ढाँचा ही ढाँचा बना देने या उसे यांत्रिक रूप देनेका अवसर अवश्य मिलना चाहिये; नहीं तो वह सूक्ष्म और अनिश्चित मानदंडोंके क्षेत्रमें ठीक-ठीक विचार करने या प्रभावशाली ढंगसे कार्य करनेमें असमर्थ होकर मुँह फाड़े भौचक्की सी खड़ी रह जाती है। उसे शक्तिमती प्रकृतिके साथ भी उसी प्रकार व्यवहार करने देना होगा जिस प्रकार कि वह मनुष्यके समाज, राजनीति, नीतिशास्त्र आचार आदिके साथ व्यवहार करती है; कारण, वह केवल वहीं समझ सकती और अच्छी तरह काम कर सकती है जहाँ उसे अपने ही कृत्रिम नियमोंको बनाने और सुस्पष्ट रूपमें निर्धारित करने, एक स्पष्ट, सुनिश्चित, कठोर और अमोघ विधि-व्यवस्थाका निर्माण करने और 'अनन्त'से हमारे मन और प्राणपर दबाव डालनेवाली अंतहीन परिवर्तनशीलता, विविधता और जटिलताके लिये यथासंभव कमसे कम गुंजाइश छोड़नेका अधिकार-पत्र दे दिया जाता है। इस आवश्यकतासे चालित होकर हम अपने अंतरात्माओंके लिये और विश्वात्माके लिये भी एक ऐसा ही एकमात्र और अपरिवर्तनशील कर्मका नियम गढ़नेका प्रयत्न करते हैं जैसा कि यदि जगत्का शासन हमारे हाथमें सौंप दिया गया होता तो स्वयं हमने बनाया होता। तब हमने यह रहस्यपूर्ण विश्व नहीं, बल्कि एक तर्कसंगत विश्वका नमूना बनाया होता जो हमारी क्रियामें सरल कौर सुनिश्चित मार्ग-दर्शनकी चाहके लिये और हमारी सीमित बुद्धिको सरल और सुस्पष्ट प्रतीत होनेवाले सुनिर्दिष्ट व्यावहारिक नियमकी आवश्यकताके लिये उपयुक्त होता। किन्तु यह शक्ति जिसे हम 'कर्म' कहते हैं कोई ऐसी सुनिश्चित और अपरिवर्तनशील यांत्रिक क्रिया नहीं सिद्ध होती जैसी कि हमें आशा थी, बल्कि वह तो कई भिन्न-भिन्न भूमिकाओंकी वस्तु है और ज्यों-ज्यों वह एकसे दूसरी उच्चतर भूमिकापर चढ़ती है त्यों-त्यों, और प्रत्येक भूमिकापर भी, वह अपने रूप और चालको, तत्त्वतकको परिवर्तित कर देती है, क्योंकि वह कोई एक ही गतिधारा नहीं, बल्कि एक अनिश्चित जटिल जाल है जो ऊपरकी ओर जानेवाली ऐसी अनेक वर्तुलाकार गतिधाराओंमेंसे निर्मित है जिनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करना या यह पता लगाना हमारे लिये काफी मुश्किल होता है कि वे जटिलताएँ प्रकृतिके साथ पुरुषके व्यवहारोंके इस विशाल क्षेत्रमें हमारे लिये अज्ञात और अचिंत्य रहनेवाले किस निगूढ़ सामंजस्यका ताना-बाना बुन रही हैं।

तो हमें अब कर्मको नियम नहीं, वरन् समस्त क्रिया और जीवनका बहुमुखी सक्रिय सत्य, इस जगत्में अनन्तकी आंगिक गतिधारा कहना चाहिये। प्राचीन मनी-

षियोंने उसके अन्दरके इसी सत्यको देखा था; पीछे चलकर अल्पतर बुद्धिवाले मनुष्योंने उसे काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला और आसान तथा भ्रमात्मक लोकप्रिय सूत्रका रूप दे दिया। कर्मकी क्रिया आत्माकी अनेक निगूढ़ संभावनाओंकी गति-धाराओंका अनुसरण करती है और उन्हें आत्माके असंख्य हिलोरोंमे, परस्पर संयुक्त होने और संघर्ष करनेवाली विश्व-शक्तियोंकी अनेक तरंगों और धाराओंमें ले जाती है; वह सृजनात्मक 'अनन्त' की क्रियाविधि है; वह प्रकृतिमें व्यष्टि-आत्मा और विश्वात्माकी प्रगतिका दीर्घ एवं बहुविध मार्ग है। उसकी जटिलताएँ हमारे भौतिक मन द्वारा नहीं सुलझायी जा सकतीं, क्योंकि भौतिक मन सदा वस्तुओंके ऊपरी रूपमें बँधा रहता है और न यह कार्य कामनामूलक प्राणात्मक मन द्वारा ही संभव है, क्योंकि वह अपनी ही सहजप्रवृत्तियों, लालसाओं और दुःसाहसपूर्ण संकल्पोंके गुबारमें दृश्य और अदृश्य लोकोंकी उन असंख्य अनुकूल और विरोधी शक्तियोंकी भूलभूलैयामेंसे लड़खड़ाता आगे बढ़ता है जो कि हमें चारों ओरसे घेरे रहती, प्रेरित करती, आगे धकेलती और रोकती हैं। और स्पष्ट कटे-छँटे सिद्धान्तोंकी खोजका दृढ़ाग्रह करनेवाली हमारी तर्कबुद्धिकी निश्चितियों द्वारा भी उसका निर्दोष वर्गीकरण और व्याख्या संभव नहीं, उसे अलग-अलग गटठरोंमें भी नहीं बाँधा जा सकता। अभी जो हमारे लिए प्रकृति द्वारा लिखी गयी कर्मकी अस्पष्ट चित्रलिपि है उसे हम केवल उस दिन बिलकुल ठीक-ठीक पढ़ सकेंगे जब कि हमारी विस्तीर्ण चेतनामें ज्ञानकी अतिमानसिक विधिका उदय होगा। अतिमानसिक चक्षु एक ही दृष्टिमें सैकड़ों संयुक्त होती और पृथक् होती गतियोंको देख सकता और अपने समन्वयात्मक सत्य-दर्शनकी विशालतामें उस सबको आवेष्टित कर सकता है जो हमारे मनके लिये असंख्य परस्परविरोधी सत्यों और शक्तियोंका संघर्ष, विरोध, मुठभेड़ और गुत्थमगुत्था-युद्ध है। अतिमानसिक दृष्टिमें सत्य एक ही साथ अद्वय और अनन्त होता है और उसकी क्रीड़ाकी जटिलताएँ 'शाश्वत' के बहुमुख एकत्वकी समृद्ध अर्थवत्ताको बहुत ही सहजतासे प्रगट करनेमें सहायक होती हैं।

योग और मानव-विकासक्रम

हमारी मानव-प्रकृतिका सारा श्रम रहा है शरीर और प्राणावेगोंके बन्धनसे परित्राण पानेका प्रयत्न। वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार मानव-प्राणीने आरम्भ किया पशु-रूपसे; वह वन्य मानवकी अवस्थामेंसे विकसित होता हुआ बढ़ा और उसने आधुनिक सभ्य मनुष्यकी उत्कृष्टता प्राप्त कर ली। भारतीय मत भिन्न है। ईश्वरने जगत् की सृष्टि 'एक' में से बहु और आध्यात्मिकतामेंसे भौतिकके विकास द्वारा की। भौतिक जगत्का निर्माण जिन पदार्थोंमे हुआ है उन्हें ईश्वरने आरम्भसे ही उनके कारण-रूपमें आयोजित किया था, उन्हें सूक्ष्म या अतिभौतिक लोकमें उनकी सत्ताके धर्मानुसार विकसित किया था और तदुपरान्त सूक्ष्म या भौतिक लोकमें अभिव्यक्त किया है। कारणसे सूक्ष्म, सूक्ष्मसे स्थूल, और फिर वापस, यही सूत्र है। जड़में एकवार अभिव्यक्त हो जानेपर जगत् ऐसे नियमों द्वारा अग्रसर होता है जो युग-युगान्तरमें भी नहीं बदलते, पर वह बढ़ता है एक नियमित अनुक्रमसे, जब तक कि सब कुछ वापस उस मूलमें न चला जाय जहाँसे वह आया था। भौंतिक वापस चला जाता है अति-भौतिकमें और अतिभौतिक संवृत है कारण अथवा बीजमें। उसे पुनः तब व्यक्त किया जाता है जब विस्तरणका काल पुनः आता है और वह अपनी यात्रामें सदृश रेखाओंपर किन्तु भिन्न व्योरोंसे तब तक चलता जाता है जब तक कि संकोचनका समय न आ जाय। हिन्दू मत जगत्के प्रपंचके पुनरावर्त्तनशील धाराक्रमकी तरह देखता है जिसकी शैली भिन्न होती है किन्तु सामान्य सूत्र वहीका वही रहता है। यह सिद्धान्त केवल तभी स्वीकार्य होता है जब कि हम विष्णु पुराणमें प्रतिपादित "विज्ञानविजृम्भितानि" की धारणाके सत्यको मानते हों,——यह कि जगत् वैश्व प्रज्ञामेंसे विकसित हुआ है, वह प्रज्ञा ही सारे भौंतिक प्रपंचके मूलमें है और वृक्षकी वृद्धि और लोष्टके विकासक्रमको और सजीव प्राणियोंके विकास और मानवजातिकी प्रगतिको भी अपनी अन्तर्निवासिनी शक्तिसे आकार देती है। हम जो कोई भी सिद्धान्त लेवें, भौतिक जगत्के नियमोंपर असर नहीं पड़ता। युग-युग, कल्प-कल्प, नारायण ही नित्य विकसित होती मानवतामें अपनेको अभिव्यक्त करते हैं और मानवता विस्तरण तथा संकोचनके धाराक्रमसे अनुभवमें वर्द्धित होती हुई ईश्वरमें अपनी नियत आत्मोपलब्धिकी ओर बढ़ती है। हिन्दुओंका युग-सिद्धान्त इस क्रमविकासका निषेध नहीं करता। हिन्दू मतके हर युग-

की नैतिक और आध्यात्मिक क्रमविकासकी अपनी धारा रही है और सत्ययुगसे कलियुगतक धर्मका ह्रास वस्तुत: अवनति नहीं अपितु हृदयमें एक अधिक गहरी आध्यात्मिक तीव्रताकी तैयारीके लिए आध्यात्मिकताके वाह्य रूपों और सहारोंकी घिसाई रहा है। प्रत्येक कलियुगमें मानवजातिको आध्यात्मिकताके सारतत्त्वकी कोई प्राप्ति होती है। हम चाहे आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणको लें चाहे प्राचीन हिन्दू दृष्टिकोणको, मानवजातिकी प्रगति सच्ची बात है। ब्रह्मका चक्र निरन्तर घूमता रहता है किन्तु वह एक ही स्थलपर नहीं घूमता; उसके चक्र उसे आगे ले जाते हैं।

मनुष्य और पशुमें भेद यह है कि पशु देह और प्राणिक आवेगोंका दास है, अशनाया मृत्यु:। क्षुधाने, जो कि मृत्यु है, प्राचीन जगत्मेंसे भौतिक जगत्को विकसित किया और शरीरकी क्षुधा और कामना और प्राणिक संवेदन और प्राणसे सम्बन्धित आरम्भिक संवेग ही पशुमें और पशुकी अवस्थाके बराबर रहनेवाले वन्य मनुष्यमें जगत्का आहार करना चाहते हैं। यूरोपीय विज्ञानके अनुसार, इस पशु-अवस्थामेंसे सामाजिक अवस्थामें बौद्धिक और नैतिक विकास द्वारा व्याघ्र और वानरको निवृत्त करते मनुष्यका उदय होता है। यदि पशुको निवृत्त करना है तो यह स्पष्ट है कि देह और प्राणको जीतना ही होगा, और वह विजय जैसे जैसे संपूर्ण होती है, वैसे वैसे मनुष्यका विकास होता है। बहुतोंने मानवजातिकी प्रगतिको प्रमुखत: मानवीय वुद्धिके विकासमें माना है, और इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धिक विकास आत्म-विजयके लिये अत्यावश्यक है। पशु और वन्य मनुष्य शरीरसे इस कारण बँधे हैं कि पशुके भाव और वन्य मनुष्यके भाव अधिकांशमें उन संवेदनों और साहचर्योंतक सीमित हैं जिनका शरीरसे सम्बन्ध होता है। बुद्धिका विकास मनुष्यको अन्दरके गभीरतर आत्माको पाने और हमारे दर्शन शास्त्रोंमें कही गयी देहात्मिका बुद्धिके स्थानपर, जिन भावों और संवेदनोंके कारण हम अपने शरीरको ही 'हम' मानते हैं उनके समूहके स्थानपर ऐसे अन्य भावोंकी अवलिको स्थापित करनेमें समर्थ करता है जो शरीरसे आगे चले जाते हैं और जो, अपने ही आनन्दके लिए अस्तित्वमें रहते हुए और बौद्धिक तथा नैतिक संतुष्टिको जीवनके प्रधान लक्ष्योंके रूपमें प्रतिस्थापित करते हुए, निम्नतर ऐन्द्रिय कामनाओंके कलरवको यदि पूरा शान्त नहीं भी कर सकते तो उनपर अधिकार तो करते ही हैं। शरीरकी चिन्ताओं और सुखों और प्राणके आवेगों, संवेगों और संवेदनोंमें तल्लीन रहनेवाला वह पशु-अज्ञान तामसिक होता है, वह प्रकृतिके उस तीसरे तत्त्वकी प्रधानताका परिणाम है जो अज्ञान और जड़ताकी ओर ले जाता है। वह अवस्था पशुकी और मानवताके निम्नतर रूपोंकी है; पुराणोंमें उन्हें ही प्रथम या तामसिक सृष्टि कहा जाता है। बुद्धिका विकास इस पशु-अज्ञानको मिटाना चाहता है; फलत: मानव-विकासक्रममें उसका

परम महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है।

परन्तु मनुष्य बुद्धि द्वारा ही नहीं उठता। यदि परिष्कृत बुद्धिको शुद्धीकृत संवेगोंका अवलम्ब न हो तो बुद्धिमें एक बार फिर शरीरके अधीन होने और उसकी सेविका होनेकी प्रवणता होती है और समूचे मनुष्यपर शरीरका नेतृत्व प्राकृतिक अवस्थाके समयकी अपेक्षा अधिक खतरनाक हो जाता है क्योंकि प्राकृतिक अवस्थाकी निर्दोषिता चली गयी होती है। ज्ञानबलको इन्द्रियोंके हाथोंमें कर दिया जाता है, सत्त्व तमसकी सेवा करता है, हमारे अन्दरका देव पाशविकका दास हो जाता है। वैज्ञानिक भौतिकवाद जगत्के लिए इसी अवस्थाकी ओर वापसीको प्रोत्साहन देनेका अनिष्ट अनजानमें कर रहा है। मनुष्यके अकस्मात् जाग्रत् समूहोंको भावोंके साथ बौद्धिक रूपसे व्यवहार करनेका अभ्यास नहीं; वे स्वतन्त्र विचारके स्फुट आकर्षक नवाचारोंको समझनेमें तो सक्षप हैं परन्तु उसकी सूक्ष्म अस्फुट बातोंको पहचाननेमें नहीं; वे पशु-अवस्थाकी ओर वापस लुढ़कनेकी राहपर, बर्बरतामें फिरसे गिरनेकी राहपर हैं, यह अवस्था वैसी ही है जैसी कि रोमन साम्राज्यकी भौतिक सभ्यता और बौद्धिक संस्कृतिकी ऊँची स्थितिमें थी और जिसे एक प्रतिष्ठित ब्रिटिश राजनीतिज्ञने यूरोपकी अवस्थाके समीप बताया था। अतएव भावावेगका विकास स्वस्थ मानव-क्रमविकासकी पहली शर्त्त है। जबतक भावनाएँ शरीरसे निवृत्त नहीं हो जाती और पर-प्रेम पाशविक आत्म-प्रेमका स्थान बढ़ते रूपमें नहीं ले लेता तबतक कोई ऊर्ध्व-मुखी प्रगति नहीं हो सकती। मानव-समाजके संगठनसे मनुष्यमें परहितात्मक तत्त्वका विकास होना चाहता है, वह जीवनकी ओर बढ़ता है और "अशनाया मृत्युः" से लोहा लेता और उसे जीतता है। अतः क्रमविकासमें सबसे महत्त्वपूर्ण सत्र जीवनके लिए संघर्षका नहीं, कमसे कम कपने जीवनके लिए संघर्षका तो नहीं, अपितु दूसरोंके जीवनके लिए, अपनी सन्ततिके लिए, अपने परिवारके लिए, अपने वर्गके लिए, अपने समुदायके लिए, अपनी जाति और राष्ट्रके लिए, मानवजातिके लिए संघर्षका है। हमारे वैयक्तिक मन और शरीरतक सीमित रहनेवाले पुराने संकीर्ण आत्माका स्थान लेता है एक नित्य आत्मा, और समाज इसी नैतिक वर्द्धनको सहायता देता और संगठित करता है।

मानव-प्रगतिके बारेमें यहाँतक हमारे अपने विचारों और पश्चिमके विचारोंके बीच मूलभूत भेद इस बातके अलावा अल्प है कि पश्चिम इस क्रमविकासको जड़-तत्त्वका विकास मानता है और युक्तिबुद्धिकी, चिन्तनशील और प्रेक्षणशील बुद्धिकी तुष्टिको हमारी प्रगतिका सबसे ऊँचा सत्र। यहींपर हमारा धर्म विज्ञानसे अलग हो जाता है। वह यह घोषणा करता है कि जो गभीरतर भावावेगप्रेरक और बौद्धिक

आत्मा शरीरमें संवृत और प्राणकी कामनाओसे आच्छादित था उसकी पुन:प्राप्तिमें जड़तत्त्वपर विजय ही क्रमविकास है। उपनिषदोंकी भाषामें मन:कोश और बुद्धि-कोशमें प्राणकोश और अन्नकोशकी अपेक्षा अधिक विशेषता है और मनुष्य अपने क्रम-विकासमें उन्हींकी ओर उठता है। फिर धर्म हमारे विकासक्रमके लिए शुद्धीकृत भावावेगों या प्रेक्षणशील और चिन्तनशील बुद्धिकी परिष्कृत क्रियाशीलताकी अपेक्षा उच्चतर सत्र खोजता है। विकासक्रमका उच्चतम सत्र है अध्यात्म-सत्ता जिसमें मानवजातिके त्रिधर्म, ज्ञान, प्रेम तथा कर्मको अपनी परिपूर्त्ति और लक्ष्यकी उपलब्धि होती है, यही है आनन्दकोशमें स्थित आत्मा, और जो विश्वात्मा ईश्वर है उसके साथ इस वैयक्तिक आत्माके समागम और तादात्म्यसे ही मनुष्य पूरा विशुद्ध, पूरा सबल, पूरा बुद्धिमान और पूरा आनन्दमय बनेगा। भावावेगोंकी शुद्धि और बुद्धिके परिष्कार द्वारा शरीर और प्राणात्मापर विजय भूतकालका प्रधान कार्य थी। शुद्धि की गई है नैतिकता और धर्म द्वारा, परिष्कार किया गया है विज्ञान और दर्शन द्वारा; कला, साहित्य और सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन वह प्रधान माध्यम रहे हैं जिसमें इन उन्नायिका शक्तियोंने कार्य किया है। भावावेगों और बुद्धिपर अध्यात्म-तत्त्व द्वारा विजय भविष्यका कार्य है। योग वह साधन है जिसके द्वारा वह विजय सम्भव बनती है।

मानवजातिकी अतीतकी प्रगति बहुत ही अनिश्चित आधारपर कायम है; योगमें तेजीसे उसकी आवृत्ति की जाती है, उसे पक्का किया जाता और उसपर अविच्छेद्य अधिकार किया जाता है। शरीरको जीता जाता है, जैसे माधारण सभ्य मनुष्यने किया है उस तरह अपूर्ण रूपसे नहीं, अपितु पूरी तरह। प्राणिक अंगको शुद्ध किया जाता है और उसके बाह्य जगत्‌के साथके सम्बन्धोंमें उसे उच्चतर भावावेगपरक और बौद्धिक आत्माका उपकरण बनाया जाता है। बाहरकी ओर जानेवाले भावोंके स्थान-पर अन्दर चलनेवाले भाव लाए जाते हैं, निम्नतर गुणोंको आधारमेंसे निवृत्त किया जाता और उनकी जगह उच्चतर गुणोंको लाया जाता है, निम्नतर भावावेगोंको अधिक उदात्त भावावेगोंके समूह द्वारा निकाल दिया जाता है। अन्तमें सारे भावों और भावावेगोंको शान्त कर दिया जाता है और संबोधिमयी बुद्धिके पूर्ण जागरण द्वारा, जिससे कि मनका आत्माके साथ समागम होता है, अन्तमें समूचे मनुष्यको 'अनन्त' की सेवामें नियुक्त कर दिया जाता है। मारा मिथ्या आत्मा सच्चे आत्मामें विलीन हो जाता है। मनुष्यका ईश्वरसे साधर्म्य, सायुज्य या तादात्म्य हो जाता है। यही मुक्ति है, यही वह अवस्था है जिसमें मानवताको उस स्वातंत्र्य एवं उस आत्माकी पूर्णोपलब्धि होती है जो उसके सनातन लक्ष्य हैं।

कर्मयोगी, 3.7.1909

मनुष्य एक मध्यवर्तिनी सत्ता

मनुष्य मध्यवर्तिनी सत्ता है, अंतिम नहीं, क्योंकि मनुष्यके अन्दर और उसके परे बहुत ऊँचाई तक ज्योतिर्मयी कोटियाँ उठती हैं जो दिव्य अतिमानवता तक जाती हैं। यही है हमारी भवितव्यता और हमारे अभीप्सु, किन्तु विक्षुब्ध और सीमित पार्थिव अस्तित्वकी मुक्तिदायिनी कुंजी।

मनुष्यसे हमारा अभिप्राय है जीवंत शरीरमें बंदी मनसे। परन्तु मन ही चेतनाकी उच्चतम संभाव्य शक्ति नहीं; कारण, मनको सत्य अधिकृत नहीं है, वह तो सत्यका अज्ञ अन्वेषक ही है। मनसे परे चेतनाकी एक अतिमानसिक या विज्ञानमयी शक्ति है जिसे सत्य नित्य उपलब्ध है। यह अतिमानस मूलतः दिव्य ज्ञाता एवं स्रष्टाकी सक्रिय चेतना है, अपने स्वभावमें युगपत् और अविच्छेद्य रूपसे उसकी अनन्त प्रज्ञा और अनन्त इच्छा है। अतिमानस अतिमानव है; विज्ञानमय अतिमानवत्व ही क्रमविकासमें वह आगामी सुस्पष्ट और विजयी स्तर है जहाँ पार्थिव प्रकृतिको पहुँचना है।

मानवसे अतिमानवकी ओरका डग ही पार्थिव क्रमविकासमें अब आगे आनेवाली संसिद्धि है। वह डग अनिवार्य है क्योंकि वह एक साथ ही अन्तःस्थ परमात्माका अभिप्राय और प्रकृतिकी प्रक्रियाकी युक्तिसंगत परिणति भी है।

जड़ और पशु-जगत्में मानव संभावनाका उदय किसी आनेवाली दिव्य ज्योतिकी प्रथम किरण, जड़तत्त्वके भीतरसे देवताके जन्मका प्रथम सुदूर आश्वासन था। मानव-जगत्में अतिमानवका प्रादुर्भाव इस भागवत प्रतिज्ञाकी परिपूर्ति होगा। हमारा मन जिस जड़ चेतनामें जँजीरसे बँधे गुलामकी तरह काम करता है उसीके भीतरसे दिव्य शक्ति, आनन्द और ज्ञानके गुप्त सूर्यका तेजोमंडल बाहर निकल रहा है, अतिमानस उसी जाज्वल्यमान प्रभामंडलका गठित शरीर होगा।

अतिमानवताका अर्थ ऐसा मनुष्य होना नहीं है जो अपनी प्रकृतिकी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका हो; वह मानवीय महत्ता, ज्ञान, बल, बुद्धि, इच्छा. चरित्र, प्रतिभा, सक्रिय शक्ति, साधुता, प्रेम, पवित्रता या पूर्णताकी उच्चतर कोटि भी नहीं है। अतिमानस मनोमय मनुष्य और उसकी सीमाओंसे परेकी चीज है; वह तो मानवीय प्रकृतिकी उच्चतम चेतनासे भी महत्तर चेतना है।

मनुष्य मनोमयी सत्ता है जिसकी मनःशक्ति स्थूल मस्तिष्कमें संवृत, तमसाच्छन्न

और विकृत होकर यहाँ पर कार्य करती है। यहाँ तक कि मानवजातिके उन्नतम व्यक्तिमें भी यह मन:शक्ति इस पराधीनताके कारण अपनी परम शक्ति और स्वतंत्रताकी उज्जवल संभावनाओंको खो बैठती है, अपनी दिव्य शक्तियोंकी ओर भी बंद हो जाती है, हमारे जीवनको कुछ संकीर्ण और अनिश्चित सीमाओंके परे परिवर्तित करनेमें असमर्थ होती है; यह एक सीमाबद्ध और अवरुद्ध शक्ति है जो बहुत वार प्राण और शरीरकी सेविका मात्र या उनकी रुचियोंका पोषण करनेवाली या उनके मनोरंजन-की सामग्री जुटानेवाली होती है, इससे अधिक कुछ नहीं। परन्तु दिव्य अतिमानव विज्ञानमय आत्मा होगा। उसमें अतिमानस मानसिक और भौतिक यंत्रोंपर अपना हाथ रखेगा और, ऊपर खड़े होकर, वह मन, प्राण और शरीरको रूपान्तरित करेगा।

मनुष्यमें सबसे ऊँची शक्ति है मन। परन्तु मनुष्यका यह मन अज्ञानमयी, तमोग्रस्त और प्रयत्नसंघर्षरत शक्ति है। और अधिकतम ज्योतिर्मयताकी अवस्थामें भी उसे केवल एक क्षीण, प्रतिविम्वित और धूमिल ज्योति ही प्राप्त होती है। अतिमानवका कन्द्रीय यंत्र होगा अतिमानव जो कि मुक्त स्वामी और दिव्य महिमाओंका प्रकाशक होगा। उसके स्वयंभू ज्ञान, स्वत:प्रवर्तित शक्ति और निष्कलंक आनन्दकी अबाध क्रिया पार्थिव जीवनपर देवताओंका सामंजस्य अंकित कर देगी।

मनुष्य अपने-आपमें एक महत्त्वाकांक्षी 'कुछ नहीं' से अधिक नहीं। वह अपनेसे परेकी विशालता और महानताको छूनेका प्रयत्न करती तुच्छता है, वह ऊँचाइयोंसे मोहित बौना है। उसका मन विश्वमनकी दीप्तियोंके बीच काली किरण जैसा है। उसका प्राण विश्व-प्राणका प्रयास करनेवाला, हर्षसे उछल पड़नेवाला, कष्ट भोगनेवाला, उत्सुक, आवेग-प्रताड़ित और शोक-जर्जरित अथवा अंधे और मूक भावसे लालसा करनेवाला तुच्छ क्षण है। उसका शरीर इस जड़ जगत्‌में कठिन प्रयास करनेवाला क्षणभंगुर अणुमात्र है। वह प्रकृतिके रहस्यपूर्ण ऊर्ध्वमुख उभारका अंत नहीं हो सकता। अवश्य ही इन सबके परे कोई चीज है, कोई ऐसी चीज जैसा कि मनुष्यजातिको भविष्यमें बनना है, अभी उस चीजकी संभावना और अस्तित्वको अस्वीकार करनेवाली सीमाओं-की विशाल दीवार खड़ी है और वह चीज उस दीवारकी दरारोंके भीतरसे केवल टूटी-फूटी झाँकियोंकी तरह दिखायी देती है। अमर अन्तरात्मा मनुष्यके भीतर कहींपर होता है और अपनी उपस्थितिकी कुछ चिनगारियोंको प्रकट करता है; ऊपरसे एक शाश्वत आत्मा मनुष्यके ऊपर छाया हुआ है और वह उसके प्रकृति-स्थ अन्तरात्माकी अविच्छिन्नताका भर्त्ता है। किन्तु इस महत्तर आत्माके अवतरणमें मनुष्यके निर्मित व्यक्तित्वका कठोर ढक्कन बाधक होता है, और वह अन्त: स्थित ज्योतिर्मय अन्तरात्मा घने बाह्य आवरणसे लिपटा, घुटा और पीड़ित होता है। कुछ जनोंको छोड़कर बाकी

सबमें अन्तरात्मा शायद ही कभी सक्रिय होता है.अधिकतर लोगोंमें वह मुश्किलसे ही दिखायी देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों मनुष्यका अन्तरात्मा और आत्मा उसकी बाह्य और दृश्य वास्तविकताके अंग नहीं हैं बल्कि उसकी प्रकृतिके ऊपर और पीछे ही विद्यमान हैं। वे मानों अभी जड़तत्त्वमें उत्पन्न नहीं हुए हैं बल्कि उत्पन्न होनेकी अवस्थामें हैं; वे मानवीय चेतनाके लिये संसिद्ध और प्रत्यक्ष वस्तुएँ होनेकी अपेक्षा सम्भावनाएँ ही अधिक हैं।

मनुष्यकी महत्ता मनुष्य क्या है उसमें नहीं, वरन् जिसे वह सम्भव बनाता है उसमें है। उसका गौरव इसमें है कि वह जीवंत प्रयासका बंद स्थल और गुप्त कारखाना है जिसमें दिव्य शिल्पीके हाथों अतिमानवताको तैयार किया जा रहा है। परन्तु उसे एक और भी महत्तर महत्तामें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त है और वह यह है कि चूँकि उसे निम्नतर सृष्टिसे भिन्न होनेका सुयोग प्राप्त है अतः वह अंशतः इस दिव्य परिवर्त्तनका शिल्पी है; उसकी चेतन अनुमति, उसका निवेदित संकल्प और सहयोग इसलिए आवश्यक हैं कि जो महिमा उसका स्थान ग्रहण करनेवाली है, वह उसके शरीरमें उतर सके। उसकी अभीप्सा अतिमानसिक स्रष्टाको पृथ्वीकी पुकार है।

यदि पृथ्वी पुकारे और परमात्मा उत्तर दें तो उस महान् और गौरवपूर्ण रूपांतरकी घड़ी अभी ही चली आ सकती है।

परन्तु जिस पार्थिव चेतनाको हम मूर्तिमान करते हैं उसे मनसे अतिमानसमें जानेके इस अभूतपूर्व आरोहणसे कौनसा लाभ प्राप्त होगा और अतिमानसिक परिवर्तनका क्या मूल्य चुकाना होगा? भला किस परिणामके लिये मनुष्य इस संकटापन्न दुःसाध्य कार्यके हेतु अपनी सुरक्षित मानवीय सीमाओंको छोड़ दे?

सबसे पहले यह विचार करके देखा जाय कि जब प्रकृति निष्प्राण जड़तत्त्व प्रतीत होनेवाली वस्तुकी मूढ़ निश्चेतनता और जड़तासे निकलकर उद्भिद क्षेत्रकी बोधशक्तिकी प्रकम्पमान जागृतिमें चली गयी थी तब क्या लाभ हुआ था? यह प्राणकी प्राप्ति हुई थी ; यह लाभ था एक छोटीसी वस्तुका प्रथमारंभ जो अंधकारमें टटोलती है और अभी संवृत है, एक ऐसी चेतनामें पहुँचती है जो इन्द्रिय-कंपनकी ओर, प्राणगत लालसाओंकी तैयारीकी ओर, एक जीवंत हर्ष और सौंन्दर्यकी ओर वर्द्धित होनेके लिए मूक भावसे अपनेको बाहरकी ओर फैलाती है। उद्भिदने प्राणके एक आद्य रूपको संसिद्ध किया पर उसे वह अधिकृत नहीं कर सका; कारण, इस आद्यसंगठित प्राणचेतनामें बोधशक्ति तो थी, पर वह अंधी, मूक, बधिर, मिट्टीसे बँधी हुई थी और अपने ही स्नायु और शिरामें अंतर्ग्रस्त थी, वह उनमेंसे बाहर नहीं निकल सकती थी, न ही वह अपने स्नायु-स्वरूपके पीछे जा सकती थी जैसे कि पशुका प्राणमय मन जाता है;

उसकी ओर ऊपरसे मुड़ तो वह और भी कम सकी जैसा कि अपनी गतिविधिको जानने, अनुभव करने और नियंत्रित करनेके लिये मनुष्यका प्रेक्षक और चिन्तक मन करता है। यह एक कैदबंद लाभ था, क्योंकि उस समय भी आद्य निश्चेतनाका एक बड़ा दवाव था जिसने जड़तत्त्वके प्रपंच और जड़तत्त्वकी ऊर्जाके प्रपंच द्वारा आत्माके सारे चिह्नोंको ढक लिया था। प्रकृति किसी भी तरह वहाँ नहीं रुक सकी, क्योकि उसने अपने अन्दर ऐसा बहुत कुछ धारण कर रखा था जो अभीतक गुह्य, सम्भाव्य, अव्यक्त, अव्यवस्थित और सुप्त ही था; क्रमविकास आगे जानेके लिए बाध्य था। पशुको प्रकृतिके मस्तक और शिखरपर उद्भिदका स्थान लेना था।

इसके बाद जब प्रकृति उद्भिद-राज्यके अंधकारमेंसे निकलकर पशुजीवनके जाग्रत् इन्द्रियबोध, कामना और हृदयावेग तथा मुक्त गतिविधिमें चली गयी तब भला क्या लाभ हुआ? लाभमें मिले मुक्त इन्द्रियबोध, अनुभव, कामना, साहस और चालाकी, कामना, अनुराग और कर्मके विषयोंकी प्राप्तिकी सयोजना, भूख, युद्ध और विजय, कामवृत्ति, क्रीड़ा और सुख, चेतन प्राणीके सारे हर्ष और शोक। केवल शरीरका जीवन नहीं जो कि पशुमें उद्भिदके जैसा ही है, बल्कि प्राणिक मन उत्पन्न हुआ जो पृथ्वीकी कहानीमें पहली बार ही प्रकट हुआ और एक रूपसे दूसरे अधिक सुसंगठित रूपमें तबतक वर्द्धित होता गया जबतक कि वह सर्वोत्तम रूपके अन्दर अपने विधि-विधानकी सीमा तक नहीं पहुँच गया।

पशुने मनका एक प्रथम रूप प्राप्त किया, पर वह उसे अधिकृत नहीं कर सका, क्योंकि वह प्रथम संगठित मनश्चेतना संकीर्ण क्षेत्रमें आवद्ध थी, स्थूल शरीर, मस्तिष्क और स्नायुके सारे क्रियाकलापसे बँधी हुई थी, भौतिक जीवन और उसकी वासनाओं, आवश्यकताओं और अनुरागोंकी सेवा करनेके लिये विवश थी, प्राणिक प्रेरणाके आग्रहपूर्ण उपयोगोंसे, स्थूल लालसा, अनुभव और कर्मसे सीमित थी, अपने ही निम्नतर उपकरणों, साहचर्य, स्मृति और सहज-प्रवृत्तिके अपने सहज-स्वाभाविक मिश्रणसे आबद्ध थी। वह उनमेंसे बाहर नहीं निकल सकी, वह उनके अवलोकनके लिए उनके पीछे नहीं जा सकी जैसा कि मनुष्यकी बुद्धि करती है, और उनके नियंत्रण, विस्तरण, पुनः व्यवस्थापन, अतिक्रमण, समुन्नयनके लिये मनुष्यकी बुद्धि और इच्छाकी तरह ऊपरसे उनकी ओर नीचे मुड़ना तो उससे और भी कम हो सका।

प्रकृतिके आरोहणके प्रत्येक प्रमुख स्तरपर विकसनशील आत्मामें चेतनाका विपर्यय घटित हुआ है। जिस तरह पर्वतारोही अपने परिश्रमका लक्ष्य रहनेवाली चोटीपर पाँव रखता है और उन्नत तथा अधिक विस्तीर्ण दृष्टि-शक्तिसे नीचेकी ओर उस सबको देखता है जो एक समय उसके ऊपर या उसके साथ समान स्तर पर था,

पर अब उसके पैरोंके नीचे है, वैसे ही क्रमविकसनशील जीव अपने भूतकालीन स्वरूपका, अपनी पहलेकी किन्तु अब पार की हुई स्थितिका केवल अतिक्रमण ही नहीं करता, बल्कि स्वानुभव और दृष्टिके एक उच्चतर स्तरसे, एक नये प्रबोधात्मक अनुभव या एक नयी संबोधात्मिका दृष्टिको लेकर और महत्तर मूल्यांकन-पद्धतिमें फलोत्पादिका शक्तिके साथ उस सबपर शासन करता है जो एक समय उसकी अपनी चेतना था पर अब उससे नीचे है और निम्नतर सृष्टिकी वस्तु है। यह विपर्यय सुनिश्चित विजयका चिह्न और प्रकृतिकी आमूल प्रगतिकी मुहर-छाप है।

आध्यात्मिक क्रमविकासमें जो नयी चेतना प्राप्त होती है वह उस चेतनाकी तुलनामें जो एक समय हमारी अपनी थी पर जिसे हम अब पीछे छोड़ चुके हैं, सदा ही स्तर और बलमें उच्चतर होती है, दृष्टि और अनुभवमें विशालतर, व्यापकतर, विस्तीर्णतर होती है, क्षमताओंमें अधिक समृद्ध और अधिक श्रेष्ठ, अधिक जटिल, जीवंत तथा सबल होती है। वहाँ महत्तर विस्तार और प्रदेश होता है, वे ऊँचाइयाँ होती हैं जो अलंघ्य थीं, वे गहराइयाँ और घनिष्टताएँ होती हैं जिनकी आशा नहीं थी। एक ज्योतिर्मय विस्तीर्णता होती है जो परमेश्वरके कार्यपर उसकी अपनी मुहर है।

ध्यान रहे कि प्रकृतिने अबतक जो भी महान् मौलिक प्रगतिके पग आगे बढ़ाये हैं, उनमेंसे प्रत्येक ही अपनी अदना पूर्वावस्थाकी अपेक्षा परिवर्तनकी दृष्टिसे अनन्तगुणा महान्, अपने परिणामोमें अनंतगुणा विशाल रहा है। अधिकाधिक समृद्ध और अधिकाधिक विशाल प्राकट्यके लिए चमत्कारी उद्घाटन हुआ है, सृष्टिमें नया प्रकाश आया है और उसके तात्पर्योमें सक्रिय ऊँचाई आयी है। जिस जगत्में हम रहते हैं, उसमें चौरस भूमिपर मिलनेवाली सबकी समानता नहीं, बल्कि लगातार बढ़ती हुई उन ढालू ऊँचाइयोंकी क्रमपरम्परा है जो अपने गिरिकंधोंको परमात्माकी ओर उठाती हैं।

चूँकि मनुष्य मनोमय प्राणी है, अतः वह स्वभावतः ही यह कल्पना करता है कि विश्वमें मन ही अद्वितीय महान् नेता, कार्यकर्ता और स्रष्टा अथवा अनिवार्य प्रतिनिधि है। किन्तु यह भूल है; ज्ञानके लिये भी मन एकमात्र या महत्तम संभव यंत्र नहीं, एकमात्र अभीप्सु और अन्वेषक नहीं। मन प्रकृतिकी विशाल और यथार्थ अवचेतन क्रिया तथा भगवान्के विशालतर अभ्रांत अतिचेतन कर्मके बीच उपस्थित होनेवाला अदक्ष मध्यवर्ती है।

ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मन तो कर सकता हो पर मनकी निश्चलता और विचारशून्य स्थिरतामें अधिक अच्छी तरह नहीं किया जा सकता हो।

जब मन स्थिर हो जाता है तब सत्यको अपना अवसर मिलता है कि वह नीरवता-

की पवित्रतामें सुनाई दे सके।

सत्य 'मन' के विचार द्वारा नहीं बल्कि एकमात्र तादात्म्य और निश्चल नीरव दर्शन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सत्य शाश्वत देशकी शांत. शब्दविहीन ज्योतिमें निवास करता है; वह तार्किक वादविवादके शोर और बकवासके बीच नहीं आता।

मनका विचार, अधिकसे अधिक, सत्यका चमकीला और पारदर्शी परिधान हो सकता है; वह तो उसका शरीर भी नहीं होता। इस परिधानकी ओर नहीं, बल्कि इसके पार देखनेसे सत्यके आकारका कुछ संकेत मिल सकता है। सत्यका एक विचार-शरीर हो सकता है, किन्तु वह शरीर तो स्वत:स्फूर्त अतिमानसिक विचार और शब्द ही हैं जो कि पूरे गठित होकर ज्योतिमेंसे फूट निकलते हैं; वह मनके द्वारा कठिनतापूर्वक बनी कोई नकली चीज और पेबंदपट्टी नहीं होता। अतिमानसिक विचार सत्य-प्राप्तिका साधन नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यंजनाकी एक पद्धति है, क्योंकि अतिमानस-में सत्य स्वयंलब्ध या स्वयंभू होता है। वह ज्योतिसे आनेवाला वाण होता है, उसके पास पहुँचनेका सेतु नहीं।

अंतरमें विचार और शब्दसे पृथक् हो जाओ, अपने अंतरमें निश्चल हो जाओ, ऊपरकी ओर ज्योतिको और बाहरकी ओर अपने चारों ओर रहनेवाली विशाल विश्व-चेतनाको देखो। दीप्ति और विशालताके साथ अधिकाधिक एक होते जाओ। तब सत्यकी ऊषा तुमपर ऊपरसे आविर्भूत होगी और वह सत्य तुम्हारे ऊपर चारों ओरसे प्रवाहित होगा।

परन्तु केवल तभी जब कि मनकी पवित्रता उसकी नीरवतासे कम प्रगाढ़ न हो। कारण, अशुद्ध मनमें तो नीरवता पथभ्रष्ट करनेवाली दीप्तियों और मिथ्या वाणीसे, उसके अपने ही व्यर्थ दंभों और मतोंकी प्रतिध्वंनि या उन्नयनसे अथवा उसके गुप्त गर्व, मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षा, कामना. लोभ या वांसनाक़ो दिये गये प्रत्युत्तरसे तुरन्त भर जायगी। भागवत वाणियोंसे कहीं अधिक तत्परतासे दानव और राक्षस उसके साथ बातें करेंगे।

नीरवता अनिवार्य है, पर साथ ही विशालता भी आवश्यक है। मन यदि निश्चल-नीरव न हो तो वह दिव्य सत्यकी ज्योतियों और वाणियोंको ग्रहण नहीं कर सकता या ग्रहण करके उनके साथ अपनी टिमटिमाती दीपशिखाओंको और अंधी. दंभी बकवासोंको मिश्रित कर देता है। क्रियाशील, धृष्ट और शोर मचानेवाला होनेके कारण वह जो कुछ ग्रहण करता है उसे वह विकृत और विरूप बना देता है। अगर वह विशाल न हो तो वह सत्यकी कार्यकारिणी शक्ति और सृष्टिकारिणी क्षमताको अपने अन्दर नहीं रख सकता। वहाँ कोई ज्योति खेल तो सकती है, किन्तु वह संकीर्ण,

सीमित और बन्ध्या हो जाती है : जो शक्ति उतरती है वह आबद्ध हो जाती और बाधा पाती है और इस विद्रोही परदेशी स्तरसे अपनी विशाल ऊँचाइयोंपर लौट जाती है। या कोई चीज यदि नीचे उतरती और ठहरती भी है तो वह मानों कीचड़में पड़ा हुआ मोती ही होती है; कारण, प्रकृतिमें परिवर्तन नहीं होता या केवल एक हल्की तीव्रता ही गठित होती है जो ऊपर शिखरोंकी ओर क्षीण रूपमें संकेत तो करती है, पर उसकी धृति और अपने चारों ओरके जगत्पर उसकी विसृति बहुत कम होती है।

दिव्य अतिमानव

दिव्य अतिमानव बनना, भगवान्‌का पूर्ण आधार बनना, बस यही है तुम्हारा कार्य, तुम्हारी सत्ताका उद्देश्य और वह प्रयोजन जिसके लिये तुम यहाँ हो। अन्य जो कुछ भी तुम्हें करना पड़ता है, वह सब केवल तुम्हारी तैयारी है या मार्गका आनन्द या अपने उद्देश्यसे पतन। किन्तु लक्ष्य यही है, उद्देश्य यही है, और तुम्हारी सत्ताकी महत्ता और प्रसन्नता लक्ष्यके आनन्दमें है, न कि मार्गकी शक्ति या मार्गके आनन्दमें, मार्गका आनन्द होता है क्योंकि जो तुम्हें आकर्षित कर रहा है वह तुम्हारे पथपर तुम्हारे साथ भी है और चढ़नेकी शक्ति तुम्हें इसलिये दी गई थी कि तुम अपने सर्वोच्च स्व-शिखरोंतक चढ़ सको।

यदि तुम्हारा कोई कर्त्तव्य है तो यही है; यदि तुम पूछते हो कि तुम्हारा उद्देश्य क्या होगा, तो यही तुम्हारा उद्देश्य हो; यदि तुम्हें आनन्दकी चाह हो तो इससे महत्तर दूसरा आनन्द नहीं, क्योंकि अन्य सारे आनन्द खंडित और सीमित हैं, वे स्वप्नका आनन्द, निद्राका आनन्द या आत्मविस्मृतिका आनन्द हैं। किन्तु यह तुम्हारी संपूर्ण सत्ताका आनन्द है। कारण, यदि तुम पूछते हो, "मेरी सत्ता क्या है ?" तो यही तुम्हारी सत्ता है:- भगवान्; और अन्य सब कुछ उसीका खंडित या विकृत रूप मात्र है। यदि तुम 'सत्य' की खोज करते हो, तो यही 'सत्य' है। इसे अपने सामने रखो और सब बातोंमें इसके प्रति सच्चे रहो।

किसी व्यक्तिने देखा तो केवल परदेके भीतरसे और उस परदेको ही समझ लिया मुखमंडल, पर उसने कहा बहुत ही सुन्दर कि तुम्हारा उद्देश्य है स्वयं 'तुम' बन जाना; और उसने पुनः सुन्दर रूपसे कहा कि मनुष्यका स्वभाव है अपने-आपका अतिक्रमण। वास्तवमें यही है उसका स्वभाव और सचमुच यही है उसके स्वातिक्रमणका दिव्य उद्देश्य।

तो जिस आत्माका तुम्हें अतिक्रमण करना है वह क्या है और क्या है वह 'आत्मा' जो तुम्हें बनना है ? क्योंकि यहीं तुम्हें भूल नहीं करनी चाहिये; कारण, यही भूल, अपने-आपको न जानना ही, तुम्हारे सारे क्लेशोंका स्रोत और तुम्हारी सारी चूकोंका कारण है।

तुम बाह्य रूपमें जो प्रतीत होते हो वही वह आत्मा है जिसका तुम्हें अतिक्रमण

करता है और वही वह मानव है जिस रूपमें तुम उसे जानते हो, वह है प्रतीयमान पुरुष। और वह मानव क्या है? वह प्राण और जड़तत्त्वकी दासतामें निबद्ध मनोमय जीव है; और जहाँ मनुष्य प्राण और जड़तत्त्वके अधीन नहीं, वहाँ वह अपने मनका दास है। किन्तु यह एक बहुत बड़ी और भारी दासता है; क्योंकि मनका दास होनेका अर्थ है असत्य, ससीम और प्रतीयमानका दास होना।

जो आत्मा तुम्हें बनना है वह वह आत्मा है जो तुम मन, प्राण और जड़तत्त्वके परदेके पीछे अपने अंतरमें हो। वह है आध्यात्मिक, दिव्य, अतिमानव, सच्चा पुरुष बनना; कारण, जो मनोमय पुरुषसे ऊपर है वही अतिमानव है। वह है अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीरका स्वामी बनना; वह है उस प्रकृतिका राजा बन जाना जिसके हाथमें तुम अभी यंत्रवत् हो, वह है उस प्रकृतिसे ऊपर उठ जाना जिसने अभी तुम्हें अपने पैरों तले दबा रखा है। वह है दास नहीं, अपितु स्वतन्त्र होना, विभक्त नहीं, अपितु एक होना, मृत्युसे तमसाच्छादित नहीं, अपितु अमर होना, अंधकारसे ग्रस्त नहीं, अपितु प्रकाशसे परिपूर्ण होना, शोक और कष्टका शिकार नहीं, अपितु आनन्दसे पूर्ण होना, निर्बलतामें निक्षिप्त नहीं, अपितु शक्तिमें उन्नीत होना। वह है अनन्तमें निवास करना और ससीमको अधिकृत करना। वह है ईश्वरमें निवास करना और उनकी सत्तामें उनके साथ एक हो जाना। यह स्वयं 'तुम' बन जाना ही है और इसके फलस्वरूप जो कुछ होता है वह सब।

अपने-आपमें स्वतन्त्र बनो, और इस प्रकार अपने मन, प्राण और शरीरमें स्वतंत्र बनो। कारण, आत्मा स्वतंत्र है।

ईश्वर और सब जीवोंके साथ एक होओ; अपने आत्मामें निवास करो न कि अपने क्षुद्र अहंभावमें। कारण, आत्मा एकत्व है।

स्वयं तुम अमर हो जाओ, और मृत्युमें विश्वास नहीं रखो, क्योंकि मृत्यु तुम्हारी नहीं, तुम्हारे शरीरकी होती है। कारण, आत्मा अमरत्व है।

अमर होना अपनी सत्ता, चेतना और आनन्दमें अनंत होना है; कारण, आत्मा अनंत है और जो कुछ सांत है वह उसकी अनंततासे ही रहता है।

तुम ये वस्तुएँ हो, अतएव तुम ये सब बन सकते हो; किन्तु तुम यदि ये वस्तुएँ नहीं हो तो तुम कभी भी ये नहीं बन सकते। जो तुम्हारे भीतर है केवल वही तुम्हारी सत्तामें प्रकट हो सकता है। तुम निस्सन्देह इससे भिन्न प्रतीत होते हो, किन्तु तुम बाह्य रूपोंका दास क्यों रहोगे?

बल्कि उठो, अपना अतिक्रमण करो, आत्मरूपको प्राप्त करो। तुम मनुष्य हो और मनुष्यका संपूर्ण स्वभाव ही है अपनेसे कुछ अधिक बन जाना। वह मानव-

पशु था, वह अब पशुमानवसे कुछ अधिक बन गया है। वह विचारक है, शिल्पी है, सौन्दर्योपासक है। वह विचारकसे कुछ अधिक बनेगा, वह बनेगा ज्ञानका द्रष्टा; वह शिल्पीसे कुछ अधिक बनेगा, वह बनेगा अपनी सृष्टिका स्रष्टा और स्वामी; वह सौन्दर्योपासकसे कुछ अधिक बनेगा, क्योंकि वह समस्त सौन्दर्य और समस्त आनन्दका उपभोग करेगा। शरीरत: वह इस अमर तत्त्वको खोजता है; प्राणत: वह शाश्वत जीवन और अपनी सत्ताकी अनंत शक्तिको ढूँढ़ता है; मनत: और ज्ञानमें अपूर्ण रहता हुआ वह सम्पूर्ण प्रकाश और परम सत्य-दर्शनकी खोज करता है।

इनको प्राप्त करना ही अतिमानव होना है, क्योंकि उसे मनमेंसे अतिमानसमें आरोहण करना है। उसे चाहे दिव्य मन कहा जाय चाहे 'ज्ञान' या अतिमानस, वह भागवत इच्छा और भागवत् चेतनाकी शक्ति और ज्योति है। अतिमानसके द्वारा परमात्माने अपने-आपको देखा और विभिन्न लोकोंमें अपने-आपको सृष्ट किया, उसीके द्वारा वह उनमें निवास करता और उनपर शासन करता है। उसीके द्वारा वह स्वराट् और सम्राट है।

अतिमानस ही अतिमानव है; अतएव मनका अतिक्रमण करके ऊपर उठ जाना ही शर्त है।

अतिमानव बनना दिव्य जीवन यापन करना है, देवता बन जाना है; कारण, देवतागण ईश्वरकी शक्तियाँ हैं। मानवतामें ईश्वरकी शक्तियाँ बनकर रहो।

भागवत सत्तामें निवास करना एवं परमात्माकी चेतना और आनन्दको, उनकी इच्छा और ज्ञानको अपने ऊपर अधिकार करने देना तथा उनको अपने साथ और अपने द्वारा क्रीड़ा करने देना, यही तात्पर्य है।

यही है पर्वतपर होनेवाला तुम्हारा रूपान्तर। यह है तुम्हारा ईश्वरको आत्मावत् जान लेना और सारी वस्तुओंमें उनका साक्षात्कार करना। निवास करो उनकी सत्तामें चमको उनके प्रकाशसे, कार्य करो उनकी शक्तिसे, आनंदित होओ उनके आनन्दसे। वह 'अग्नि', वह 'सूर्य', वह 'समुद्र' हो जाओ, वह आनन्द और वह महत्ता और वह सौन्दर्य हो जाओ।

जब तुम आंशिक रूपमें भी यह कर लोगे, तुम अतिमानवताकी आरंभिक सीढ़ियोंपर चढ़ जाओगे।

पृथ्वीपर अतिमानसिक आविर्भाव

विषय सूची

1. सन्देश 295
2. शरीरकी पूर्णता 299
3. दिव्य शरीर 313
4. अतिमानस और दिव्य जीवन 334
5. अतिमानस और मानवजाति 343
6. क्रमविकासमें अतिमानस 353
7. ज्योतिर्मानस 360
8. अतिमानस और ज्योतिर्मानस 363

(इन लेखोंका प्रकाशनकाल क्रमशः फरवरी 1949, अप्रैल 1949, अगस्त 1949, नवम्बर 1949, फरवरी 1950, अप्रैल 1950, अगस्त 1950 और नवम्बर 1950 है।)

सन्देश

आश्रमकी "शारीरिक शिक्षण पत्रिका" के इस अंकके प्रकाशनके अवसरपर मैं इस पत्रिकाको और श्री अरविन्द आश्रमकी युवक खेल संस्थाको आशीर्वाद दे रहा हूँ। साथ ही मैं ऐसी संस्थाओंके अस्तित्वके गहरे हेतु और विशेषतया राष्ट्रके लिए ऐसी संस्थाओंके व्यापक संगठन और यहाँ जिन खेलों या शारीरिक व्यायामोंका अभ्यास किया जाता है उनके व्यापक संगठनकी आवश्यकता और उपादेयतापर कुछ कहना चाहूँगा। अपने अधिक सतही पहलूमें वे ऐसे खेल और मनोरंजन भर लगते हैं जिन्हें लोग मनोविनोदके लिए या शरीरकी ऊर्जा और क्रियाशीलताकी सहजवृत्तिके विकासके क्षेत्र या शारीरिक स्वास्थ्य और बलके वर्द्धन और संरक्षणके साधनके क्षेत्रके रूपमें लेते हैं; किन्तु वे और भी वहुत कुछ हैं या हो सकते हैं : वे ऐसे अभ्यासों, क्षमताओं और गुणोंके वर्द्धनके भी क्षेत्र हैं जो राष्ट्रके लिए, युद्धमें हो या शान्तिमें, और उसके राजनैतिक तथा सामाजिक क्रियाकलापोंमें, वस्तुतः संयुक्त मानवीय उद्योगके अधिकतर प्रान्तोंमें, बहुत आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इस पहलूको हम इस विषयका राष्ट्रीय पहलू कह सकते हैं और इसे मैं विशेष प्रधानता देना चाहूँगा।

हमारे युगमें इन खेलों और व्यायामोंने वह स्थान लिया है और वह व्यापक आकर्षण पाया है जो प्राचीन युगमें यूनान जैसे देशोंमें देखनेमें आते थे। यूनानमें मानवीय क्रियाशीलताके सारे पहलुओंका समान विकास था और व्यायामशाला, रथ-दौड़ और अन्य खेलों तथा व्यायामोंको शारीरिक क्षेत्रमें वही महत्त्व मिला था जो कि मानसिक क्षेत्रमें कला, काव्य और नाटकको, और नगर-राज्योंका शासनवर्ग उनपर विशेष ध्यान देता था और उन्हें प्रोत्साहित करता था। यूनानने ही ओलिम्पिअडकी प्रथा डाली थी और ओलिम्पिअडका हालमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाके रूपमें पुनःस्थापन प्राचीन अन्तर्वृत्तिकी पुनर्जागृतिका महत्त्वपूर्ण चिह्न है। इस प्रकारकी रुचि हमारे देशमें भी कुछ परिमाणमें फैल गयी है और भारत ओलिम्पिअड जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओंमें स्थान पाने लगा है। स्वतन्त्र भारतका नवस्थापित शासन राष्ट्र-जीवनके सारे पार्श्वोंके विकासमें रुचि लेना भी शुरू कर रहा है और यह सम्भावना है कि जो क्षेत्र पहले नागरिकोंकी वैयक्तिक चेष्टाके भरोसे छोड़ दिये गये थे उनमें वह सक्रिय भाग लेवे और निर्देशनका अभ्यास डाले। उदाहरणके लिए वह देशमें स्वास्थ्य

और शारीरिक दुरुस्तीको लाने और कायम रखने और उसके महत्त्वकी आम मान्यताको फैलानेके प्रश्नको ले रहा है। खेलों, व्यायाम-संस्थाओं और इस प्रकारके सारे क्रियाकलापोंको दिया जानेवाला प्रोत्साहन इसी सम्बन्धमें अपार सहायता देगा। बचपन, यौवन और आरम्भिक प्रौढ़ावस्थामें ऐसी कसरतोंमें भाग लेनेकी आदतके फैलनेसे तन्दुरुस्ती और शारीरिक स्फूर्तिवाले लोगोंके उद्‌भवमें बहुत सहायता मिलेगी।

परन्तु, शारीरिक स्वास्थ्य, बल और दुरुस्तीकी स्थापना कितनी ही आवश्यक क्यों न हो, उससे भी अधिक ऊँचा अर्थ रखता है अनुशासन, मनोबल और स्वस्थ तथा सबल चरित्रका विकास जिसकी ओर ये क्रियाकलाप सहायक हो सकते हैं। ऐसे बहुत सारे खेल हैं जिनका इस उद्देश्यके लिए अतीव मूल्य है, कारण, वे साहस, दिलेरी, स्फूर्तिवती क्रिया और आरम्भ-चेष्टा आदि गुणोंको गढ़नेमें सहायता देते और उन्हें आवश्यक भी कर देते हैं, या वे कौशल, अभंग इच्छा या द्रुत निश्चय और क्रियाकी आपदकालमें क्या करना है उसे देख लेने और उसे कर डालनेमें निपुणताकी माँग करते हैं। एक अतीव मूल्यवान् विकास होता है मूलभूत और सहजवृत्तिपरक शारीरिक चेतनाका जागरण; यह चेतना मानसिक विचारके किसी भी संकेतके बिना देख सकती है कि क्या आवश्यक है और उसे कर भी सकती है; जो मनमें क्षिप्र अन्तर्दृष्टि और इच्छामें स्वतःस्फूर्त और द्रुत निश्चय है उसीके समतुल्य यह चेतना शरीरमें है। इसमें हम शरीरकी समस्वर और सही गतियोंको, विशेषतया सम्मिलित क्रियामें होनेवाली गतियोंकी क्षमताकी रचनाको जोड़ सकते हैं जिनमें शारीरिक प्रयत्नका व्यय कम होता है और ऊर्जाकी बर्बादीसे बचा जाता है; ये गतियाँ मार्चिंग या ड्रिल जैसी कसरतोंके फल होती हैं और अशिक्षित वैयक्तिक शरीरमें साधारणतः पायी जानेवाली ढीली-ढाली और भटकती, असमस्वर या अव्यवस्थित या बर्बादीवाली गतियोंका स्थान लेती हैं। इन क्रियाकलापोंका एक दूसरा अमूल्य परिणाम होता है उस भावनाका विकास जिसे हम खिलाड़ीकी भावना कहते हैं। इसके अन्तर्गत हैं सबके प्रति सौजन्य, सहनशीलता और विचारशीलता, प्रतियोगियों और प्रतिद्वन्द्वियोंके लिए सही मनोभाव और मैत्री, आत्मसंयम और खेलके नियमोंका निष्ठासे पालन, गन्दे उपायोंका वर्जन और साफ खेल, हार-जीतका समान रूपसे स्वीकरण जिसमें सफल प्रतियोगियोंके प्रति दौर्जन्य, रोष या दुर्भावना न हो, नियुक्त निर्णायक, अम्पायर या रेफरीके निर्णयोंको माननेकी निष्ठा। इन गुणोंका मूल्य केवल खेलोंके लिए नहीं, आम जीवनके लिए भी है, और इनके विकासके लिए खेलोंसे मिल सकनेवाली सहायता सीधी और अमूल्य होती है। यदि इन्हें केवल व्यक्तिके जीवनमें नहीं, अपितु राष्ट्रजीवनमें और अन्तर्राष्ट्रीय जीवनमें व्यापक किया जा सके जहाँ कि आजके दिन विरोधी प्रवृत्तियाँ अति फैल गयी हैं तो हमारे इस

विक्षुब्ध जगत्‌में जीवन अधिक सरल होगा और वह सुसंगति और सौहार्दकी अधिक सम्भावनाकी ओर खुलेगा जिनकी कि उसे बहुत आवश्यकता है। और भी महत्त्वपूर्ण है अनुशासनका अभ्यास, आज्ञापालन, व्यवस्था और दलबद्ध कार्यका अभ्यास जो कि कुछ खेलोंके लिए आवश्यक होते हैं। कारण, इनके बिना सफलता अनिश्चित या असम्भव होती है । जीवनमें, विशेषतया राष्ट्रीय जीवनमें, ऐसे क्रियाकलाप असंख्य हैं जिनमें सफलताके लिए, संग्राममें विजय या उद्देश्यकी पूर्तिके लिए, सम्मिलित कार्यमें नेतृत्व और नेताकी आज्ञाका पालन आवश्यक होते हैं। नेता या कप्तानकी भूमिका,उसका नेतृत्वका बल और नैपुण्य, अपने अनुगामियोंका विश्वास बनाए रखना और उनकी तत्पर आज्ञाकारिता पाते रहना सब प्रकारके सम्मिलित कार्य या व्रतमें अति महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु स्वयं आज्ञाकारी होना और दूसरोंके साथ एक मन या एक शरीर होकर कार्य करना सीखे विना थोड़े ही लोग इन चीजोंका विकास कर सकते हैं। शिक्षाकी यह कड़ाई, अनुशासन और आज्ञापालनका यह अभ्यास वैयक्तिक स्वतन्त्रतासे असंगत नहीं; प्रायः यह उसके सही व्यवहारके लिए आवश्यक अवस्था भी भी है, वैसे ही जैसे कि व्यवस्था स्वतन्त्रतासे असंगत नहीं, बल्कि स्वतन्त्रताके सही व्यवहारकी ओर उसके संरक्षण और टिके रहनेकी भी शर्त है। सब प्रकारके सम्मिलित कार्योंमें यह नियम अपरिहार्य है : साज मिलाना आवश्यक हो जाता है और जिस वाद्य-गोष्ठीमें व्यक्ति संगीतज्ञ अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार गायन वादन करते हों और निर्देशकके संकेतोंको माननेसे इन्कार करते हों उस ऑरकेस्ट्राके लिए सफलता नहीं हो सकती। आध्यात्मिक बातोंमें भी यही नियम लागू होता है; गुरुके निर्देशनकी अवहेलना करनेवाला और उसके स्थानपर नौसिखिएकी अशिक्षित प्रेरणाओंको चाहनेवाला साधक आध्यात्मिक सिद्धिके पथको प्रायः घनतासे घेरे रखनेवाली ठोकरों या विपदाओंसे भी शायद ही बच सकता है। खेलकूदोंसे मिलती शिक्षासे जो अन्य लाभ लिए जा सकते हैं उन्हें गिनाने या राष्ट्रीय जीवनके लिए उनके उपयोगकी बात कहनेकी आवश्यकता नहीं; मैंने जो कहा है वह काफी है। जो कुछ भी हो, हमारे जैसे विद्यालयोंमें और युनिवर्सिटिओंमें खेलकूदका अब एक माना हुआ और अनिवार्य स्थान है; कारण, शरीरकी शिक्षाके बिना मनकी ऊँचीसे ऊँची और पूरीसे पूरी शिक्षा भी काफी नहीं। मैंने जिन गुणोंको गिनाया है वे जहाँ हैं नहीं या अपर्याप्त रूपसे हैं वहाँ सबल वैयक्तिक इच्छा या राष्ट्रीय इच्छा उनका निर्माण कर दे सकती हैं, परन्तु उनके विकासमें जो सहायता खेलकूदसे मिलती है वह सीधी सहायता है और किसी भी तरह नगण्य नहीं। हमारे आश्रममें उनपर जो ध्यान दिया जा रहा है उसके लिए ये पर्याप्त कारण होंगे; अन्य कारण भी हैं किन्तु यहाँ उन्हें कहनेकी आवश्यकता नहीं। यहाँ मेरा सरोकार

राष्ट्रीय जीवनके लिए उनके महत्त्वसे और उसके लिए वे जिन गुणोंको रचते या उभाड़ते हैं उनकी आवश्यकतासे है। जिस राष्ट्रको वे अधिकसे अधिक मात्रामें प्राप्त होंगे उसके लिए यह सम्भावना होगी कि वह विजय, सफलता और महानताके लिए, और एकता और अधिक सामंजस्यपूर्ण जगत-व्यवस्थाको लानेके लिए, जिसे हम मानव-जातिके भविष्यके लिए अपनी आशाके रूपमें देखते हैं, उसका जो योगदान हो सकता है उसके लिए भी सबसे सबल होगा।

दिसम्बर 30, 1948

शरीरकी पूर्णता

शरीरकी पूर्णता, अपने प्राप्य साधनों द्वारा हम जितनी बड़ी पूर्णता पा सकें वह पूर्णता, इसे ही शारीरिक शिक्षाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। पूर्णता ही हमारे शिक्षणका, आध्यात्मिक और चैत्य, मानसिक और प्राणिक शिक्षणका सच्चा लक्ष्य है, और उसे ही हमारे शारीरिक शिक्षणका भी लक्ष्य होना चाहिए। यदि हममें सत्ता-की समग्र पूर्णताकी खोज है तो उसके शारीरिक भागको अलग नहीं छोड़ दिया जा सकता; कारण, शरीर ही भौतिक आधार है; शरीर ही वह उपकारण है जिसे हमें काममें लेना है। प्राचीन संस्कृत उक्ति है "शरीरम् खलु धर्मसाधनम्", शरीर ही धर्म-परिपूर्तिका साधन है, और धर्मका अर्थ वह हर आदर्श है जिसे हम अपने सामने रख सकते हैं और उसकी चरितार्थता और क्रियाका विधान। समग्र पूर्णता वह अन्तिम लक्ष्य है जिसे हम अपने सामने रखते हैं, क्योंकि हमारा आदर्श है दिव्य जीवन जिसका हम यहाँ सृजन करना चाहते हैं, पृथ्वीपर परिपूरित अध्यात्मका जीवन, जड़ विश्वकी अवस्थाओंमें यहीं, पृथ्वीपर ही अपना आध्यात्मिक रूपान्तर सम्पादित करता जीवन। ऐसा तबतक नहीं हो सकता जबतक कि शरीर भी रूपान्तरित न हो जाय, उसकी क्रिया-शीलता और क्रियाकलाप परम सामर्थ्य और वह पूर्णता न पा लें जो उसके लिए सम्भव है या जिसे सम्भव किया जा सकता है।

इस आश्रममें हमने शारीरिक शिक्षणको एक विशेष ध्यान और क्षेत्र देना शुरू किया है; उसके व्यायामों और अनुशीलनके वांछनीय फलके रूपमें शरीरमें शारीरिक चेतनाकी एक सापेक्ष पूर्णताके बारेमें और वह शरीर जिस मन, प्राण और चरित्रका आवास है उसकी सापेक्ष पूर्णताके बारेमें जो कि शरीरकी अपनी सहज क्षमताओंके जागरण और विकाससे कम भी नहीं, मैं पहलेके सन्देशमें संकेत दे चुका हूँ। शारीरिक चेतनाके विकासको हमारे लक्ष्यका महत्त्वपूर्ण भाग सदा ही होना चाहिए, किन्तु इसके लिए स्वयं शरीरका सही विकास मूलभूत तत्त्व है; स्वास्थ्य, बल और दुरुस्ती पहली आवश्यकताएँ हैं, किन्तु शारीरिक ढाँचेको भी जितना सम्भव हो सके अच्छेसे अच्छा होना होगा। भौतिक जगत्में दिव्य जीवनका अर्थ अवश्य ही अस्तित्वके दोनों छोरों, आध्यात्मिक शिखर और भौतिक आधारका मिलन है। जीव, जिसके जीवनका आधार जड़में स्थापित है, अध्यात्मकी ऊँचाइयोंपर आरोहण करता है, किन्तु वह

अपने आधारका परित्याग नहीं कर देता, वह तो ऊँचाइयों और गहराइयोंको संयुक्त करता है। अध्यात्मपुरुष जड़में और भौतिक जगत्में अपनी सारी आभाओं, महिमाओं और शक्तियोंके साथ उतरता है और उनसे भौतिक जगत्के जीवनको भरता और रूपान्तरित करता है जिससे वह अधिकाधिक दिव्य होता जाता है। वह रूपान्तर किसी निरी सूक्ष्म और आध्यात्मिक वस्तुमें परिवर्तन नहीं है जिसके लिए जड़तत्त्व प्रकृत्या अरुचिकर हो और जिसे यह अनुभव होता हो कि जड़तत्त्व विघ्न ही है या अध्यात्म-पुरुषको बाँधनेवाला बन्धन। वह रूपान्तर जड़को अध्यात्मके रूपकी तरह लेता है,—हाँलांकि वह रूप अभी तो उसे छिपाता ही है — और उसे प्राकटयकारी उपकरण-के रूपमें बदल देता है; वह जड़तत्त्वकी ऊर्जाओं, उसकी क्षमताओं, उसकी पद्धतियोंका परित्याग नहीं करता; वह उनकी गुप्त सम्भावनाओंको बाहर लाता है, उन्नीत करता है, उदात्त करता है, उनकी अन्तःस्थ दिव्यताको व्यक्त करता है। दिव्य जीवन किसी भी ऐसी वस्तुका वर्जन नहीं करेगा जिसे दिव्य बनाया जा सकता है; उसे सब कुछको पकड़ना है, ऊपर उठाना है, पूरा पूर्ण बनाना है। ज्ञानकी ओर संघर्ष करते किन्तु अभी भी अज्ञानी रहते मनको अतिमानसिक आलोक तथा सत्यकी ओर ऊपर उठना और उसमें चले जाना और उसे नीचे उतार लाना है जिससे कि वह हमारे विचार, प्रत्यक्षबोध और अन्तर्दृष्टि और हमारे सारे ज्ञान-साधनोंको परिप्लुत कर दे और फलतः वे अपनी अन्तरंग और बहिरंग गतिविधियोंमें उच्चतम सत्यसे दीप्त हो जायँ। हमारा प्राण अभी भी अन्धकार और अव्यवस्थासे भरा है, इतने सारे फीके और निम्नतर लक्ष्योंमें व्यस्त है; उसे अपनी सारी प्रेरणाओं और सहजवृत्तियोंके उन्नीत और प्रदीप्त रूपका अनुभव करना ही चाहिए, ऊपरके अतिमानसिक परप्राणका महिमावान् प्रतिपर्ण बनना ही चाहिए। शारीरिक चेतना और शारीरिक सत्ताको, स्वयं शरीरको, वह जो कुछ भी है और करता है उस सबमें ऐसी पूर्णता पानी ही चाहिए जिसकी कल्पना हम अभी शायद ही कर सकते हैं। अन्तमें वह परतत्त्वसे आनेवाले आलोक, सौन्दर्य एवं आनन्दसे भी परिप्लुत हो जा सकता है और दिव्य जीवन दिव्य शरीर धारण कर सकता है।

परन्तु पहले यह आवश्यक है कि प्रकृतिका क्रमविकास उस बिन्दुतक पहुँच गया हो जहाँ उसका 'अध्यात्म-पुरुष' से सीधा मिलन हो सके, जहाँ वह आध्यात्मिक परिवर्तनाभिमुख अभीप्साका अनुभव कर सके और अपनेको उस शक्तिकी क्रियाओंकी ओर खोल सके जो उसे रूपान्तरित करेगी। परम पूर्णता, समग्र पूर्णता केवल तभी सम्भव है जबकि हमारी निम्नतर या मानवीय प्रकृतिका रूपान्तर हो जाय, मनका रूपान्तर एक ज्योतिर्मयी वस्तुमें हो जाय, प्राणका रूपान्तर हो जाय एक शक्तिमयी

वस्तुमें, उसकी सारी शक्तियोंकी सही क्रिया, सही व्यवहारके उपकरणके रूपमें, उसकी सत्ताके सुखद उन्नयनके उपकरणके रूपमें जिससे उसका उसकी वर्तमान अपेक्षाकृत संकीर्ण सम्भावनामेंसे प्राणकी स्वयं-सिद्धिकर क्रिया-शक्ति और आनन्दकी ओर उत्थान हो। वैसे ही, शरीर अभी जिन सीमाओंसे ग्रस्त है और जिनसे वह अपनी वर्तमान बड़ीसे बड़ी मानवीय प्राप्तिमें भी बाधा पाता है, उनसे परेके उपकरणके रूपमें उसकी क्रिया, उसके व्यापार, उसके सामर्थ्योंके धर्मान्तरण द्वारा शरीरका रूपान्तरकारी परिवर्तन होना होगा। हमें जिस परिवर्तनको सिद्ध करना है उसकी समग्रताके अन्दर मानवीय साधनों और शक्तियोंको भी सम्मिलित करना है, उन्हें छोड़ नहीं देना है वरन् नये जीवनके अंग-रूपमें उनका उनकी चरम सम्भावनातक व्यवहार और अभिवर्द्धन करना है। हमारी वर्तमान मानवीय मनःशक्तियों और प्राणशक्तियोंका पृथ्वीपर दिव्य जीवनके तत्त्वोंके रूपमें ऐसा उन्नयन होनेकी कल्पना बहुत कठिनाईके बिना की जा सकती हैं; किन्तु शरीरकी पूर्णताकी कल्पना हम किस रूपमें करेंगे?

भूतकालमें साधकोंने शरीरको आध्यात्मिक पूर्णताका साधन और आध्यात्मिक परिवर्तनका क्षेत्र न मानकर बल्कि उसे बाधाके रूपमें, एक ऐसी वस्तुके रूपमें देखा है जिसे जीतना और परित्यक्त करना है। उसे जड़तत्त्वकी स्थूलता कहकर, अलंघ्य बाधा कहकर और शरीरकी बाधाओंको ऐसी अपरिवर्तनशील वस्तु कहकर तिरस्कृत किया गया है जिससे रूपान्तर असम्भव हो जाता है। यह इस कारण है कि मानव-शरीर, अपने अच्छेसे अच्छे रूपमें भी, ऐसी प्राण-ऊर्जासे चालित लगता है जिसकी अपनी सीमाएँ हैं और जो अपनी तुच्छतर शारीरिक क्रियाओंमें ऐसे बहुत कुछसे दूषित हो जाती है जो तुच्छ या अपरिष्कृत या बुरा है; स्वयं शरीर जड़तत्त्वकी तामसिकता और निश्चेतनासे आक्रान्त है, केवल आंशिक रूपमें जगा हुआ है, और स्नायविक क्रियाशीलतासे स्पन्दित और प्राणवन्त होकर भी वह अपने घटक कोषों और ऊतकोंकी मूलभूत क्रिया और उनके गुप्त क्रियाकलापोंमें अवचेतन है। अपनी पूरीसे पूरी ताकत और शक्ति और सौन्दर्यकी बड़ीसे बड़ी श्रीमें भी वह भौतिक निश्चेतनाका ही पुष्प है; निश्चेतन ही वह भूमि है जिससे वह उपजा है और उसके सामर्थ्योंके विस्तरण और मूलभूत स्वातिक्रमणके किसी भी प्रयत्नके सामने हर बिन्दुपर विरोधमें एक संकीर्ण सीमा खड़ी करता है। किन्तु यदि धरतीपर दिव्य जीवन सम्भव है तो इस स्वातिक्रमणको भी सम्भव होना ही चाहिए।

पूर्णताकी खोजमें हम अपनी सत्ताके दोनों छोरोंमेंसे किसीसे भी शुरु कर सकते हैं और तब हमें, आरम्भमें तो अवश्य ही, अपने चुनावके उपयुक्त साधनों और प्रक्रियाओंका व्यवहार करना होता है। योगमें प्रक्रिया है आध्यात्मिक और चैत्य; उसकी

प्राणिक और दैहिक प्रक्रियाओंको भी आध्यात्मिक या चैत्य मोड़ दे दिया जाता है और साधारण प्राण तथा जड़तत्त्वकी जो अपनी गतिवत्ता होती है उसकी अपेक्षा अधिक ऊँची गतिवत्तातक उठा दिया जाता है; उदाहरणके लिए हठयोग और राजयोगमें श्वास या आसनका उपयोग। आध्यात्मिक ऊर्जाके ग्रहण और चैत्य शक्तियों और पद्धतियोंके संगठनके लिए मन, प्राण और शरीरकी पहलेसे तैयारी आवश्यक होती है, किन्तु इसे भी योगके उपयुक्त विशेष मोड़ दे दिया जाता है। दूसरी ओर, यदि हम नीचेके छोरपर किसी भी क्षेत्रमें आरम्भ करें तो हमें प्राण और जड़तत्त्वसे मिलते साधनों और प्रक्रियाओंका व्यवहार करना होता है और प्राणिक तथा भौतिक ऊर्जा द्वारा आरोपित अवस्थाओं और, कह सकते हैं, उनकी टेकनीकका आदर करना होता है। आरम्भिक सम्भावनाओंसे आगे, सामान्य सम्भावनाओंसे भी आगेकी प्राप्त क्रियाशीलता, उपलब्धि और पूर्णताका विस्तार हम कर सकते हैं, किन्तु हमें फिर भी उसी आधारपर खड़े होना पड़ता है जिससे हमने आरम्भ किया था और उन्हीं सीमाओंके अन्तर्गत रहना होता है जो हमें उस आधारसे मिली हैं। ऐसा नहीं है कि इन दो छोरोंसे होनेवाली क्रियाका मिलन नहीं हो सकता और उच्चतर पूर्णता निम्नतरको अपने अन्दर नहीं ले सकती और ऊपर नहीं उठा सकती; परन्तु सामान्यत: ऐसा केवल निम्नतरसे उच्चतर दृष्टि, अभीप्सा और हेतुकी ओर संक्रमण द्वारा ही किया जा सकता है : यदि मानव-जीवनको दिव्य जीवनमें रूपान्तरित करना हमारा लक्ष्य है तो ऐसा हमें करना ही होगा। किन्तु यही आवश्यकता खड़ी होती है मानव-जीवनके क्रियाकलापोंको उठाने और उन्हें अध्यात्मतत्त्वकी शक्तिसे उदात्त करनेकी। यहाँ निम्नतर पूर्णता विलुप्त नहीं होगी, वह रहेगी, किन्तु उस उच्चतर पूर्णतासे अभिवर्द्धित और रूपान्तरित होकर जो अध्यात्मतत्त्वकी शक्तिसे ही मिल सकती है। यदि हम काव्य और कला, दार्शनिक विचारणा, लिखित शब्दकी पूर्णता या पार्थिव जीवनके पूर्ण संगठनपर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा : इन्हें भी लेना होगा और जो सम्भावनाएँ सिद्ध हो चुकी हैं या जो भी पूर्णता प्राप्त हो चुकी है, उन्हें एक नयी और अधिक बड़ी पूर्णतामें समाविष्ट करना होगा किन्तु आध्यात्मिक चेतनाकी विशालतर दृष्टि और प्रेरणाके साथ; नये रूपों और सामर्थ्योंके साथ। शरीरकी पूर्णताके साथ भी यही बात होगी।

संसारके जीवनका त्याग करनेवाली या उससे मुँह मोड़नेवाली आध्यात्मिकताका रूख प्राण और जड़तत्त्वको अस्वीकार करने और अन्तमें उनका बहिष्कार कर देनेका होता था; ऐसा न करके उन्हें एक मूलतया आध्यात्मिक खोजके अन्तर्गत ऊपर उठानेका अर्थ ऐसे विकास होते हैं जिन्हें प्राचीन प्रकारकी आध्यात्मिक संस्था अपने

कार्यसे अलग मान सकती थी। जगत्में दिव्य जीवन, या उस जीवनको अपना उद्देश्य और कार्य माननेवाली संस्था, ये जगत्में रहनेवाले साधारण लोगोंके जीवनसे कोई बाहरकी वस्तु या उसकी ओरसे पूरे बन्द या सांसारिक जीवनसे असम्बन्धित नहीं हो सकते या नहीं रह सकते; इन्हें जगत्से बाहर या अलग नहीं, जगत्के अन्दर भगवान्का काम करना है। पुराने युगमें आश्रमवासी ऋषियोंके जीवनका ऐसा सम्बन्ध था; वे थे स्रष्टा, शिक्षक, मनुष्यके पथप्रदर्शक, और प्राचीन युगमें भारतके लोगोंके जीवनका विकास और निर्देशन बड़े परिमाणमें उनके गठनकारी प्रभावसे हुआ था। नये प्रयासमें निहित जीवन और क्रियाकलाप ठीक प्राचीन जैसे नहीं हैं, किन्तु उन्हें भी जगत्पर एक क्रिया और जगत्में एक नयी सृष्टि होना ही चाहिए। जगत्से इनका सम्पर्क और सम्बन्ध और ऐसे क्रियाकलाप भी होने ही चाहिये जो साधारण जीवनमें अपना स्थान पाते हैं और जिनके आरम्भिक या प्राथमिक उद्देश्य बाह्य जगत्में होनेवाले उन्हीं क्रियाकलापोंसे भिन्न नहीं भी लग सकते हैं। यहाँ अपने आश्रममें हमने निवासी साधकोंके बच्चोंकी शिक्षाके लिए विद्यालयकी स्थापना आवश्यक पायी है जो परिचित रीतियोंसे, किन्तु उनमें कुछ परिवर्तन करके, शिक्षा दे रहा है और घने शारीरिक प्रशिक्षणको उनके विकासके अंगके रूपमें, महत्त्वपूर्ण अंगके रूपमें मान रहा है; आश्रमकी युवक खेलमंडलीके खेलकूद और व्यायाम इसीसे साकार हुए हैं और यह पत्रिका उसीको व्यक्त करती है। कुछ लोगोंका प्रश्न है कि साधकोंके लिए बनाये गये आश्रममें खेलकूदका क्या स्थान हो सकता है और आध्यात्मिकता तथा खेलकूदके बीच क्या सम्बन्ध हो सकता है। मनुष्यके सामान्य जीवनके क्रियाकलापोंके साथ इस प्रकारकी संस्थाके सम्बन्धोंके बारेमें मैं लिख चुका हूँ और पहलेके अंकमें मैंने बताया है कि राष्ट्रीय जीवनके लिए ऐसे प्रशिक्षणकी क्या उपादेयता हो सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय जीवनको उससे क्या लाभ हो सकता है; प्रश्नका पहला उत्तर इसीमें है। यदि हम प्रथम उद्देश्योंसे आगे देखें और शरीरकी पूर्णताको सम्मिलित करनेवाली समग्र पूर्णताकी अभीप्साकी ओर मुड़ें तो हमें एक दूसरा उत्तर मिल सकता है।

आश्रमके जीवनमें खेलकूद और शारीरिक कसरतों जैसे क्रियाकलापको प्रवेश देनेमें यह जाहिर है कि इनकी पद्धतियोंको और प्राप्तिके प्रथम लक्ष्योंको हमने जिसे सत्ताका निम्नतर छोर कहा है उसीकी चीजें होना चाहिए। मूलतः इनका प्रवेश आश्रम विद्यालयके बच्चोंकी शारीरिक शिक्षा और दैहिक विकासके लिए किया गया है और वे इतनी छोटी आयुके हैं कि उनके क्रियाकलापमें किसी खरे आध्यात्मिक लक्ष्य या अभ्यासका प्रवेश नहीं हो सकता और जब वे अपने भविष्यकी दिशाको चुननेकी उम्रके हो जायँगे तब उनमेंसे बहुतोंका आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करना निश्चित

नहीं। लक्ष्य तो शरीरका प्रशिक्षण और मन तथा चरित्रके कुछ अंगोंका वह विकास ही होना चाहिए जहाँ तक कि वह इस प्रशिक्षण द्वारा या इसके सम्बन्धसे किया जा सकता है, और पहलेके अंकमें मैं यह बता चुका हूँ कि ऐसा कैसे और किस दिशामें किया जा सकता है। इन सीमाओंके अन्दर एक सापेक्ष और मानवीय पूर्णता ही प्राप्त की जा सकती है; इससे महत्तर चीज उच्चतर शक्तियोंसे, चैत्य शक्तियोंसे, अध्यात्म-बलके हस्तक्षेपसे ही मिल सकती है। फिर भी, मानवीय सीमाओंके अन्दर जो चीज प्राप्य है वह बहुत महत्त्वपूर्ण और कभी कभी महान् हो सकती है : जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह सत्ताके मानवीय परासके विकासका अंग है और उसकी उपलब्धियाँ, विशेषतया मन और इच्छाकी चीजोंमें, हमें दिव्यताकी आधी राह पार करा सकती हैं। शरीर और उसके जीवनके स्वक्षेत्रमें, शारीरिक उपलब्धिकी राहमें, मन और इच्छा ही शरीरके साथ जो कर गुजरते हैं,——शारीरिक सहनशीलता, सब प्रकारके पराक्रमके व्यापार, थकान या शक्तिलोपको न माननेवाली और शुरूमे जो सम्भव लगता है उससे आगे चालू रहनेवाली दीर्घस्थायी क्रियाशीलता, अन्तहीन और घातक शारीरिक कष्टमें साहसिकता और उसके अधीन होनेसे इनकार,——ये और बहुत प्रकारकी अन्य जीतें जो कभी कभी चमत्कारिक या चमत्कारिक-जैसी होती हैं मानवीय क्षेत्रमें देखनेमें आती हैं और हमारी समग्र पूर्णताकी धारणाके अंगके रूपमें उन्हें लेना ही चाहिए। युद्ध, यात्रा और साहसिक कार्योंके दौरान आनेवाली अधिकसे अधिक कठिन और हतोत्साहकारिणी परिस्थितियोंमें मनुष्यके शरीर, उसके मन, उसकी प्राण-ऊर्जापर जो कोई भी माँग लादी जाय, उस शरीर, मन और प्राण-ऊर्जाका अडिग और दृढ़ उत्तर उसी प्रकारका होता है और उनकी सहनशक्ति अद्भुत परिमाण प्राप्त कर सकती है और शरीरमेंका निश्चेतन भी आश्चर्यप्रद उत्तर देनेमें सक्षम लगता है।

शरीर, हमने कहा है, निश्चेतनकी रचना है और स्वयं भी निश्चेतन है या अपने आत्माके अंगों या अपनी क्रियाके बहुत सारे अंशमें अवचेतन तो है ही; परन्तु जिसे हम निश्चेतन कहते हैं वह उस गुप्त चेतनाका या अतिचेतनका एक रूप, एक निवास-स्थल, एक उपकरण ही है जिसने उस चमत्कारका सृजन किया है जिसे हम विश्व कहते हैं। जड़ है निश्चेतनका क्षेत्र और निश्चेतनकी रचना; किन्तु निश्चेतन जड़के क्रिया-व्यापारोंकी पूर्णता, एक लक्ष्य और उद्देश्यके प्रति उनके साधनोका पूर्ण अनुकूलन, उनके अद्भुत कार्य और उनके सृष्ट सौन्दर्य-चमत्कार, ये सब, विरोधमें हमारे सारे अज्ञानपूर्ण सम्भव इनकारके बावजूद, भौतिक विश्वके हर अंग और परिस्पन्दमें उस अतिचेतनाकी विद्यमानता और उसकी चेतनाकी शक्तिके साक्षी हैं। वह शरीरमें विद्यमान है, उसने शरीरको बनाया है, और हमारी चेतनामें उसका उन्मज्जन क्रम-

विकासका लक्ष्य और हमारे जीवन-रहस्यकी कुंजी है।

बचपन और प्रथम युवावस्थामें व्यक्तिकी शिक्षाका अर्थ उसकी वास्तविक और सुप्त सम्भावनाओंको उनके पूरेसे पूरे विकासतक पहुँचाना होना चाहिए; उसमें खेलकूद और शारीरिक कसरतों जैसे क्रियाकलापोंके उपयोगमें हमें जिन साधनों और पद्धतियोंको काममें लेना होगा वे शरीरकी प्रकृतिसे सीमित हैं और उसका लक्ष्य शरीरके अपने सामर्थ्यों और क्षमताओंकी और साथ ही वह मन, इच्छा, चरित्र और कर्मके जिन सामर्थ्यों और क्षमताओंका आवास और उपकरण दोनों ही है उनकी भी ऐसी सापेक्ष मानवीय पूर्णता, जहाँ तक कि ये पद्धतियाँ उनके विकासमें सहायता दे सकती हैं, होनी ही चाहिए। ये अनुशीलन पूर्णताके मानसिक और नैतिक अंगोंमें योगदान कर सकते हैं; इस विषयमें मैं काफी लिख चुका हूँ और उसे यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। स्वयं शरीरके लिए इन साधनों द्वारा विकसित की जा सकनेवाली पूर्णताएँ उसके प्राकृतिक गुणों और सामर्थ्योंकी हैं और द्वितीयतः इस रूपमें शरीरकी सामान्य दुरुस्तीका प्रशिक्षण है कि वह उन सारे क्रियाकलापोंके लिए उपकरण है जिनकी माँग मन और इच्छा, प्राण-ऊर्जा, या हमारी उस सूक्ष्म शारीरिक सत्ताके सक्रिय प्रत्यक्षबोध, प्रेरणा और सहजवृत्तियाँ उससे कर सकती हैं जिसे हम जानते नहीं किन्तु जो हमारी प्रकृतिमें बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व और अभिकर्त्ता है। शरीरकी प्राकृतिक पूर्णताके लिए पहली अवस्थाएँ हैं स्वास्थ्य और बल; केवल मांसल बल, अवयवोंकी ठोस ताकत और शारीरिक दम ही नहीं, अपितु वह सूक्ष्मतर, सतर्क, नमनीय और अनुकूलनीय शक्ति जिसे हमारे स्नायविक और सूक्ष्म शारीरिक अंग ढाँचेके क्रियाकलापमें दे सकते हैं। एक और भी अधिक क्रियावन्त शक्ति है जिसे प्राण-ऊर्जाओंसे की गयी माँग शरीरमें ला सकती है और जो शरीरको महत्तर क्रियाकलापोंके लिए, अति असाधारणताके ऐसे करतबोंके लिए भी उभार सकती है जिनके लिए शरीर अपनी सामान्यावस्थामें समर्थ नहीं होता। फिर वह बल भी है जिसे मन और इच्छा अपनी माँगों और प्रेरणों और उन छिपी ताकतोंसे शरीरको दे सकते या उसपर स्वामियों और प्रेरकोंके रूपमें आरोपित कर सकते हैं जिन्हें हम काममें लेते हैं या जो ही हमें काममें लेती हैं जब कि हम उनकी क्रियाके उत्सको नहीं जानते। इस प्रकार शरीरके जिन प्राकृतिक गुणों और सामर्थ्योंको जगाया और उकसाया जा सकता और प्रशिक्षित करके सामान्य क्रियाकलाप बनाया जा सकता है उनमें हमें सब प्रकारकी शारीरिक क्रियाओंमें दक्षता और स्थिरताको गिनना ही होगा, जैसे कि दौड़में तेजी, लडाईमें दक्षता, पर्वतारोहीकी निपुणता और सहनशीलता, सैनिक, नाविक, पर्यटक यां अन्वेषकके शरीरसे, जिसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ, या सब प्रकारके साहसिक कार्योंमें शरीरसे जो भी माँग की जा

सकती है उसके प्रति सतत और प्रायः असाधारण उत्तर और शारीरिक उपलब्धिका वह सारा विस्तृत प्रदेश जिसका कि मनुष्य आदि हो गया है या जिसकी ओर वह स्वेच्छासे या परिस्थितियोंकी बाध्यतासे धकेला जाता है। उससे सबके लिए शरीरकी व्यापक दुरुस्ती चाही जा सकती है जो कि इस सारी क्रियाका सर्वसामान्य सूत्र है, एक ऐसी दुरुस्ती जिसे थोड़ेसे लोगों या बहुतोंने पायी है, जिसे एक विस्तृत और बहुमुख शारीरिक शिक्षा और अनुशासन द्वारा व्यापक किया जा सकता है। इनमेंसे कुछ क्रियाकलापोंको खेलकूदकी श्रेणीमें रखा जा सकता है; ऐसे अन्य क्रियाकलाप भी हैं जिनके लिए खेलकूद और शारीरिक व्यायाम प्रभावी तैयारी हो सकते हैं। उनमेंसे कुछमें सम्मिलित क्रियाके लिए प्रशिक्षण, सम्मिलित गतिविधि और अनुशासन आवश्यक हैं और इसके लिए शारीरिक व्यायाम हमें तैयार कर सकते हैं; दूसरे ऐसे हैं जिनमें विकसित वैयक्तिक इच्छा, मनका कौशल और क्षिप्र बोध, प्राण-ऊर्जाकी शक्तिमत्ता और सूक्ष्म शारीरिक प्रेरणा अधिक प्रधान रूपसे आवश्यक हैं और एकमात्र यथेष्ट प्रशिक्षक भी हो सकते हैं। शरीरकी प्राकृतिक ताकतों, उसके सामर्थ्य और मानवीय मन तथा इच्छाकी सेवामें उसकी साधनरूपिणी दुरुस्तीके बारेमें हमारी धारणामें, फलतः हमारी शरीरकी समग्र पूर्णता सम्बन्धी धारणामें सब कुछको सम्मिलित कर लेना होगा।

इस पूर्णताके लिए दो शर्त्तें हैं, शरीर-चेतनाका यथासम्भव अधिकसे अधिक सम्पूर्ण जागरण और एक ऐसी शिक्षा, उसकी सम्भावनाओंका एक ऐसा उद्बोधन जो भी यथासम्भव अधिकसे अधिक सम्पूर्ण और पूरी तरह विकसित, शायद बहुमुख भी हो। रूप या शरीर, निस्सन्देह, अपने मूलमें निश्चेतनकी रचना है और सब ओर उससे सीमित है, किन्तु फिर भी वह उस निश्चेतनकी रचना है जो उसके अन्दर गुप्त चेतनाको विकसित कर रहा है और जिसका ज्ञान, बल तथा आनन्दके आलोकमें वर्द्धन हो रहा है। हमें उसे उस बिन्दुपर लेना है जहाँ वह इन चीजोंमें अपने मानवीय क्रमविकासमें पहुँच गया है, जहाँ तक हो सके इनका पूरा उपयोग करना है और, जहाँ तक हम ऐसा कर सकें, इस क्रमविकासको उतनी ऊँची कोटितक उठाना है जितना कि वैयक्तिक स्वभाव और प्रकृतिकी शक्ति करने दे। जगत्में सारे रूपोंके अन्दर एक शक्ति कार्य कर रही है; वह अचेतन रूपसे सक्रिय या अपने निम्नतर निरूपणोंमें तामसिकतासे पीड़ित है, किन्तु मनुष्यमें शुरूसे चेतन है और उसकी सम्भावनाएँ अंशतः जाग्रत्, अंशतः निद्रित या प्रसुप्त हैं : जो उसमें जाग्रत् है हमें उसे पूरा चेतन बनाना है; जो निद्रित है हमें उसे जगाना और उसके काममें लगाना है; जो प्रसुप्त है हमें उसे उद्बुद्ध और शिक्षित करना है। यहाँ शरीर-चेतनाके दो पहलू हैं; एकमें वह एक प्रकारकी स्वचलता लगती है जो भौतिक स्तरपर अपना कार्य मनके हस्तक्षेपके बिना

करती जाती है और कुछ अंशोंमें यह सम्भावना भी नहीं रहती कि मन उसे सीधा देख सके, या यदि वह चेतन है या उसे देखा जा सकता है तो भी वह, एक बार आरम्भ हो जानेपर, एक प्रतीयमानतः यान्त्रिक क्रिया द्वारा चालू रहती या चालू रहनेमें सामर्थ होती है जिसे मनके निर्देशनकी आवश्यकता नहीं होती और वह तबतक चालू रहती है जबतक कि मनका हस्तक्षेप न हो।

ऐसी अन्य गतियाँ हैं जो मन द्वारा सिखायी गयी और प्रशिक्षित होती हैं और, फिर भी, जब विचार या इच्छाका साथ नहीं होता तब भी स्वतः ही किन्तु दोषहीन रूपसे चलना जारी रख सकती हैं; ऐसे अन्य गतियाँ भी हैं जो निद्रामें क्रिया कर सकती और जाग्रत बुद्धिके लिए मूल्यवान् परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण वह है जिसे प्रशिक्षित और विकसित स्वचलता कहकर वर्णित किया जा सकता है, किसी भी माँगको उत्तर देनेके लिए तैयार आँख, कान, हाथ और सारे अवयवोंका पूर्ण नैपुण्य और सामर्थ्य, उपकरणके रूपमें विकसित स्वतःस्फूर्त क्रिया, मन और प्राण-ऊर्जा उससे जो भी चाहे उसके लिए उसकी पूरी योग्यता। साधारणतः यही वह उत्तम प्राप्ति है जो हमें निम्नतर छोरपर तब मिल सकती है जब कि हम उस छोरसे आरम्भ करते हैं और उसीके साधनों और पद्धतियोंतक सीमित रहते हैं। इससे अधिकके लिए हमें स्वयं मन, प्राण-ऊर्जा या अध्यात्मतत्त्वकी ऊर्जाकी ओर और वे शरीरकी महत्तर पूर्णताके लिए क्या कर सकते हैं उसकी ओर मुड़ना होगा। शारीरिक क्षेत्रमें शारीरिक साधनोंसे हम अधिकसे अधिक जो भी कर सकते हैं वह असुरक्षित और सीमाबद्ध होगा ही; जो शरीरका पूर्ण स्वास्थ्य और बल प्रतीत होता है वह भी सुरक्षित नहीं और किसी भी समय अन्दरके उतार-चढ़ावसे या बाहरके मजबूत आक्रमण या धक्केसे टूट जा सकता है : उच्चतर और अधिक स्थायी पूर्णता हमारी सीमाओंके टूटनेसे ही आ सकती है। जिस ओर हमारी चेतनाका वर्द्धन होना ही चाहिए वैसी एक दिशा है शरीर और उसके सामर्थ्योंपर अन्दर या ऊपरसे बढ़ती हुई पकड़ और हमारी सत्ताके उच्चतर अंगोंको अधिक चेतन उत्तर। मन प्रधानतया मनुष्य है; वह मनोमय प्राणी है और जितना वह उपनिषद्के वर्णन 'प्राणशरीर नेता मनोमय पुरुष' को पूरा करता है उतना ही अधिक उसकी मानवीय पूर्णताका वर्द्धन होता है। यदि मन प्राण-ऊर्जा, सूक्ष्म शारीरिक चेतना और शरीरकी सहजवृत्तियों और स्वचलताओंको अपने दायरेमें ले सके, उनको वशमें कर सके, उनमें प्रवेश कर सके, उनकी सहजवृत्तिगत या स्वतःस्फूर्त क्रियाको चेतन रूपसे व्यवहृत और, जैसा कि हम कह सकते हैं, पूरा मनोमय कर दे सके तो इन ऊर्जाओंकी पूर्णता भी, इनकी क्रिया भी अधिक चेतन, अपने प्रति अधिक

संविद्, अधिक पूर्ण हो जा सकती है। परन्तु मनका भी पूर्णतामें वर्द्धित होना आवश्यक होता है और ऐसा वह उत्तम रूपसे तव कर सकता है जब कि वह स्थूल मनकी अविश्वसनीय बुद्धिपर कम निर्भर करे, युक्तिबुद्धिकी अधिक व्यवस्थित और सही क्रियासे भी सीमित न हो और संबोधिमें वर्द्धित हो सके और अधिक विस्तृत, गहरी और निकट दृष्टिको और आधक ऊँची संबोधिमूलिका इच्छाकी ऊर्जाके अधिक प्रकाशमय प्रवेगको पा सके। मनके वर्तमान विकासकी सीमाओंके अन्दर भी उस मात्राको मापना कठिन है जिसमें मन शरीरके सामर्थ्यों और क्षमताओंपर अपने नियंत्रण या व्यवहार-सामर्थ्यको विस्तृत कर सकता है, और जब मन और भी ऊँचे सामर्थ्योंतक उठता है और अपनी मानवीय सीमाओंको पीछे धकेल देता है तो उसके लिए कोई भी सीमाएँ निर्धारित करना असम्भव हो ज़ाता है : यहाँ तक कि ऐसी सिद्धियाँ भी हैं जिनमें शारीरिक अंगोंकी स्वचल क्रियामें इच्छाका हस्तक्षेप सम्भव लगता है। जहाँ कहीं भी सीमाएँ हटती हैं वहाँ और उनके हटनेके अनुपातमें शरीर अध्यात्मतत्त्वकी क्रियाका अधिक नम्य और प्रत्युत्तरशील और उसी मात्रामें अधिक योग्य और पूर्ण उपकरण हो जाता है। यहाँ, भौतिक जगत्में, सारे प्रभावी और अभिव्यंजक क्रियाकलापोंमें हमारी सत्ताके दोनों छोरोंकी सहकारिता अपरिहार्य है। शरीर यदि थकान या प्राकृतिक असमर्थता या किसी भी दूसरे कारणसे विचार या इच्छाका साथ देनेमें अक्षम या किसी भी तरह अप्रत्युत्तरशील या अपर्याप्त रूपमें प्रत्युत्तरशील है तो उस परिमाणमें क्रिया फलीभूत नहीं होती या न्यून पड़ जाती या किसी मात्रामें असन्तोषप्रद या अधूरी होती है। काव्य-प्रेरणाके बहिर्प्रवाहको ही लें जो कि अध्यात्मतत्त्वका बिलकुल मानसिक कारनामा ही लगता है, उसमें भी यह आवश्यक है कि मस्तिष्कका प्रत्युत्तरशील प्रकम्पन हो और विचार तथा दृष्टिकी जो शक्ति और शव्दका जो आलोक अपनी राह वना रहा या खोद रहा है या अपनी पूर्ण अभिव्यंजनाको खोज रहा है उसकी मरणिके रूपमें वह खुला हुआ हो। मस्तिष्क यदि थका है या किसी अवरोधके कारण अप्रभ है तो या तो प्रेरणा आ नहीं सकती और कुछ भी लिखा नहीं जाता या वह विफल हो जाती है और कोई अवर वस्तु ही बाहर आ सकती है; या नहीं तो जो प्रकाशमय निरूपण साकार होनेका प्रयत्न कर रहा था उसका स्थान निम्नतर प्रेरणा ले लेती है या मस्तिष्कको कम प्रदीप्त प्रेरणाका साथ देना अधिक आसान लगता है या फिर वह परिश्रम करता है और पद्य-रचनाकी सूझ पाता या खड़ी करता है। जो क्रियाकलाप अधिकसे अधिक विशुद्ध रूपमें मानसिक हैं उनमें भी शारीरिक उपकरणकी तत्परता या पूर्ण प्रशिक्षण अपरिहार्य शर्त्त है। वह तत्परता, वह प्रत्युत्तर भी शरीरकी समग्र पूर्णताका अंग है।

यहाँके वर्द्धमान क्रमविकासका मूलभूत लक्ष्य और चिह्न है प्रतीयमान रूपसे

निश्चेतन विश्वमें चेतनाका उन्मज्जन, चेतनाका वर्द्धन और उसके साथ जीवके आलोक और शक्तिका वर्द्धन; रूप और उसकी क्रियाका विकास या उसकी टिके रहनेकी क्षमता अपरिहार्य तो है, किन्तु समूचा अर्थ या केन्द्रीय हेतु नहीं। चेतनाका अधिकाधिक जागरण और उसका अपनी दृष्टि तथा क्रियाके अधिकाधिक ऊँचे स्तर और विशालतर विस्तारकी ओर आरोहण उस परम तथा समग्र पूर्णताकी ओर हमारी प्रगतिकी शर्त्त है जो कि हमारे अस्तित्वका लक्ष्य है। यह शरीरकी समग्र पूर्णताकी शर्त्त भी है। हम अभी मनके जिन किन्हीं भी ऊँचे स्तरोंकी कल्पना करते हैं उनसे भी ऊँचे स्तर हैं और हमें एक दिन उनतक पहुँचना ही है और उनसे परे अधिक महान् जीवनकी, आध्यात्मिक जीवनकी ऊँचाईयोंपर उठ जाना है। हम ज्यों ज्यों उठते हैं हमें अपने निम्नतर अंगोंको उनकी ओर खोलना है और उनको आलोक तथा बलकी उन श्रेष्ठतर और परम क्रियावत्ताओंसे भर देना है; शरीरको हमें अधिकाधिक चेतन, यहाँ तक कि सम्पूर्णतया चेतन ढाँचा और उपकरण, अध्यात्मतत्त्वका चेतन चिह्न, मुहर और बल बनाना है। वह जैसे-जैसे इस पूर्णतामें वर्द्धित होता है उसकी सचल क्रियाकी शक्ति और विस्तृति और अध्यात्मतत्त्वके प्रति उसकी संवेदनशीलता और सेवा वर्द्धित होंगी ही, उसपर अध्यात्मतत्त्वका नियंत्रण भी बढ़ेगा ही, और उसकी क्रियाकी नमनीयता भी बढ़ेगी ही,—ऐसा उसके विकसित और अर्जित शक्तिमय अंगोंमें होगा और साथ ही उसके स्वचलित प्रत्युत्तरोंमें भी, उन प्रत्युत्तरोंमेंभी जो अभी शुद्धतया शारीरिक रचनागत हैं और यान्त्रिक निश्चेतनाकी क्रियाएँ लगते हैं। यह सच्चे रूपान्तरके बिना नहीं हो सकता और मन तथा प्राणका और स्वयं शरीरका रूपान्तर वह परिवर्तन है जिसकी ओर हमारा विकासक्रम गुप्त रूपसे बढ़ रहा है और इस रूपान्तरके बिना धरतीपर दिव्य जीवनकी परिपूर्णताका उद्भव नहीं हो सकता। इस रूपान्तरमें स्वयं शरीर अभिकर्त्ता और भागीदार हो सकता है। निस्सन्देह, अध्यात्मतत्त्वके लिए ऐसी महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव है जिसमें निष्क्रिय शरीर और अपूर्ण चेतनावाला शरीर ही भौतिक क्रियामें उसका अन्तिम या सबसे नीचेका साधन हो, किन्तु वह कोई पूर्ण या सम्पूर्ण वस्तु नहीं हो सकती। पूरा चेतन शरीर भौतिक रूपान्तरकी सही भौतिक पद्धति और प्रक्रियाका आविष्कार और क्रियान्वयन भी कर सकता है। निस्सन्देह, इसके लिए आवश्यक है कि अध्यात्मतत्त्वकी परम ज्योति, शक्ति और सर्जनशील आनन्द व्यष्टिचेतनाके शिखरपर अभिव्यक्त हो गए हों और उन्होंने शरीरमें अपने आदर्शोंको संचारित कर दिया हो, किन्तु इस क्रियान्वयनमें शरीर फिर भी अपना आत्माविष्कार और उपलब्धिका स्वतःस्फूर्त भाग अदा कर सकता है। इस प्रकार शरीर अपने आत्म-रूपान्तरमें और समूची

सत्ताके सर्वांगीण रूपान्तरमें भागीदार और अभिकर्त्ता हो सकता है; यह बात भी शरीरकी समग्र पूर्णताका अंग, चिह्न और प्रमाण होगी।

यदि चेतनाका उन्मज्जन और वर्द्धन क्रमविकासका केन्द्रीय हेतु और उसके गुप्त उद्देश्यकी कुँजी हो तो उस क्रमविकासकी प्रकृतिके नाते ही इस वर्द्धनमें केवल उसकी क्षमताओंका अधिकाधिक विस्तरण नहीं, अधिकाधिक ऊँचे स्तरकी ओर तब-तक आरोहण भी निहित होगा जबतक कि वह उस ऊँचेसे ऊँचे स्तरतक नहीं पहुँच जाय जहाँतक उसका पहुँचना सम्भव है। कारण, वह आरम्भ करता है निश्चेतनामें संवृतिके सबसे नीचेके स्तरसे जिसे हम जड़तत्त्वमें क्रिया करते और भौतिक विश्वकी सृष्टि करते देखते हैं; वह आगे बढ़ता है अज्ञान द्वारा जो कि फिर भी सदा ही विकसित होता ज्ञान है और सदा ही महत्तर आलोककी ओर और इच्छाके सदा ही महत्तर संगठन और नैपुण्यकी ओर और अपने सारे अन्तर्निहित और उन्मज्जित होते सामर्थ्योंके सदा ही महत्तर सामंजस्यीकरणकी ओर बढ़ता है; अन्तमें उसे ऐसे स्थलपर पहुँचना ही चाहिए जहाँ वह अपने सामर्थ्यकी परिपूर्णताका विकास या अर्जन करता है और वह एक ऐसी स्थिति या क्रिया होगी जिसमें ज्ञानका खोजी अज्ञान नहीं, अपितु वह ज्ञान है जो आत्मवान् है, सत्तामें अन्तर्निष्ठ है, अपने सत्योंका स्वामी है और उन्हें एक स्वाभाविक दृष्टि तथा शक्तिसे क्रियान्वित कर रहा है जो परिसीमन या भूलभ्रान्तिसे आक्रान्त नहीं। या यदि कोई परिसीमन है तो उसे स्वारोपित आवरण ही होना चाहिए जिसके पीछे उसने सत्यको कालके अन्दर अभिव्यक्तिके लिये पीछेकी ओर रखा होगा परन्तु उसे वह जब चाहे बाहर खींच लायगा और इसके लिए उसे खोज या अर्जनकी आवश्यकता नहीं होगी और ऐसा वह वस्तुओंके सही बोधके क्रममें या जिसे कालकी पुकारके अनुसरणमें अभिव्यक्त करना है उसके सही धाराक्रममें करेगा। इसका अर्थ होगा उस चेतनामें प्रवेश या गमन जिसे ऋत-चेतना कहा जा सकता है; वह चेतना स्वयम्भू होगी और उसमें सत्ता अपनी स्व-वास्तविकताओंसे अवगत होगी और उसमें उनको ऐसी काल-सृष्टिमें अभिव्यक्त करनेका अन्तर्निहित सामर्थ्य होगा जिसमें सब कुछ वह 'सत्य' होगा जो अपने निभ्रान्त डग भर रहा होगा और अपने स्व-सामंजस्योंको सम्मिलित कर रहा होगा; प्रत्येक विचारणा, इच्छा, भावना और क्रिया सहज रूपसे सही, प्रेरित या संबोधिमूलिका होंगी, सत्यके आलोकके सहारे चालित और फलतः पूर्ण होंगी। सब कुछ अध्यात्मतत्त्वकी अन्तर्निष्ठ वास्तविकताओंको व्यक्त करेगा; वहाँ अध्यात्मतत्त्वके बलका कोई पूरापन रहेगा। वहाँ मनकी वर्तमान सीमाएँ पार हो गयी होंगी : मन हो जायगा 'सत्य' के आलोकका अवलोकन, इच्छा हो जायगी 'सत्य' की शक्ति और बल, प्राण हो जायगा 'सत्य' की प्रगतिशील

परिपूर्ति, स्वयं शरीर हो जायगा 'सत्य' का चेतन पात्र और उसके आत्म-निष्पादनके साधनका अंग और उसके आत्म-संविद् अस्तित्वका रूप। यदि जड़के जगत्में दिव्य जीवन होना है या अध्यात्ममयी चेतनाकी पूरी अभिव्यक्ति होनी है तो अन्ततः इस ऋत-चेतनाके किसी आरम्भ, उसकी किसी प्रथम आकृति या क्रियातक पहुँचना ही होगा और उसका प्रथम क्रियाचालन चाहिए ही। या, वस्तुतः कमसे कम, ऐसी ऋत-चेतनाका हमारे अपने मन, प्राण तथा शरीरसे सम्पर्क होना ही चाहिए; उसे उतरकर इसके संस्पर्शमें होना ही चाहिए, इसकी दृष्टि और क्रियाको नियंत्रित करना, इसके प्रेरक हेतुओंको चालित करना, इसकी शक्तियोंको हस्तगत करना और उनकी दिशा और उद्देश्यको गढ़ना ही चाहिए। जिन्हें इसका स्पर्श होगा वे सभीके सभी इसे पूरा साकार करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे, परन्तु हरेक इसे अपने आध्यात्मिक स्वभाव, अपने आन्तरिक सामर्थ्य, अपनी प्राकृतिक क्रमविकास-रेखाके अनुसार कोई रूप देगा : वह निरापदतासे उस पूर्णतातक पहुँच जायगा जिसका उसे तात्कालिक सामर्थ्य रह रहा हो और वह पुरुषके सत्य और प्रकृतिके सत्यपर पूरा अधिकार पानेकी राहपर होगा।

ऐसी ऋत-चेतनाके क्रियाकलापोंमें उसके सत्यके डगोंकी एक निश्चित, चेतन, दृष्टिशालिनी और इच्छुक स्वतःक्रिया होगी जो प्रतीयमान शून्यमेंसे इस व्यवस्थित विश्वको बाहर लानेवाली निश्चेतन या निश्चेतन लगती शक्तिकी अचूक स्वतःक्रियाका स्थान लेगी। इससे 'सत्-पुरुष' की अभिव्यक्तिके एक नए क्रमकी सृष्टि होगी जिसमें पूर्ण पूर्णता सम्भव होगी, परम और समग्र पूर्णता भी अन्तिम सम्भावनाके प्रदेशोंमें प्रकट होगी। यदि हम इस शक्तिको भौतिक जगत्में उतार सकें तो मानवीय पूर्णताकी सम्भावना, व्यक्ति, समाज और जातिकी पूर्णताकी सम्भावना, आत्मापर आन्तरिक प्रभुत्व और प्रकृतिकी शक्तियोंपर पूरा प्रभुत्व और शासन और उनके उपयोगके बारेमें हमारे युग-युगके स्वप्न अन्तमें समग्र आत्म-सिद्धिकी आशा देख सकेंगे। यह सम्पूर्ण मानव-परिपूर्ति सारी सीमाओंसे आगे निकल जा सकती और दिव्य जीवनके स्वभावमें रूपान्तरित हो जा सकती है। प्राणके वल और मनके प्रकाशको अपने अन्दर लेने और अभिव्यक्त करनेके बाद जड़तत्त्व अध्यात्मतत्त्वके श्रेष्ठतर या परम वल और प्रकाशको अपने अन्दर उतारेगा और पार्थिव शरीरमें अपने निश्चेतनामय अंगोंका त्याग करेगा और अध्यात्मतत्त्वका पूर्णतया चेतन ढाँचा वन जायगा। इस निवासीकी इच्छा और शक्ति अपने शारीरिक आवासके स्वास्थ्य और बलकी सुरक्षित सम्पूर्णता और स्थिरताको कायम रख सकेगी; शारीरिक ढाँचेकी सारी प्राकृतिक क्षमताएँ, शारीरिक चेतनाकी सारी शक्तियाँ अपने चरम विस्तारतक पहुँचेंगी और वहाँ उनकी त्रुटिहीन क्रिया उनके अधिकारमें होगी और सुरक्षित होगी। उपकरणके

रूपमें शरीरको सामर्थ्यका पूरापन प्राप्त होगा; उसका निवासी उससे जो भी चाहेगा उसके लिए, अभी जो कुछ सम्भव है उससे बहुत आगे भी, सारे व्यवहारोंके लिए उपयुक्तताकी समग्रता उसे प्राप्त होगी। यहाँ तक कि वह एक परम सौन्दर्य तथा आनन्दका उद्भासक पात्र बन सकेगा,—जैसे दीपाधार अपने अन्दरकी बत्तीके प्रकाशको प्रतिबिम्बित और विकीर्ण करता है उसी प्रकार वह अध्यात्मतत्त्वकी ज्योतिके सौन्दर्यको फैला रहा होगा, बिखेर रहा होगा, विकीर्ण कर रहा होगा; वह अपने अन्दर अध्यात्मतत्त्वके आनन्दको, दर्शी मनके हर्षको, प्राणके हर्ष और आध्यात्मिक सुखको, आध्यात्मिक चेतनामें उन्मुक्त और सतत आनन्दसे पुलकित जड़तत्त्वके हर्षको अपने अन्दर लिए होगा। आध्यात्मीकृत शरीरकी समग्र पूर्णता यही होगी।

यह सब तुरन्त ही नहीं हो जा सकता, किन्तु यदि दिव्य शक्ति, ज्योति एवं आनन्द हमारी सत्ताके शिखरपर प्रतिष्ठित हो सकें और अपनी शक्तिको मन और प्राण और शरीरमें उतार सकें, कोशाणुओंको आलोकित कर सकें, उन्हें फिरसे गढ़ सकें, चेतनाको सारे ढाँचेके अन्दर जगा सकें, तो ऐसा आकस्मिक आलोकीकरण सम्भव भी हो सकता है। परन्तु राह खुल जायगी और व्यक्तिमें जो कुछ भी सम्भव है उसका निष्पादन अधिकाधिक चरितार्थ हो सकेगा। उस समग्रकी निष्पत्तिमें शारीरिक सत्ताका भी भाग होगा।

परम सद्वस्तु परम सच्चिदानन्दकी प्राप्तिकी ओर प्रमुक्त जीवकी गतिधारामें क्रमविकासशीला प्रकृतिको अनन्त पुरुष जैसे जैसे अधिक ऊँची ऊचाइयों और अधिक चौड़ी चौडाइयोंकी ओर ले जाता है सदा ही आगे क्षितिज मिलते जायँगे। किन्तु अभी इसकी चर्चाका उपयुक्त समय नहीं आया है; जो कुछ लिखा जा चुका है वह, वर्तमान गठनवाला मानवीय मन भविष्यके लिए जो आशा करनेका साहस कर सकता है और आलोकित विचारणा जिसे कुछ मात्रामें समझ सकती है, शायद उतना भर हो गया है। जड़तत्त्वमें उतरती और उसपर आधिपत्य करती ऋत-चेतनाके ये परिणाम क्रमवैकासिक श्रमके लिए पर्याप्त औचित्य होंगे। अध्यात्म-पुरुषके इस ऊर्ध्वमुख सर्वोन्नायक प्रसारमें आध्यात्मीकृत प्रकृतिकी विजयका समकालिक या क्रमागत सर्वसमावेशकारी, सर्वरूपान्तरकारी अधोमुख प्रसार हो सकेगा और जड़तत्त्व और शारीरिक चेतना और शारीरिक रूप तथा क्रियाका महिमावान् परिवर्तन हो सकेगा जिसे हम शरीरकी समग्र पूर्णता ही नहीं, परम पूर्णता कह सकेंगे।

मार्च 23, 1949

दिव्य शरीर

दिव्य शरीरमें दिव्य जीवन हमारे मान्य आदर्शका सूत्र है। किन्तु दिव्य शरीर क्या होगा? उस शरीरकी प्रकृति कैसी होगी, गठन कैसी होगी? उसकी क्रियाशीलताका तत्त्व क्या होगा? उसकी वह पूर्णता क्या होगी जो उसे उस सीमित और अपूर्ण सफलतासे विभेदित करती है जिसमें हम अभी आबद्ध हैं? उसके जीवनकी अवस्थाएँ और क्रियाव्यापार क्या होंगे जिनके कारण उसे धरतीपर आधारमें स्थूल रहनेपर भी दिव्य माना जा सके?

उसे यदि क्रमविकासकी उत्पत्ति होना है,—और हमें उसे इसी रूपमें देखना है,—और वह क्रमविकास यदि हमारी मानवीय अपूर्णता और अज्ञानमेंसे पुरुष और प्रकृतिके महत्तर सत्यमें विकास है, तो वह किस प्रक्रिया या किन पर्वोंमेंसे होकर अभिव्यक्तिमें उद्भूत हो सकता या तेजीसे आ सकता है? धरतीपर क्रमविकासकी प्रक्रिया धीमी और मन्द रही है; यदि रूपान्तर होना है, प्रगतिशील या आकस्मिक परिवर्तन होना है तो किस तत्त्वके हस्तक्षेपकी आवश्यकता है?

हमारे लिए इस रूपान्तरकी सम्भावना, निस्सन्देह, हमारे क्रमविकासके फलस्वरूप ही आती है। जैसे प्रकृतिने जड़से आगे विकसित होकर प्राणको अभिव्यक्त किया है, प्राणसे आगे बढ़कर मनको अभिव्यक्त किया है, वैसे ही उसे मनसे भी आगे विकसित होना और हमारे जीवनकी ऐसी चेतना और शक्तिको अभिव्यक्त करना होगा जो हमारे मनोमय जीवनकी अपूर्णता और सीमासे मुक्त हो, जो अतिमानसिक या ऋत-चेतना हो और अध्यात्मकी शक्ति तथा पूर्णताको विकसित करनेमें समर्थ हो। यहाँ धीमा और मन्द परिवर्तन हमारे क्रमविकासके नियम या रीतिके रूपमें नहीं रह जायगा, ऐसा न्यूनाधिक मात्रामें केवल तबतक रहेगा जब तक कि मानसिक अज्ञान चिपका रहेगा और हमारे आरोहणमें विघ्न देगा; किन्तु एकबार ऋत-चेतनामें हमारा विकास हो जानेपर उसकी सत्ताके आध्यात्मिक सत्यका बल ही सब कुछ निर्दिष्ट करेगा। उस सत्यमें हम मुक्त होंगे और वह मन, प्राण तथा देहको रूपान्तरित करेगा। ज्योति, आनन्द, सौन्दर्य, और सारी सत्ताकी स्वतःस्फूर्त सही क्रियाकी पूर्णता वहाँ अतिमानसिक ऋत-चेतनाकी सहजात शक्तियाँ हैं, और वे प्रकृत्या ही मन, प्राण तथा देहको, यहाँ धरतीपर भी, ऋत-चिन्मय अध्यात्मकी अभिव्यक्तिमें रूपान्तरित

करेंगी। धरतीकी अन्धकारिताएँ अतिमानसिक ऋत-चेतनाके विरुद्ध नहीं टिकेंगी कारण, वह चेतना विजयके लिए अध्यात्मकी सर्वदर्शिनी ज्योति और सर्वशक्तिशालिनी शक्तिको धरतीमें भी काफी मात्रामें ला सकती है। सब कुछ उसकी ज्योति तथा शक्तिकी ओर न भी खुले, किन्तु जो कुछ खुलता है उसे उस मात्रामें परिवर्तित होना ही चाहिए। यही रूपान्तरका तत्त्व-विधान होगा।

हो सकता है कि एक मनोगत परिवर्तन, प्रकृतिपर अन्तरात्माका स्वामित्व, मनका ज्योतिके तत्त्वमें और प्राण-शक्तिका बल तथा पवित्रतामें रूपान्तर पहला चरण होगा, समस्याके समाधानके लिए, निरे मानवीय सूत्रसे परे निस्तार पाने और धरतीपर दिव्य जीवन कही जा सकनेवाली जैसी किसी वस्तुको स्थापित करनेके लिए पहला प्रयत्न होगा, अतिमानवताका, पृथ्वी-प्रकृतिकी परिस्थितियोंमें अतिमानसिक जीवनका पहला रेखांकन होगा। परन्तु वह वह सम्पूर्ण और मूलगत परिवर्तन नहीं हो सकेगा जो कि आवश्यक है; वह समग्र रूपान्तर नहीं, दिव्य देहमें दिव्य जीवनकी सम्पूर्णता नहीं। शरीर फिर भी मानवीय होगा, वस्तुतः अपनी उत्पत्ति और मूलभूत प्रकृतिमें पशु होगा और इसके कारण उसके अपने अनिवार्य सीमायन शरीरधारिणी सत्ताके उच्चतर अंगोंपर आरोपित होंगे। जैसे अज्ञान तथा भूलभ्रान्ति द्वारा होनेवाला सीमायन अरूपान्तरित मनका मूलभूत दोष है, जैसे अपूर्ण आवेगों, खींचतानों और कामनाकी चाहों द्वारा सीमायन अरूपान्तरित प्राणशक्तिके दोष हैं, वैसे ही शारीरिक क्रियाकी सम्भावनाओंकी अपूर्णता, उससे की गयी माँगोंके प्रति उसकी अर्ध-चेतनाके उत्तरमें एक अपूर्णता, एक सीमायन, और उसके मूल पशुगुणकी स्थूलता और कलंक अरूपान्तरित या अपूर्णतया रूपान्तरित देहके दोष होंगे। वे प्रकृतिके उच्चतर अंगोंकी क्रियामें बाधा देंगे ही और उन्हें अपनी ओर नीचे भी खींच लेंगे। शरीरका रूपान्तर प्रकृतिके समग्र रूपान्तरके लिए आवश्यक शर्त्त है।

ऐसा भी हो सकता है कि रूपान्तर पर्व पर्व करके हो; अभी भी मनोमय प्रदेशकी वस्तु रहनेवाली प्रकृतिकी ऐसी शक्तियाँ हैं जो फिर भी उस वर्द्धमान विज्ञानकी सम्भावनाएँ हैं जो कि हमारे मानवीय मनसे ऊपर उठा हुआ है और भगवान्की ज्योति तथा बलमें भाग ले रहा है; उन लोकोंसे होकर आरोहण, उनका मनोमयी सत्तामें अवरोहण, स्वभाविक क्रमवैकासिक गतिक्रम लग सकता है। परन्तु व्यवहारमें ऐसा पाया जा सकता है कि बीचमें आनेवाले ये स्तर समग्र रूपान्तरके लिए पर्याप्त नहीं होंगे; कारण, वे तो उस मनोमयी सत्ताकी ही आलोकित सम्भावनाएँ होंगे जो अभीतक उस शब्दके पूरे अर्थमें अतिमानसिक नहीं हुई है, अतः वे मनमें आंशिक दिव्यताको ही उतार सकेंगे या मनको आंशिक दिव्यताकी ओर उठा सकेंगे किन्तु ऋत-चेतनाकी

सम्पूर्ण अतिमानसतामें उसका उत्थान सम्पादित नहीं कर सकेंगे। फिर भी ये स्तर आरोहणमें ऐसी भूमिकाएँ हो सकते हैं जिनतक कुछ लोग पहुँचेंगे और जहाँ वे ठहर जायँगे जब कि दूसरे लोग और भी ऊपर जायँगे और अर्द्ध-दिव्य अस्तित्वके श्रेष्ठतर स्तरतक पहुँच सकेंगे और वहाँ रह सकेंगे। यह अनुमान नहीं कर लेना है कि सारी मानवजाति एक साथ ही अतिमानसमें उठ जायगी; पहले केवल वे ही आरोहणकी चोटी या किसी बीचकी ऊँचाईतक पहुँच सकेंगे जिनके आन्तरिक क्रमविकासने उन्हें ऐसे महान् परिवर्तनके योग्य कर दिया है या जो भगवान्‌के सीधे स्पर्श द्वारा उसकी पूर्ण ज्योति एवं शक्ति एवं आनन्दमें उन्नीत कर दिये गये हैं। मानवजातिका बड़ा समूह फिर भी लम्बे समयतक केवल सामान्य या अंशतः आलोकित और उन्नीत मानवीय प्रकृतिसे तुष्ट रह सकता है। परन्तु यह अपने-आपमें पृथ्वी-प्रकृतिका पर्याप्त आमूल परिवर्तन और आरम्भिक रूपान्तर होगा; कारण, जिन्हें ऊपर उठनेकी इच्छा होगी उन सबके लिए राह खुली होगी, ऋत-चेतनाका अतिमानसिक प्रभाव पृथ्वीको स्पर्श करेगा और उसके अरूपान्तरित समूहको भी प्रभावित करेगा और वहाँ वह आशा होगी, अन्ततः सबके लिए वह आश्वासन प्राप्य होगा जिसमें भाग लेना या जिसे उपलब्ध करना अभी कुछ ही जनोंके लिए सम्भव है।

जो कुछ भी हो ये बातें आरम्भ मात्र होंगी, ये पृथ्वीपर दिव्य जीवनकी सम्पूर्णता नहीं हो सकेंगी; यह पार्थिव जीवनका नूतन दिशाग्रहण होगा, किन्तु उसके परिवर्तनका शीर्ष नहीं। उस शीर्षके लिए आवश्यक है उस अतिमानसिक ऋत-चेतनाका परम राज्य जीवनके अन्य सारे रूप जिसके अधीन होंगे और जिसे वे ऐसे परम तत्त्व और परम शक्ति मानकर उसपर आश्रित होंगे जिसे वे लक्ष्यके रूपमें देख सकें, जिसके प्रभावोंसे वे लाभ उठा सकें, जिसके द्योतन और अन्तर्वेधिनी शक्तिके किसी अंशसे वे चालित और उत्थित हो सकें। विशेष करके, जैसे मानवीय शरीरको पहलेके पशु-रूपमें परिवर्तन करके और एक ऐसी सीधी खड़ी आकृतिको लेकर अस्तित्वमें आना पड़ा जिसमें मनके तत्त्व और मनोमय जीवके जीवनके लिए उपयोगी और आवश्यक गतिधाराओं और क्रियाकलापोंकी अभिव्यँजना कर सकनेवाले प्राणकी नूतन शक्ति आयी, वैसे ही एक ऐसे शरीरका विकास करना होगा जिसमें एक दिव्य क्रियाकी नयी शक्तियों, क्रियाओं या कोटियोंका आगमन होगा जो ऋत-चिन्मय सत्ताको प्रकट करेंगी, अतिमानसिक चेतनाका स्वभाव होंगी और चिन्मय पुरुषको अभिव्यक्त करेंगी। जब कि वहाँ यह सामर्थ्य होना ही चाहिए कि पृथ्वी-जीवनके जिन क्रियाकलापोंका अध्यात्मीकरण किया जा सकता है उन सबको लिया जाय और उदात्त बनाया जाय, साथ ही, मूल पशुता और उसके द्वारा अमिट रूपसे दूषित क्रियाओंके एक अतिक्रमणको या कमसे

कम उनके किसी रक्षक रूपान्तरको, चेतनाके और उन्हें अनुप्राणित करनेवाले हेतुओंके कुछ चैत्यीकरण या अध्यात्मीकरणको, और इस प्रकार जिसका रूपान्तर न किया जा सके उस सबके परित्यागको, जिसे उसकी उपकरणात्मिका संरचना, उसकी क्रिया और संगठन कहा जा सकता है उसके भी एक परिवर्तनको, इन चीजोंपर एक सम्पूर्ण और अभूतपूर्व नियंत्रणको इस समग्र परिवर्तनका परिणाम या अनुषंगी होना ही चाहिए। आध्यात्मिक शक्तियोंपर अधिकार करनेवाले बहुत सारे लोगोंके जीवनमें कुछ मात्रामें इन बातोंके उदाहरण मिलते हैं किन्तु एक अपवादस्वरूप और कभी-कभी आनेवाली चीजकी तरह ही, एक नयी चेतना, नये प्राण और नयी प्रकृतिके संगठनकी तरह न होकर बल्कि अर्जित सामर्थ्यकी अनियमित या अधूरी अभिव्यक्तिकी तरह ही। ऐसे भौतिक रूपान्तरको कहाँ तक ले जाया जा सकता है? उसे धरतीपरके जीवनके साथ संगत रहना हो और उस जीवनको पार्थिव क्षेत्रसे परे न ले जाना हो या पारलौकिक अस्तित्वकी ओर न धकेलना हो तो वे कौनसी सीमाएँ हैं जिनके अन्दर उसे रहना होगा? अतिमानसिक चेतना एक निश्चित परिमाण नहीं, अपितु एक ऐसी शक्ति है जो सम्भावनाके अधिकाधिक ऊँचे स्तरोंकी ओर तबतक जाती रहती है जबतक कि वह आध्यात्मिक जीवनके परमोत्कर्षोंतक न पहुँच जाय जिनसे कि अतिमानसकी परिपूर्ति होगी और अतिमानससे परिपूर्ति होती है आध्यात्मिक चेतनाके उन प्रदेशोंकी जो कि मानवीय या मानसिक स्तरसे उसकी ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रगतिक्रममें शरीर भी एक अधिक पूर्ण रूप, अपनी अभिव्यंजिका शक्तियोंका अधिक ऊँचा प्रसार पा सकता है, दिव्यताका अधिकाधिक पूर्ण पात्र बन सकता है।

*
* *

भूतकालमें शरीरकी यह भवितव्यता विरली ही मानी गयी है या यहाँ धरतीपरके शरीरके लिए नहीं मानी गई है; बल्कि ऐसे रूपोंके बारेमें यह कल्पना होती है या वे इस तरह दिखायी देते हैं कि वे स्वर्गिक सत्ताओंकी विशेषताएँ हैं और वे पार्थिव प्रकृतिसे अभी भी बँधे रहनेवाले जीवके लिए सम्भव नहीं। वैष्णवोंने चिन्मय देहकी बात कही है; कान्तिमय या तेजोमय देहकी धारणा की गई है जो वेदोंकी ज्योतिर्मय देह हो सकती है। कुछ लोगोंने उच्च कोटिके विकासवाले आध्यात्मिक लोगोंके शरीरोंसे एक प्रकाशको विकीर्ण होते देखा है जो कि परिवेष्टनकारी तेजोमंडलके विकिरण जितना भी प्रसृत हो गया है और रामकृष्ण जैसे महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व-

के जीवनमें इस प्रकारके आरम्भिक व्यापारकी बात आयी है। परन्तु ये चीजें या तो केवल धारणागत रही हैं या विरली और यदा-कदा होनेवाली, और अधिकतर शरीरके बारेमें यह नहीं माना गया है कि उसमें आध्यात्मिक सम्भावना या रूपान्तरका सामर्थ्य है । शरीरके बारेमें यह कहा गया है कि वह धर्मके निष्पादनका साधन है; और यहाँ धर्ममें जीवनके सारे उच्च प्रयोजन, उपलब्धियाँ और आदर्श समाविष्ट हैं और आध्यात्मिक परिवर्तन भी उनसे बाहर नहीं : किन्तु वह एक ऐसा उपकरण है जिसे उसका काम हो जानेपर त्याग देना है और, यद्यपि शरीरमें रहनेकी अवधिमें आध्यात्मिक सिद्धि हो सकती है और होनी भी अवश्य चाहिए, उसका पूरा फलन शारीरिक ढाँचेको छोड़ देनेके बाद ही हो सकता है। आध्यात्मिक परम्परामें शरीरको अधिकतर एक विघ्न, आध्यात्मीकरण या रूपान्तरके लिए असमर्थ और एक भारी बोझ माना गया है जो कि जीवको पार्थिव प्रकृतिसे संसक्त रखता और 'परम' में आध्यात्मिक परिपूर्ति या 'परम' में अपनी व्यष्टि-सत्ताके विलयनकी ओर उसके आरोहणको रोकता है। परन्तु जब कि हमारी नियतिमें शरीरके भागके बारेमें यह धारणा उस साधनाके लिए काफी उपयुक्त है जो धरतीको केवल अज्ञानके क्षेत्रकी तरह और धरतीके जीवनको उस जीवन-उपरतिकी तैयारीकी तरह देखती है जो कि हमारी रक्षिका और आध्यात्मिक मुक्तिकी अपरिहार्य शर्त्त है, यह उस साधनाके लिए अपर्याप्त है जो यह कल्पना करती है कि पृथ्वीपर दिव्य जीवन होगा और पृथ्वी-प्रकृतिकी मुक्ति यहाँपर अध्यात्म-सत्ताके शरीरग्रहणके समग्र उद्देश्यका अंग है। सत्ताका समग्र रूपान्तर यदि हमारा लक्ष्य है तो शरीरके रूपान्तरको उसका अपरिहार्य अंग होना ही चाहिए; इसके विना पृथ्वीपर पूरा दिव्य जीवन सम्भव नहीं।

शरीरका भूतकालका विकासक्रम ही और विशेषत: उसकी पशु-प्रकृति और पशु-इतिहास इस परिणतिकी राहमें बाधक लगते हैं। शरीर, जैसा कि हम देख चुके हैं, निश्चेतनकी उत्पत्ति और सृष्टि है, स्वयं निश्चेतन या अर्द्ध-चेतन है; उसने आरम्भ किया अचेतन जड़का रूप होकर, उसने प्राणको विकसित किया और वह जड़ पदार्थसे चलकर प्राणवन्त विकास हो गया, उसने मनको विकसित किया और वनस्पतिकी अवचेतना तथा पशुके आरम्भिक अविकसित मन या अधूरी बुद्धिसे मनुष्यके बौद्धिक मन और अधिक पूरी बुद्धिको विकसित किया और अब वह हमारे समग्र आध्यात्मिक प्रयासके भौतिक आधार, पात्र और उपकरणात्मक साधनके रूपमें काम दे रहा है। उसकी पशु-प्रकृति और उसकी स्थूल सीमाएँ निस्सन्देह हमारी आध्यात्मिक पूर्णताकी राहमें विघ्न होकर खड़ी हैं; परन्तु उसने अन्तरात्माको विकसित किया है और वह उसके साधनके रूपमें काम देनेमें समर्थ है, इस बातसे यह संकेत मिल सकता है कि वह

आगेके विकासके लिए समर्थ है और अध्यात्मका देवायतन और प्राकट्य बन सकता है, जड़तत्त्वकी गुप्त आध्यात्मिकताको व्यक्त कर सकता है, अर्द्धचेतन मात्रके स्थानपर पूरा चेतन बन सकता है, अध्यात्मके साथ एक निश्चित एकत्व पा सकता है। यदि उसे दिव्य जीवनमें विघ्न न रह जाकर उस जीवनका सम्पूर्ण उपकरण बन जाना है तो इतना तो करना ही चाहिए, कमसे कम इतनी मात्रामें तो करना ही चाहिए कि वह अपनी मूल पृथ्वी-प्रकृतिको पार कर जाय।

*

* *

फिर भी, मानवीय शरीरको उसके अच्छेसे अच्छे रूपमें लें तो भी, उसकी पशु-देह और उसकी पशु-प्रकृति और प्रेरणोंकी असुविधाएँ और उसकी सीमाएँ आरम्भमें वर्तमान रहती हैं और सदा ही तबतक टिकी रहती हैं जब तक कि पूरी और मूलभूत मुक्ति न हो जाय और जबतक उसमें संज्ञाहीनता या अर्द्ध-संज्ञा ही हो और उसके अन्तरात्मा, मन और प्राण-शक्ति जड़तत्त्वसे, सब प्रकारकी भौतिकतासे, अनुन्नत पृथ्वी-प्रकृतिकी पुकारसे बद्ध रहें और ये चीजें निरन्तर अध्यात्मकी पुकारका विरोध करती हों, उच्चतर वस्तुओंकी ओरके आरोहणको सीमित करती हों। इससे शारीरिक सत्तामें बन्धन आता है भौतिक उपकरणोंका, मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियोंका जो कि भौतिकता और सब प्रकारके भौतिकवादसे ससक्त हैं, शरीर-यन्त्र और उसकी आवश्यकताओं और बाध्यताओंका, भोजनकी अपरिहार्य आवश्यकताका और भोजन जुटाने और संचित करनेके साधनको जीवनकी चिन्ताके विषयोंमें एक विषय माननेवाली लगनका, थकान और नींदका, शारीरिक कामनाकी तुष्टिका। मनुष्यकी प्राण-शक्ति भी इन छोटी चीजोंसे बँध जाती है; उसे अपनी अधिक बड़ी आकांक्षाओं और चाहोंके दायरेको, धरतीके खिचावसे ऊपर उठने और अपने चैत्य अंगोंके अधिक स्वर्गिक संबोधिस्फुरणों और हृदयके आदर्श और अन्तरात्माकी एषणाओंके अनुसरणके प्रवेगको सीमित करना होता है। शरीर मनपर भौतिक सत्ताकी सीमाएँ और यह बोध आरोपित करता है कि भौतिक वस्तुओंकी ही एकमात्र पूरी वास्तवता है और बाकी सब एक प्रकारसे कल्पनाकी, ऐसी ज्योतियों और महिमाओंकी चमचमाती आतिशबाजी है जिनका पूरा खेल यहाँ नहीं, परेके स्वर्गोंमें, अस्तित्वके उच्चतर लोकोंमें ही हो सकता है; इससे भाव और अभीप्सा आक्रान्त हो जाते हैं सन्देहके भारसे, सूक्ष्मेन्द्रियोंकी साखी और संबोधि अनिश्चितिसे, अतिभौतिक चेतना और अनुभूतिका

बृहत् क्षेत्र अवास्तवताके आरोपसे, और अपनी आदि सीमितकारिणी मानवतामेंसे अतिमानसिक सत्य एवं दिव्य प्रकृतिकी ओर होनेवाला अध्यात्मसत्ताका विकास उसकी पार्थिव जड़ोंसे बँध जाता है। इन विघ्नोंको पार किया जा सकता है, शरीरके इनकार और विरोधको जीता जा सकता है, उसका रूपान्तर सम्भव है। जैसे हमारी मनोमयी मानवतासे अतिमानसिक ऋत-चेतनाकी अतिमानवताको और जो हमारे लिए अभी अतिचेतन है उसकी दिव्यताको अभिव्यक्त कराया जा सकता है वैसे ही हमारे निश्चेतन और पशु-अंगको आलोकित किया जा सकता और दैवी प्रकृतिको अभिव्यक्त करनेमें समर्थ बनाया जा सकता है और वहाँ पर समग्र रूपान्तरको वास्तविकता बना दिया जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी पशुताके बन्धन और वाध्यताएँ बाध्यकारी न रह जायँ और उसकी भौतिकताकी ऐसी शुद्धि कर दी जाय कि स्वयं उस भौतिकताको दिव्य प्रकृतिकी अभिव्यक्तिकी भौतिक ठोसतामें परिणत किया जा सके। कारण, पृथ्वी-परिवर्तनकी समग्रतामें किसी भी तात्त्विक वस्तुको वाहर नहीं छोड़ना होगा; स्वयं जड़तत्त्वको आध्यात्मिक सद्वस्तुके, भगवान्के प्राकट्यके साधनमें परिणत किया जा सकता है।

कठिनाई द्विविध है, आन्तरिक और शारीरिक: पहली है प्राणपर अनुन्नत पशुताका विशेषतया शरीरकी स्थूल सहजवृत्तियों, आवेगों, कामनाओंसे उत्पन्न परिणाम; दूसरी है हमारी शारीरिक संरचना और अवयव–साधनतत्त्वका परिणाम जिससे उच्चतर दिव्य प्रकृतिकी क्रियाशक्तिपर उसके प्रतिबन्ध लादे जाते हैं। इन दो कठिनाइयोंमेंसे पहलीसे सलटना और उसे जीतना अधिक आसान है; कारण, यहाँ इच्छा बीचमें पड़ सकती और शरीरपर उच्चतर प्रकृतिकी शक्तिको आरोपित कर सकती है। शरीरके इन आवेगों और सहजवृत्तियोंमेंसे कुछको आध्यात्मिक अभीप्सुओंने विशेष रूपसे हानिकारक पाया है और उनका शरीरके संन्यासवृत वर्जनके पक्षमें काफी जोर रहा है। कामभावना, कामुकता और जो कुछ यौनभावनासे उत्पन्न होता और उसके अस्तित्वका साक्षी होता है, इन सबका आध्यात्मिक जीवनमेंसे वर्जन और बहिष्कार करना पड़ा है और यह चीज कठिन होनेपर भी बिलकुल ही असम्भव नहीं और साधकके लिए इसे प्रमुख शर्त बनाया जा सकता है। यह सभी कृच्छ साधनामें स्वाभाविक और अपरिहार्य है और उस शर्तकी पूर्ति शुरूमें आसान न होनेपर भी कुछ समयके बाद बिलकुल साध्य हो जाती है; कामवासनाकी सहजवृत्ति और कामवेगोंको जीतना वस्तुतः उन सबके लिए अपरिहार्य है जो आत्म-प्रभुताको पाना और आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हों। उसपर पूरा अधिकार पाना सभी साधकोंके लिए आवश्यक है, उसका उच्छेद सम्पूर्ण संन्यासीके लिए। इतना भर मानना ही होगा और इसके

बाध्यकारी महत्त्व और इसके तत्त्वको न्यून नहीं करना है।

परन्तु कामावेगके स्थूल शारीरिक भोगकी बातको छोड़ दें तो लिंग-तत्त्वकी सारी मान्यताको धरतीपरके दिव्य जीवनसे बहिष्कृत नहीं किया जा सकता; वह जीवनमें विद्यमान है, एक बड़ा भाग अदा करता है,और उससे व्यवहार करना है, उसकी सहज उपेक्षा नहीं की जा सकती, उसे बस दमित नहीं कर दिया जा सकता, दाब कर नहीं रखा जा सकता, नजरसे हटाकर नहीं रखा जा सकता। प्रथम स्थानमें, वह अपने एक पहलूमें एक वैश्व तत्त्व और दिव्य तत्त्व भी है : वह ईश्वर और शक्तिका आध्यात्मिक रूप लेता है और उसके बिना जगत्-सृष्टि नहीं होती, पुरुष और प्रकृतिके विश्व-तत्त्वकी अभिव्यक्ति नहीं होती जब कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही सृष्टिके लिए आवश्यक हैं, अपने साहचर्य और आदानप्रदानमें सृष्टिकी आन्तरिक क्रियाकी क्रीड़ाके लिए भी आवश्यक हैं और जीव तथा प्रकृतिके रूपमें अपनी अभिव्यक्तिमें लीलाकी सारी प्रक्रियाके लिये मूलगत हैं। स्वयं दिव्य जीवनमें इन दो शक्तियोंका देहधारण या, कमसे कम, किसी रूपमें उनकी विद्यमानता या उनके शरीरी रूपों या प्रतिनिधियों द्वारा उनका आरम्भकारी प्रभाव नूतन सृष्टिको सम्भव बनानेके लिए अपरिहार्य होगा। यौनभावना मानसिक और प्राणिक स्तरपर अपनी मानवीय क्रियामें पूरा अदिव्य तत्त्व नहीं; उसके अधिक उदात्त पहलू और आदर्शवृत्तियाँ हैं और यह देखना है कि उन्हें नए और विशालतर जीवनमें किस तरह और कहाँतक प्रवेश दिया जा सकता है। कामवासना और कामप्रेरणाके सारे स्थूल पशुभोगका अन्त कर देना होगा; वह केवल उन लोगोंमें चालू रह सकता है जो उच्चतर जीवनके लिए तैयार नहीं या सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवनके लिए अबतक तैयार नहीं। जिन लोगोंने उस जीवनके लिए अभीप्सा की है किन्तु जो अभीतक उसे उसके पूरेपनमें नहीं ले सके उन सबको यौनभावनाको परिष्कृत करना होगा, आध्यात्मिक या चैत्य प्रेरणके नीचे और उच्चतर मन तथा उच्चतर प्राणके नियंत्रणके नीचे आना होगा और अपने सारे अधिक हल्के, छिछोरे या पतित रूपोंको छोड़ना और आदर्शकी पवित्रताके स्पर्शका अनुभव पाना होगा। प्रेम रहेगा, प्रेमके विशुद्ध सत्यके रूप अधिकाधिक ऊँचे डगोंमें मिलेंगे जब तक कि वह अपने उच्चतम स्वरूपको न पा लेवे, सर्वप्रेममें विस्तृत न हो जाय, भगवान्के प्रेममें विलीन न हो जाय। नर-नारीका प्रेम उस उन्नयन और उत्कर्षको प्राप्त करेगा; कारण, जिसे आदर्श और आध्यात्मिकके स्पर्शका अनुभव हो सकता है वह सब आरोहणकी राहपर तबतक चलता ही जायगा जबतक कि वह दिव्य सद्वस्तुतक नहीं पहुँच जाय। शरीर और उसके क्रियाकलापोंको दिव्य जीवनके अंगकी तरह स्वीकार करना ही होगा, उन्हें इस विधानके नीचे गुजरना ही होगा; परन्तु जैसा कि अन्य क्रमवैकासिक

संक्रमणोंमें हुआ है, जो दिव्य जीवनके विधानको स्वीकार नहीं कर सकता उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता और वह आरोहिका प्रकृतिसे अलग होकर गिर ही जायगा।

शरीरके रूपान्तरको जिस दूसरी कठिनाईका सामना करना होता है वह है शरीरका अपने अस्तित्वमात्रके लिए भोजनपर निर्भर करना, और यहाँ भी समस्या बनकर खड़ी हैं स्थूल शारीरिक सहजवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ, कामनाएँ जो कि इस कठिन तत्त्वसे संयुक्त हैं, जीभकी मूलभूत लालसाएँ, भोजनका लोभ और पेटकी विषयी भोजनरसिकता, मनकी तबकी अशिष्टता जब वह इन्द्रियके कीचमें लोटता, अपने निरे पशु-अंगकी दासताका पालन करता और जड़तत्त्वके नीचे अपनी अधीनताका आलिंगन करता है। हमारे अन्दरका उच्चतर मनुष्य शरीर और उसकी चाहोंके विषयमें एक संयमित मिताचारमें, एक संयतता और निवृत्ति या लापरवाहीमें और उच्चतर वस्तुओंकी तन्मयतामें आश्रय लेता है। साधक प्राय: ही, जैन संन्यासियोंकी तरह, बारबारके लम्बे उपवासोंका आश्रय लेता है जो उसे, कमसे कम कुछ समयके लिए, शरीरकी माँगोंके पँजेमेंसे निकाल देते हैं और उसे अपने अन्दर अध्यात्मके बड़े कक्षोंकी शुद्ध रिक्तताको अनुभव करनेमें सहायता देते हैं। परन्तु यह सब मुक्ति नहीं है और यह प्रश्न किया जा सकता है कि दिव्य जीवनको भी, केवल आरम्भमें ही नहीं किन्तु हमेशाके लिए, इस आवश्यकताके अधीन होना है या नहीं। परन्तु वह इसमेंसे अपनी पूरी मुक्ति केवल तब पा सकेगा जब कि उसे वह राह मिल जाय जिससे वह विश्वऊर्जासे इस प्रकार आहरण कर सके कि वह ऊर्जा हमारी शारीरिक सत्ताके प्राणिक अंगोंको ही नहीं, उसके घटक भौतिक तत्त्वको भी पोषण दे सके और उसे जड़-तत्त्वकी किसी बाहरी वस्तुसे पोषण पानेकी आवश्यकता न रहे। निस्सन्देह यह सम्भव है कि बहुत लम्बे उपवासोंके दौरान भी अन्तरात्मा, मन और प्राणकी, शरीरकी भी, पूरी ऊर्जाएँ और क्रियाएँ कायम रखी जायँ, सब समय जाग्रत् किन्तु योगमें एकाग्र रहा जाय, या दिन-रात गहराईसे विचार किया जाय और लिखा जाय, सोया नहीं जाय, हर दिन आठ घन्टे टहला जाय, ये सारे काम अलग अलग या साथ-साथ किए जायँ और बलका कोई भी क्षय, कोई भी थकान, किसी भी तरहका अभाव या ह्रास अनुभूत न हो। फिर, उपवासके अन्तमें चिकित्साविज्ञान द्वारा आदिष्ट संक्रमण या एहति-यातको माने विना सामान्य या सामान्याधिक परिमाणमें भी भोजन लिया जा सकता है, मानों उस शरीरके लिए जो एक प्रकारके आरम्भिक रूपान्तर द्वारा योगकी शक्तियों और क्रियाकलापोंका उपकरण होने लिए प्रशिक्षित हो चुका है, पूरा उपवास और भोजतृप्ति स्वाभाविक अवस्थाएँ हों जिनका सीधे ही और आसान राहसे बारी बारीसे आना होता हो। परन्तु जिस एक चीजसे बचाव नहीं होता वह है शरीरके भौतिक

ऊतकोंकी, उसके मांस और सत्त्वकी बर्बादी। यह धारणा की जा सकती है कि यदि किसी व्यवहार्य राह और साधनका पता चल जाय तो इस अन्तिम अभेद्य बाधाको भी जीता जा सकता और भौतिक प्रकृतिकी शक्तियोंके साथ शरीरकी शक्तियोंके उस आदानप्रदान द्वारा शरीरका पालन किया जा सकता है जिसमें प्रकृतिको वह दे दिया जायगा जिसकी उसे व्यक्तिसे आवश्यकता है और प्रकृतिसे सीधे ही उसकी विश्वसत्ताकी पोषिका ऊर्जाओंसे प्राप्ति की जायगी। यह धारणा की जा सकती है कि जीवनके क्रमविकासके आधारमें हम जिस व्यापारको, अपने चारों ओरसे पोषण और आत्म-पुनर्नवीकरणके साधनका आहरण करनेके सामर्थ्यको देखते हैं, उसका आविष्कार और पुनःस्थापन उस क्रमविकासके शिखरपर किया जा सके। या नहीं तो विकसित सत्ता उन साधनोंको अपने परिपार्श्वसे, चारों ओरसे और नीचेसे ऊपर या अन्दर न खींचकर बल्कि ऊपरसे नीचे खींच सकती है। परन्तु जबतक इस तरहकी कोई चीज मिल न जाय या सम्भव न बन जाय हमें भोजनकी ओर और प्रकृतिकी स्थापित भौतिक शक्तियोंकी ओर वापस जाना होगा।

वास्तवमें हम अपने भौतिक जीवनके पुनर्भरणके लिए और शरीरमें मानसिक, प्राणिक और अन्य शक्तियोंके पुनर्भरणके लिए, अनजाने ही, विश्वऊर्जासे, जड़स्थ शक्तिसे निरन्तर आहरण किया करते हैं : आदानप्रदानकी जिन अदृश्य प्रक्रियाओंको प्रकृति निरन्तर बनाए रखती है उनमें हम ऐसा प्रत्यक्ष रूपसे और प्रकृतिके दिये गये विशेष साधनोंसे करते हैं; सांस लेना इनमेंसे एक है, फिर नींद और विश्राम भी। परन्तु स्थूल भौतिक देह और उसकी क्रियाओं और आन्तरिक शक्तियोंके पालन और पुनर्नवीकरणके लिए अपने बुनियादी साधनके रूपमें प्रकृतिने भोजनके रूपमें बाहरी वस्तुके लिए जानेको, उसके पाचनको, जो कुछ परिपाच्य है उस सबके परिपाचन और जिसका परिपाचन हो नहीं सकता या करना नहीं चाहिए उसके निरसनको चुना है; पालन भरके लिए इतना भर काफी है, किन्तु इस प्रकार पालित शरीरके स्वास्थ्य और बलको सुरक्षित करनेके लिए उसने बहुत प्रकारके शारीरिक व्यायामों और खेलोंकी प्रेरणा, ऊर्जाके व्यय और पुनर्नवीकरणकी राहों, बहुविध कर्म और श्रमके वरण या आवश्यकताको जोड़ दिया है। नए जीवनमें, कमसे कम उसके आरम्भमें, अपूर्ण रूपसे ही रूपान्तरित शरीरके पालनके लिए भोजन या स्थापित प्राकृतिक पद्धतिकी आवश्यकताके चरम या साहसी वर्जनकी माँग आवश्यक या वांछनीय नहीं होगी। यदि या जब इन चीजोंको पार करना होगा तब इसे अवश्य ही अध्यात्मकी जाग्रत इच्छा, स्वयं जड़तत्त्वमें रहनेवाली इच्छाके परिणामकी तरह, अनुल्लंघ्य क्रमवैकासिकी प्रेरणाकी तरह, कालके सर्जनात्मक रूपान्तरणोंके कार्य या विश्वातीतमेंसे किसी

अवतरणकी तरह आना चाहिये। इस बीच, जो भी हमारे लिए विश्वातीत चेतना है उसके आह्वान द्वारा या स्वयं विश्वातीतसे किसी आक्रमण या अवतरण द्वारा, चारों ओर या ऊपरसे सत्ताकी उच्चतर शक्तियोंकी चेतन क्रिया द्वारा विश्वऊर्जाको अन्दर खींचना एक कभी-कभी, बार-बार या बराबर होनेवाला व्यापार हो जा सकता है और वह भोजनके महत्त्व और उसकी आवश्यकताकी मात्राको इतना घटा दे सकता है कि वह प्रधान व्यवसाय न रह कर एक गौण और अधिकाधिक न्यून आवश्यकता हो जाय। इस बीच भोजन और सामान्य प्रकृति-क्रियाको स्वीकार किया जा सकता है यद्यपि उसके उपयोगको अज्ञानकी रीति रहनेवाली आसक्ति, कामना, अधिक स्थूल और विवेकहीन क्षुधाओं और ऐन्द्रिय सुखोंकी ललकसे मुक्त करना होगा; स्थूल प्रक्रियाओंको सूक्ष्म करना है और स्थूलतम प्रक्रियाओंको अन्त कर देना और नयी प्रक्रियाओंको खोजना हो सकता है या नयी साधन-विधियाँ उद्भूत हो सकती हैं। जबतक वह स्वीकृत है उसमें एक परिष्कृत रस अनुमेय हो सकता है और स्वादका एक निष्काम आनन्द भी स्थूल स्वादका और पसन्दगी और नापसन्दगी द्वारा उस मानवीय निर्वाचनका स्थान ले ले सकता है जो हमारा प्रकृतिको उससे हमें मिलती चीजोंके सम्बन्धमें उत्तर होता है। यह याद रखना चाहिए कि पृथ्वीपर दिव्य जीवनके लिए पृथ्वी और जड़तत्त्वका वर्जन नहीं करना है और किया भी नहीं जा सकता, उन्हें तों बस उदात्त होना और अपने अन्दर अध्यात्मकी सम्भावनाओंको व्यक्त करना है, अध्यात्मके उच्चतम उपयोगोंका सेवक होना और महत्तम जीवनके उपकरणोंमें रूपान्तरित होना है।

दिव्य जीवनको सदा ही पूर्णताकी प्रेरणासे चालित होना चाहिए, जीवनके हर्षकी पूर्णता उसका अंग है और मूलभूत अंग है, शरीरका वस्तुओंमें आनन्द और शरीरका जीवन-हर्ष उससे बहिष्कृत नहीं हैं; उन्हें भी पूर्ण बनाना है। एक विशाल समग्रता इस नूतन और वर्द्धमान जीवन-रीतिकी प्रकृति ही है; यह है ज्योति-वस्तुमें रूपान्तरित मनकी, आध्यात्मिक ओज एवं हर्षकी शक्तिमें रूपान्तरित प्राणकी, दिव्य कर्म, दिव्य ज्ञान, दिव्य आनन्दके उपकरणमें रूपान्तरित शरीरकी सम्भावनाओंकी संपूर्ति। जो कुछ अपनेको रूपान्तरित करनेमें समर्थ है, जो कुछ स्वाभिव्यक्तिशील अध्यात्म-सत्ताकी इस समग्रताके प्राकटयके लिए उपकरण, पात्र या अवसर हो सकता है उस सबको इसके दायरेमें ले लिया जा सकता है।

*

* *

अब, शरीरकी पशुता जिन बाध्यताओंको आरोपित करती और उच्चतर जीवनके अभीप्सुकी राहमें दृढ़ विरोधके रूपमें आगे रखती है उनका पूराका पूरा वर्जन करनेवालोंके लिए कामभावनाकी एक समस्या उठती है : वह है जातिको चालू रखनेकी आवश्यकता जिसके लिए कामक्रिया ही वह एकमात्र साधन है जिसे प्रकृतिने प्राणियोंके लिए दे रखा है और जो जातिपर अनिवार्य रूपसे आरोपित है। निस्सन्देह, इस समस्यासे सलटना न तो दिव्य जीवनके खोजी व्यक्तिके लिए आवश्यक है, न उन लोगोंके समुदायके लिए ही जो उसकी खोज केवल अपने लिए नहीं करते अपितु यह चाहते हैं कि मानवजातिमें उसकी मान्यता, कमसे कम आदर्शके रूपमें, फैल जाय। ऐसे बहुत सारे लोग सदा ही रहेंगे जो इस आदर्शसे सरोकार नहीं रखेंगे या उसकी पूरी चरितार्थताके लिए तैयार नहीं होंगे और जातिको चालू रखनेकी बात उनके भरोसे छोड़ दी जा सकती है। दिव्य जीवन बितानेवालोंकी सख्या उस अभीप्सासे स्पृष्ट लोगोंके स्वैच्छिक आसंजन द्वारा कायम रखी जा सकेगी और उस आदर्शके फैलनेसे बढ़ेगी भी, और इस हेतु स्थूल साधन अपनानेकी, काम-निवृत्तिके कड़े नियमसे स्खलनकी आवश्यकता नहीं होगी। परन्तु फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें, दूसरे दृष्टिकोणसे, पृथ्वीपर दिव्य जीवनके सर्जन और विस्तरणमें सहायता देनेके लिए पृथ्वी-जीवनमें प्रवेश करना चाहनेवाले अन्तरात्माओंके लिए शरीरोंका स्वैच्छिक सर्जन वांछनीय पाया जा सकेगा। तब इस कार्यके लिए स्थूल प्रजननकी आवश्यकतासे केवल तब बचा जा सकता है जब कि अतिभौतिक प्रकारका नया साधन विकसित और सुलभ किया जा सके। इस प्रकारका विकास अवश्य ही जिसे अभी गुह्यविद्याका क्षेत्र माना जाता है उसकी और जातिके सर्वसामान्य मानसके ज्ञान या अधिकारसे बाहरकी क्रिया या सर्जनकी छिपी शक्तियोंके व्यवहारकी वस्तु होगा। गुह्यविद्याका अर्थ सत्यतः है हमारी प्रकृति, अन्तरात्मा, मन, प्राणशक्ति और सूक्ष्म शारीरिक चेतनाकी क्षमताओंकी उच्चतर शक्तियोंका व्यवहार जिससे उनके अपने गुप्त विधान और उसकी अन्तर्शक्तियोंके किसी दबावसे, मानवीय या पार्थिव मन, प्राण और शरीरमें या जड़के जगत्में पदार्थों और घटनाओंमें अभिव्यक्ति और परिणामके लिए, उनके स्वलोक या भौतिक लोकमें परिणाम घटित किए जा सकें। इन अल्पज्ञात या अबतक अविकसित रहती शक्तियोंके आविष्कार या विस्तरणको अब कुछ विख्यात चिन्तक मानवजातिके आसन्न क्रमविकासमें उसके अगले डगके रूपमें देखते हैं; हमने जिस प्रकारके सर्जनकी बात कही है उसे इन विकासोंमें समाविष्ट नहीं किया गया है, किन्तु उसे नयी सम्भावनाओंमें एक सम्भावना अवश्य मानना होगा। प्रजननके इस विषयमें या मनुष्य और पशुमें शारीरिक प्राणशक्तिके पुनर्नवीकरणके लिए भौतिक विज्ञान

भी प्रकृतिके सामान्य उपकरणों या पद्धतिसे आगे निकलनेके लिए भौतिक साधन पानेकी कोशिश कर रहा है; किन्तु गुह्य साधनका आश्रय और सूक्ष्म भौतिक प्रक्रियाओंका हस्तक्षेप यदि सम्भव हो सकें तो उनकी विधि महत्तर विधि होगी जिससे कि भौतिक शक्तिके हाथ आनेवाले एकमात्र साधनों और परिणामोंकी सीमाओं, पतनों, अधूरेपन और भारी अपूर्णतासे बचा जा सकेगा। भारतमें शुरूके युगसे ही इन गुप्त चीजोंके अच्छे ज्ञानवाले या विकसित आध्यात्मिक ज्ञान, अनुभव और सक्रिय शक्तिवाले लोगों द्वारा इन शक्तियोंके व्यवहारकी सम्भावना और वास्तवतामें बहुत फैला हुआ विश्वास रहा है और तन्त्रोंमें तो उनकी पद्धति और व्यवहारकी संगठित प्रणालीमें भी विश्वास रहा है। योगीके हस्तक्षेप द्वारा सन्तानकी वांछित उत्पत्ति कर सकनेमें भी साधारणतः विश्वास किया जाता रहा है और प्रायः उसके लिए प्रार्थना की गयी है और कभी कभी इस प्रकार प्राप्त सन्तानके लिए उस योगीकी इच्छा या आशीष द्वारा किसी आध्यात्मिक उपलब्धि या भवितव्यताका वरदान माँगा जाता है और ऐसे फलका उल्लेख भूतकालकी परम्परामें तो मिलता ही है, वर्तमानकी साखी भी उसका समर्थन करती है। परन्तु यहाँ फिर भी प्रजननके सामान्य साधनके आश्रयकी और भौतिक प्रकृतिकी स्थूल पद्धतिकी आवश्यकता रहती है। यदि हमें इस आवश्यकतासे बचना है तो एक विशुद्ध गुह्य पद्धतिको, भौतिक परिणामके लिए अतिभौतिक साधन द्वारा क्रिया करती अतिभौतिक प्रक्रियाओंके अवलम्बको सम्भव होना होगा : कामावेग और उसकी पशु-प्रक्रियाके अवलम्बका अतिक्रमण अन्यथा सम्भव नहीं हो सकेगा। यदि भौतिकीकरण और अभौतिकीकरणके व्यापारमें कोई वास्तविकता है जिसके सम्भव होनेका दावा गुह्यवेत्ता करते हैं और जिसके प्रमाणमें हममेंसे बहुतोंको घटनाएँ देखनेको मिली हैं, तो इस प्रकारकी पद्धति सम्भावनाके दायरेसे बाहर नहीं होगी। कारण, गुह्यविद्याके सिद्धान्तके अनुसार, और योगज्ञान हमारे सामने सत्ताके स्तरों और लोकोंके जिस श्रेणीक्रमका रेखांकन करता है उसके अनुसार, सूक्ष्म भौतिक शक्ति ही नहीं, सूक्ष्म भौतिक जड़वस्तु भी है जो प्राण और स्थूल जड़वस्तुके बीच पड़ती है और इस सूक्ष्म भौतिक धातुमें सर्जन करना और इस प्रकार बनाए गए रूपोंको हमारी अधिक स्थूल भौतिकतामें अवक्षिप्त करना साध्य है। इस सूक्ष्म भौतिक धातुमें रचित पदार्थका गुह्य शक्ति और प्रक्रियाके हस्तक्षेप द्वारा अपनी सूक्ष्मतामेंसे स्थूल जड़तत्त्वकी अवस्थामें सीधा संक्रमण चाहे किसी ठोस भौतिक पद्धतिकी सहायता या हस्तक्षेपसे हो, चाहे उसके बिना ही, उसे सम्भव तो होना चाहिए, और यह सम्भावना मानी भी जाती है। शरीरमें प्रविष्ट होना या अपने लिए शरीर गढ़ना और पृथ्वीपर दिव्य जीवनमें भाग लेना चाहनेवाले अन्तरात्माको कामक्रियाके द्वारा जन्ममें आये बिना या किसी अवनति-

के बिना या अपने मन और भौतिक शरीरके वर्द्धन और विकासमें उन भारी परिसीमनों-मेंसे किसीको भी आने दिए बिना जो कि हमारी वर्तमान जीवनविधिके लिये अपरिहार्य हैं, इस सीधे रूपान्तरणकी पद्धतिसे ऐसा करनेमें सहायता दी जा सकती या ऐसी आकृति भी दे दी जा सकती है। तब वह तुरन्त ही उस सत्यतः दिव्य भौतिक शरीरके ढाँचे और महत्तर सामर्थ्यों और क्रियाकलापोंको धारण कर सकेगा जिसका आविर्भाव दिव्यीकृत पृथ्वी-प्रकृतिमें प्राण, और आकार दोनोंके समग्रतया रूपान्तरित जीवनकी ओर वर्द्धमान क्रमविकासमें एक दिन होगा ही।

परन्तु इस दिव्य शरीरका आन्तरिक या बाह्य आकार और ढाँचा क्या होगा? उसके साधन क्या होंगे? पशु और मनुष्यके शरीरके विकासके भौतिक इतिहासने उसे अवयवोंकी एक सूक्ष्मतासे निर्मित और ब्यौरेवार प्रणाली और उनकी क्रियाकी एक पराश्रित व्यवस्थासे बँधा छोड़ दिया है जो किसी भी समय अव्यवस्था हो जा सकती है, व्यापक या स्थानिक असंगठनकी ओर खुली है, आसानीसे विक्षुब्ध होनेवाली स्नायविक प्रणालीपर आश्रित है और ऐसे मस्तिष्कके नेतृत्वमें है जिसके प्रकम्पन हमारे चेतन नियन्त्रणमें नहीं अपितु यान्त्रिक और स्वचल माने जाते हैं। जड़वादीके अनुसार यह सब एकमात्र जड़का क्रियाकलाप है जिसकी मूलभूत वास्तवता रसायनिक है। हमें यह मानना होता है कि शरीरका निर्माण रसायनिक तत्त्वोंके माध्यमसे होता है जो परमाणुओं, मोलक्यूलों और कोशाणुओंकी रचना करते हैं और फिर ये भी एक जटिल शारीरिक ढाँचे और साधनविन्यासके आधारगत करण और एकमात्र संचालक हैं, वह ढाँचा और साधनविन्यास ही हमारे सारे कर्मों, विचारों, भावनाओंका एकमात्र यान्त्रिक कारण है, अन्तरात्मा कल्पित वस्तु है और मन और प्राण इस यंत्रकी भौतिक और यान्त्रिक अभिव्यक्ति और रूप ही हैं जो निश्चेतन जड़में अन्तर्निष्ठ रहनेवाली शक्तियों द्वारा क्रियान्वित और स्वयमेव चालित होता है, भले ही उसमें चेतनाका मिथ्याभास हो। यदि यही बात सच्ची होती तो यह स्पष्ट है कि शरीर या किसी भी और चीजका दिव्यीकरण या दिव्य रूपान्तर और कुछ नहीं, एक भ्रम, एक कल्पना, एक निरर्थक और असम्भव मरीचिका होगा। परन्तु यदि हम यह भी मान लें कि इस शरीरमें एक अन्तरात्मा, एक चेतन इच्छा सक्रिय है, तो भी उसका दिव्य रूपान्तर तबतक नहीं हो सकेगा जबतक कि स्वयं शरीर-यन्त्रमें और उसकी भौतिक क्रियाओंके संगठनमें आमूल परिवर्तन नहीं आ जाय। रूपान्तरकारी माध्यम अपने काममें शारीरिक गठनकी अपरिवर्तनीय मर्यादाओंसे बँधा होगा और रोक दिया जायगा और हमारे अन्दरका अपरिवर्तित या अपूर्णतया परिवर्तित मूल पशु उसे रोक रखेगा। इन शारीरिक प्रबन्धोंकी स्वाभाविक अव्यवस्थाएँ, विचलन, रोग वहाँ फिर भी होंगे और उन्हें केवल

सतत सतर्कता या चिरनियन्त्रण द्वारा ही बाहर रखा जा सकेगा जिसके लिए शारीरिक यन्त्रका आध्यात्मिक निवासी और स्वामी बाध्य होगा। उसे सत्यतः दिव्य शरीर नहीं कहा जा सकेगा; कारण, दिव्य शरीरमें इन सारी चीजोंकी ओरसे अन्तर्निष्ठ स्वतन्त्रता स्वभाविक और चिरस्थायी होगी; यह स्वतन्त्रता उसकी सत्ताका सामान्य और सहजात सत्य और फलतः अवश्यम्भावी और अपरिवर्तनीय होगी। शरीर-संगठनके क्रियाकलापों और, जैसा कि भलीभाँति हो सकता है, उसके ढाँचे और, अवश्य ही, उसके अति यान्त्रिक और भौतिक आवेग और चालिका शक्तियोंका आमूल रूपान्तर अवश्यमेव होगा। वह कौन सा माध्यम है जिसे हम इस सर्वमहत्त्वपूर्ण मुक्ति और परिवर्तनका साधन बना सकते हैं? हमारे अन्दर कोई चीज है या कोई चीज विकसित की जा सकती है——वह शायद हमारी सत्ताका एक केन्द्रीय और अभी भी गुह्य रहता अंग है,——जिसमें ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका बल, हमारी वास्तविक और वर्तमान निर्मितिमें, जो हो सकता है उसका अंश मात्र है परन्तु जो, यदि वे सम्पूर्ण और आधिपत्यशालिनी हो जायँ, तो अन्तरात्मा और अतिमानसिक ऋत-चित्‌की ज्योति और शक्तिकी सहायतासे आवश्यक शारीरिक रूपान्तर और उसके परिणाम घटित करनेमें सत्यतः समर्थ होंगी। यह बात तान्त्रिक ज्ञान द्वारा व्यक्त और योग-पद्धतियोंमें स्वीकृत चक्र-योजनामें मिल सकती है। ये चक्र हमारी सत्ताकी सारी सक्रिय शक्तियोंके चेतन केन्द्र और उत्स हैं जो अपनी क्रियाको स्नायुजालों द्वारा संगठित करते हैं और एक आरोही क्रममें संगठित हैं; वह क्रम सबसे नीचेके शारीरिक चक्रसे उच्चतम मनोमय और आध्यात्मिक चक्रकी ओर उठता है जिसे सहस्रदल कहते हैं और जहाँ आरोहिणी प्रकृति, तान्त्रिकोंकी कुण्डलिनी शक्ति, ब्रह्मसे मिलती और दिव्य पुरुषमें मुक्त हो जाती है। ये चक्र हमारे अन्दर वन्द या आधे बन्द होते हैं, और हमारी भौतिक प्रकृतिमें उनकी पूरी सम्भाव्य शक्तिको अभिव्यक्त किया जा सके उससे पहले उन्हें खोलना होगा: परन्तु जब एक बार वे खुल जाते और पूरे सक्रिय हो जाते हैं तो उनकी शक्तियोंके विकास और समग्र रूपान्तरकी सम्भावनाकी कोई सीमा आसानीसे नहीं तै की जा सकती।

परन्तु इन शक्तियोंके आविर्भाव और इनकी मुक्त तथा दिव्यतर क्रियाका स्वयं शरीरपर क्या परिणाम होगा? इनका उसके साथ सक्रिय सम्बन्ध क्या होगा और तब भी वर्तमान रहती पशु-प्रकृति और उसकी पशु-प्रेरणाओं और स्थूल भौतिक पद्धतिपर इनकी रूपान्तरकारिणी क्रिया क्या होगी? यह कहा जा सकता है कि पहला आवश्यक परिवर्तन होगा मन, प्राण-शक्ति, सूक्ष्म शारीरिक करणों और शारीरिक चेतनांका अधिक स्वच्छन्द और अधिक दिव्य क्रियामें मुक्त होना, उनकी चेतनाकी अनेक आयामोंवाली और असीम क्रिया, स्वयं शारीरिक चेतनाका, उसके उपकरणोंका और जड़के

जगत्में आत्माकी अभिव्यक्तिके लिए उसके सामर्थ्य और क्षमताकी उच्चतर शक्तियोंका बड़ा प्रस्फुटन और उनका उन्नयन्। जो सूक्ष्मेन्द्रियाँ अभी हममें छिपी हुई हैं वे निर्बन्ध क्रियामें आगे आ सकेंगी और स्वयं भौतिक इन्द्रियाँ, जो हमारे लिए अभी अदृश्य है उसको देखनेके लिए या जो चीजें हमें घेरे हुई हैं किन्तु अभी अग्राह्य हैं या हमारे ज्ञानकी पहुँचसे बाहर रखी गई हैं उनके आविष्कारके लिए, साधन या माध्यम हो जा सकेंगी। पशुप्रकृतिके आवेगोंपर कड़ा नियन्त्रण रखा जा सकेगा या उनकी शुद्धि की जा सकेगी और उन्हें सूक्ष्म बनाया जा सकेगा जिससे कि वे दायित्व न होकर सम्पत्ति हो सकेंगे और उन्हें इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकेगा कि वे अधिक दिव्य जीवनके अंग और प्रक्रियाएँ हो सकेंगे। परन्तु इन परिवर्तनोंके बाद भी ऐसी भौतिक प्रक्रियाएँ बची रहेंगी जो पुरानी राहपर चलेंगी और उच्चतर नियन्त्रणके वशमें होनेवाली नहीं होंगी और यदि उन्हें नहीं बदला जा सका तो स्वयं बाकी रूपान्तर भी रुक जा सकता और अधूरा रह जा सकता है। शरीरके समग्र रूपान्तरके लिए आवश्यक होगा उसके संघटनके भौतिकतम अंगका, उसकी सरचना, उसकी प्रक्रियाओं, उसके प्रकृति-विन्यासका यथेष्ट परिवर्तन।

फिर, ऐसा सोचा जा सकता है कि एक पूरा नियन्त्रण, इस शरीर-संघटन और उसकी अदृष्ट क्रियाका ज्ञान और अवलोकन और उसके व्यापारोंको चेतन इच्छाके अनुसार निर्दिष्ट करनेवाला प्रभावी नियन्त्रण यथेष्ट होगा; इस सम्भावनाकी पुष्टि यह कहकर दी गयी है कि यह कुछ लोगोंमें तो सिद्ध ही हो चुकी है और उनमें आन्तरिक शक्तियोंके विकासका अंग रही है। इस प्रकारके स्वामित्वके सुविदित और सुप्रमाणित उदाहरण हैं श्वासको रोकना और फिर भी शरीरके जीवनका स्थिर रहना, केवल श्वासको ही नहीं, सारी प्राणिक अभिव्यक्तियोंको जब चाहे तब लम्बे समयके लिये बिलकुल ही बन्द कर देना, वैसे ही जब चाहे तब हृदयकी गतिको रोक देना और साथ ही विचार, वाणी और अन्य मानसिक क्रियाओंका किसी क्षीणताके विना चालू रहना; शरीरपर इच्छाशक्तिके अधिकारके ये और अन्य व्यापार भी मिलते हैं। परन्तु ये सफलताएँ कभी कभी और कहीं कहीं होती हैं, वे रूपान्तर नहीं होतीं; आवश्यक है समग्र नियन्त्रण और एक स्थापित और अभ्यस्त और वस्तुतः स्वाभाविक स्वामित्व। यह उपलब्ध हों जानेपर भी दिव्य शरीरकी प्राप्तिके हेतु सम्पूर्ण मुक्ति और परिवर्तनके लिए किसी अधिक मूलभूत वस्तुकी भी माँग हो सकती है।

फिर, यह कहा जा सकता है कि जैसे शरीरके आधारित बाह्य रूपको वैसे ही उसकी अवयव-संरचनाको भी पृथ्वी-प्रकृतिके रक्षणके लिए, पृथ्वी-जीवनके साथ दिव्य जीवनके सम्बन्धके लिए और क्रमविकास-प्रक्रियाके चालू रहनेके लिए एक

आवश्यक भौतिक भित्तिके रूपमें रक्षित रखना होगा जिससे कि ऊपरकी ओर उससे बाहर और दूर सत्ताकी उस स्थितिमें निकल जानेको रोका जा सके जो पार्थिव लोककी दिव्य परिपूर्तिकी चीज न होकर उच्चतर लोककी ही होगी। हमारी प्रकृतिमें रहनेवाले पशुतत्त्वका यदि यथेष्ट रूपान्तर हो जाय जिससे वह अभिव्यक्तिमें बाधा न होकर उसका उपकरण हो जाय तो उसका दीर्घायु अस्तित्व भी सातत्यके रक्षणके लिए, क्रमवैकसिक समग्रके रक्षणके लिए आवश्यक होगा; वह भौतिक जगत्‌में उद्‌भूत होते देवके लिए, जिसे भौतिक जगत्‌में कार्य करना होगा और नए जीवनके कार्य और चमत्कार पूरे करने होंगे, जीवन्त वाहनके रूपमें आवश्यक होगा। यह निश्चित है कि इस सम्बन्धको बनानेवाले किसी शरीर-रूपको और पृथ्वी-क्रियाबल और उसके मूलभूत क्रियाकलापोंकी किसी क्रियाको वहाँ होना ही चाहिए, परन्तु उस सम्बन्धको बन्धन या नियन्त्रक परिसीमन या परिवर्तनकी समग्रताका खंडन नहीं होना चाहिए। वर्तमान शरीर-संघटनके किसी रूपान्तरके बिना उसका संरक्षण पुरानी प्रकृतिके अन्तर्गत बन्धन और नियन्त्रणकी तरह ही कार्य करेगा। एक भौतिक आधार तो होगा, किन्तु वह होगा पृथ्वीका और पार्थिव, पुरानी पृथ्वीका, न कि दिव्यतर आन्तरिक संरचनावाली नई पृथ्वीका; कारण, पुराने आयोजनका उस संरचनासे सामंजस्य नहीं होगा, वह उसके आगेके विकासके काम नहीं आ सकेगा, जड़में उसके आधारके रूपमें उसे सहारा भी नहीं दे सकेगा। वह सत्ताके एक भागका, निम्नतर भागका, अरूपान्तरित मानवता और अपरिवर्तित पशुक्रियासे गठबन्धन कर देगा और अतिमानसिक प्रकृतिकी अतिमानवतामें उसकी उन्मुक्ति नहीं होने देगा। तो यहाँ भी परिवर्तन आवश्यक है; वह परिवर्तन समग्र शारीरिक रूपान्तरका आवश्यक अंग होगा और समूचे मनुष्यको, अन्तिम परिणाममें तो अवश्य ही, दिव्य बना देगा और उसके विकासक्रमको अधूरा नहीं छोड़ेगा।

यह कहना होगा कि यह लक्ष्य तब काफी पूरा हो जायगा जब कि चक्रोंके साधन-विनियोग और उनकी शक्तियोंका प्रकृतिके सारे क्रियाकलापोंपर राज्य होगा, शरीरपर उनका पूरा आधिपत्य होगा और भौतिक जीवनमें जड़लोकमें उन्हें जो कुछ करना है उस सबके लिए वे शरीरको उसके ढाँचेके रूप और उसकी अवयव-क्रियाओं, दोनोंमें ही संचारका निर्बन्ध माध्यम और साधन और संबोध तथा सचल क्रियाका नमनीय उपकरण बना देंगे। स्वयं भौतिक अवयवोंकी कार्यकारिणी प्रक्रियाओंमें और, बहुत सम्भवतः, उनके संघटन और उनके महत्त्वमें भी परिवर्तन होना होगा; उन्हें नए दैहिक जीवनपर अपने परिसीमनोंका अनुल्लंघ्य आरोपण नहीं करने दिया जा सकेगा। आरम्भमें वे अधिक स्पष्ट रूपमें संचार और क्रियाके माध्यमोंके बाहरी सिरे हो जा

सकते हैं, अधिवासीकी मनोगत प्रयोजनोंके लिए अधिक कामके हो जा सकते हैं, अपने प्रत्युत्तरोंमें कम अन्धतासे भौतिक हो सकते हैं, जो आन्तरिक गतिधाराएं और शक्तियाँ उन्हें काममें लेती हैं और जिनके बारेमें हमारे अन्दरका भौतिक मनुष्य यह गलत अनुमान करता है कि भौतिक अवयव ही उन्हें उत्पन्न कर रहे और काममें ले रहे हैं, उनकी क्रिया और लक्ष्यके प्रति अधिक चेतन हो जा सकते हैं। मस्तिष्क होगा विचारोंके रूपके संचारका साधन और शरीर तथा बाह्य जगत्पर उनके आग्रहकी बैटरी; तब शरीर और बाह्य जगत्में विचार अधिक सीधी तरहसे प्रभावी हो सकेंगे, स्थूल साधनके विना एक मनसे दूसरे मनमें अपना संचार कर सकेंगे, वैसे ही दूसरोंके विचारों, कार्यो और जीवनोंपर, यहाँ तक कि भौतिक वस्तुओंपर भी सीधे प्रभाव उत्पन्न कर सकेंगे। समान रूपसे, जगत्पर चैत्य चक्रकी शक्तियों द्वारा बाहर फेंकी गयी भावनाओं और भावावेगोंके आदानप्रदानके लिए हृदय सीधा संचारकर्त्ता और माध्यम होगा। हृदय सीधे हृदयको उत्तर दे सकेगा, जीवन-शक्ति अपरिचितता और दूरीके बावजूद अन्य जीवनोंकी सहायताके लिए आ सकेगी और उनकी पुकारका उत्तर दे सकेगी, बहुत सारे जीव किसी बाह्य संचारके बिना अद्वय दिव्य केन्द्रसे आते सन्देशसे रोमांचित हो सकेंगे, वहाँसे आती गुप्त ज्योतिमें मिल सकेंगे। इच्छाशक्ति भोजनसे व्यवहार करनेवाले अवयवोंको वशमें कर सकेगी, स्वतः ही स्वास्थ्यकी सुरक्षा कर सकेगी, लोभ और कामनाका अन्त कर सकेगी, सूक्ष्मतर प्रक्रियाओंको ला बैठा सकेगी या वैश्व प्राणशक्तिसे बल और सत्त्वको अन्दर खींच सकेगी जिससे कि शरीर लम्बे समयतक, क्षय या बर्बादीके बिना, अपने स्वबल और सत्त्वको बनाए रख सकेगा, भौतिक खाद्य पदार्थोंके पोषणकी आवश्यकताके बिना इस प्रकार रह सकेगा, और फिर भी थकावटके बिना, निद्रा या विश्रामके विरामके बिना, सम्पूर्ण कार्य चालू रख सकेगा। अन्तरात्माकी इच्छा या मनकी इच्छा लिंग-चक्र और लिंग-अवयवोंपर उच्चतर उत्सोंसे कार्य कर सकेगी जिससे कि स्थूलतर कामवासना या कामोद्दीपनको निष्कासित किया जा सकेगा और उनके व्यवहारको पशु-उत्तेजना या अपरिष्कृत प्रवेग या कामनाके काम आनेके स्थानपर, यह क्षेत्र जिस ओजसका कारखाना है उस ओजसके संचय और उत्पादनमें लगाया जा सकेगा और मस्तिष्क, हृदय तथा प्राणशक्तिकी ओर निर्दिष्ट किया जा सकेगा जिससे कि मन, अन्तरात्मा, अध्यात्म तथा उच्चतर प्राणशक्तियोंकी क्रियाको अवलम्ब मिलेगा और निम्नतर वस्तुओंपर ऊर्जाका व्यय सीमित होगा। अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष, अधिक आसानीसे सबको आलोकसे भर सकेगा और वस्तुतः शरीरके भौतिक तत्त्वको अपने महत्तर स्वोद्देश्यके लिए उच्चतर उपयोगमें लगा सकेगा।

यह एक प्रथम सबल परिवर्तन तो होगा, किन्तु किसी भी तरह वह पूरी चीज नहीं जो सम्भव या वांछनीय है। कारण, ऐसा भली भाँति हो सकता है कि क्रमवेकासिकी प्रेरणा अवयवोंकी भौतिक क्रिया और उपयोगमें स्वयं अवयवोंके परिवर्तनकी ओर बढ़ेगी और उनके साधनविनियोगकी आवश्यकताको, उनके अस्तित्वकी भी आवश्यकताको बहुत कम कर देगी। तब हम सूक्ष्म शरीरके प्रति चेतन होंगे, उसमें जो कुछ चल रहा होगा उस सबका हमें बोध होगा, और सूक्ष्म शरीरके चक्र अपनी ऊर्जाओंको भौतिक स्नायुजालों और ऊतकोंमें प्रवाहित करेंगे और समूचे भौतिक शरीरमें विकीर्ण करेंगे; सारे स्थूल जीवनको और इस नूतन अस्तित्वके लिए उसके आवश्यक क्रियाकलापोंको इन उच्चतर करणों द्वारा, अधिक स्वतन्त्र और प्रचुर रूपमें और कम बोझिल और प्रतिबन्धक पद्धतिसे, कायम रखा जा सकेगा। यह चीज इतनी दूर चली जा सकेगी कि ये अवयव अपरिहार्य न रह जायँ, यहाँ तक कि अति बाधक ही अनुभूत हों : हो सकता है कि केन्द्रीय शक्ति उनके व्यवहारको अधिकाधिक कम करे और अन्तमें उसे विलकुल ही अलग हटा दे। यदि ऐसा हो जायगा तो कृश होते जानेसे उनका क्षय हो जा सकता है, उनकी मात्रा घटकर नगण्य या बिलकुल ही विलुप्त हो जा सकती है। केन्द्रीय शक्ति उनके स्थानपर बहुत भिन्न प्रकारके सूक्ष्म अवयवोंको या यदि किसी भौतिक वस्तुकी आवश्यकता हुई तो ऐसे उपकरणोंको ला बैठायगी जो, हम जिन्हें अवयव कहकर जानते हैं वैसे न होकर, बल्कि क्रियाबलके रूप होंगे या सुनम्य संचारक। यह चीज शरीरके परम समग्र रूपान्तरका अंग तो हो सकेगी, परन्तु हो सकता है कि यह भी अन्तिम न हो। ऐसे परिवर्तनोंकी कल्पना करना आगे दूर देखना है और वस्तुओंके वर्तमान रूपसे आसक्त रहनेवाले मन उनकी सम्भावनामें विश्वास करनेमें अक्षम हो सकते हैं। क्रमवैकासिक प्रेरणापर किसी भी आवश्यक परिवर्तनकी कोई ऐसी सीमाएँ और कोई ऐसी असम्भावना नहीं लादी जा सकतीं। सब कुछका मूलभूत परिवर्तन आवश्यक नहीं : इसके विपरीत, समग्रतामें जो फिर भी आवश्यक है उस सबको संरक्षित रखना है, किन्तु सबको पूर्ण बनाना है। चेतनाका वर्द्धन, विस्तरण और उन्नयन इस लोकमें क्रमवैकासिक उद्देश्यकी केन्द्रीय इच्छा और लक्ष्य मालूम होता है; इसके लिए या क्रमवैकासिक उद्देश्यके सहायक साधन और संरक्षक परिवेशकी प्रगतिके लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उसे रखना और बढ़ाना होगा; किन्तु जिसे पार कर जाना है, जिस किसी भी चीजका उपयोग नहीं रह गया है या जो भी चीज अवनत हो गयी है, असहायक या बाधक हो गयी है, उसका परित्याग कर दिया जा सकता है; उसे राहमें छोड़ दिया जा सकता है। यह बात शरीरके आरम्भिक रूपोंकी शुरुआतसे उसके सबसे विकसित रूप, मानवीय रूपतकके विकास-

क्रमके इतिहासमें स्पष्ट रही है; मानवीय शरीरसे दिव्य शरीरकी ओर संक्रमणमें यही प्रक्रिया क्यों न लागू हो इसका कोई कारण नहीं। पृथ्वीपर दिव्य शरीरकी अभिव्यक्ति या निर्मितिके लिए एक आरम्भिक रूपान्तर, एक नूतन, महत्तर और अधिक विकसित प्ररूपका प्राकट्य होना ही चाहिए, वर्तमान शारीरिक रूप और उसकी सीमित सम्भावनाओंको कुछ हेरफेर करके चलाए रखनेसे ऐसा नहीं होगा। जिसे संरक्षित रखना है वस्तुतः उसे संरक्षित रखना ही चाहिए और इसका अर्थ यह होता है कि पृथ्वीपर नए जीवनके कामके लिए जो कुछ भी आवश्यक या पूरा उपयोगी है उसे संरक्षित रखना ही चाहिए ; जो कुछ तब भी आवश्यक है और उसके काम आनेवाला है किन्तु अपूर्ण है, उसे रखना तो होगा किन्तु विकसित करके, पूर्ण बना करके। नए उद्देश्योंके लिए जो कुछ कामका नहीं रह गया है या अक्षमताके रूपमें है, उसे अलग फेंकना ही होगा। जड़तत्त्वके आवश्यक रूपों और उपकरणोंको रहना ही चाहिये क्योंकि दिव्य जीवनको जड़के जगत्में भी अभिव्यक्त होना है, किन्तु उनके जड़तत्वको परिष्कृत, उन्नीत, उदात्त, आलोकित करना होगा, क्योंकि जड़तत्त्व और जड़-जगत्को अन्तर्वासी अध्यात्म पुरुषको वर्द्धमान रूपसे अभिव्यक्त करना है।

नए प्ररूपको, दिव्य शरीरको, प्रस्फुटित हो चुके क्रमवैकासिक रूपको चालू रखना ही चाहिए; प्रकृति सब समय जिस प्ररूपका विकास करती रही है वहाँसे धारा चालू रहनी ही चाहिए, मानवीय शरीरसे दिव्य शरीरकी ओर धारा चलनी ही चाहिए, जो अबतक प्राप्त हो चुका है और अंशतः पूर्ण बना है उसका उच्च परिणाम रहनेवाली किन्तु पहचानमें न आनेवाली किसी वस्तुकी ओर अलग नहीं छूट पड़ना है। मानव-शरीरमें ऐसे अंग और उपकरण हैं जो दिव्य जीवनके काम आनेके लिए काफी विकसित हैं; उन्हें अपने रूपमें टिके रहना होगा, किन्तु साथ ही उन्हें और भी अधिक पूर्ण बनाना होगा, उनके क्षेत्र और उपयोगकी सीमाओंको हटाना होगा, उनकी त्रुटि, रोग और ह्रासकी बाध्यताका अन्त करना होगा, उनकी संबोध और सचल क्रियाकी क्षमताओंको उनकी वर्तमान सीमासे आगे ले जाना होगा। शरीरको ऐसी नयी शक्तियाँ पानी होंगी जिनकी उपलब्धिकी आशा हमारी वर्तमान मानवता नहीं कर सकती, जिनका वह सपना भी नहीं देख सकती या जिनकी वह कल्पना भर कर सकती है। अभी जिसे आविष्कृत औजारों और यन्त्र द्वारा जाना, क्रियान्वित या सृष्ट किया जा सकता है, वैसे बहुत कुछको नया शरीर अपनी स्वशक्तिसे या अधिवासी अध्यात्म-पुरुष सीधे अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही प्राप्त कर ले सकता है। स्वयं शरीर दूसरे शरीरोंके साथ संचार करनेके नये साधन और क्षेत्र, ज्ञान-प्राप्तिकी नयी प्रक्रियाएँ, एक नया रसबोध, अपने और पदार्थोंके चालनकी नयी शक्ति-मात्राएँ पा सकता है। उसके

लिए यह असम्भव नहीं भी हो सकता है कि वह दूरको नजदीक करने और दूरीको विनष्ट करनेके लिए, अभी जो शरीरके बोधसे परे है उसका बोध पानेके लिए, जहाँकी क्रिया अभी उसकी पहुँच और क्षेत्रसे बाहर है वहाँ क्रिया करनेके लिए, जिन सूक्ष्मताओं और नमनीयताओंको वर्तमान अवस्थाओंमें अनुमति नहीं दी जा सकती उन्हें भौतिक ढाँचेकी आवश्यक स्थिरताके रूपमें विकसित करनेके लिए, अपने ही संघटन, उपादान या प्राकृतिक उपकरणोंके सहजात साधनोंको अधिकृत या व्यक्त करे। ये बातें और अन्य बहुसंख्यक शक्यताएँ प्रकट हो सकती हैं और शरीर ऐसा उपकरण बन सकता है जो हमारी वर्तमान कल्पनाकी सम्भावनाकी अपेक्षा अमेय रूपमें श्रेष्ठतर होगा। प्राथमिक प्रज्ञानात्मक सत्य-चेतनासे अतिमानसके ऊपर उठते क्षेत्रोंकी उच्चतम ऊँचाइयोंकी ओर क्रमविकास हो सकेगा और वह स्वयं अतिमानसके तटोंको पार कर जा सकता है जहाँ वह सत्ताके सर्वोच्च सत्य, तपसके क्रियाबल, आनन्दकी महिमा और मधुरता, सर्वसर्जक आनन्दके परम सार और काष्ठाके लोकोंके संघटक परम एवं विशुद्ध सत्, चित् एवं आनन्दसे स्पृष्ट जीवनको प्रकट करनेवाले रूपोंकी छायाका प्रसार करना, उन्हें विकसित करना, उनकी रेखाकृति अंकित करना शुरू करता है। शारीरिक सत्ताका रूपान्तर प्रगतिकी इस धाराका अनुसरण कर सकता है और स्वाभिव्यक्तिशील अध्यात्मपुरुषकी इस सर्वोच्च महानता और महिमाके कुछ अंशको दिव्य शरीर यहाँ, पृथ्वीपर, प्रतिबिम्बित या पुनरुत्पन्न कर सकता है।

अतिमानस और दिव्य जीवन

पृथ्वीपर दिव्य जीवनको ही हमने अपने सामने आदर्शके रूपमें रखा है, और वह हमारी सत्ताके आध्यात्मिक परिवर्तन और हमारी प्रकृतिके आमूल और आधारभूत परिवर्तन, क्रमविकास या क्रान्तिसे ही आ सकता है। धरतीपर देहीको अपने मन, प्राण तथा शरीरके आवरणोंके आधिपत्यसे निकालकर अपनी आध्यात्मिक सद्वस्तुकी पूरी चेतना और अधिकारमें उठ जाना होगा और उसकी प्रकृतिको भी मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक सत्ताकी स्वभाविक चेतना और चेतनाशक्तिमेंसे अध्यात्म-पुरुषकी महत्तर चेतना, महत्तर सत्ताशक्ति और अधिक विशाल तथा अधिक स्वतंत्र जीवनमें उठाना होगा। पहलेके ये आवरण उससे छूट नहीं जायँगें, वे तो आवरण या अपूर्ण प्राकट्य न रहकर सच्ची अभिव्यक्तियाँ होंगे, वे ज्योतिकी स्थितियों, आध्यात्मिक जीवनकी शक्तियों, आध्यात्मिक अस्तित्वके वाहनोंमें परिवर्तित हो जायँगे। परन्तु फिर ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मन, प्राण और शरीरको उनसे श्रेष्ठतर सत्ताकी स्थिति और शक्ति, उस अतिमानसकी शक्ति ऊपर न उठा ले और रूपान्तरित न कर ले जो कि हमारी असम्पूर्ण मनःप्रकृतिसे उतना ऊपर है जितनी कि वह प्रकृति पशु-जीवन और प्राणवन्त जड़की प्रकृतिसे, और निरी जड़ प्रकृतिसे तो अमेय रूपमें ऊपर है।

अतिमानस तो तत्त्वतः ही ऋत-चित् है, सत्य-चेतना है; उस अज्ञानसे सदा स्वतंत्र रहनेवाली चेतना है जो हमारे वर्तमान प्राकृतिक या क्रमवैकासिक जीवनकी भित्ति है और जिसमेंसे हमारे अन्दर प्रकृति आत्मज्ञान और जगत्ज्ञान और सही चेतना और हमारे विश्वगत जीवनके सही व्यवहारतक पहुँचनेका प्रयत्न कर रही है। अतिमानस है सत्य-चेतना, अतः उसमें यह ज्ञान अन्तर्विष्ट है और उसमें सच्चे जीवनकी यह शक्ति है; उसकी राह सीधी है और वह अपने लक्ष्यपर सीधे जा सकता है, उसका क्षेत्र विशाल है और असीम्य भी बना दिया जा सकता है, ऐसा इस कारण है कि उसकी प्रकृति ही ज्ञानस्वरूपा है, उसे ज्ञानका अर्जन नहीं करना होता है, ज्ञान उसे स्वाधिकारमें हस्तगत रहता है; उसके डग निर्ज्ञान या अज्ञानमेंसे किसी अपूर्ण ज्योतिकी ओर नहीं, अपितु सत्यसे महत्तर सत्यकी ओर, सही बोधसे अधिक गहरे बोधकी ओर, एक संबोधिसे दूसरी संबोधिकी ओर, आलोकीकरणसे विशुद्ध और असीम ज्योतिर्मयताकी ओर,

बढ़ती विस्तृतियोंसे अपार बृहत्ताओंकी ओर, आनन्त्यकी ओर ही होते हैं। अपने शिखरोंपर उसे दिव्य सर्वदर्शिता और सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त रहती है, किन्तु अपनी श्रेणीबद्ध स्वाभिव्यक्तिकी क्रमवैकासिकी गतिधारामें भी, जिसके द्वारा वह अन्तत: अपनी सर्वोच्च ऊँचाईयोंको व्यक्त करेगा, वह प्रकृत्या ही अज्ञान और भूलसे तत्त्वत: मुक्त रहेगा : वह आरम्भ करता है सत्य और ज्योतिसे और सदा ही सत्य और ज्योतिमें विचरण करता है। जैसे उसका ज्ञान सदा सत्य होता है, वैसे ही उसकी इच्छा भी सदा सत्य होती है; वस्तुओंके साथ व्यवहार करनेमें वह टटोलता नहीं, उसके डग लड़खड़ाते नहीं। अतिमानसमें भावना और भावोच्छ्वास अपने सत्यसे नहीं डिगते, भूल-चूक नहीं करते, सही और वास्तवसे अलग नहीं हटते, सौन्दर्य और आनन्दका अपव्यवहार नहीं कर सकते, दिव्य साधुतासे अलग मोड़ नहीं ले सकते। अतिमानसमें इन्द्रियबोधका उन निकृष्टताओंकी ओर अपनिदेशन या विचलन नहीं हो सकता जो यहाँ उसकी स्वाभाविक अपूर्णताएँ हैं और हमारे अज्ञानजनित कलंक, अविश्वास और अपव्यवहारका कारण है। अतिमानस द्वारा अधूरा कथन भी एक आगेके सत्यकी ओर ले जानेवाला सत्य होता है, उसकी अधूरी क्रिया सम्पूर्णताकी ओर डग होती है। अतिमानसका सारा जीवन, कर्म और नेतृत्व प्रकृत्या ही उन मिथ्यात्वों और अनिश्चितियोंसे बचा हुआ है जो हमारे पल्ले पड़े हैं; वह अपनी पूर्णताकी ओर निरापदतासे बढ़ता है। सत्य-चेतना यदि एक बार अपनी निश्चित स्व-भित्तिपर स्थापित हो जाय तो दिव्य जीवनका क्रमविकास आनन्दके बीच प्रगति होगा, ज्योतिमेंसे गुजरते हुए आनन्दकी ओर गमन होगा।

अतिमानस दिव्य पुरुष एवं दिव्य प्रकृतिकी शाश्वत वास्तवता है। अपने स्व-लोकमें वह अस्तित्वमें है ही और सदा ही होता है और उसे अपनी सत्ताका स्वधर्म अधिकृत रहता है; अतिमानसका सृजन नहीं करना है, उसका जड़के अंदरकी संवृति-मेंसे या अनस्तित्वमेंसे अस्तित्वमें उन्मज्जन या क्रमविकास नहीं होना है जब कि मनकी दृष्टिको उसके बारेमें ऐसा लग सकता है, क्योंकि स्वयं मनके बारेमें मनकी दृष्टिको ऐसा लगता है कि उसका प्राण और जड़मेंसे इस प्रकार उन्मज्जन हुआ है या प्राण और जड़के अन्दरकी संवृतिमेंसे उसका क्रमविकास हुआ है। अतिमानसका स्वरूप सदा एकसा रहा है, वह वह ज्ञानमयी सत्ता है जो एक सत्यसे दूसरे सत्यकी ओर बढ़ती है, सृष्टि करती है, बल्कि जिसे अभिव्यक्त करना है उसे अभिव्यक्त करती है और ऐसा वह करती है पहलेसे विद्यमान ज्ञानकी शक्तिसे, सांयोगिक रूपमें नहीं अपितु स्वयं सत्ताके अन्दर एक स्वयम्भू नियतिसे, स्वयं उस वस्तुकी आवश्यकतासे जो इस नाते अवश्यम्भावी होती है। उसकी दिव्य जीवनकी अभिव्यक्ति भी अवश्यम्भावी होगी;

उसके अपने स्तरपर उसका अपना जीवन दिव्य है और यदि अतिमानस पृथ्वीपर उतर आय तो वह दिव्य जीवनको अवश्य ही अपने साथ लायगा और यहाँ स्थापित करेगा।

अतिमानस मन, प्राण तथा जड़से परेके अस्तित्वकी कोटि है और जैसे मन, प्राण तथा जड़ पृथ्वीपर अभिव्यक्त हुए हैं, वैसे ही वस्तुओंके अवश्यम्भावी दौरानमें अतिमानसको भी जड़के इस जगत्‌में अभिव्यक्त होना ही चाहिये। वस्तुतः एक अतिमानस यहाँ है ही, किन्तु वह संवृत है, इस व्यक्त मन, प्राण और जड़के पीछे छिपा हुआ है और अभीतक खुलेमें या अपने स्वबलमें कार्य नहीं कर रहा है; यदि वह कार्य करता है तो इन निम्नतर शक्तियों द्वारा ही और उनके गुणोंसे परिवर्तित होकर; फलतः वह अभीतक पहचानमें नहीं आता। वह अवतरित होते अतिमानसके आगमन और पहुँचसे ही पृथ्वीपर मुक्त हो सकता और अपने-आपको हमारे भौतिक, प्राणिक और मानसिक अंगोंमें प्रकट कर सकता है जिससे कि ये निम्नतर शक्तियाँ हमारी समूची सत्ताकी समग्र दिव्यभावापन्न क्रियाके अंश हो जा सकें : यही वह चीज है जो हमारे लिये संसिद्ध दिव्यता या दिव्य जीवनको लायगी। वस्तुतः जड़में संवृत प्राण और मनने अपने-आपको यहाँ इसी तरहसे संसिद्ध किया है; कारण, जो संवृत है केवल वही उन्मिषित हो सकता है नहीं तो कोई उन्मज्जन नहीं होता।

अतएव अतिमानसिक ऋत-चित्‌की अभिव्यक्ति वह प्रधान सद्‌वस्तु है जो दिव्य जीवनको सम्भव बनायगी। दिव्य जीवन तो तभी पूरा और पूर्ण होगा जबकि विचार, आवेग और कर्मकी सारी गतिविधि स्वयम्भू और ज्योतिर्मय-स्वयंक्रिय सत्य-चेतनासे शासित और निदेशित होगी और हमारी समूची प्रकृति उससे संघटित और उसके उपादानसे बनी होगी। अभी भी, वस्तुओंके प्रकट रूपमें तो नहीं, किन्तु सत्यतः, एक निगूढ़ स्वयम्भू ज्ञान और सत्य ही यहाँ सृष्टिमें अभिव्यक्त होनेके लिये क्रियारत है। भगवान् हममें अन्तःस्थ हैं ही, स्वयं हम अपनी अन्तरतम सत्यतामें वही हैं और हमें इसी सत्यताको अभिव्यक्त करना है; दिव्य जीवनकी प्रेरणा इसीसे बनती है और इसीसे इस भौतिक अस्तित्वमें भी दिव्य जीवनका सृजन अनिवार्य हो जाता है।

अतः अतिमानस और उसकी सत्यचेतनाका आविर्भाव अवश्यम्भावी है; जल्दी हो या देरीसे, वह इस जगत्‌में घटित होगा ही। किन्तु उसके दो पहलू हैं; ऊपरसे आवरोहण और नीचेसे आरोहण, आध्यात्मपुरुषका आत्म-प्राकट्य और प्रकृतिमें क्रमविकास। आरोहण अवश्य ही प्रकृतिका प्रयत्न, प्रकृतिकी क्रिया है, प्रकृतिकी ओरसे अपने निम्नतर अंगोंको क्रमवैकासिक या क्रान्तिकारी परिवर्तन, धर्मान्तरण या रूपान्तरण द्वारा दिव्य सद्‌वस्तुमें ऊपर उठानेकी प्रवृति या प्रेरणा है और ऐसा किसी प्रक्रिया और प्रगति द्वारा या तेज चमत्कार द्वारा घटित हो सकता है। अध्यात्म-सत्ताका

अवरोहण या आत्म-प्राकट्य ऊर्ध्वसे परम सद्वस्तुका कार्य है जो कि सिद्धिको सम्भव बनाता है और वह या तो उस प्रगति और प्रक्रियाकी परिपूर्तिको लानेवाली दिव्य सहायताके रूपमें या चमत्कारके अनुमोदनके रूपमें प्रगट हो सकता है। क्रमविकास हमें इस जगत्‌में जैसा दिखाई देता है वह धीमी और कठिन प्रक्रिया है और, वस्तुतः, स्थायी परिणामोंकी प्राप्तिके लिए उसे युग-युगकी आवश्यकता होती है; किन्तु इसका कारण यह है कि वह प्रकृत्या निश्चेतन आरम्भोंमेंसे उन्मज्जन है, निर्ज्ञानसे आरम्भ है और एक ऐसी क्रिया है जो प्राकृतिक सत्ताओंके अज्ञानमें और अचेतन शक्ति जैसी लगती चीजके द्वारा होती है। इसके विपरीत, एक ऐसा क्रमविकास हो सकता है जो अन्धकारमें न होकर आलोकमें होगा और जिसमें विकसित होती सत्ता चेतन भागीदार और सहयोगिनी होगी, और ठीक उसे ही यहाँ घटित होना चाहिये। अज्ञानसे ज्ञानकी ओरके प्रयत्न और प्रगतिमें भी प्रकृतिकी ऊँचाइयोंपर इसे ही, यदि पूरी तरह नहीं तो अंशतया ही, करणीय प्रयास होना चाहिए, और आध्यात्मिक परिवर्तन, सिद्धि, रूपान्तरकी ओर अन्तिम गतिधारामें इस प्रयासको पूरा ही ऐसा होना चाहिये। ऐसा तो तब और भी होना चाहिये जबकि ज्ञान और अज्ञानकी विभाजिका रेखांके पार संक्रमण होता है और क्रमविकास होता है ज्ञानसे महत्तर ज्ञानकी ओर, चेतनासे महत्तर चेतनाकी ओर, सत्तासे महत्तर सत्ताकी ओर। तब साधारण क्रमविकासकी धीमी चालकी आवश्यकता नहीं रह जाती; धर्मान्तरण तेजीसे हो सकता है, रूपान्तरपर रूपान्तर जल्दी-जल्दी हो सकता है, हमारे सामान्य वर्त्तमान मनको चमत्कारोंका ताँता लगनेवाली चीजें घटित हो सकतीं हैं। अतिमानसिक स्तरोंपर होनेवाला क्रमविकास ऐसे स्वरूपवाला भली-भाति हो सकता है; समान रूपसे, यदि सत्ता ऐसा चाहे तो, वह वस्तुओंकी किसी एक अतिमानसिक स्थिति या अवस्थाका एक स्तरसे दिव्य स्तरकी ओर, किसी परेकी वस्तु किन्तु फिर भी अतिमानसिक रहती वस्तुकी ओर अत्वरित गमन हो सकता है, वह दिव्य श्रेणियोंका निर्माण हो सकता है, परम अतिमानसकी ओर या उससे भी परे सच्चिदानन्दके स्वप्नातीत स्तरोंकी ओर निर्बाध वर्द्धन हो सकता है।

अतिमानसिक ज्ञान, अतिमानसकी सत्य-चेतना अपने-आपमें एक और समग्र है : जन ज्ञानका परिसीमन होता है या आंशिक आविर्भाव-जैसी दीखनेवाली बात होती है तब भी ऐसा स्वैच्छिक ही होता है; वह परिसीमन किसी प्रकारके अज्ञानसे नहीं होता, उसका परिणाम भी किसी प्रकारका अज्ञान नहीं होता, वह ज्ञानका निषेध या रोक रखे जाना नहीं, कारण, सत्यका बाकी सारा भाग जिसे व्यक्त नहीं किया गया है वहाँ अन्तर्निहित है। सबसे बड़ी बात यह है कि वहाँ परस्पर-विरोध नहीं है : मनको जो भी चीजें परस्पर-विरोधिनी लगेंगी वहाँ वे अपने-आपमें सही सम्बन्ध और मेलजोल

लिये रहती हैं, यदि वस्तुतः किसी मेलकी आवश्यकता हो ही, क्योंकि इन प्रतीयमान विरोधियोंका सामंजस्य वहाँ सम्पूर्ण है। मन व्यक्तिक और निर्व्यक्तिकको एक दूसरेके सामने मानों दो विपरीतोंकी तरह खड़ा करनेको प्रवण रहता है, किन्तु अतिमानस उन्हें, नीचेसे नीचे भी, एक ही सद्वस्तुकी सहपूरिका और परस्पर-पूर्तिकारिणी शक्तियोंके रूपमें और, अधिक स्वभावतया, इस रूपमें देखता और अनुभूत करता है कि वे परस्पर-संलयित और अविच्छेद्य हैं और स्वयं भी वही अद्वय सद्वस्तु हैं। व्यक्तिका अपनी निर्व्यक्तिकताका पहलू है जो उससे अविच्छेद्य है और जिसके बिना वह वह नहीं हो सकता था जो कि वह अभी है, न वह अपना पूरा स्वरूप पा सकता था : निर्व्यक्तिक अपनी सत्यतामें सत्की स्थिति, चेतनाकी स्थिति और आनन्दकी स्थिति नहीं, अपितु वह स्वयम्भू सत् है जो अपने प्रति चेतन है, अपने ही स्वयम्भू आनन्दसे परिपूर्ण है, आनन्द जिसकी सत्ताकी धातु ही है, अतः वह अद्वय एवं असीम्य पुरुष है। अतिमानसमें सान्त अनन्तको खंडित या सीमित नहीं करता, अपने-आपको अनन्तकी विपरीतताके रूपमें अनुभव नहीं करता, बल्कि वह तो अपने स्वानन्त्यका ही अनुभव करता है : सापेक्ष और कालिक शाश्वतताका प्रत्याख्यान नहीं, अपितु उसके पहलुओंका सही सम्बन्ध है, शाश्वतका सहज गुण या अनश्वर लक्षण है। वहाँ काल विस्तरणगत शाश्वत है और शाश्वतका अनुभव क्षणिकके अन्दर किया जा सकता है। अतः अखंड भगवान् अतिमानसमें हैं और उसकी अस्तित्व-रीतिके समर्थनमें भ्रमवाद या आत्मविरोधिनी मायाके सिद्धान्तको घुसेड़नेकी आवश्यकता नहीं। अब यह स्पष्ट होगा कि अपने-आपको या अपनी सत्यताको पानेके लिये भगवान्के लिये जीवनसे पलायन करना आवश्यक नहीं; वह तो उसे चाहे विश्वजीवनमें, चाहे उसके विश्वातीत अस्तित्वमें, सदा ही आयत्त है। दिव्य जीवन भगवान् या परम सद्वस्तुका खण्डन नहीं हो सकता, वह उसी सद्वस्तुका अंग है, उसीका एक पहलू या प्राकट्य है, वह अन्य कुछ हो भी नहीं सकता। अतिमानसिक स्तरपर जीवनमें पूरे भगवान् अधिकारमें रहते हैं; और जब अतिमानस पृथ्वीपर उतरेगा वह भगवान्को अपने साथ लायगा ही और उस पूरे अधिकारको यहाँ सम्भव करेगा।

जो लोग दिव्य जीवनमें प्रवेश करते और उसे आयत्त करते हैं उन्हें वह जीवन सत्य-चेतना और उसकी अन्तर्वस्तुओंपर बढ़ता हुआ और अन्तमें पूरा आधिपत्य दे देगा; वह अपने साथ आत्म-स्थ भगवान् और प्रकृति-स्थ भगवान्की उपलब्धि लायगा। ईश्वरको खोजनेवाला जो कुछ भी खोजता है उसकी पूर्ति, वह ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक पूर्णताकी ओर बढ़ता है, उसकी अध्यात्म-सत्तामें और उसके जीवनमें होगी। उसे विश्वातीत सद्वस्तुका बोध होगा, उसे आत्मानुभूतिमें परम सत्-चित्-आनन्द आयत्त

होगा, वह सच्चिदानन्दके साथ एक होगा। वह विश्वपुरुष एवं विश्वप्रकृतिके साथ एक हो जायगा : वह जगत्को अपने अन्दर, अपनी विश्वचेतनाके अन्दर समाविष्ट करेगा और अपनेको सकल भूतोंके साथ एक अनुभव करेगा, वह अपने-आपको सबके अन्दर और सबको अपने अन्दर देखेगा, जो आत्मा सकल भूत हो गया है उससे वह संयुक्त और एकात्म हो जायगा। उसे सर्वसुन्दरका सौन्दर्य और सर्वाद्भुतका चमत्कार प्रत्यक्ष होगा; वह अन्तमें ब्रह्मानन्दमें प्रवेश करेगा और उसमें स्थायी रूपसे निवास करेगा और इस सबके लिये उसे जीवनका परित्याग नहीं करना होगा, किसी आत्म-निर्वापणकारी निर्वाणमें आध्यात्मिक व्यक्तिके विनाशमें डुबकी नहीं लगानी होगी। वह भगवान्को जैसे आत्मामें वैसेही प्रकृतिमें उपलब्ध कर सकता है। भगवान्की प्रकृति है ज्योति, शक्ति एवं आनन्द; दिव्य ज्योति, शक्ति एवं आनन्दको वह अपने ऊपर और अपने अन्दर उतरते, अपनी प्रकृतिके धागे-धागेको, अपनी सत्ताके हर कोषाणु और परमाणुको भरते, अपने अन्तरात्मा, मन प्राण तथा शरीरको प्लावित करते, अपने-आपको असीम्य सागरकी तरह घेरते और जगत्को भरते, अपनी सारी भावना, इन्द्रियबोध और अनुभवको परिप्लुत करते, अपने सारे जीवनको सत्यतः और शुद्धतः दिव्य बनाते अनुभव कर सकता है। यह और वे अन्य सारी चीजें जिन्हें आध्यात्मिक चेतना उसके लिये ला सकती है, उसे दिव्य जीवनसे तब मिल जायँगी जब वह जीवन अपनी अधिकतम सम्पूर्णता और पूर्णतापर पहुँचेगा और अतिमानसिक सत्य-चेतना उसके सारे अंगोंमें परिपूरित हो जायगी; परन्तु ऐसा होनेके पहले भी यदि अतिमानस उसपर उतर आय और उसके जीवनका निदेशन हाथमें ले ले तो वह इस सबके किसी अंशकी प्राप्ति कर सकता, उसमें वर्द्धित हो सकता, उसमें रह सकता है। भगवान्के साथके सारे सम्बन्ध उसके होंगे; ईश्वरज्ञान, दिव्य कर्म एवं ईश्वर-भक्तिकी त्रिवेणी उसके अन्दर खुलेगी और उसकी समूची सत्ता तथा प्रकृतिकी पूर्ण आत्मदेन और समर्पणकी ओर बढ़ेगी। वह ईश्वरमें और ईश्वरके साथ रहेगा, ईश्वरको अधिकृत करेगा, जैसा कहा जाता है, सारे पृथक् व्यक्तित्वको भूल जाकर, किन्तु उसे आत्म-निर्वापणमें खोए बिना ईश्वरमें डूब भी जायगा। ईश्वरप्रेम और सारा प्रेममाधुर्य उसके रहेंगे, संस्पर्शका आनन्द, साथ ही एकत्वका आनन्द और एकत्वमें भिन्नताका आनन्द भी। अनन्तके अनुभवके अनन्त क्षेत्र उसके होंगे, अनन्तके आलिंगनमें सान्तका हर्ष भी उसका होगा।

अतिमानसका अवरोहण उसे ग्रहण करनेवालों और सत्य-चेतनामें संसिद्ध होनेवालोंके लिये दिव्य जीवनकी सारी सम्भावनाओंको लायगा। वह केवल उस समूचे विशिष्ट अनुभवको ही नहीं लेगा जिसे हम अभी आध्यात्मिक जीवनकी वस्तु

मानते हैं, अपितु उस सबको भी लेगा जिसे हम अभी उस श्रेणीसे बाहर कर देते हैं किन्तु जो दिव्यीकरणके लिये समर्थ है; पृथ्वी-प्रकृति और पृथ्वी-जीवनकी ऐसी किसी भी चीजको उससे बाहर नहीं रखा जायगा जिसे अतिमानसके स्पर्शसे रूपान्तरित किया जा सकता और अध्यात्मके अभिव्यक्त जीवनमें ऊपर उठा लिया जा सकता हो। कारण, पृथ्वीपर दिव्य जीवनका कोई अलग चीज होना, ऐसी ऐकान्तिक चीज होना जरूरी नहीं जिसका कि सामान्य पार्थिव अस्तित्वसे सम्बन्ध न हो : वह मानव-प्राणी और मानव-जीवनको लेगा, जिसे रूपान्तरित किया जा सकता है उसे रूपान्तरित करेगा, जिसका भी आध्यात्मीकरण किया जा सकता है उसका आध्यात्मीकरण करेगा, बाकीपर अपना प्रभाव डालेगा और एक मूलगत या उन्नायक परिवर्तन सम्पादित करेगा, विश्वसत्ता और व्यष्टिसत्ताके बीच गभीरतर संयोग लायगा, आदर्शको, जो कि आध्यात्मिक सत्यकी ज्योतिर्मयी छाया है, आध्यात्मिक सत्यसे भर डालेगा और एक महत्तर तथा उच्चतर जीवनमें या उसकी ओर उत्थानमें सहायता देगा। वह मनको विचार तथा इच्छाके अधिक दिव्य आलोककी ओर, प्राणको अधिक गभीर सच्चे भावावेग और क्रियाकी ओर, अपनी विशालतर शक्तिकी ओर, उच्च लक्ष्यों और हेतुओंकी ओर उठायगा। जिस किसीको भी अबतक उसकी सत्ताके पूरे स्व-सत्यमें नहीं उठाया जा सकता उसे वह उस पूरेपनके अधिक पास लायगा; जो कुछ उस परिवर्तनके लिये तैयार नहीं है उसे भी, जब कभी उसके वर्त्तमानके अधूरे क्रमविकासने उसे आत्मपूर्तिके लिये तैयार कर दिया होगा, वह सम्भावना खुलती दिखाई देगी। यदि शरीर अतिमानसका स्पर्श सह सके तो वह भी अपने स्व-सत्यसे अधिक अवगत होगा,—कारण, एक शरीर-चेतना है जिसका एक अपना सहजप्रवृत्तिगत सत्य होता है, सही अवस्था और क्रियाका सामर्थ्य होता है, उसके कोषाणुओं और ऊतकोंके संघटनमें एक प्रकारका अत्यन्त गुह्य ज्ञान भी होता है जो किसी दिन चेतन हो जा सकता और शारीरिक सत्ताके रूपान्तरमें सहायक हो सकता है। पृथ्वी-प्रकृति और पृथ्वी-चेतनामें एक जागृति आनी ही चाहिये जो एक नूतन और अधिक दिव्य जगत्-व्यवस्थाकी ओर उसके क्रमविकासका यदि वास्तविक आरम्भ नहीं भी, तो भी कमसे कम, उसकी प्रभाविणी तैयारी और पहले डग होगी।

यह होगी दिव्य जीवनकी पूर्ति जिसे अतिमानसका अवरोहण और जीवकी समूची प्रकृतिको हस्तगत करता सत्य-चैतन्य उन सबमें लायगा जो उसके बल या प्रभावकी ओर खुल सकेंगे। जो समर्थ हैं उन सबपर इसका पहला अव्यवहित प्रभाव यह होगा कि सत्य-चैतन्यमें प्रविष्ट होने और प्रकृतिकी सारी गतिविधिको अधिकाधिक अतिमानसिक सत्यमें, कर्मगत सत्यमें, सारी सत्ताकी, शरीरकी भी सच्ची अवस्थाओंमें

परिणत करनेकी, अन्ततः रूपान्तरकी, दिव्य बनानेवाले परिवर्तनकी सम्भावना होगी। इस प्रकार खुल सकने और खुले रह सकनेवालोंके लिये इस विकासकी कोई सीमा नहीं होगी, कोई मूलभूत कठिनाई भी नहीं होगी; कारण, मन, प्राण-शक्ति तथा देहमें ऊपरसे प्रवाहित होती आती अतिमानसिक ज्योति एवं शक्तिके दबावसे सारी कठिनाइयाँ घुल जायँगी। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अतिमानसिक अवरोहणका परिणाम इस प्रकार पूरा खुल सकनेवालोंतक ही सीमित रहे, यह आवश्यक नहीं कि वह अतिमानसिक परिवर्तनतक सीमित रहे, मनोमयी प्रकृतिके मुक्त और पूर्णीकृत दायरेमें मनोमयी सत्ताका एक लघु या गौण रूपान्तर भी हो सकेगा। अभीका मानवीय मन सीमित मन है, अपूर्ण है, उसमें हर क्षण सत्य-धारासे सब प्रकारके विचलनकी, सत्यके छूट जानेकी, सब प्रकारकी भूल-भ्रान्तियोंकी सम्भावना रहती है, प्रकृतिके सम्पूर्ण मिथ्यात्व और विकृतिके फुसलावोंकी ओर भी वह खुला होता है; वह अन्धा बना दिया गया, निश्चेतना और अज्ञानकी ओर नीचे खींच दिया गया मन है; वह अज्ञानतक मुश्किलसे पहुँचता है, वह वह बुद्धि है जो उच्चतर ज्ञानकी व्याख्या अमूर्तताओं और परोक्ष आकृतियोंमें करनेकी ओर प्रवण रहती है, उच्चतर संबोधिके सन्देशोंको भी अनिश्चित और विवादग्रस्त पकड़से ही हस्तगत करती और धरे रखती है; उसके स्थानपर आविर्भाव हो सकता है सच्चे मनका जो कि मुक्त कर दिया गया होगा और जो अपनी और अपने उपकरणोंकी निर्बन्ध और अधिकतम पूर्णताके लिए समर्थ होगा, मुक्त और आलोकित मन द्वारा शासित प्राणका, ज्योतिके प्रति संवेदनशील शरीरका जो कि मुक्त मन तथा इच्छाकी उससे की जानेवाली सारी माँगोंका पालन कर सकेगा। यह परिवर्तन केवल कुछ लोगोंमें ही न होकर जातिमें विस्तृत और सर्वव्यापक हो जा सकता है। यदि यह सम्भावना पूरी हो जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि मानवका पूर्णताका स्वप्न, अपनी पूर्णता, अपनी शुद्धीकृत और प्रबुद्ध प्रकृतिकी पूर्णता, अपने कर्म और जीवनकी सारी धाराओंकी पूर्णताका स्वप्न, स्वप्न नहीं रह जायगा अपितु वह ऐसा सत्य हो जायगा जिसे वास्तविक किया जा सकेगा, और मानवताको निश्चेतना और अज्ञानके अधिपत्यमेंसे उठा लिया जा सकेगा। मनोमय जीवके जीवनको अतिमानसके जीवनसे समंजस किया जा सकेगा जो तब उसके ऊपर सबसे ऊँची व्यवस्था होगा और वह सत्य-चैतन्यकी विस्तृति और सलंग्न भूमि, दिव्य जीवनका अंग और प्रान्त भी हो जायगा। यह स्पष्ट है कि यदि अतिमानस है और अतिमानसिक सत्ताकी व्यवस्थाको पृथ्वी-प्रकृतिमें वैसे ही प्रधान तत्त्वके रूपमें स्थापित किया जा रहा है जैसे कि मन अभी प्रधान तत्त्व है, किन्तु इसके अलावा उसके साथ निश्चिति है, पार्थिव अस्तित्वपर एक पूरा शासन है, सबको उनके स्तरपर और उनकी स्वाभाविक सीमाओं-

में रूपान्तरित करनेका सामर्थ्य है जो कि अभी मनको उसकी अपूर्णतामें प्राप्त नहीं है, तो मानव-जीवनका एक विपुल परिवर्त्तन अवश्यम्भावी होगा, भले ही वह रूपान्तरतक विस्तृत नहीं हो।

. अब यह विचार करनेको बाकी रह जाता है कि इस सम्भावनाकी राहमें बाधाएँ क्या-क्या हो सकती हैं, विशेषत: वे बाधाएँ जो कि पृथ्वी-व्यवस्थाकी प्रकृतिसे और उसके इस क्रियारूपके कारण मिलती हैं कि वह श्रेणीबद्ध क्रमविकासका क्षेत्र है जिसमें हमारी मानवजाति एक पर्व है और,जैसा कि तर्क किया जा सकता है, उसकी अपूर्णता क्रमवैकासिक आवश्यकता ही है। श्रेणीक्रमके सिद्धान्तका आदर रखकर अतिमानस इस कठिनाईको अपनी विद्यमानतासे और वस्तुओंपर अपने शासनसे कहाँ तक पार कर सकेगा या करेगा और वह अज्ञान तथा निश्चेतना द्वारा आरोपित गलत और अज्ञानमयी व्यवस्थाको ठीक कर सकेगा या नहीं और उसके बदले ऐसा सही श्रेणीक्रम स्थापित कर सकेगा या नहीं जिसमें पूर्णता और दिव्यीकरण सम्भव होंगे? अवश्य ही व्यक्तिके लिये राह खुली होगी, मनुष्योंकी जो कोई भी गोष्ठी सयुक्त प्रयास करती हुई पूर्ण और वैयक्तिक सामूहिक जीवनकी अभीप्सु होगी या दिव्य जीवनकी अभीप्सा करेगी, उसे अपनी अभीप्साके लिये सहायता मिलेगी : कमसे कम इसे तो अतिमानस अपना न्यूनसे न्यून परिणाम बनायगा। परन्तु इससे महत्तर सम्भावना भी है और वह सारी मानवजातिको दी जा सकती है। अत: हमें इस प्रश्नपर विचार करना है कि अतिमानसके अवरोहणका मानवजातिके लिये क्या अर्थ होगा। मानवजातिके समूचे जीवन और क्रमवैकासिक भविष्य और नियतिके लिये उसका क्या परिणाम होगा, उससे क्या आशा होगी?

अतिमानस और मानवजाति

अतः हमारे पार्थिव अस्तित्वमें अतिमानसके उतर आनेका मानवजातिके लिए क्या परिणाम होगा ? अज्ञान और निश्चेतनाके जगत्‌में जन्म लेनेवाली इस जातिके लिए जो कि अपनी चेतनाके ऊर्ध्वमुख क्रमविकासके लिए और आध्यात्मिक पुरुष एवं आध्यात्मिक प्रकृतिकी ज्योति, शक्ति एवं आनन्दमें आरोहणके लिए समर्थ है, उसका क्या परिणाम होगा ? अतिमानस-जैसी परम सर्जनशक्ति और उसकी सत्य-चेतनाका पृथ्वी-जीवनमें उतर आना उस जीवनमें केवल कोई ऐसा नया गुण या जोड़ा हुआ तत्त्व या उसके अग्रभागमें रखा गया ऐसा कुछ ही नहीं हो सकता जिसका और कोई महत्त्व न हो या केवल कोई सीमित महत्त्व हो, जिसका कि बाकी पृथ्वी-प्रकृतिपर गहरे प्रभाव डालनेवाला परिणाम न हो। जिस भौतिक जगत्‌में हस्तक्षेप करनेको यह शक्ति उतरी होगी उसपर इसका यदि और कोई प्रधान परिणाम न भी हो तो भी, खासकर, वह समूची मानवजातिपर एक विपुल प्रभाव डालेगी ही, उसके यहाँके जीवनके वर्तमान और भावी दृश्यमें आमूल परिवर्तन भी लायगी ही। यह निष्कर्ष निकलता ही है कि उसका प्रभाव, इसके द्वारा होनेवाला परिवर्तन दूर तक जायगा, विपुल भी होगा : वह पृथ्वीपर अतिमानसको और जीवोंकी अतिमानसिक जातिको स्थापित ही नहीं करेगा, वह स्वय मनमें और अवश्यम्भावी परिणामके रूपमें मनोमय प्राणी मनुष्यकी चेतनामें एक उन्नायक और रूपान्तरकारी परिवर्तन ला सकेगा और समान रूपसे उसके जीवनके तत्त्वों और रूपोंमें, उसकी क्रियारीतियोंमें और उसके जीवनकी समूची रचना और चालढालमें आमूल और रूपान्तरकारी परिवर्तन लायगा। मनुष्यके लिए वह अवश्य ही अतिमानसिक चेतना और अतिमानसिक जीवनकी राह खोल देगा; कारण, हमें यह अनुमान करना ही होगा कि ऐसे रूपान्तरसे अतिमानसिक जीवोंकी जाति वैसे ही सृष्ट होगी जैसे स्वयं मानवजातिका उदय प्राथमिक पशु-अवस्थामेंसे चेतनाके एक कम आमूल किन्तु फिर भी अनल्प उन्नयन और अभिवर्द्धन और शरीरके साधनविनियोग और उसकी अन्तःस्थ और विकासमान् मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षमताओं और सामर्थ्योंके धर्मान्तरणसे हुआ है। परन्तु किसी ऐसे पूरे रूपान्तरके बिना भी, अभी हमें यहाँ ज्ञानको खोजनेवाले और केवल आंशिक ज्ञानतक पहुँचनेवाले मूलभूत अज्ञानका जो तत्त्व दिखाई देता है, उसका स्थान ज्ञान-तत्त्व इतनी दूरीतक ले ले सकता है कि मानव-मन आलोककी, अपने-आपको प्राप्त करते ज्ञानकी शक्ति

हो जा सकेगा; तब वह आधी राहके अर्द्ध-आलोकका नागरिक या अज्ञानका दास और सेवक नहीं होगा, मिश्र ज्ञान और भ्रान्तिका संचारक नहीं होगा। मन अपने मूल उद्भवमें जैसा है, मनुष्यमें वह वैसा ही, अर्थात् अतिमानसकी एक गौण, सीमित और विशेष क्रिया, सत्यका पर्याप्त ज्योतिर्मय पात्र हो जा सकता है, और कमसे कम उसके कर्मोंमें सारा मिथ्यात्व बन्द हो जा सकता है।

तुरन्त ही यह आपत्ति की जा सकती है कि यह बात सारी क्रमवैकासिक व्यवस्था और उसके संतुलनको बदल देगी और उसकी सम्पूर्णतामें एक ऐसा अन्तराल छोड़ देगी जिसका कोई उपचार नहीं : मनुष्य और पशुके बीच ऐसी खाई होगी जिसपर पुल नहीं बाँधा जा सकता और पशुतासे दिव्यताकी ओर चेतनाकी प्रगतिमें उसपर होकर यात्रा करनेके लिए क्रमवैकासिक प्रेरणाके लिए राह नहीं होगी; कारण, प्रस्तावित रूपान्तरणमें एक प्रकारकी दिव्यता सन्निहित होगी। यह तर्क किया जा सकता है कि क्रमविकासकी सच्ची प्रक्रिया है वर्तमानकी व्यवस्थामें ही एक नये तत्त्व, कोटि या पर्वको जोड़ देना, न कि किसी पहलेसे स्थापित लक्षणमें कोई परिवर्तन लाना। मनुष्य अस्तित्वमें आया किन्तु पशु पशु ही रह गया और उसने अर्द्ध-मानवताकी ओर प्रगति नहीं की : मनुष्यका साहचर्य या मनुष्यके द्वारा प्रशिक्षण पाकर घरेलू पशुओंमें चेतना, सामर्थ्यों या अभ्यासोंके जितने भी हल्के आपरिवर्तन उत्पन्न होते हैं वे पशु-बुद्धिके हल्के परिवर्तन भर हैं। पौधोंका पशु-चेतनाकी ओर जाना या बुद्धिहीन जड़का तनिक भी या अवचेतन या अर्द्ध-अवचेतन रूपसे अपने प्रति चेतन होना या प्रत्युत्तरशील या प्रतिक्रियाशील होना तो और भी कम हो सकता है। वैश्व व्यवस्थामें मूलगत विभेद रहते हैं और वे अपरिवर्तित ही रहेंगे। परन्तु यह आपत्ति यह मान लेती है कि नयी मानवता सारीकी सारी एक ही स्तरकी होगी, लेकिन वस्तुतः चेतनाकी ऐसी श्रेणियाँ भली भाँति हो सकती हैं जो उसके अल्पतम विकसित तत्त्वों और उन उच्चतर पशुओंके बीचकी दूरीको पाट देंगी जो अर्द्ध-मानवीय प्रकारमें भले ही नहीं चले जा सकें फिर भी उच्चतर पशु-बुद्धिकी ओर प्रगति कर सकेंगे : कारण, कुछ परीक्षण यह दिखाते हैं कि वे सरासर अप्रगतिशील नहीं। ये श्रेणियाँ वर्तमान क्रमके अल्पतम विकसित मनुष्योंकी तरह संक्रमणमें काम आयँगी. वे कोई इतना बड़ा अन्तराल नहीं छोड़तीं जो कि विश्वकी क्रमवैकासिक व्यवस्थामें खलल डाले। वस्तुस्थितिमें जड़ और पौधोंके बीच, पौधों और निम्नतर पशुओंके बीच. पशुओंकी विभिन्न जातियोंके बीच, विभिन्न श्रेणियोंको विभक्त करनेवाली एक बड़ी छलाँग देखनेमें आ सकती है; साथ ही, उच्चतम पशु और मनुष्यके बीच जो सदाकी और काफी लम्बी छलाँग है वह तो है ही। अतः क्रमवैकासिक व्यवस्थामें ऐसा अन्तराल नहीं होगा जिसका उपचार न हो, मानव-मन

और पशु-मनके वीच, मानव-प्राणीके नये प्रकार और पुराने पशु-स्तरके बीच ऐसी दूरी नहीं होगी जिसे कूदकर पार नहीं किया जा सके या जिसके कारण अधिकतम विकसित पशु-जीवकी नयी मानवताके अल्पतम विकसित प्रकारकी ओर यात्रामें कोई ऐसी खाई बन जाय जिसपर पुल नहीं बाँधा जा सके। जैसा कि अभी है, एक कूद, एक छलाँग तब भी होगी, किन्तु वह पशुता और दिव्यताके बीच, पशुमानससे अतिमानसतककी नहीं होगी : उसके एक तटपर होगा ऊँचासे ऊँचा विकसित पशु-मन जो मानव–सम्भावनाओंकी ओर मुड़ रहा होगा,——कारण इसके विना पशुसे मनुष्यतककी यात्रा तै नहीं हो सकती,——और दूसरे तटपर होगा वह मानव-मन जो अपने उच्चतर किन्तु तबके अप्राप्त रहते सामर्थ्योंकी उस समय पूरी उपलब्धिकी ओर तो नहीं, किन्तु उनकी सम्भावनाकी ओर जाग रहा होगा।

पृथ्वी-प्रकृतिमें अतिमानसके हस्तक्षेपका, परम सृजनात्मक सत्य-शक्तिके अवरोहणका एक परिणाम क्रमविकासके विधानमें, उसकी पद्धति और उसके आयोजनमें परिवर्तनका होना खूब सम्भव है : ज्ञानके द्वारा क्रमविकासके सिद्धान्तका विशालतर तत्त्व भौतिक विश्वकी शक्तियोंमें प्रविष्ट हो जा सकता है। यह बात नूतन सृष्टिमें प्रथमारम्भकी अवस्थासे आगे बढ़ सकती है और उस व्यवस्थामें बढ़ते प्रभाव उत्पन्न कर सकती है जो अभी पूरी ही अज्ञानमें होता क्रमविकास है और वस्तुतः निश्चेतनके सम्पूर्ण निर्ज्ञानसे आरम्भ करती है और जिसे हम उसकी उच्चतम ज्ञानप्राप्तिमें भी अल्पतर अज्ञान ही कह सकते हैं, ——क्योंकि वह ज्ञानपर सीधे और पूरे अधिकारकी अपेक्षा उसका प्रतिरूपण ही अधिक है। यदि मनुष्य उच्चतर ज्ञानकी शक्तियों और साधनोंको पूरेपन जैसी मात्रामें विकसित करना शुरू कर दे, यदि विकसित होता पशु अपनी मनोवृत्तिके द्वारोंको चेतन विचारके आरम्भों और एक आरम्भिक युक्तिबुद्धिकी ओर खोल दे,——अपने उच्चतम बिन्दुपर वह अभी भी उससे इतनी असाध्य दूरीपर नहीं है,——यदि पौधा अपनी प्रथम अवचेतन प्रतिक्रियाओंको विकसित कर ले और किसी प्रकारकी प्राथमिक स्नायविक संवेदनशीलताको प्राप्त कर ले, यदि जड़-तत्त्व, जो कि अध्यात्मतत्त्वका अन्धा रूप है, अपने अन्दर छिपी शक्तिसे अधिक जीवन्त हो जाय और वस्तुओंके गुप्त अर्थको, उसने जिन गुह्य वास्तवताओंको ढँक रखा है,——उदाहरणके लिए अतीतका वह लेखा जिसे वह अपनी मूल निश्चेतनामें सदा ही संरक्षित रखता है या उसकी अन्तर्गूढ़ शक्तियों और अदृश्य गतिविधिकी क्रिया जो कि नयी मानवीय बुद्धिके सूक्ष्मतर व्यापीकृत बोधके सामने भौतिक प्रकृतिमें प्रच्छन्न रहती शक्तियोंको व्यक्त करती है,——उनको अधिक तत्परतासे देने लगे, तो यह एक विपुल परिवर्तन होगा जो भविष्यमें महत्तर परिवर्तनोंका आश्वासन देता है, किन्तु इसका

अर्थ विश्वव्यवस्थाको भंग करना नहीं, वरन् उसका उन्नयन ही होगा। क्रमविकास स्वयं विकसित होगा, परन्तु वह विक्षुब्ध नहीं होगा, लड़खड़ायगा नहीं।

अतिमानसिक सत्य-चेतनाके नेतृत्वमें स्वभाविक परिवर्तनके रूपमें मैंने मानव-मनके जिस रूपान्तरकी बात कही है उसकी धारणा सिद्धान्तरूपमें करना या उसे व्यावहारिक वास्तवता मानना हमारे लिए कठिन है, क्योंकि मनके बारेमें हमारी धारणाएँ मानव-मनोवृत्तिकी एक ऐसे जगत्‌की अनुभूतिमें जमी हुई हैं जो निश्चेतनासे आरम्भ करता है और एक प्रथम और लगभग पूरे निर्ज्ञान और एक धीरे-धीरे कम होते अज्ञानसे होकर एक उच्च कोटिकी ओर, किन्तु फिर भी अंशतः सज्जित ज्ञानके सदा अधूरे रहनेवाले दायरे और अपूर्ण रहनेवाली पद्धतिकी ओर ही बढ़ता है जिससे उस चेतनाकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं पड़तीं जो सदा अपने फिर भी अमेय दूरीपर स्थित पूर्णपदकी ओर बढ़ा करती है। इस लोकमें मनके क्रमविकासकी वर्तमान स्थितिमें उसकी जो अपूर्णताएँ और सीमाएँ दिखायी देती हैं उन्हें हम उसकी प्रकृतिका अंग ही मान लेते हैं; किन्तु वास्तवता यह है कि वह जिन सीमारेखाओंके बाड़ेमें अभी भी रह रहा है वे उसकी अभी भी अधूरी रहती क्रमवैकासिक प्रगतिकी अस्थायी सीमाएँ और माप ही हैं; उसकी पद्धतियाँ और साधनोंकी त्रुटियाँ उसकी अपक्वताके दोष हैं, उसकी सत्ताके संघटनके धर्म नहीं; पार्थिव शरीरमें अपने उपकरणोंसे दबे मानसिक जीवकी बाधक अवस्थाओंके बीच मनने जो प्राप्ति की है वह असाधारण है, किन्तु उसके आलोकित भविष्यमें उसके लिए जो सम्भव होगा उससे यह प्राप्ति बहुत नीचे है, आगे नहीं। कारण, ऐसा नहीं है कि मन प्रकृत्या ही भूल-भ्रान्तियोंका आविष्कारक हो, मिथ्यात्वके सामर्थ्यसे आबद्ध और भूल-भ्रान्तियोंका जनक हो, अपनी ही गल्तियोंसे सम्बद्ध हो और लड़खड़ाते जीवनका नायक हो जैसा कि वह वर्तमानमें हमारी मानवीय त्रुटियोंके कारण है : अपने मूलमें वह ज्योति-तत्त्व है, अतिमानसमेंसे व्यक्त किया गया उपकरण है, और यद्यपि वह सीमाओंके अन्तर्गत कार्य करनेको और सीमाओंकी सृष्टि भी करनेको नियोजित है तथापि वे सीमाएँ एक विशेष क्रियाके लिए ज्योतिर्मय सीमा-तट हैं, स्वैच्छिक और सोद्देश्य परिसीमन हैं, अनन्तताकी आँखोंके नीचे नित्य विस्तरणशील सान्तकी सेवा हैं। मनका यही स्वरूप अनिमानसके स्पर्शसे प्रकट होगा और मानव-मनोवृत्तिको अतिमानसिक ज्ञानका अनुषंगी और गौण उपकरण बना देगा। मनोबुद्धिसे सीमित न रह जाते मनके लिए यह सम्भव होगा कि वह एक प्रकारके मानसिक विज्ञानके लिए, एक क्षीण क्रियामें सत्यके ज्योतिर्मय प्रत्युत्पादनके लिए समर्थ हो जाय जो कि ज्योतिकी शक्तिको केवल अपने ही स्तरतक नही, स्वातिक्रमणकी ओर उनकी चढ़ाईमें चेतनाके निम्नतर स्तरोंतक भी विस्तृत कर रहा होगा। अधिमानस, संबोधि,

आलोकित मन और वह मन जिसे मैंने उच्चतर मन कहा है और आध्यात्मीकृत तथा विमुक्त मनके अन्य स्तर ऊपर उठाए गए मानव-मन और उसकी शोधित और उन्नीत भावना, प्राणशक्ति और क्रियामें अपनी शक्तियोंका कुछ अंश प्रतिबिम्बित कर सकेंगे और अपने पठारों और आरोही अस्तित्वकी चोटियोंकी ओर जीवके आरोहणकी तैयारी कर सकेंगे। मूलत: यही वह परिवर्तन है जिसकी कल्पना हम नयी क्रमवैकासिक व्यवस्थाके परिणाम-रूपमें कर सकते हैं और इसका अर्थ होगा स्वयं क्रमवैकासिक क्षेत्रका अनल्प विस्तरण, और पृथ्वी-प्रकृतिमें अतिमानसके आविर्भावका मानवजातिपर क्या परिणाम होगा इस प्रश्नका उत्तर भी इससे मिलेगा।

अतिमानससे अपने उद्गममें मन यदि अतिमानस-शक्ति ही है, ज्योति-तत्त्व या ज्योति-शक्ति या ज्ञानके लिए शक्ति है जो एक गौण उद्देश्यके लिए अपनी क्रियामें विशेषित है, तो भी, जब उस उद्देश्यके क्रियान्वनके लिए वह अपने-आपको अतिमानसिक ज्योतिसे, अतिमानसिक तत्त्वकी अव्यवहित शक्ति और अवलम्बदायिनी ज्योतिसे अधिकाधिक अलग कर लेता है तो वह एक भिन्न पहलू धारण कर लेता है। अपने उच्चतम स्वसत्यसे जब वह इस दिशामें अधिकाधिक निकल जाता है तभी वह अज्ञानका स्रष्टा या जनक हो जाता है और अज्ञान-जगत्में उच्चतम शक्ति होता या प्रतीत होता है; स्वयं वह अज्ञानाधीन हो जाता है और आंशिक तथा अपूर्ण ज्ञानतक ही पहुँचता लगता है। इस अवनतिका कारण यह है कि अतिमानस इसका उपयोग प्रमुखत: विभेदीकरणके कार्यके लिए करता है जो कि सृष्टि और विश्वके होनेके लिए आवश्यक है स्वयं अतिमानसमें, उसकी सारी सृष्टिमें यह विभेदकारिणी शक्ति, एकमें बहुकी और बहुमें एककी अभिव्यक्ति है; परन्तु उस एकको उसके बहुत्वमें कभी भी भुला नहीं दिया जाता, वह उसमें खो नहीं जाता और वह बहुत्व सदा ही शाश्वत एकत्वपर चेतन रूपसे निर्भर करता है और कभी भी उसके सामने अग्रगण्य नहीं होता। इसके विपरीत, मनमें वह विभेदीकरण, वह बहुत्व, अग्रगण्य हो जाता है और वैश्व एकत्वका चेतन बोध खो जाता है और अलग हुई इकाई अपने लिए और अपने द्वारा पर्याप्त आत्म-चेतन पूर्णांकके रूपमें या निष्प्राण पदार्थोंमें निश्चेतन पूर्णांकके रूपमें अस्तित्ववान् लगती है। तथापि यह ध्यानमें रखना चाहिए कि मनोमय जगत् या भूमिका अज्ञान-राज्य होना आवश्यक नहीं जिसमें मिथ्यात्व, भूल-भ्रान्ति या निर्ज्ञानका स्थान हो ही; हो सकता है कि वह ज्ञानका स्वैच्छिक आत्म-परिसीमन ही हो। वह एक ऐसा जगत् हो सकता है जिसमें मनके द्वारा निर्देश्य सारी सम्भावनाएँ कालानुक्रममें अभिव्यक्त हो सकेंगी और अपनी क्रियाका सच्चा रूप और क्षेत्र, अपनी अभिव्यंजिका आकृति, अपने आत्म-विकासका सामर्थ्य पा सकेंगी, एक प्रकारकी आत्मोपलब्धि कर सकेंगी,

आत्माविष्कार कर सकेंगी। यही चीज हमें वस्तुत: तब मिलती है जब हम चैत्यानुभवमें उस अवरोहण-रेखाका पीछा करते हैं जिससे होकर संवृतिक्रम चलता है जिसका अन्त जड़तत्त्वमें और जड़विश्वकी सृष्टिमें होता है। यहाँ हमें वे अवरोहण-भूमियाँ या जगत् नहीं दिखाई देते जिनमें मन और प्राण अपने सत्यका कोई अंश, अध्यात्म-ज्योतिका कोई अंश, अपनी सच्ची और प्रकृत सत्ताका कोई अंश साथ रख सकते हों; यहाँ हमें दीखती हैं एक आद्य निश्चेतना, दीखता है प्राण, मन और अध्यात्मका भौतिक निश्चेतनामेंसे क्रमविकासका संघर्ष और निश्चेतनाके परिणामी अज्ञानमें अपने-आपको पाने और अपने पूरे सामर्थ्य और उच्चतम सत्ताकी ओर बढ़नेका संघर्ष। यदि मन उस प्रयासमें सफल होता है तो इसका कोई कारण नहीं कि वह अपने सच्चे स्वरूपको पुन: क्यों नहीं प्राप्त करे, एक बार फिर ज्योति-तत्त्व और ज्योति-शक्ति क्यों न हो जाय और अपने ही तरीकेसे सच्चे और सम्पूर्ण ज्ञानकी क्रियाओंमें सहायता भी क्यों न दे। अपने उच्चतम बिन्दुपर वह अपने परिसीमनोंमेंसे निकलकर अतिमानसिक सत्यमें चला जा सकता और अतिमानसिक ज्ञानका अंग और क्रिया हो जा सकता या, कमसे कम, उस ज्ञानके मेलमें विभेदीकरणके गौण कार्यके काम आ सकता है : अतिमानसके नीचे निम्नतर क्रममें वह मानसिक विज्ञान, आध्यात्मिक या आध्यात्मीकृत प्रत्यक्षण, भावना, क्रिया और संवेदन हो सकता है जो अज्ञानके नहीं, ज्ञानके कार्य कर सके। अधिक नीचेके स्तरपर भी वह वर्द्धमान ज्योतिवाला मार्ग हो सकता है जो प्रकाशसे प्रकाशकी ओर, सत्यसे सत्यकी ओर ले जाता है और अर्द्ध-सत्य तथा अर्द्ध-निर्ज्ञानकी भूलभुलैयोंमें चक्कर काटना नहीं रह जाता। ऐसा उस जगत्में सम्भव नहीं होगा जिसमें अरूपान्तरित मन या मानवीय मन जिसके साथ उसकी बाधाकारिणी अक्षमताएँ होंगी, अभीकी तरह, नेतापद पर रहेगा या क्रमविकासकी उच्चतम उपलब्धि होगा; परन्तु यदि अतिमानस प्रधान और प्रमुख शक्ति हो जाय तो ऐसा भलीभाँति हो सकता है, और ऐसा होना मानव-जगत्में अतिमानसके उतर आनेका और मानवताके मनपर उसके स्पर्शका एक परिणाम और लगभग अवश्यम्भावी परिणाम ही माना जा सकता है।

ऐसा कहाँ तक होगा? क्या समूची मानवजाति इसका स्पर्श पायगी या कि उसका वह अंश ही जो इसके लिए तैयार हो? यह इसपर निर्भर करेगा कि विश्वकी चालू व्यवस्थामें क्या अभिप्रेत या सम्भव है। यदि पुराने क्रमवैकासिक तत्त्व और व्यवस्थाको संरक्षित रखना ही है तो जातिका केवल एक भाग आगे बढ़ेगा, बाकी लोग आरोही क्रममें पुराने मानवीय पद, स्तर और कार्यको कायम रखेंगे। परन्तु ऐसा होनेपर भी सत्ताके दो स्तरों या वर्गोंके बीच मार्ग या पुल होना ही चाहिए जिससे होकर

क्रमविकास एकसे दूसरेतक जायगा, वहाँ मन अतिमानसिक सत्यसे सम्पर्क करने और उससे संशोधित होनेमें समर्थ होगा और इस प्रकार जीवकी ऊर्ध्वमुखी यात्राका साधन होगा : मनकी कोई ऐसी स्थिति होनी ही चाहिए जिसमें अतिमानसतक पहुँचनेका तो नहीं, किन्तु उसकी ओर ज्योतिमें वर्द्धन और ग्रहणका सामर्थ्य हो : उसके द्वारा, जैसा कि अभी भी अधिक निष्प्रभ माध्यम द्वारा कम मात्रामें होता है, एक महत्तर सत्यका तेज अज्ञानस्थ जीवकी मुक्ति और उत्थानके लिए अपनी किरणोंको नीचे भेजेगा। अतिमानस यहाँ पर्देके पीछे छिपा है और अपनी विशिष्ट स्व-क्रियाके लिये संगठित नहीं रहकर भी यहाँकी सारी सृष्टिका सच्चा कारण है, सत्य एवं ज्ञानके वर्द्धन और प्रच्छन्न सद्वस्तुकी ओर जीवके आरोहणके लिए शक्तिस्वरूप है। परन्तु जिस जगत्में अतिमानस प्रकट हो गया है वहाँ वह बाकीसे विलग पृथक् तत्त्वके रूपमें शायद ही होगा, उसके द्वारा अतिमानवका सृजन ही नहीं, मनुष्यका परिवर्तन और उत्थान भी अवश्यम्भावी होगा। मनोमय तत्त्वके जिस समग्र परिवर्तनका संकेत किया गया है उसे असम्भव कहकर हटा नहीं दिया जा सकता।

मनको हम जैसा जानते हैं उसकी चेतनाशक्ति अतिमानससे बिल्कुल भिन्न है, वह अतिमानससे निःसृत, उससे सम्बन्धित और उसपर आश्रित शक्ति नहीं, बल्कि व्यवहारतः अपने ज्योतिर्मय उद्गमसे विच्छिन्न है; मनमें कुछ ऐसी विशिष्टताओंके लक्षण हैं जिनके बारेमें हम यह धारणा कर लेते हैं कि वे उसकी प्रकृतिके ही लक्षण हैं : परन्तु उनमेंसे कुछ तो अतिमानसकी भी वस्तुएँ हैं और अन्तर होता है उनकी क्रियाकी रीति और प्रसारमें, न कि उनके वस्तुसत्त्व या तत्त्वमें। अन्तर यह है कि मन सम्पूर्ण ज्ञानकी शक्ति नहीं, और जब वह अपनेसे परे जाने लगता है केवल तभी प्रत्यक्ष ज्ञानकी शक्ति होता है : वह सत्यकी किरणें तो पाता है किन्तु सूर्यमें रहता नहीं : वह मानों शीशोंके द्वारा देखता है और उसका ज्ञान उसके उपकरणोंसे रंगा जाता है, वह नंगी आँखोंसे नहीं देख सकता, सूर्यको सीधे नहीं देख सकता। पूर्ण ज्ञानके सौर्यकेन्द्रमें या उसकी जाज्वल्यमान् देहमें कहीं भी या उसके मण्डलकी चमकती परिधिपर कहीं भी अवस्थित होना और अपने अचूक या शुद्ध ज्ञानके विशेषाधिकारका अर्जन करना या उसमें भाग लेना मनके लिए सम्भव नहीं। अतिमानसकी ज्योतिके समीप खिंच आनेपर ही वह कहीं अपनी किरणोंकी पूरी श्रीसे युक्त इस सूर्यके समीप या सत्यकी पूरी और सीधी चमक जैसी चीजमें रह सकेगा, और मानव-मन अपने शीर्ष बिन्दुपर भी उससे दूर होता है, अधिकसे अधिक, शुद्ध अन्तर्दृष्टि और प्रत्यक्ष दर्शनके सीमित वृत या संकीर्ण आरम्भोंमें ही रह सकता है और उसके लिए तो, अपने स्वातिक्रमणमें भी, उस सीमित सर्वदर्शिता और सर्वशक्तिमत्ताके स्वप्नके अनुकरणात्मक और खण्ड

प्रतिबिम्बतक पहुँचनेमें भी बहुत समय लगेगा जो कि प्रातिनिधिक दिव्यत्वका, देवताका, सृष्टिकर्त्ताका विशेषाधिकार है। वह सृष्टि-शक्ति तो है, परन्तु वह या तो आजमायशी और अनिश्चित होती है और सौभाग्यसे या परिस्थितिकी अनुकूलतासे या नहीं तो व्यावहारिक योग्यता या प्रतिभाकी किसी शक्तिके अवलम्बसे ही सफलता पाती है, और उसमें त्रुटि रहती ही है, अनिवार्य सीमाओंका घेरा रहता ही है। उसका उच्चतम ज्ञान प्रायः अमूर्त्त होता है, ठोस पकड़ नहीं होती; उसे लक्ष्यके लिए तदबीरों और अनिश्चित साधनोंका व्यवहार करना होता है, युक्ति, तर्क-वितर्क और वाद-विवादपर, अनुमान, कल्पना, निगमनिक या आगमनिक न्यायपद्धतिपर निर्भर करना होता है और उसे केवल तब सफलता मिलती है जब उसे सही और पूरी तथ्यसामग्री दे दी जाती है और तब भी यह सम्भावना रहती है कि वह उसी तथ्यसामग्रीके आधारपर अलग-अलग नतीजों और भिन्न-भिन्न परिणामोंपर पहुँचे; उसे ऐसी पद्धतिके साधनों और नतीजोंको स्वीकार करना होता है जो निश्चितताके दावेके लिए भी सुरक्षित नही और मनको प्रत्यक्ष या अतिबौद्धिक ज्ञान होनेपर आवश्यक भी नहीं होगी। इस वर्णनको आगे खींचना आवश्यक नहीं; यह सब हमारे पार्थिव अज्ञानकी प्रकृति ही है और उसकी छाया मुनि और ऋषिके विचार एवं दर्शनपर भी लगी रहती है और उससे केवल तब बचा जा सकता है जब कि ऋत-चिन्मय अतिमानसिक ज्ञान अवतरित होवे और पृथ्वी-प्रकृतिके शासनको हाथमें ले ले।

तथापि इसे ध्यानमें रखना चाहिए कि संवृति-अवरोहणमें सबसे नीचे भी, जड़में चेतनाके अन्धकारमय तिरोभावमें निश्चेतनकी क्रियाके क्षेत्रमें भी, एक अचूक शक्तिके श्रमके, निगूढ़ चेतनाके प्रचालन और प्रेरणोंके चिह्न मिलते हैं, मानों स्वयं निश्चेतन ऐसी शक्ति द्वारा अनुगर्भित या प्रचालित है जो प्रत्यक्ष तथा पूर्ण ज्ञानसे युक्त है; उसकी सृष्टि-क्रियाएँ हमारी मानवीय चेतनाकी उत्तम क्रियाओं या प्राण-शक्तिकी सामान्य क्रियाओंकी अपेक्षा अनन्तगुना अधिक निश्चित हैं। ऐसा जान पड़ता है कि जड़में, या बल्कि जड़गत ऊर्जामें, अपना एक अधिक निश्चित ज्ञान, अधिक अचूक चालन है, और एक बार उसके यन्त्र-विन्यासको चालू कर दिया गया तो उससे अधिकांशमें अपने कार्यको सही-सही और अच्छी तरह करनेकी आशा की जा सकती है। यही कारण है कि मनुष्य भौतिक ऊर्जाको पकड़कर अपने स्वोद्देश्योंके लिए उसका यन्त्रायोजन कर सकता और उसपर यह भरोसा कर सकता है कि वह सही अवस्थाओंमें उसके लिए उसका कार्य करे। स्वयं-स्रष्ट्री प्राणशक्ति जो कि अपने आविष्कार और कल्पनामें आश्चर्यजनक रूपसे प्रचुर है, फिर भी त्रुटि, विचलन और विफलताके लिए अधिक समर्थ जान पड़ती है: यह बात ऐसी है मानों उसकी महत्तर चेतना भूल करनेके

महत्तर सामर्थ्यको साथ रखती है। फिर भी वह अपनी क्रियाओंमें सामान्यत: काफी निश्चित होती है : परन्तु चेतना जैसे-जैसे प्राणके रूपों और क्रियाओंमें वर्द्धित होती है वैसे-वैसे विक्षोभ भी बढ़ते हैं, मनका प्रवेश होनेपर तो ऐसा सबसे अधिक होता है, बात ऐसी है मानों चेतनाका वर्द्धन अपने साथ केवल अधिक समृद्ध सम्भावनाओंको ही नहीं, ठोकर, भूल-भ्रान्ति, त्रुटि और विफलताकी अधिक सम्भावनाओंको भी साथ लाता है। मनमें, मनुष्यमें, हम इस परस्पर-विरोधकी चोटीपर पहुँचने लगते हैं,—एक ओर चेतनाकी महत्तम, उच्चतम, विस्तीर्णतम पहुँच और उपलब्धियाँ, दूसरी ओर अनिश्चिति, त्रुटि, विफलता और भूल-भ्रान्तिका सबसे बड़ा परिमाण। इसके कारणके बारेमें हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि हो सकता है कि निश्चेतन प्रकृतिमें क्रियाशील ऊर्जाका सत्य है जो अपने स्व-विधानके अनुसरणमें अचूक है, एक ऐसी ऊर्जा है जो आँखोंपर पट्टी बाँधकर भी लड़खड़ाए बिना चल सकती है, क्योंकि यदि बाह्य हस्तक्षेप या दखल न हो तो उसके अन्दर सत्यका स्वयंक्रिय विधान विचलन या भूलके बिना और निश्चित रूपमें कार्य करता है। परन्तु यह विधान जीवनकी उन सारी प्रक्रियाओंमें होता है जो सामान्यतया स्वयंक्रिय होती हैं : शरीरका भी अपना अव्यक्त ज्ञान होता है, उसकी क्रियामें कुछ सीमाओंके अन्तर्गत एक सही सहजप्रवृत्ति होती है, और जब प्राणकी कामनाओं और मनकी भूलोंका हस्तक्षेप नहीं होता तब यह चीज एक विशेष परिशुद्धता और निश्चयात्मकतासे काम कर सकती है। परन्तु सत्य-चेतना पूरेपनके साथ तो अतिमानसमें ही होती है और यदि वह नीचे उतर आय और हस्तक्षेप करे तो मन, प्राण तथा शरीर भी अपने अन्दरके सत्यकी पूरी शक्तिको और उनकी पूर्णताकी सम्भावनाको प्राप्त कर सकते हैं। निस्सन्देह, ऐसा तुरन्त ही नहीं हो जायगा, किन्तु उसकी ओर एक क्रमवैकासिक वर्द्धन आरम्भ हो सकेगा और वह बढ़ती तेजीसे अपनी पूर्तिकी ओर बढ़ सकेगा। सारे मानवगण उस पूर्तितक किसी बादके समयमें ही पहुँच सकेंगे, परन्तु मानवीय मन फिर भी उस ज्योतिमें पूर्णताको प्राप्त कर ले सकेगा और एक नयी मानवता नूतन व्यवस्थाके अंगके रूपमें अपना स्थान ले सकेगी।

हमें इसी सम्भावनाको जाँचना है। यदि इसकी पूर्ति दैवनिर्दिष्ट है, यदि मनुष्यका सदा ही अज्ञानका दास बना रहना नहीं बदा है, तो हमने मानव-मनकी जिन अक्षमताओंकी बात कही है वे ऐसी नहीं हैं कि वे असाध्य बनकर अधिकार रखे रहें और उनका बन्धन चिरस्थायी हो। वह उच्चतर साधनों और उपकरणोंका विकास कर सकेगा, अज्ञानके अन्तिम तटोंको पार करके उच्चतर ज्ञानमें चला जा सकेगा, इतना अधिक सबल हो जायगा कि पशु-प्रकृति उसे पीछेकी ओर नहीं खींच सकेगी।

एक मुक्त मन होगा जो अज्ञानमेंसे छूटकर आलोकमें जा रहा होगा, अतिमानसके साथ अपनी सम्बद्धताको जानता होगा, अतिमानसका स्वाभाविक प्रतिनिधि होगा और अतिमानसिक प्रभावको सत्ताके नीचेके देशोंमें उतार लानेमें समर्थ होगा, ज्योतिमें सृष्टि करनेवाला, गहराइयोंमें आविष्कार करनेवाला और अन्धकारमें प्रकाश करनेवाला होगा, शायद निश्चेतनको भी निगूढ़ अतिचेतनाकी रश्मियोंसे अन्तर्बिद्ध करनेमें सहायक होगा। एक नया मनोमय जीव होगा जो अतिमानसकी दीप्तिमें प्रबुद्ध होकर खड़ा होनेमें ही समर्थ नहीं होगा, अपितु उसकी ओर और उसमें चेतन रूपसे चढ़ भी सकेगा, साथ ही वह प्राण और शरीरको अतिमानसिक ज्योति, शक्ति एवं आनन्दके अंशको प्रतिबिम्बित करने और घेरे रखनेके लिए शिक्षित करेगा, निगूढ़ दिव्यत्वको आत्म-प्राप्ति, आत्म-परिपूर्ति एवं आत्म-स्थितिमें मुक्त करनेकी अभीप्सा करेगा, दिव्य चेतनाकी ओर आरोहणकी अभीप्सा करेगा, और वह अपने-आपको दिव्य जीवनके पात्रके रूपमें तैयार करता हुआ दिव्य आलोक एवं शक्तिके अवतरणको ग्रहण एवं सहन कर सकेगा।

13.1.1950

क्रमविकासमें अतिमानस

अतः नयी मानवजाति पृथ्वीपर और पार्थिव शरीरमें मनोमय जीवोंकी जाति होगी परन्तु वैश्व अज्ञानके राज्यमें अपनी वर्तमान अवस्थाओंमेंसे इतनी दूर मुक्त हो चुकी होगी कि उसका मन पूर्णीकृत मन होगा, ज्योतिर्मानस होगा जो कि अतिमानस या सत्य-चेतनाकी गौण क्रिया भी हो सकेगा और उस सत्यके गृहीता-रूपमें कार्य करते मनकी पूरी सम्भावनाओंके लिए और, कमसे कम, विचार तथा जीवनमें उसकी द्वितीयक क्रियाके लिए समर्थ हो ही सकेगा। वह पृथ्वीपर दिव्य जीवन कहे जा सकनेवाले जीवनका अंग भी और, कमसे कम, सम्पूर्ण या प्रधान रूपसे अज्ञानमें होते क्रमविकासके स्थानपर ज्ञानगत क्रमविकासके आरम्भोंका अंग हो सकेगा। ऐसा कहाँ तक होगा, अन्तमें उसके आलिंगनमें सारी मानवजाति आ जायगी या मानवजातिका आगे बढ़ा हुआ भाग ही, यह निर्भर करेगा स्वयं क्रमविकासके अन्दरके अभिप्रायपर, विश्वकी गतिविधिको निर्देशित करनेवाली जो भी वैश्व या विश्वातीत इच्छा है उसके अन्दरके अभिप्रायपर। हमने यह माना है कि पृथ्वीपर अतिमानसका अवतरण तो होगा ही, वह एक अतिमानसिक जातिमें सदेह भी होगा जिसके सारे स्वाभाविक परिणाम उद्‌भूत होंगे और एक नई समग्र क्रिया होगी जिसमें नयी मानवजातिको अपना पूरा विकास और नयी व्यवस्थामें अपना निश्चित स्थान मिलेगा।

परन्तु यह स्पष्ट है कि यह सब तो पृथ्वीपर अभी हो रहे क्रमविकासके अपनी वर्तमान सीमाओंसे आगे दूर निकल जाने और एक ऐसी मूलतः नयी गतिधारामें चले जानेके परिणामके रूपमें ही हो सकेगा जो एक नूतन-तत्त्वसे शासित होगी जिसमें मन और मनुष्य गौण तत्त्व हो जायेंगे और न तो मन परमोपलब्धि रह जायगा, न मनुष्य शीर्ष या नेता ही। वर्तमानमें हम अपने चारों ओर जिस क्रमविकासको देख रहे हैं वह उस प्रकारका नहीं है और ऐसा कहा जा सकता है, ऐसी सम्भावनाके चिह्न उसमें कम ही दीखते हैं, इतने कम कि मनोबुद्धिको जो कि वर्तमानमें हमारी एकमात्र निश्चित निर्देशिका है, इसमें विश्वास करनेके साहसका अधिकार नहीं। पृथ्वी, वह पृथ्वी जो हमें दीखती है और जिसका जीवन निश्चेतना और अज्ञानमें गहरा डूबा हुआ और अधिष्ठित है, ऐसे विकासके लिए नहीं बनी है, या ऐसे आविर्भावको धारण करनेके लिए समर्थ नहीं है; उसकी भौतिकता और सीमाओंके कारण उसका चिरकाल

बहुत ही निकृष्टतर व्यवस्थाका क्षेत्र बना रहना बदा है। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी व्यवस्थाके लिए कहींपर स्थान होना ही चाहिए और यदि अतिमानस निराधार कल्पना मात्र न हो, ठोस वास्तवता ही हो, तो भी यहाँ उसके मूर्त होनेकी आवश्यकता नहीं, उसका स्थान नहीं। अज्ञानमें ज्ञानकी जो पूरी क्रीड़ा सम्भव है उसका चिह्न है मन, और मनका क्षेत्र कहींपर होना ही चाहिए, और पृथ्वीको उसके स्वाभाविक क्षेत्रके रूपमें रखना विश्वप्रकृतिकी व्यवस्थाके लिए उत्तम होगा। जड़वादी दर्शन जड़तत्त्वके लोकमें दिव्य जीवनकी सम्भावनाको स्वीकार नहीं करेगा; परन्तु अन्तरात्मा या अध्यात्म-सत्ताको माननेवाला या यहाँकी क्रमवैकासिक गतिधाराकी आध्यात्मिक मंजिलको माननेवाला दर्शन भी दिव्य जीवनके लिये पृथ्वीके सामर्थ्यको माननेसे बहुत अच्छी तरह इनकार कर सकता है : दिव्य जीवनकी प्राप्ति पृथ्वी और शरीरसे विदा लेकर ही हो सकेगी। विश्वजीवन यदि माया नहीं भी हो तो भी दिव्य जीव या पूरा आध्यात्मिक जीव किसी अन्य और कम भौतिक जगत्में या केवल शुद्ध अध्यात्ममें ही सम्भव हो सकता है। जो कुछ भी हो, पृथ्वीपर किसी भी दिव्य वस्तुके शीघ्र जड़रूपण होनेकी बात सामान्य मानवबुद्धिको बहुत ही असम्भाव्य लगेगी।

फिर यहाँके क्रमविकासके वर्तमान या प्रतीयमान स्वरूपको भौतिक विज्ञान हमारे सामने जिस रूपमें रखता है उसपर यदि अति सबल जोर दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जड़के जगत्में मानव-मनकी अपेक्षा उच्चतर तत्त्वके उद्भव या अतिमानवीय जीवों जैसी किसी वस्तुके उद्भवकी आशाके लिए कोई आधार नहीं है। स्वयं चेतना अपने जन्म और क्रियाओंके लिए जड़तत्त्व और भौतिक करणोंपर निर्भर करती है और कोई अचूक सत्य-चेतना, जैसी कि अतिमानसके बारेमें हमारी मान्यता है, इन अवस्थाओंका खण्डन होगी और उसे मरीचिका मानकर छोड़ देना है। मूलतः भौतिक विज्ञान क्रमविकासको रूपों और प्राणिक क्रियाकलापोंका विकास मानता है; विशालतर और अधिक समर्थ चेतनाका विकास प्राण और रूपके विकासका गौण परिणाम है, न कि उसकी मूलगत या बड़ी विशिष्टता या परिस्थिति, और वह मन तथा प्राणके जड़ उद्गम द्वारा निर्दिष्ट सीमाओंसे आगे नहीं जा सकता। मनने यह दिखलाया है कि वह बहुत सारी असाधारण उपलब्धियोंके लिए समर्थ है, परन्तु भौतिक अवयव या शीरीरिक अवस्थाओंकी ओरसे स्वातंत्र्य या भौतिक साधनके बिना प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञानके अर्जनकी शक्ति जैसी चीजका सामर्थ्य प्रकृति द्वारा आरोपित अवस्थाओंसे परे होगा। अतएव एक ऐसा बिन्दु है जिससे आगे चेतनाका विकास नहीं जा सकता। जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं वैसी कोई निश्चित और स्वतंत्र चीज यदि है भी तो भी यहाँ, जहाँ कि जड़तत्त्व आधार है, शारीरिक जीवन

परिस्थिति है और मन उच्चतम सम्भव करण, वह अपनी प्राकृतिक अवस्थाओंसे सीमित है; शरीरसे अलग या इस अन्नमयी, प्राणमयी या मनोमयी प्रकृतिका अतिक्रमण करती चेतनाकी क्रियाकी सम्भावना नहीं। इस लोकमें हमारे विकासकी सीमाएँ इस बातसे तै हो जाती हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि जबतक अतिमानस जैसी साफ पहचानमें आनेवाली कोई चीज यहाँ किसी निश्चितता और पूरेपनके साथ अभिव्यक्त न हो जाय या जबतक वह उतर न आय और हमारी पृथ्वी-चेतनापर अधिकार न कर ले, तबतक हमें यह निश्चय नहीं हो सकता कि वह है ही; तबतक मन सामान्य पंचका या सारे ज्ञानके लिए संदर्भ-क्षेत्रका स्थान लिए रहेगा और मन किसी निश्चित या पूर्ण ज्ञानके लिए असमर्थ है; उसे सबपर संशय करना होता है, सबको जाँचना होता है, फिर भी सबको प्राप्त करना होता है, किन्तु वह न तो अपने ज्ञानमें, न अपनी प्राप्तिमें निश्चित हो सकता है। प्रसंगतया, इससे किसी भी बुद्धिगम्य विश्वमें अतिमानस या सत्य-चेतना जैसे तत्त्वकी आवश्यकता स्थापित होती है; कारण, उसके विना न तो जीवनके लिए लक्ष्य या मंजिल है, न ज्ञानके लिए। उसके बिना चेतना न तो अपना पूरा अर्थ पा सकती है, न अपना परम फल ही; उसका अन्त निष्फलता या निरर्थकतामें होगा। अपने स्व-सत्य और सकल सत्यसे अवगत होना उसके अस्तित्वका लक्ष्य ही है, किन्तु ऐसा वह तबतक नहीं कर सकती जबतक कि उसे अज्ञानमें और अज्ञान द्वारा सत्यकी ओर, ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होना होता है : उसे अपनी ऐसी शक्तिको विकसित या प्राप्त करना होगा जिसका स्वभाव ही होगा जानना, देखना, अपनी स्व-शक्तिमें अधिकृत करना। हम उसे ही अतिमानस कहते हैं, और यदि इसे मान लिया जाय तो बाकी सब बोधगम्य हो जाता है। किन्तु तबतक हम सन्देहमें रहते हैं और यह कहा जा सकता है कि यदि अतिमानसको वास्तविकता मान भी लिया जाय तो भी उसके आविर्भाव और राज्यकी निश्चिति नहीं हो सकती : तबतक उसकी ओरके सारे प्रयत्नका अन्त वैफल्यमें हो जा सकता है। इतना ही यथेष्ट नहीं कि अतिमानस हमारे ऊपर वस्तुतः विद्यमान हो, उसका अवतरण सम्भाव्य हो या प्रकृतिमें भावी अभिप्राय हो। हमें इस अवतरणकी वास्तवताकी निश्चिति तबतक नहीं होती जबतक कि वह हमारी पार्थिव सत्तामें वस्तुभूत तथ्य न हो जाय। ज्योतिने पृथ्वीपर प्रायः उतरनेका प्रयत्न किया है किन्तु ज्योति अपूरित और अधूरी रही है; मनुष्य ज्योतिको अस्वीकार कर सकता है, जगत् अभी भी अन्धकारसे भरा है, और वह आविर्भाव किसी संयोगकी अपेक्षा अधिक हो ऐसा शायद ही लगता है; यह सन्देह भूतकालकी वास्तविकताओं और भविष्यकी अभीकी मान्य सम्भावनाओंसे कुछ दूरतक पुष्ट भी होता है। उसके

खड़े होनेका बल केवल तब विलीन होगा जबकि अतिमानस विश्वव्यवस्थाके परिणामजनित अंगके रूपमें स्वीकृत हो जाय। यदि क्रमविकासमें जड़से अतिमानसकी ओर बढ़नेकी प्रवृत्ति है तो अतिमानसको जड़में उतार लानेकी प्रवृत्ति भी उसमें होगी ही और परिणाम अवश्यम्भावी है।

अनिश्चितिका सारा झंझट इस बातसे उठता है कि जगत् अभी जैसा है उसके समूचे सत्यपर हमारी नजर नहीं जाती और उससे हम इस विषयमें सही निष्कर्ष नहीं निकालते कि जगत् कैसा होगा और होकर रहेगा। यह जगत्, निस्सन्देह, प्रकट रूपसे जड़तत्त्वपर आधारित है किन्तु इसका शिखर है अध्यात्मतत्त्व और अध्यात्मतत्त्वकी ओर आरोहणको ही इसका जीवन-लक्ष्य और इसका जीवन-औचित्य होना चाहिए, इसके अर्थ और उद्देश्यका सूचक होना चाहिये। परन्तु बुद्धिने आध्यात्मिकताका जो मिथ्या या अपूर्ण भाव अपने अज्ञानवश और ज्ञानकी ओर अति जल्दबाज और एकांगी पकड़से बनाया है उसके कारण अध्यात्मतत्वकी परमता और सर्वोच्च सत्तासे उद्गत होनेवाला स्वाभाविक निष्कर्ष आवृत हो गया है। अध्यात्मतत्वको किसी सर्वव्याप्त वस्तु और हमारी सत्ताके गुप्त सारके रूपमें नहीं, अपितु किसी ऐसी वस्तुके रूपमें माना गया है जो बस ऊँचाइयोंपरसे नीचे देख रही है और हमें केवल ऊँचाइयोंकी ओर और बाकी जीवनसे दूर खींच रही है। इससे हमें इस भावकी प्राप्ति होती है कि हमारी वैश्व और वैयक्तिक सत्ता महाभ्रम है औंर उससे विदाई और हमारी चेतनामें विश्व तथा व्यक्ति दोनोंका निर्वापण एकमात्र आशा, एकमात्र परित्राण है। या हम इस भावकी रचना करते हैं कि पृथ्वी अज्ञान, कष्ट और परीक्षाका जगत् है और हमारा एकमात्र भविष्य परेके स्वर्गोमें पलायन कर जाना है; इस लोकमें हमारे लिए कोई दिव्य भविष्य नहीं, पृथ्वीपर अधिकतम विकास होनेपर भी शरीरमें कोई परिपूर्ति सम्भव नहीं, पार्थिव जीवनमें क्रियान्वयनके लिए कोई विजयी रूपान्तर, कोई परम उद्देश्य नहीं। परन्तु यदि अतिमानस हो, यदि वह उतरे, यदि वह शासक तत्त्व हो जाय, तो मनको असम्भव लगनेवाला सब कुछ सम्भव ही नहीं, अवश्यम्भावी हो जाता है। यदि हम ध्यानसे देखें तो पायेंगे कि मन और प्राण अपनी ऊँचाईयोंपर अपनी स्व-पूर्णताकी ओर, किसी दिव्य परिपूर्तिकी ओर, अपने परम पदकी ओर जोर लगा रहे हैं। यही चीज, न कि केवल परेकी और अन्यत्रकी कोई वस्तु इस सतत क्रमविकासका चिह्न और अर्थ है, जन्म और पुनर्जन्मका श्रम है, प्रकृतिका कुण्डलाकार आरोहण है। परन्तु वस्तुओंके अन्दरका यह गुप्त अभिप्राय, अध्यात्मपुरुष एवं प्रकृतिका यह छिपा हुआ अर्थ, अतिमानसके अवरोहण और मन तथा प्राणकी स्वातिक्रमण-जनित परिपूर्तिसे ही पूरा प्रकट हो सकता और अपने समग्र रूपमें सिद्ध हो सकता है।

यह अतिमानसका क्रमवैकासिक पहलू और सामर्थ्य है, किन्तु सत्य यह है कि वह एक शाश्वत तत्त्व है जो भौतिक विश्वमें भी अव्यक्त रूपसे रह रहा है, सारी सृष्टिका गुप्त अवलम्बदाता है; प्रतीयमान रूपसे निश्चेतन रहनेवाले जगत्‌में चेतनाका उद्‌भव इसीसे सम्भव और पक्का होता है, प्रकृतिमें परम आध्यात्मिक सद्‌वस्तुकी ओर आरोहण इसीसे अनिवार्य होता है। वस्तुतः वह सत्ताकी भूमिके रूपमें विद्यमान है और सदासे ही विद्यमान है; वह अध्यात्मतत्त्व और जड़तत्त्वको जोड़ता है; वह विश्वके समूचे अर्थ और लक्ष्यको उसकी सत्यता और यथार्थतामें धारण किये हुए है और उसे निश्चित बनाता है।

यदि हम क्रमविकासके विषयके अपने वर्तमान भावोंकी उपेक्षा करें, यदि हम प्राण और रूपको नहीं, अपितु चेतनाको मूलगत और सारगत क्रमवैकासिक तत्त्वके रूपमें और उसके उद्‌भव और उसकी सम्भावनाओंके पूरे विकासको क्रमवैकासिक प्रेरणाके लक्ष्यके रूपमें देख सकें, तो सब कुछ बदल जाता है। जड़की निश्चेतना अलंघ्य बाधा नहीं हो सकती; कारण, इस निश्चेतनामें एक ऐसी संवृत चेतना दीख सकती है जिसका क्रमविकास होना है; प्राण और मन उस क्रमविकासके डग और उपकरण हैं; निश्चेतन भौतिक ऊर्जाकी सोद्देश्य प्रेरणा और क्रियाएँ ठीक ऐसी हैं कि हम कह सकते हैं कि वे एक संवृत चेतनाके कारण होती हैं जो स्वचल है, मनकी तरह विचारोंको काममें नहीं लेती अपितु एक अन्तर्निष्ठ भौतिक सहजवृत्ति जैसी चीज द्वारा निर्देशित होती है जो अपने सारे डगोंमें व्यवहारतः अचूक होती है, अभीतक परिज्ञानशील नहीं है, किन्तु अद्‌भुत रूपसे सृजनशील है। अतिमानसके बारेमें हम जिस समग्र और अन्तर्निष्ठ रूपसे प्रबुद्ध सत्य-चेतनाकी बात कहते हैं वह वही सद्‌वस्तु होगी जो क्रमविकासके अन्तिम पर्वमें प्रकट होती है, अन्तिम रूपसे विकसित हो गयी होती है, न कि पूरी संवृत रहती है जैसी कि वह जड़में होती है, न ही वह आंशिक और अपूर्ण रूपसे विकसित ही रहती है जिसके फलस्वरूप वह अपूर्णता और भूलभ्रान्तिके लिए समर्थ होती है जैसी कि वह प्राण तथा मनमें होती है; तब उसे उसकी स्वाभविक पूर्ति और पूर्णता आयत्त रहती है, वह ज्योतिर्मय रूपसे स्वचल और अचूक होती है। तब सम्पूर्ण क्रमवैकासिक सम्भावनाके विरुद्धकी सारी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं; इसके विपरीत यह चीज एक अवश्यम्भावी परिणाम होगी जो प्रकृतिके समग्र रूपके अन्दर ही नहीं, भौतिक प्रकृतिमें भी अन्तर्विष्ट होगा।

वस्तुओंको इस तरह देखनेसे विश्व अपनी एकता और समग्रतामें एक ही सत्‌की अभिव्यक्तिके रूपमें प्रकट होगा, प्रकृति उसकी अभिव्यक्ति-शक्तिके रूपमें प्रकट होगी, क्रमविकास यहाँ जड़तत्त्वमें उसके क्रमिक आत्म-प्राकटचकी प्रक्रियाके रूपमें प्रगट

होगा। लोकोंकी दिव्य श्रृंखलाको हम जड़से परम अध्यात्मकी ओर आरोहण-सोपानके रूपमें देखेंगे; वहाँ यह सम्भावना होगी, भविष्यके लिए यह आशा होगी कि अध्यात्म-सत्ता और उसकी शक्तियोंका अवरोहण अवगुण्ठित और रहस्यमय न रहकर चेतन होगा, उनके पूरेपनमें होगा, सबसे नीचेके इस जड़लोकमें भी होगा और फलस्वरूप एक परमाविर्भाव होगा। जगत्‌की पहेलीका पहेली रह जाना आवश्यक नहीं होगा; वस्तुओंकी संशयपूर्ण रहस्यमयता अपने रहस्यको, अपनी सतत संदिग्धताको हटा देगी; जटिल लेख पढ़नेमें आ जायेंगे और बोधगम्य हो जायेंगे। इस प्राकटचमें अतिमानस अपना स्वाभाविक स्थान लेगा और जगत्‌की जटिलतासे चकित बुद्धिके लिए सन्देह या प्रश्नका विषय नहीं रह जायगा; वह व्यक्त होगा मन, प्राण तथा जड़के अनिवार्य परिणामके रूपमें, उनके अर्थ, उनके अन्तर्निष्ठ तत्त्व और प्रवृत्तियोंकी परिपूर्तिके रूपमें, सब कोई जिस शिखरकी ओर चढ़ रहे हैं उस शिखरके रूपमें, वह जिस दिव्य सत्ता, चेतना एवं आनन्दकी ओर ले जा रहा है उसके उत्कर्षके रूपमें, वस्तुओंके जन्मके अन्तिम फलके रूपमें और यहाँके जीवनमें हम जिस प्रगतिशील आविर्भावको देखते हैं उसके परम लक्ष्यके रूपमें।

अतिमानसका पूरा आविर्भाव सम्पादित हो सकता है एक परमाभिव्यक्ति द्वारा, पृथ्वी-चेतनामें उसकी शक्तियोंके अवरोहण और द्रुत धारण द्वारा और उसके रूपोंके प्राकट्य और अतिमानसिक जाति तथा अतिमानसिक जीवनकी सृष्टि द्वारा : निस्सन्देह इसे प्रकृतिमें उसकी क्रियाका पूरा नतीजा होना ही चाहिए। परन्तु भूतकालमें पृथ्वी-पर क्रमवैकासिकी प्रकृतिका अभ्यास ऐसा नहीं रहा है और ऐसा भली भाँति हो सकता है कि यह अतिमानसिक क्रमविकास भी अपनी कालावधि नियत करेगा, हालाँकि यह विकास बिल्कुल ही उस विकासके समरूप नहीं होगा जिसे पृथ्वीने अभीतक देखा है। किन्तु एक बार जब वह शुरू हो गया तो सब कुछ अनिवार्य और पूर्ण रूपसे यथा-सम्भव अधिकसे अधिक ज्योतिर्मयता और पूर्णताको अभिव्यक्त करेगा और प्रकृतिके सारे अंग उसकी ओर प्रवृत्त होंगे। यह निश्चिति ही हमें यह विश्वास करनेका अधिकार देती है कि मन और मानवगण भी हमारे वर्तमान पूर्णता-स्वप्नोंमें बहुत आगेकी सिद्धिकी ओर प्रवृत्त होंगे। इस पार्थिव अज्ञानके वर्तमान सभ्रम और झमेलेके स्थानपर आयगा ज्योतिर्मानस; सम्भव है कि मानवजातिके उसतक नहीं पहुँच सकनेवाले भाग भी उसकी सम्भावनाको जानेंगे और उसकी ओर चेतन रूपसे प्रवृत्त होंगे; इतना ही नहीं, मानवका जीवन भी इस ज्योतिर्मय तत्त्व द्वारा प्रबुद्ध, उन्नीत, शासित और सामंजस्यसम्पन्न होगा, और शरीर भी अपनी वृत्तियोंमें बहुत ही कम निर्बल, अंधकारपूर्ण और पशुवत् वस्तु होगा और उसके स्थानपर एक नयी और सामंजस्य-

सम्पन्न पूर्णताके लिए समर्थ होगा। हमें इसी सम्भावनाको देखना है और इसका अर्थ होगा नयी मानवजाति जो कि ज्योतिमें उत्थित हुई होगी, आध्यात्मीकृत सत्ता एवं क्रियाके लिए समर्थ होगी, सत्य-चेतनाके किसी आलोकके शासनकी ओर खुली होगी, मानसिक स्तरपर भी और अपनी स्व-व्यवस्थाओंमें भी दिव्यीकृत जीवनका आरम्भ कही जा सकनेवाली वस्तुके लिए समर्थ होगी।

ज्योतिर्मानस

हमारे लिए नये मनुष्यका अर्थ होता है मनोमय जीवोंके ऐसे प्ररूप या जातिका प्राकट्य और विकास जिसका मनस्तत्त्व वह अज्ञानस्थ मन नहीं रह जायगा जो ज्ञानको खोजता है किन्तु ज्ञानमें भी अज्ञानसे बँधा है, ज्योतिका खोजी है किन्तु उसका स्वाभाविक अधिपति नहीं, ज्योतिकी ओर खुला है किन्तु उसका निवासी नहीं, अभीतक पूर्णीकृत करण नहीं, ऋत-चिन्मय नहीं, अज्ञानमुक्त नहीं। इसके बदले उसे उस मनपर अधिकार हो चुका होगा जिसे हम ज्योतिर्मानस कह सकते हैं, जो सत्यमें रहनेके लिए समर्थ होगा, ऋत-चिन्मय होने और उसके जीवनमें परोक्ष ज्ञानके बदले प्रत्यक्ष ज्ञानको अभिव्यक्त करनेके लिए समर्थ होगा। उसकी मनोवृति अज्ञानका करण न रहकर ज्योतिका करण होगी। अपने शीर्षबिन्दुपर वह अतिमानसमें चले जानेके लिए समर्थ होगा और इस नयी जातिमेंसे अतिमानसिक जीवोंकी जाति तैयार होगी जो पृथ्वी-प्रकृतिमें क्रमविकासके नेताओंके रूपमें प्रकट होंगे। और, ज्योतिर्मानसकी उच्चतम अभिव्यक्तियाँ अतिमानसका करणत्व, उसका अंग या उसमेंसे प्रक्षेप होंगी, मानवतासे आगे अतिमानसिक तत्त्वकी अतिमानवतामें प्रवेश होंगी। सबसे बड़ी बात यह होगी कि उसपर अधिकार पानेसे मनुष्य अपनी वर्तमान विचारणा, भावना और सत्ताकी सामान्यताओंसे परे उठकर मनकी स्वातिक्रमणगत उन उच्चतम शक्तियोंको पा लेगा जो हमारे मनस्तत्त्व और अतिमानसके बीच आती हैं और जिन्हें उस महत्तर तथा अधिक ज्योतिर्मय तत्त्वकी ओर ले जानेवाले डगोंके रूपमें देखा जा सकता है। सम्भव है कि क्रमविकासमें आनेवाली अन्य प्रगतियोंकी तरह यह प्रगति भी एक ही कुदानमें प्राप्य नही हो और उसका ऐसा न होना स्वाभाविक भी है, किन्तु वह आरम्भसे ही अवश्यम्भावी होगी : ज्योतिर्मानसको ऊर्ध्वसे और अपने-आपमेंसे सृष्ट करते अतिमानसका दबाव अन्तिम परिणामकी इस निश्चितिको प्रतिष्ठित करेगा ही। नवज्योतिकी पहली चमकें अपने अन्दर उस ज्योतिकी सर्वोच्च ज्वालाओंके बीजको लिए रहेंगी; उनकी सर्वोच्च शक्तियोंकी निश्चिति प्रथमारम्भोंमें भी विद्यमान होगी; कारण, प्रत्येक क्रमवैकासिक आविर्भावकी कहानी सदा यही रही है : उसकी उच्चतम पूर्णताका तत्त्व उस संवृतिमें छिपा रहता है जो निगूढ़ तत्त्वके क्रमविकाससे पहले आती और उसे अवश्यम्भावी बना देती है।

कारण, क्रमविकासकी कहानीमें सर्वत्र दो सहपूरक पहलू मिलते हैं जो उसकी क्रियाके अवयव हैं और उसकी समग्रताके लिए आवश्यक; प्रकृतिकी संवृतिमें सत्ताका वह गुप्त बल और तत्त्व छिपा है जो उसपर भौतिक प्रकृति द्वारा डाले गए अवगुण्ठनमें प्रच्छन्न रहता है और स्वयं उस प्रकृतिमें उस तत्त्वकी अनिवार्य शक्ति रहती है जो उसकी अन्तर्निष्ठ शक्तियों और लक्षणोंके आविर्भावकी, उसके प्रकृत स्वरूपके उपादान होनेवाले मूल गुणोंके आविर्भावकी प्रक्रियाको प्रवृत्त करता ही है। जैसे-जैसे क्रमवैकासिक तत्त्वका आविर्भाव होता है क्रमविकास-प्रक्रियाके भी दो लक्षण सदैव रहते हैं : एक तो वे श्रेणियाँ होती हैं जिनसे होकर वह संवृतिमेंसे ऊपर चढ़ता है और अपनी शक्ति, अपनी सम्भावनाओं और अपने अन्दरके देवकी शक्तिको अधिकाधिक अभिव्यक्त करता है और उसकी सत्ताके सारे प्रकारों तथा रूपोंकी सतत अभिव्यक्ति होती है, वे प्रकार तथा रूप उसकी मूल प्रकृतिके दृश्य, संकेतकारी और कार्यक्षम मूर्तायन होते हैं। क्रमवैकासिक प्रक्रियामें प्रकट होते हैं जड़के संगठित रूप और क्रियाकलाप, प्राण और प्राणियोंके प्रकार, मन और विचारधर्मी जीवोंके प्रकार, आध्यात्मिक तत्त्व और आध्यात्मिक जीवोंकी दीप्तियाँ और विभूतियाँ जिनकी प्रकृति, जिनके चरित्र और व्यक्तित्व क्रमविकासकी सर्वोच्च ऊँचाइयों और उसके उस स्वरूपकी अन्तिम विशालतम अभिव्यक्तिकी ओर आरोहणमें आनेवाली भूमिकाएँ होते हैं जैसा कि वह काल और सर्वोद्भासक अध्यात्मतत्त्वकी शक्तिसे हो ही जायगा। जिसे हम क्रमविकासके रूपमें देखते हैं उसका सच्चा अर्थ और प्रवेग यही है : रूपोंकी गुणावृद्धि और विभिन्नता उसकी प्रक्रियाका साधन भर है। प्रत्येक श्रेणी अपनेसे आगेकी श्रेणियोंकी सम्भावना और निश्चितिको अपने अन्दर लिए रहती है : अधिकाधिक विकसित रूपों और शक्तियोंके आविर्भाव अपनेसे आगेके अधिक पूर्णीकृत रूपों और महत्तर शक्तियोंकी ओर इंगित करते हैं और उसके उपयुक्त चेतना एवं चेतन जीवोंका प्रत्येक आविर्भाव आगेकी महत्तर चेतना और जीवोंके उस महत्तर क्रमकी ओर उत्थानकी क्षमता देता है जिसके अन्तमें वे देवगण आयँगे जिनके लिए प्रकृति उद्योग कर रही है और जिसके लिए अपने-आपको समर्थ दिखलाना प्रकृतिके लिए दैवनिर्दिष्ट है। जड़तत्त्व अपने संगठित रूपोंको तबतक विकसित करता गया जब तक कि वह सप्राण संघटनोंको शरीर देनेमें समर्थ नहीं हो गया; तब प्राण वनस्पतिकी अवचेतनामेंसे चेतन पशु-रूपायणोंमें और उनसे होकर मनुष्यके विचारधर्मी जीवनमें उठ गया। प्राणमें अधिष्ठित मनने बुद्धिका विकास किया, अपने ज्ञान और अज्ञान, सत्य और भूलके प्रकारोंका विकास किया जिसके अन्तमें वह आध्यात्मिक प्रत्यक्षण और द्योतनतक पहुँच गया और अब वह अतिमानस तथा ऋत-चिन्मय जीवनकी सम्भावनाको

शीशेके द्वारा देखनेके धुँधलेपनसे देख सकता है। इस अवश्यम्भावी आरोहणमें ज्योतिर्मानस एक श्रेणी है, अनिवार्य भूमिका है। क्रमविकासशील तत्त्वके रूपमें वह मानव-आरोहणमें आनेवाले एक पर्वका चिह्न होगा और एक नए प्रकारके मानव-प्राणीका उन्मेष करेगा; इस विकासको अपनी स्व-शक्तियोंके आरोही श्रेणीक्रमको और आरोही मानवताके उन प्रकारोंको अपने अन्दर लिए चलना ही चाहिए जो आध्यात्मिकताकी ओरके मोड़को, ज्योतिके लिए सामर्थ्यको, दिव्यीकृत मानवता और दिव्य जीवनकी ओर आरोहणको अधिकाधिक मूर्त्त करेंगे।

वस्तुओंकी वर्तमान प्रकृतिको देखते हुए और क्रमविकासकी वर्तमान प्रक्रियाके स्वरूपको भी देखते हुए, ज्योतिर्मानसके जन्ममें और उसके अपने स्पष्ट स्वरूप और अपनी सच्ची स्थिति और सही प्रान्तकी ओर आरोहणमें दो भूमिकाओंको आना ही चाहिए। पहलीमें हम ज्योतिर्मानसको अपने-आपको अज्ञानमेंसे एकत्र करते, अपने घटक तत्त्वोंको संयोजित करते, शुरूमें अपने बहुत ही अपूर्ण रहनेवाले आकारों और प्रकारोंका निर्माण करते और उन्हें पूर्णताकी ओर तबतक धकेलते जाते देख सकते हैं जबतक कि वह अज्ञानके सीमान्तको पार न कर सके और ज्योतिमें, अपनी स्व-ज्योतिमें प्रकट न हो सके। दूसरी भूमिकामें हम देखते हैं कि वह अपने-आपको उस स्वाभाविक ज्योतिमें तबतक विकसित करता जाता है, अपने महत्तर आकार और रूप धारण करता जाता है जबतक कि वह अतिमानससे युक्त नहीं हो जाता और उसके अधीनस्थ अंश या प्रतिनिधिकी तरह नहीं रहने लगता। इन दोनों ही भूमिकाओंमें वह अपनी स्व-श्रेणियाँ निर्दिष्ट करेगा और अपने जीवोंके क्रमको अभिव्यक्त करेगा जो उसे सदेह करेंगे और संसिद्ध जीवन देंगे। इस प्रकार पहले, स्वयं अज्ञानके अन्दर भी, निर्माण होगा दिव्य जीवनकी ओर मनुष्यके आरोहणकी सम्भावनाका; तब आयगा द्युतिमान दिव्य जीवन – वह आयगा इस ज्योतिर्मानसके द्योतन द्वारा जो कि विज्ञानमय मनस्तत्त्व कही जा सकनेवाली वस्तुकी महत्तर सिद्धिमें होगा, मानवप्राणीके रूपान्तरमें होगा, अतिमानसतक पहुँचनेसे पहले भी होगा, पृथ्वी-चेतनामें होगा, रूपान्तरित मानवतामें होगा।

अतिमानस और ज्योतिर्मानस

अतिमानसका मूलगत स्वभाव है वह ऋत-चित् जो अपनी प्रकृतिके अंतर्निष्ठ धिकारसे, अपनी स्वज्योतिसे जानता है; उसे ज्ञानतक जाना नहीं होता, ज्ञान उसे धिकृत रहता है। निस्सन्देह, विशेषतया अपनी क्रमवैकासिकी क्रियामें, अतिमानस नको अपनी प्रकट चेतनाके पीछे रख सकता और उसे मानों पर्देके पीछेसे सामने सकता है; परन्तु ऐसा होनेपर भी वह पर्दा प्रतीति मात्र है, यथार्थमें वह है नहीं : ान वहाँ सदा ही था, चेतना उसकी स्वामिनी थी और अब उसे प्रकट कर रही है। ह भी क्रमवैकासिकी क्रीड़ामें ही है; अतिमानसिक भूमिपर तो चेतना सदा ही ज्ञान- ी अव्यवहिततामें रहती और ज्ञानकी सीधी अव्यवहिततासे क्रिया करती है। हम मन ो यहाँ जैसा देखते हैं उसमें क्रिया बहुत भिन्न है; उसका आरम्भ होता है ज्ञानके प्रतीयं- ान अभावसे, एक प्रतीयमान अज्ञान या निर्ज्ञानसे, भौतिक प्रकृतिमें तो एक ऐसी निश्- तनासे जिसमें किसी भी प्रकारके जाननेका अस्तित्व ही नहीं मालूम होता। वह ज्ञान ज्ञान-क्रियातक ऐसे डगोंसे पहुँचता है जो बिलकुल ही अव्यवहित नहीं; बल्कि ान पहले तो बिलकुल असम्भव और इस जड़तत्त्वके उपादानके लिए विजातीय ही गता है। फिर भी, जड़तत्त्वकी अन्धतामें भी प्रच्छन्न चेतनाके चिह्न हैं; वह चेतना नी छिपी हुई मूलगत सत्तामे देखती है और अपनी दृष्टिके अनुसार, यहाँ तक कि नी प्रकृतिमें अन्तर्निष्ठ एक अचूक अव्यवहिततासे भी, काम करनेकी ताकत रखती । यह वही सत्य है जो अतिमानसमें प्रकट किन्तु यहाँ संवृत है और ऐसा लगता है है ही नहीं। ज्योतिर्मानस अतिमानसकी गौण क्रिया है; वह जब सीधा उससे गत होता नहीं दीखता तब भी वह उसीपर आश्रित रहता है; इस सम्बन्धका रहस्य में स्पष्ट और गोचर होता है।

ऋत-चित् ज्ञान-शक्ति ही नहीं, चेतना एवं ज्ञानकी सत्ता है, सर्वदर्शी अध्यात्म- पकी ज्योतिर्मयी बहुमुखी क्रियाशक्ति एवं क्रीड़ा है; उसमें एक आध्यात्मिक अनुभव, आध्यात्मिक संवेदन, उपादान-वस्तुका एक आध्यात्मिक सारत्व हो सकता है जानता और प्रकट करता है, एक ऐसी सर्वदर्शितामें क्रियाशील और अभिव्यक्ति- ील है जो सर्वशक्तिमत्ताके साथ एक है। यह ऋत-चित् और उसके ये क्रियाकलाप के अन्दर हो सकते हैं और यद्यपि वह मनमें अपनेको सीमित करता है और उसकी

क्रिया गौण या परोक्ष होती है, फिर भी वह सारतः वही हो सकती है। एक छिपी हुई अव्यवहितता भी हो सकती है जो किसी परमा वस्तुकी विद्यमानताका संकेत करती और उसी सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वदर्शिताका प्रमाण होती है। जब ज्योतिर्मानस पूरा मण्डलाकार हो जाता है तब सत्यका यह स्वरूप प्रकट होता है; यह प्रकट होता है परिधानमें, ऐसे परिधानमें जो जब ढँकता लगता है तब भी पारदर्शी होता है : कारण, यह भी ऋत-चित् है और ज्ञानकी आत्म-शक्ति है। यह भी अतिमानससे निःसृत होता है और सीमित और गौण होकर भी अतिमानसपर आश्रित है। हमने जिसे विशिष्ट रूपसे ज्योतिर्मानस कहा है वह वस्तुतः चेतनाकी अवरोहिणी भूमियोंके क्रममें अन्तिम है जिसमें अतिमानस अपने ही वरण किये गये परिसीमन द्वारा या अपनेको प्रकट करनेवाली क्रियाओंमें परिवर्तन ला करके अवगुण्ठित हो जाता है, परन्तु उसका मूल स्वरूप वही रहता है : उसके अन्दर ज्योतिकी, सत्यकी, ज्ञानकी क्रिया होती है जिसमें निश्चेतना, अज्ञान और भूलभ्रान्ति स्थान नहीं माँगतीं। वह एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानकी ओर बढ़ता है; हम तबतक ऋत-चिन्मयके तटोंको पार करके अज्ञानमें नहीं आ गए हैं। वहाँ पद्धतियाँ भी एक स्वयं-ज्योतिर्मय ज्ञान, दृष्टि और अनुभवकी और एक ऐसी क्रियाकी हैं जो अपनी सरहदोंमें स्वयं-सिद्धिकर है; वहाँ किसी ऐसी वस्तुको खोजनेकी आवश्यकता नहीं जिसका अभाव हो, कोई टटोलना नहीं, कोई हिचकिचाहट नहीं : तबतक सब कुछ विज्ञानशक्ति और विज्ञानतत्त्वकी विज्ञानमयी क्रिया है। पूरे अतिमानसमेंसे मनमें एक अवरोहण हो गया है, किन्तु यह मन स्वयं-सीमित चेतना होकर भी तबतक ऐसी अविज्ञानमयी चेतना नहीं है जो अपने बारेमें या अपनी क्रियाओंके बारेमें अनिश्चित हो; वहाँ फिर भी एक अवधारिका या प्रज्ञानमयी चेतना है जो सीधे अपने लक्ष्यपर जाती है, अपना लक्ष्य चूकती नहीं, न ही उसे उसके लिए अन्धकारमें या अपर्याप्त प्रकाशमें तलाश करनी होती है : वह देखती है, जानती है, अपनी वस्तुओं और प्रकृतिकी वस्तुओंपर तुरन्त ही हाथ रखती है। हम मनमें निकल आए हैं, किन्तु अबतक मनने अतिमानसिक तथ्यके साथ अपना अन्तर्निष्ठ सम्बन्ध नहीं तोड़ा है।

फिर, एक बढ़ता हुआ आत्म-सीमायन है जो अधिमानससे ही शुरू हो जाता है : अधिमानस अतिमानसिक सत्यकी पूरी ज्योति एवं शक्तिसे एक ज्योतिर्मय तट द्वारा ही पृथक् होता है और अतिमानस उसे जो कुछ दे सकता है उस सब तक उसकी सीधी पहुँच तब भी रहती है। अधिमानससे संबोधि, संबोधिसे आलोकित मन, आलोकित मनसे हमारे कथित उच्चतर मनकी ओर अवरोहणके हर डगमें और भी सीमायन होता है या विशिष्ट क्रियामें और भी परिवर्तन होता है : ज्योतिर्मानस वह संक्रमण-मार्ग है जिससे होकर हम अतिमानस और अतिमानवतासे आलोकित

नवतामें चले आ सकते हैं। कारण, नयी मानवता देखने और जीनेकी आंशिक पमें दिव्यीकृत रीतिके लिए तो समर्थ होगी ही, क्योंकि वह अज्ञानान्धकारमें नहीं, लोकमें और ज्ञानमें रहेगी।

फिर भी अतिमानव और मानवके बीच भेद होगा; भेद होगा प्रकृति और क्तिमें, परन्तु विशेषतया ऋत-चित् और उसके क्रियाकलापोंतक पहुँचने और उनमें श करनेकी रीतिमें : वस्तुतः उसके सत्यकी दो व्यवस्थाएँ हो सकती हैं, प्रत्यक्ष और र्ध-प्रत्यक्ष, अव्यवहित और समीप या केवल दूरीसे ही ग्रहण मात्र। परन्तु इसपर म बादमें ही विचार करेंगे, अभी तो विज्ञानमनके यहाँ समाप्त होनेवाले अवरोहण-मके कुछ भेदोंको देख लेना पर्याप्त होगा। हम कह सकते हैं कि हमारी सत्ताका क परार्द्ध है जिसमें अपनी क्रियाओंके प्रति चेतन और ज्योतिर्मय रहनेवाला मन ब भी ज्योतिमें रहता है और उसे अतिमानसकी गौण क्रियाके रूपमें देखा जा सकता वह तब भी ऋत-चित्का करण है, एक ऐसी विज्ञानशक्ति है जो मानसिक अज्ञानमें हीं उतर आयी है; वह एक ऐसे मानसिक विज्ञानके लिए समर्थ है जो श्रेष्ठतर ज्योति-साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखता है और उसकी शक्तिसे कार्य करता है। अपनी वभूमिमें अधिमानसका यही स्वरूप है; यही स्वरूप अधिमानसपर आश्रित सारी क्तियोंका है : अतिमानस वहाँ कार्य तो करता है, किन्तु एक डग हट करके, मानों किसी ऐसी वस्तुमें जिसे उसने प्रकट तो अपने-आपमेंसे किया है परन्तु जो अब सम्पूर्ण-या अतिमानस नहीं रह गयी है किन्तु तो भी सत्यकी प्रतिनिधि है और उसके अधिकार-युक्त है। हम एक संक्रमण-तटकी ओर बढ़ रहे हैं जिससे आगे अज्ञानकी सम्भावना ती है, किन्तु जहाँ अभीतक अज्ञान है नहीं। क्रमवैकासिक अवरोहणकी धारामें म ज्योतिर्मानसमें उसी तटपर खड़े होते हैं और वहाँसे नीचेकी ओरका डग हमें उसमें-निकालकर एक ऐसे अज्ञानके आरम्भोंमें ले जा सकता है जिसकी आकृतिपर उस योतिर्मयताका कुछ अंश रहता है जिसे वह अपने पीछे छोड़ रहा है। दूसरी ओर, मविकासकी आरोहण-धारामें हम ऐसे संक्रमणपर पहुँचते हैं जिसमें हमें ज्योति खायी देती है, हम उसकी ओर मुड़े होते हैं, वह हमारी चेतनामें प्रतिबिम्बित होती और आगेका एक डग हमें ज्योतिके प्रदेशमें ले जाता है। सत्य हमारे लिए दृश्य ौर श्रव्य हो जाता है और उसके सन्देशों और द्युतियोंसे हमारा अव्यवहित संसर्ग ता है और हम उसमें विकसित हो सकते और उसके सत्त्वसे एकीभूत कर दिये जा कते हैं। इस प्रकार चेतनाकी श्रेणियोंका एक अनुक्रम है जिसे हम 'मन' कह सकते परन्तु जो व्यवहारतया परार्द्धकी वस्तु है हालाँकि वे श्रेणियाँ अपनी सत्ता-स्थितिमें परार्द्धके प्रदेशमें हैं। कारण, समूची सत्ता सम्बद्ध समग्रता है और उसमें सत्य और

ज्योतिके तत्त्वमेंसे उनके विरोधी तत्त्वमें कोई आकस्मिक गमन नहीं होता। वस्तुओंका सर्जनात्मक सत्य निश्चेतनमें भी कार्य करता है और अचूकतासे कर सकता है : अध्यात्मतत्त्व जड़तत्त्वमें विद्यमान है और उसने ऐसा पदक्रम बना लिया है जिससे होकर वह जड़तत्त्वसे अपनी ऊँचाइयोंकी ओर अटूट श्रेणीधारामें यात्रा कर सकता है : गहराइयाँ ऊँचाइयोंसे जुड़ी हुई हैं और उस अद्वय सत्यका विधान सर्वत्र सर्जन करता और कार्य करता है।

भौतिक जगत् हमें अज्ञानका जगत्, एक अन्धी और निश्चेतन शक्तिकी क्रियाओंका जगत् लगता है जो निश्चेतनासे आरम्भ करता, अज्ञानसे गुजरता हुआ बढ़ता और कठिनाईसे अपूर्ण ज्योति तथा ज्ञानकी ओर पहुँचता है; फिर भी, उसमें भी, वस्तुओंमें एक निगूढ़ सत्य है जो सब कुछ आयोजित करता है, सत्ताकी अनेक विपरीत शक्तियोंको आत्माकी ओर निर्देशित करता है और अपनी ऊँचाईयोंकी ओर उठता है जहाँ वह अपने उच्चतम सत्यको अभिव्यक्त कर सकता और विश्वके निगूढ़ उद्देश्यको पूरा कर सकता है। जीवनका यह भौतिक जगत् भी वस्तुओंके अन्दरके उस सत्यके साँचेपर बना हुआ है जिसे हम प्रकृतिका विधान कहते हैं; वह वह सत्य है जिससे उठकर हम एक महत्तर सत्यकी ओर तबतक चलते जाते हैं जबतक कि हम परमकी ज्योतिमें न निकल आयँ। यह जगत् वस्तुतः प्रकृतिकी अन्धी शक्ति द्वारा सृष्ट नहीं है : परम सत्यकी उपस्थिति निश्चेतनामें भी सक्रिय है; उसके पीछे एक दृष्टिसम्पन्न शक्ति है जो अचूकतासे कार्य करती है और स्वयं अज्ञानके डग, जब वे ठोकर खाने लगते हैं तब भी, निर्देशित होते हैं; कारण, जिसे हम अज्ञान कहते हैं वह अवगुण्ठित ज्ञान है, एक ऐसा ज्ञान है जो अपने स्व-शरीरमें कार्य नहीं कर रहा अपितु अपने परम आत्माविष्कारकी ओर बढ़ रहा है। यह ज्ञान प्रच्छन्न अतिमानस है जो सृष्टिका अवलम्ब है और सबको अपनी ओर ले जा रहा है और इन बहुतेरे मनों, प्राणियों और पदार्थोंको, जिनमेंसे हर कोई अपने अपने स्वधर्मका अनुसरण करता लगता है, पीछेसे निर्देशित करता है; अस्तित्वके इस बृहत् और प्रतीयमानतया अस्तव्यस्त पुंजमें एक विधान है, सत्ताका एक अद्वय सत्य है, जगत्-जीवनका एक निर्देशक और पूर्तिदायी उद्देश्य हैं। यहाँ अतिमानस अवगुण्ठित है और अपने अस्तित्व तथा आत्मज्ञानके विशिष्ट विधानके अनुसार कार्य नहीं करता, परन्तु उसके बिना कोई भी चीज अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकती। अज्ञ मन द्वारा शासित जगत् शीघ्र ही अराजकतामें बह जायगा; वस्तुतः, वह जिस निगूढ़ सर्वदर्शिताका आवरण है उसके अवलम्बके बिना वह अस्तित्वमें आ नहीं सकता था या उसका अस्तित्व टिक नहीं सकता था; अन्धी निश्चेतन शक्ति द्वारा शासित जगत् एक-सी यान्त्रिक क्रियाओंको बराबर दुहराता जा सकता है, किन्तु उसका अर्थ

छ भी नहीं होगा, वह कहीं भी नहीं पहुँचेगा। वह उस क्रमविकासका कारण नहीं सकता जो जड़मेंसे प्राणकी, प्राणमेंसे मनकी, और जड़, प्राण तथा मनकी भूमियोंके ले श्रेणीक्रमकी सृष्टि करता है जिसका अन्त अतिमानसके आविर्भावमें होता है। तिमानसमें आविर्भूत होनेवाला गुप्त सत्य वहाँ सदा ही रहा है, किन्तु अब वह अपने-पको, वस्तुओंके अन्दरके सत्यको और हमारे जीवनके अर्थको अभिव्यक्त करता है।

हमें ज्योतिर्मानसको अस्तित्व-क्रमकी इस धारामें और सत्ताके नीचेके गोलार्द्ध-अन्तिम शब्द और ऊपरके गोलार्द्धके प्रथम शब्दके रूपमें देखना है और यह देखना कि उसका स्वरूप और वे शक्तियाँ क्या हैं जो उसकी विशिष्टताएँ हैं और जिन्हें ह अपनी स्वाभिव्यक्ति तथा क्रियाओंके लिए व्यवहृत करता है, अतिमानसके साथ सका क्या सम्बन्ध है और नूतन मानवके जीवनके लिए उसके परिणाम और म्भावनाएँ क्या हैं।

परिशिष्ट

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

अ	
अंतरात्मा	soul
अंतर्विष्ट	contained
अतिमानस	Supermind
अधिमानस	overmind
अभिव्यंजक	expressive
अभिव्यक्ति	manifestation
अवचेतना	subconsciousness
अस्तित्व	existence
आ	
आलोकित मानस	illumined mind
आलोकीकरण	illumination
आविर्भाव	manifestation
ऋ	
ऋत - चित्	Truth-Consciousness
ऋत - चेतना	Truth-Consciousness
ऋत - चैतन्य	Truth-Consciousness
ऋषि	seer
क्र	
क्रमागत	consecutive
च	
चेतना	consciousness
चैतन्य	consciousness
चैत्य	psychic
चैत्यिक	psychical
ज	
जड़तत्त्व	Matter
ज्योतिर्मानस	Mind of Light

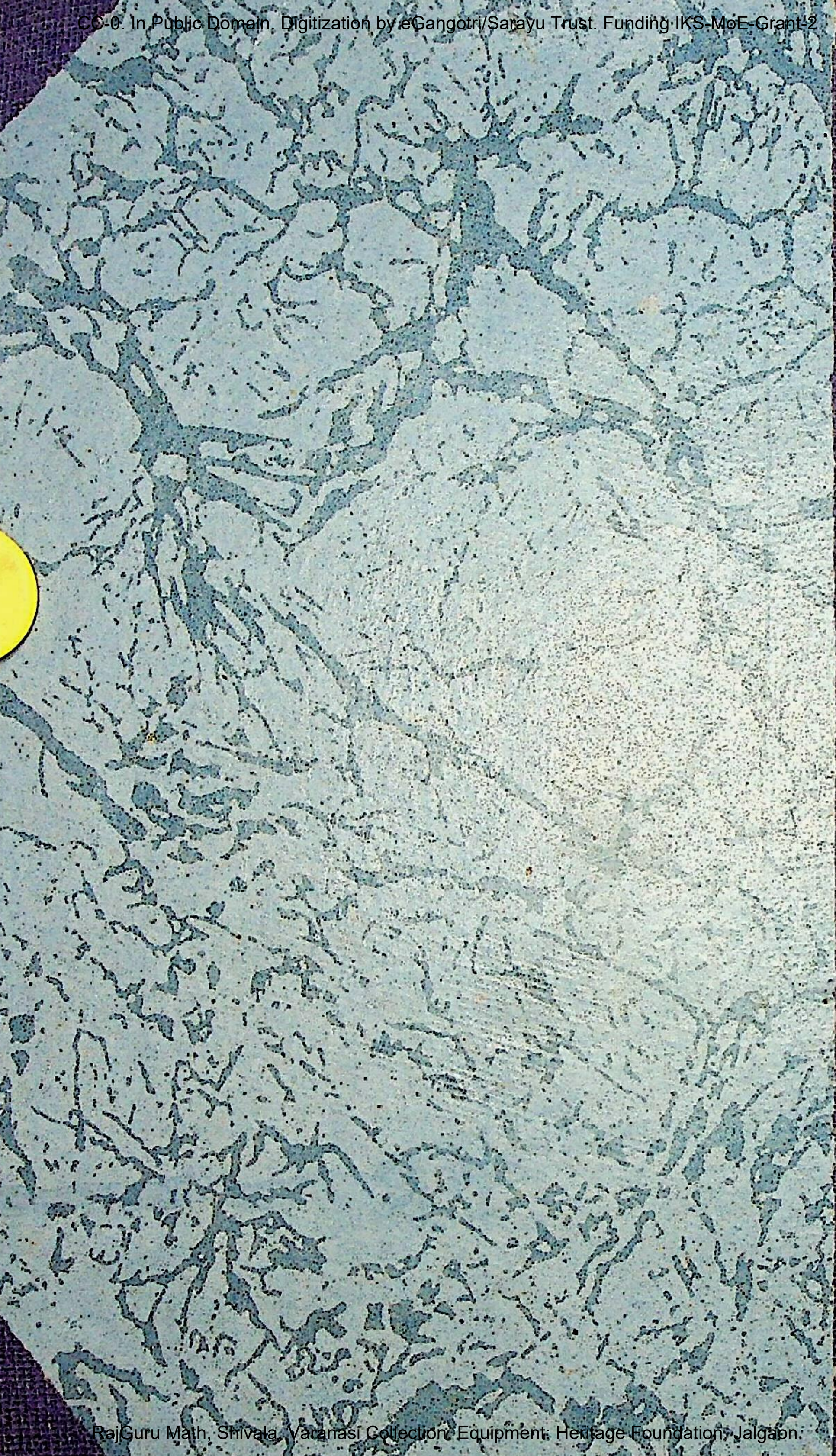द	
देहान्तरगमन	transmigrati
द्युति	illumination
द्योतन	illumination
प	
परतत्त्व	Beyond
परप्राण	super-life
परिज्ञानशील	cognitive
पुनः शरीरधारण	reincarnat
पुनर्जन्म	rebirth
पूर्वपद	anteceden
प्राणिक	vital
भ	
भाव	idea
म	
मन	mind
मानस	mind
मुनि	sage
व	
विज्ञान	gnosis
विज्ञान	science
व्यंजक	expressive
स	
सबोधि	intuition
सत्ता	being
सत्य - चेतना	Truth-consciou
सत्य - चैतन्य	Truth-consciou
समकालिक	simultaneous
साधुता	rectitude